अग्निष्टोम यज्ञ पद्धति विमर्श

(यजुर्वेदपर आधारित)

डॉ० नारायण दत्त शर्मा

अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स

इस ग्रन्थमें अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी प्रभृति सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम सोमयागका कर्मकाण्ड वर्णित है। यज्ञमें अध्वर्युका वरण हो जानेके पश्चात् सोमयागका अनुष्ठान करते समय वह यजुर्वेद संहिताके मन्त्रोंका विनियोग करता है। इतना ही नहीं, इस यज्ञमें उद्‌गाता सामवेदके मन्त्रोंसे बहिष्पवमानादि स्तोत्रोंका गान करता है, होता ऋग्वेदके मन्त्रोंसे आज्य प्रभृति शस्त्रोंका पाठ करता है तथा यज्ञमें कोई त्रुटि होनेपर ब्रह्मा अथर्ववेदकी सहायतासे प्रायश्चित्तादिका विधान करता है। अतः इस ग्रन्थके लिखनेमें वेदोंकी चारों संहिताओं, संहितागत मन्त्रोंके विनियोगका विधान करने वाले ब्राह्मणग्रन्थों तथा उव्वट, महीधर तथा सायण प्रभृतिके भाष्योंकी सहायता ली गई है।

बीजरूपमें कर्मकाण्ड जहाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें वर्णित है, वहीं श्रौतसूत्रोंमें इसका और अधिक विस्तार है, तदनन्तर श्रौतसूत्रोंकी वृत्ति, भाष्य एवं पद्धतियोंमें सांगोपांग विस्तृत विवेचन हमें प्राप्त होता है। यदि देखा जाए तो सचमुच एक अग्निष्टोमके ही कर्मकाण्ड के पार जाना अत्यन्त कठिन कार्य है तथापि कात्यायन श्रौतसूत्रको आधार बनाकर प्रायः सभी क्रियाओंको स्पष्ट करते हुए अन्य भारद्वाज श्रौतसूत्रादिके साथ तुलनात्मक विवेचन करना भी इस ग्रन्थका मुख्य विषय रहा है।

संक्षेपमें वे जिज्ञासु जो अग्निष्टोमका कर्मकाण्ड जानना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ अवश्य ही उपयोगी होगा।

जिन्हें संस्कृतभाषाका उतना गम्भीर ज्ञान नहीं है तथा परम्परागत रीतिसे गुरुके माध्यमसे इस विद्याको प्राप्त करनेके लिए सुअवसर सुलभ नहीं है, उन्हें ध्यानमें रखते हुए यह ग्रन्थ हिन्दीमें लिखा गया है तथा कर्मकाण्डका स्वरूप हृदयङ्गम हो सके, इसके लिए कर्मकाण्डके प्रसंगमें प्रयुक्त होने वाले सभी पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषा भी दी गई है।

अग्निष्टोम यज्ञ पद्धति विमर्श

(यजुर्वेदपर आधारित)

डॉ० नारायण दत्त शर्मा
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
नई दिल्ली

अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स
दिल्ली-११०००९

परमार्थपथप्रदर्शक

वेदमूर्ति पण्डित महादेव शास्त्री जी

तथा

आचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी जी के

श्रीचरणोंमें

सादर समर्पित

विद्ययाऽभयदातारं ज्ञानवान् गुरुरुच्यते।

एवंविधं गुरुं प्राप्य को न मुच्येत बन्धनात्॥

प्रस्तावना

वेदका अर्थ :—

वेद शब्द "विद् ज्ञाने" धातुसे "घञ्" प्रत्यय लगाकर बना है। विद्वानोंने "घञ्" प्रत्ययका अर्थ भाव, कर्म या करण माना है। इसलिए ज्ञान, ज्ञानका विषय, ज्ञेय पदार्थ अथवा ज्ञानके साधन तीनों ही वेद शब्दके वाच्य हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् पाणिनिने अपने धातुपाठमें विद् धातुके अर्थ सत्ता, लाभ और विचारना-ये तीन अर्थ और माने हैं। इनमें विचारना तो एक प्रकारसे ज्ञानके अन्तर्गत आ जाता है, किन्तु सत्ता और लाभ अर्थ अतिरिक्त रहते हैं। उन अर्थोंमें भी उक्त तीनों प्रत्ययार्थ जोड़नेसे वेदका अर्थ और अधिक गम्भीर एवं व्यापक हो जाता है।

वेदके पर्याय :—

छान्दोग्य उपनिषद् (१.१७.१.१०) में वेदके स्थानपर विद्या शब्दका प्रयोग किया गया है[१]। मनुने वेदके लिए वेद, ब्रह्म तथा श्रुति इन तीन शब्दोंका प्रयोग किया है[२]। श्रुतिके समानान्तर "अनुश्रव" शब्द भी वेदके लिए प्रयुक्त हुआ है। वाचस्पति मिश्रने सांख्यकारिकाकी दूसरी कारिकाके "अनुश्रव" का यह अर्थ स्पष्ट भी किया है[३]। श्रुतिके साथ आम्नाय शब्द भी वेदके लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा— "श्रुतिस्तु वेद आम्नायस्त्रयी"[४]। आम्नाय शब्दमें सम् उपसर्ग जोड़कर समाम्नाय शब्द वेदके लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका उल्लेख नागेशभट्टने अपने लघुश-

---

१. अग्नेर्ऋचौ वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् स एतां त्रयीं विद्यामभ्यपतत्।

२. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (मनुस्मृ० २.१०)। श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम् (मनुस्मृ० २.९)।

३. गुरुपाठादनुश्रूयत इति अनुश्रवो वेदः।

४. चतुर्वेद मीमांसा (पृष्ठसं० २४)

ब्देन्दुशेखर में किया है[१] । मीमांसादर्शनने भी वेद के लिए आम्नाय शब्दका प्रयोग किया है[२] । उव्वट ने "आम्नायो वेदः" कहकर आम्नायसे वेद ही अर्थ लिया है । वैशेषिकदर्शनने भी आम्नाय शब्दका प्रयोग वेदके लिए ही किया है[३] ।

यही आम्नाय शब्द आगे चलकर वेद व ब्राह्मणोंके लिए भी उसी प्रकार प्रयुक्त होने लगा, जिस प्रकार वेद शब्दका अर्थ वेद और ब्राह्मणोंके लिए प्रयुक्त हुआ । यास्कने अपने निरुक्तमें आम्नाय शब्दसे कहीं मन्त्रका अर्थ ग्रहण किया है, कहीं मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका । निरुक्तमें "समाम्नाय" शब्द का प्रयोग निघण्टुके लिए भी हुआ है[४] । समाम्नायके समान ही "स्वाध्याय" शब्द भी वेदके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है[५] । मनुने एक स्थानपर वेद के लिए स्वाध्याय शब्दका प्रयोग किया है[६] । आगम और निगम दोनों शब्द भी वेदवाचक ही हैं । महर्षि पतञ्जलिने आगमसे षडङ्ग वेद अर्थ ही ग्रहण किया है । इसी कारण योगदर्शनमें उन्होंने आगम को आप्त प्रमाण माना है । सांख्यकारिकाके अनुसार आप्तप्रमाणसे असिद्ध परोक्षकी सिद्धि होती है[७] । निरुक्तमें निगम शब्दका प्रयोग वेदोंके लिए हुआ है[८] । भागवतको निगम अर्थात् वेद-रूपी कल्पतरुका पका हुआ फल कहा गया है, जिसका उल्लेख भागवतमें हुआ है और जहाँ निगमका अर्थ स्पष्ट रूप से वेद ही है[९] । परवर्तीकालमें निगमका अर्थ तो वेद ही रहा किन्तु आगम शब्द साम्प्रदायिकताके साथ संयुक्त हो चला । फलतः शैवागम, वैष्णवागम, शाक्तागम, जैनागम और बौद्धागम आदि शब्द प्रचलित हो गए ।

---

१. आम्नाय समाम्नाय शब्दयोर्वेद एव प्रसिद्धेः (संज्ञाप्रकरण, पृष्ठसं० ६) ।

२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् (मीमांसादर्श० १.२.१) ।

३. तदवचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् (वैशेषिकदर्शन १०.२.१०) ।

४. समाम्नायः समाम्नातः (निरुक्त १.१.१) ।

५. स्वाध्यायो अध्येतव्यः (तैआ २.१५.७) ।

६. यः स्वाध्यायमधीते (मनुस्मृ० २.१०७)

७. तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् (सांख्यकारिका ६) ।

८. निगमयति निश्चयं कारयति इति निगमः वेदः ।

९. निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् (श्रीमद्भागवत १.१.३) ।

चार वेद तथा तीन विद्याएँ :—

वेद चार हैं, यह मत प्राचीन कालसे लेकर अब तक चला आया है । छान्दोग्य ब्राह्मणमें चारों वेदोंके नाम आए हैं[१] । यज्ञके ऋत्विजोंकी दृष्टिसे वेद चार ही कहे जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक छोटे (इष्टि) और बड़े (सोम) यज्ञोंमें चार ऋत्विक् अवश्य होते हैं— होता, अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा । सोमयागादि बड़े यज्ञोंमें एक एक ऋत्विक् के तीन-तीन सहायक और होते हैं, इस प्रकार सोलह ऋत्विक् हो जाते हैं । किन्तु वे तीन सहायक उसी मुख्य ऋत्विक् के अंग माने जाते हैं । इस प्रकार चारों ऋत्विजों के लिए भगवान् कृष्णद्वैपायनने वेदके चार विभाग किए, जिससे एक एक वेद पढ़कर भी कोई विद्वान् ऋत्विक् बन सके । होता बनने के लिए ऋग्वेद, अध्वर्यु बननेके लिए यजुर्वेद, उद्गाता बननेके लिए सामवेद का अध्ययन किया जाता था । ब्रह्माको चारों वेदोंका अध्ययन करना पड़ता था, क्योंकि उसका कार्य यज्ञमें अध्वर्यु, होता, उद्गाताके कार्योंका निरीक्षण करना तथा त्रुटि होनेपर उसका परिहार करना होता था । इसके अतिरिक्त अवसर आनेपर ब्रह्माको शान्तिक, पौष्टिक तथा प्रायश्चित्तादि कर्म भी करने पड़ते थे । इन कर्मोंके ज्ञान के लिए अथर्ववेद के अतिरिक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका अध्ययन भी ब्रह्माके लिए अपेक्षित ही नहीं, आवश्यक भी होता था । अथर्ववेद तो ब्रह्माका प्रातिस्विक वेद है ही । वर्तमान वेद-संहिताओंका संघटन इन ऋत्विजोंके कार्योंके अनुकूल ही हुआ है, जिसका उल्लेख स्वयं ऋचा करती है[२] ।

रचना भेदकी दृष्टि से वेद तीन माने गए हैं, क्योंकि गद्य पद्य व गानके रूप में रचना तीन ही प्रकारकी हो सकती है । अत: गद्यको यजु:, पद्यको ऋक् और गानको साम कहा गया । महर्षि जैमिनिने मीमांसादर्शनमें तीनोंकी व्याख्या की है[३] । आचार्य षड्गुरुशिष्यने सर्वानुक्रमणीकी वृत्ति भूमिकामें यही उल्लेख किया है[४] । अन्य आर्ष

---

१. स होवाच ऋग्वेद भगवो अध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् (छान्दोग्यब्रा० ९.१२)।

२. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः (ऋसं. १०.७१.११)।

३. तेषां ऋक् यत्र अर्थवशेन पाद व्यवस्था। गीतिषु समाख्या। शेषे यजुः शब्दः (२.१.३२-३४)।

४. ऋक् पादबद्धो, गीतस्तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः। चतुर्षु अपि हि वेदेषु त्रिथवं विनियुज्यते ॥ विनियोक्तव्य रूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते । ऋग्यजुष सामरूपेण मन्त्रो वेद चतुष्टये ॥

ग्रन्थोंमें भी इसी दृष्टिसे वेदके तीन विभागोंका उल्लेख है[१] । इस प्रकार यजुर्वेद संहितामें जो छन्दोबद्ध पद्य आते हैं, वे ऋक् ही कहलायेंगे, अथर्ववेद संहितामें जो गद्य भाग है, वह यजुः समझा जायेगा और पद्य भाग ऋक् । इसी प्रकार गान भाग भी यदि कोई मिले तो वह सामके अन्तर्गत हो जायगा । यही तीन वेद मानने की उपपत्ति है ।

प्राचीन ग्रन्थों में "इति वेदास्त्रयी" और "चत्वारो वेदाः" दोनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं । दोनों ही वाक्य प्रामाणिक हैं । ऋत्विजों की दृष्टि से विभक्त चारों वेदोंमें विद्याएँ तीन ही प्रकार की हैं । यजुर्वेद प्रमुखतः गद्यमें, ऋग्वेद पद्यमें तथा सामवेद गान रूप में हैं । इन्हीं तीनोंको आगे चलकर ज्ञान, कर्म और भक्तिकाण्ड कहा जाने लगा । ऋग्वेद ज्ञान प्रधान माना गया, यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान तथा सामवेद भक्तिप्रधान माना गया । अतः वेद तो चार ही हैं किन्तु उनकी विद्या तीन हैं । ब्रह्मा ही ऋग्, यजुः और साम लक्षण वाली इस त्रयी विद्या को अग्नि, वायु और रविसे यज्ञकी सिद्धिके लिए दूहते हैं[२] ।

यजुर्वेद :—

कर्मकाण्डका वेद यजुर्वेद माना गया है । यास्कने यजुर्वेदको यज्ञप्रधान माना है[३] । यज्ञके द्वारा परमपुरुषका यजन होनेसे सभी वेदोंमें यज्ञकी प्रधानता प्रमुख रूपसे है । लगधके अनुसार सभी वेदोंकी प्रवृत्ति यज्ञके लिए है[४] । यज्ञकी प्रधानताके कारण आत्माके मनोमय रूपका यजुः ही शिर है, यह श्रुतिमें प्रतिपादन किया गया है[५] । "ऋचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं (ऐब्रा० ५.३३) यह ब्राह्मण वचन प्रतिपादन करता है कि ऋग्, यजुः और साम का हौत्र, हवन और

---

१. त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि (शब्रा० ४.६.७.१) । तैब्रा० (१.२.२६) में भी ऋचः यजूंषि सामानि शब्द आए हैं । ऐब्रा० (२.५.६) में इस प्रकार कहा गया है—त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवं अग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेदः आदित्यात् ।

२. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् (मनुस्मृ० १.२३)

३. यजुर्यजतेः ।

४. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः (वेदांग ज्योतिष)

५. सम्पाद्वा एतस्मात्प्राणमयात । अन्योन्तर आत्मा मनोमयः तस्य यजुरेव शिरः ।

गान आदि में यज्ञके लिए विनियोग होता है । इस प्रकार सब वेदोंका यज्ञपरत्व होनेके कारण लाक्षणिक अर्थ यजुर्वेदत्व ही सिद्ध होता है ।

यह यजुर्वेद ब्राह्म और आदित्य इन दो सम्प्रदायोंसे सम्बद्ध रहा है । इनमें से आदित्य सम्प्रदायके यजुर्वेदको शुक्लयजुर्वेद कहा जाता है। शब्रा० (१४.९.३.३३) के अनुसार शुक्लयजुर्वेद वाजसनेय याज्ञवल्क्यके पास था। ये अपने पिताके समान ही दयालुहृदय, कुशाग्रबुद्धि और तेजस्वी ब्राह्मण थे ।

शुक्लयजुर्वेदमें चालीस अध्याय और १९७४ मन्त्र हैं । अन्यून आधा भाग ऋगुक्त है ।"चरणव्यूह" के अनुसार शुक्ल यजुर्वेदमें १९०० मन्त्र हैं । यजुर्वेद कल्पतरु के अनुसार १९७५ मन्त्र हैं तथा ९०५२५ अक्षर हैं। अनुष्टुप् प्रमाण २८२८२९ है[1] । जाबाल आदि सत्रह वाजसनेय शाखाएँ शुक्लयजुष् के रूपमें प्रसिद्ध हैं[2] । शुक्लयजुर्वेदकी मन्त्रसंहिता "माध्यन्दिन संहिता" या "वाजसनेयी संहिता" कही जाती है । दूसरी शाखा जो आज उपलब्ध है उसका नाम काण्व संहिता है । इस शाखाका प्रचार विरल है । जो है, वह भी प्राय: महाराष्ट्र या दक्षिण में है । काण्वसंहिता में भी माध्यंदिन संहिता की ही भाँति ४० अध्याय हैं, परन्तु मन्त्रोंकी संख्या उससे अधिक है । माध्यन्दिन संहिता में १९७५ मन्त्र हैं, जबकि काण्वमें २०८६ मन्त्र हैं । विषयकी दृष्टिसे काण्वसंहिता माध्यन्दिनसंहिताके ही समान है । माध्यन्दिन संहितापर सायण का भाष्य तो नहीं मिलता, किन्तु उव्वट और महीधरके भाष्य अवश्य प्रचलित हैं । माधव, आनन्द भट्ट तथा अनन्तदेव ने भी इस पर भाष्य लिखे हैं परन्तु वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हैं । उव्वट और महीधर ने अपने भाष्यकी रचना शतपथब्राह्मणके आधारपर की है । याज्ञिक परम्पराकी दृष्टिसे इन दोनोंका भाष्य अधिक प्रामाणिक माना गया है ।

कृष्णयजुर्वेद शुक्लयजुर्वेदका प्राक् रूप ही है । शुक्लयजुर्वेदका प्रादुर्भाव बादमें हुआ है । आजकल कृष्णयजुर्वेदकी चार शाखाएँ उपलब्ध हैं—तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, कठ संहिता तथा कपिष्ठल संहिता ।

तैत्तिरीयशाखामें काण्डोंकी संख्या ७ प्रपाठकों की ४४ तथा अनुवाकोंकी संख्या६५१ तथा मन्त्रोंकी संख्या २१९८ है । विषयकी दृष्टिसे यह माध्यन्दिन

---

१. लोकालोकका वेदांक,(वर्ष ३ अंक १० तथा पृष्ठसं० ६९)।

२. वेदत्रयी परिचय,(पृष्ठसं० ३६)

ग्रन्थोंमें भी इसी दृष्टिसे वेदके तीन विभागोंका उल्लेख है[१]। इस प्रकार यजुर्वेद संहितामें जो छन्दोबद्ध पद्य आते हैं, वे ऋक् ही कहलायेंगे, अथर्ववेद संहितामें जो गद्य भाग है, वह यजु: समझा जायेगा और पद्य भाग ऋक्। इसी प्रकार गान भाग भी यदि कोई मिले तो वह सामके अन्तर्गत हो जायगा। यही तीन वेद मानने की उपपत्ति है।

प्राचीन ग्रन्थों में "इति वेदास्त्रयी" और "चत्वारो वेदा:" दोनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं। दोनों ही वाक्य प्रामाणिक हैं। ऋत्विजों की दृष्टि से विभक्त चारों वेदोंमें विद्याएँ तीन ही प्रकार की हैं। यजुर्वेद प्रमुखत: गद्यमें, ऋग्वेद पद्यमें तथा सामवेद गान रूप में हैं। इन्हीं तीनोंको आगे चलकर ज्ञान, कर्म और भक्तिकाण्ड कहा जाने लगा। ऋग्वेद ज्ञान प्रधान माना गया, यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान तथा सामवेद भक्तिप्रधान माना गया। अत: वेद तो चार ही हैं किन्तु उनकी विद्या तीन हैं। ब्रह्मा ही ऋग्, यजु: और साम लक्षण वाली इस त्रयी विद्या को अग्नि, वायु और रविसे यज्ञकी सिद्धिके लिए दूहते हैं[२]।

यजुर्वेद :—

कर्मकाण्डका वेद यजुर्वेद माना गया है। यास्कने यजुर्वेदको यज्ञप्रधान माना है[३]। यज्ञके द्वारा परमपुरुषका यजन होनेसे सभी वेदोंमें यज्ञकी प्रधानता प्रमुख रूपसे है। लगधके अनुसार सभी वेदोंकी प्रवृत्ति यज्ञके लिए है[४]। यज्ञकी प्रधानताके कारण आत्माके मनोमय रूपका यजु: ही शिर है, यह श्रुतिमें प्रतिपादन किया गया है[५]। "ऋचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं (ऐब्रा० ५.३३) यह ब्राह्मण वचन प्रतिपादन करता है कि ऋग्, यजु: और साम का हौत्र, हवन और

---

१. त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि (शब्रा० ४.६.७.१)। तैब्रा० (१.२.२६) में भी ऋच: यजूंषि सामानि शब्द आए हैं। ऐब्रा० (२.५.६) में इस प्रकार कहा गया है—त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवं अग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायो:, सामवेद: आदित्यात्।

२. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु: सामलक्षणम् (मनुस्मृ० १.२३)

३. यजुर्यजते:।

४. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता: कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञा: (वेदांग ज्योतिष)

५. सम्पाद्वा एतस्मात्प्राणमयात। अन्योन्तर आत्मा मनोमय: तस्य यजुरेव शिर:।

गान आदि में यज्ञके लिए विनियोग होता है। इस प्रकार सब वेदोंका यज्ञपरत्व होनेके कारण लाक्षणिक अर्थ यजुर्वेदत्व ही सिद्ध होता है।

यह यजुर्वेद ब्राह्म और आदित्य इन दो सम्प्रदायोंसे सम्बद्ध रहा है। इनमें से आदित्य सम्प्रदायके यजुर्वेदको शुक्लयजुर्वेद कहा जाता है। शब्रा० (१४.९.३.३३) के अनुसार शुक्लयजुर्वेद वाजसनेय याज्ञवल्क्यके पास था। ये अपने पिताके समान ही दयालुहृदय, कुशाग्रबुद्धि और तेजस्वी ब्राह्मण थे।

शुक्लयजुर्वेदमें चालीस अध्याय और १९७४ मन्त्र हैं। अन्यून आधा भाग ऋगुक्त है।"चरणव्यूह" के अनुसार शुक्ल यजुर्वेदमें १९०० मन्त्र हैं। यजुर्वेद कल्पतरु के अनुसार १९७५ मन्त्र हैं तथा ९०५२५ अक्षर हैं। अनुष्टुप् प्रमाण २८२८२९ है[१]। जाबाल आदि सत्रह वाजसनेय शाखाएँ शुक्लयजुष् के रूपमें प्रसिद्ध हैं[२]। शुक्लयजुर्वेदकी मन्त्रसंहिता "माध्यन्दिन संहिता" या "वाजसनेयी संहिता" कही जाती है। दूसरी शाखा जो आज उपलब्ध है उसका नाम काण्व संहिता है। इस शाखाका प्रचार विरल है। जो है, वह भी प्रायः महाराष्ट्र या दक्षिण में है। काण्वसंहिता में भी माध्यंदिन संहिता की ही भाँति ४० अध्याय हैं, परन्तु मन्त्रोंकी संख्या उससे अधिक है। माध्यन्दिन संहिता में १९७५ मन्त्र हैं, जबकि काण्वमें २०८६ मन्त्र हैं। विषयकी दृष्टिसे काण्वसंहिता माध्यन्दिनसंहिताके ही समान है। माध्यन्दिन संहितापर सायण का भाष्य तो नहीं मिलता, किन्तु उव्वट और महीधरके भाष्य अवश्य प्रचलित हैं। माधव, आनन्द भट्ट तथा अनन्तदेव ने भी इस पर भाष्य लिखे हैं परन्तु वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हैं। उव्वट और महीधर ने अपने भाष्यकी रचना शतपथब्राह्मणके आधारपर की है। याज्ञिक परम्पराकी दृष्टिसे इन दोनोंका भाष्य अधिक प्रामाणिक माना गया है।

कृष्णयजुर्वेद शुक्लयजुर्वेदका प्राक् रूप ही है। शुक्लयजुर्वेदका प्रादुर्भाव बादमें हुआ है। आजकल कृष्णयजुर्वेदकी चार शाखाएँ उपलब्ध हैं—तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, कठ संहिता तथा कपिष्ठल संहिता।

तैत्तिरीयशाखामें काण्डोंकी संख्या ७ प्रपाठकों की ४४ तथा अनुवाकोंकी संख्या६५१ तथा मन्त्रोंकी संख्या २१९८ है। विषयकी दृष्टिसे यह माध्यन्दिन

---

१. लोकालोकका वेदांक,(वर्ष ३ अंक १० तथा पृष्ठसं० ६९)।

२. वेदत्रयी परिचय,(पृष्ठसं० ३६)

शाखाके समान है किन्तु इसमें वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंकी विशद रूपसे विवेचना है। ब्राह्मणभागसे एकत्र मिश्रित होनेके कारण भाष्यकी सहायता के बिना संहिताको समझ पाना बड़ा कठिन है। अपनी शाखा होनेके कारण सायणने इस पर बड़ा विस्तृत भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त भट्ट भास्करमिश्रका भाष्य भी बड़ा विद्वत्तापूर्ण है।

मैत्रायणीसंहिता भी तैत्तिरीयसंहिताकी भाँति ब्राह्मणभाग मिश्रित गद्यपद्यात्मक संग्रह है। इसमें ४ काण्ड, ११ प्रपाठक, ३१४४ मन्त्र हैं। इसमें १७०० ऋचाएँ ऐसी हैं जो ऋग्वेदमें भी प्राप्त हैं। इसीका दूसरा नाम कलापशाखा भी है।

कठसंहिता में ४० स्थानक (अध्याय), ८४३ अनुवाक और ३०९१ मन्त्र हैं। कपिष्ठलसंहिता अपूर्ण तथा खण्डित मिलती है। इसमें ६ अष्टक और ४८ अध्याय हैं, परन्तु बीच-बीचमें खण्डित हैं। किसी समय कठ-कलापादि शाखाओंका प्रचार भारतके घर-घरमें था, जैसा कि महाभाष्यकारने उल्लेख किया है[१]। किन्तु आज इनका प्रचार सर्वथा नगण्य है।

यजुर्वेदका महत्त्व :—

अध्वर्युकृत्यप्रतिपादक वाक्यों(मन्त्रों)को छाँटकर निर्मित किए गए आध्वर्यव(यजु:) वेदका महत्व द्रव्यमय यज्ञकी दृष्टिसे अन्य वेदोंकी अपेक्षा सर्वाधिक है। यजु:मन्त्रोंमें द्रव्ययज्ञोंका साक्षात् विधान है तथा यज्ञ-प्रक्रियाका प्रत्यक्ष निर्देश है। इतना ही नही, यजुष् मन्त्रोंमें द्रव्य यज्ञोंके नाम तथा उनके साधनभूत यज्ञीय पदार्थोंके नाम भी उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेदके मन्त्रोंका तात्पर्य द्रव्यमय यज्ञोंके बोधके लिए है और इसीके लिए ब्राह्मण तथा सूत्रग्रन्थोंका आविर्भाव हुआ। मीमांसाशास्त्रके अनुसार वेदोंका पर्यवसान यज्ञमें ही माना गया है[२]।

यजुर्वेदमें सर्वत्र यज्ञकर्म तथा यज्ञप्रक्रियाके दर्शन प्राप्त होते हैं—उदाहरणार्थ समिधा काटते समय अध्वर्यु कहता है—"तिर्यक् पर्व ते रुध्यासम्" (मैं तुझे गाँठके ऊपर टेढा करके काटता हूँ)। "सम्भरामि" (इकट्ठा करता हूँ)। "संनह्ये" (बाँधता हूँ)। "बाहुभ्यामुद्यच्छे" (इस गट्ठेको दोनों हाथोंसे उठाता हूँ)। "मूर्ध्ना हरामि" (सिरपर ले जाता हूँ)। इस प्रकार यज्ञकी प्रत्येक सूक्ष्मसे सूक्ष्म क्रियाका

---

१. ग्रामे ग्रामे काठकं कलापकञ्च प्रोच्यते (महाभाष्य ४.३.१०)।

२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् (मीमांसादर्शन १.२.१)।

उल्लेख यजुर्वेदमें प्राप्त होता है[1] । इसीलिए यह कहा जाता है कि यज्ञकर्म करते हुए जिन शब्दोंका अथवा वाक्योंका उच्चारण करना पड़ता है, वे शब्द या वाक्य ही "यजुष" संज्ञक हैं ।

यजुर्वेदमें प्राप्त इन वाक्योंको पढते हुए विधियोंका पालन क्यों करना चाहिए, यह भी उपपत्तिके साथ दिया गया है और साथ ही क्रम भी स्पष्ट कर दिया गया है । "पथ्यां स्वस्तिं यजति । पथ्यां स्वस्तिमिष्ट्वा अग्निषोमौ यजति । अग्निषोमाविष्ट्वा सवितारं यजति । सवितारमिष्ट्वा दितिं यजति" इन वाक्योंमें पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट ही दिया हुआ है ।

यजुर्वेदका महत्व इस बातसे भी सिद्ध होता है कि सायणाचार्यने पहले यजुर्वेदपर भाष्य किया उसके अनन्तर ऋग्वेदपर । यजुर्वेदभाष्यमें वे स्पष्ट लिखते हैं "भित्तिस्थानीयो यजुर्वेद: । चित्रस्थानीयौ इतरौ ।" यजुर्वेद दिवारकी जगह हैं तथा दिवारपर निकाले हुए चित्रोंका स्थान दूसरे दो वेदोंका है । ऋग्वेदके भाष्यारम्भ में इसी विषयको और अधिक स्पष्ट करते हुए सायण कहते हैं कि ऋग्वेद अभ्यर्हित है अर्थात् श्रेष्ठ है, आदरणीय है । उसे सभी जगह प्राथम्य दिया गया है । अध्ययन, पारायण ब्रह्मयज्ञ आदि सभी कर्मोंमें ऋग्वेदको प्राथमिकता दी गई है किन्तु ऋग्वेदका अर्थ समझना हो तो यज्ञके अनुष्ठान-विषयक ज्ञानके अभावमें वह नितान्त असम्भव हैं । और यह सब ज्ञान यजुर्वेदमें स्थित है, अत: ऋग्वेदका अर्थ जानने के लिए भी यजुर्वेदका जानना आवश्यक है । यही कारण था कि सायणाचार्य ने सर्वप्रथम यजुर्वेदका ही भाष्य किया क्योंकि उपजीव्य आधारभूत यजुर्वेद है[2] ।

यजुर्वेदकी एक मुख्य विशेषता इस बातको प्रकट करती है कि यजुर्वेद कर्मकाण्डका वेद है । वह विशेषता यह है कि यजुर्वेदके अनेक मन्त्रोंके अन्तमें "स्वाहा" शब्द आया है । ऋग्वेदके मन्त्रोंमें ऐसी बात नहीं है । मन्त्रोंके अन्तमें "स्वाहा" शब्द होनेसे यजुर्वेदमें कर्मकाण्डकी प्रधानता सूचित होती है ।

अन्य वेदोंकी अपेक्षा यजुर्वेदका महत्व इसलिए भी अधिक है कि पाकसं-स्थाक यज्ञोंको छोड़कर हवि एवं सोमसंस्थाक दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम,

---

१. ऋग्वेद सूक्त विकास (पृष्ठसं० ३४)।

२. एवं सति अध्वर्युसंबंधिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य। तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपावयवौ इतरेण वेद द्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम् (सायण, ऋग्वेद भाष्य भूमिका)।

वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणि, अश्वमेध, पुरुषमेध तथा प्रवर्ग्य यज्ञोंका इसमें पूर्ण वर्णन है ।

यज्ञसे सम्बद्ध (सृष्टिरचना, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, अन्न, ऋतु, धातु, मरुत, पितर, राजनीति, दर्शन आदि) सभी तत्व यजुर्वेदमें प्राप्त हो जाते हैं ।

यज्ञका व्यापक अर्थ :—

यज् धातुका अर्थ है देवपूजा, संगतिकरण और दान । धातुसे नङ् प्रत्यय करनेपर यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है- इन्द्रादि देवताओंका सत्कारभावन, इन्द्रादि देवताओंके पूजनका साधन वह कर्म जिसमें देवताओंकी पूजाकी जाय, देवताओंके लिए नाना प्रकारके उपहार जिस कर्ममें समर्पित किये जाय, देवता पूजित होकर तृप्ति प्राप्त करें अथवा जिनकी पूजा की जाय, वे विष्णु भी यज्ञके अर्थ हैं[१] ।

संगतिकरण अर्थमें—देश, जाति और धर्मकी मर्यादा रक्षाके लिए महापुरुष जहाँ एकत्र होकर विचार करें, विश्वकल्याणके लिए देशके कोने-कोनेमें परिभ्रमण कर वैदिक शिरोमणि विद्वानोंको और नाना प्रकारकी व्याख्या करने वाले विद्वानोंको जहाँ निमन्त्रित करके बुलाया जाय, अपने प्रेमी बन्धु-बाँधवादिकोंको, दर्शन करके पवित्र होनेके लिए जिस कर्म में बुलाया जाय वे सभी कर्म यज्ञ के अर्थ हैं[२] ।

दान अर्थ में-देश, काल और पात्रके अनुसार द्रव्यादिका दान भी यज्ञ है । देवताओंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक द्रव्यका त्याग, जिस कर्ममें हो वह भी यज्ञ है । याचकोंको जिस कर्मसे संतुष्ट किया जाय वह भी यज्ञ है । रोगियोंकी रोग निवृत्ति के लिए डाक्टर, वैद्योंको बुलाकर औषधादि वितरण और रोगपरिचर्या भी यज्ञ है । भगवच्चरणारविन्दमें अपना सर्वस्व समर्पण भी यज्ञ है । अंगोपांगसहित रहस्य सहित सच्छिष्योंको गुरुजनों द्वारा दिया जाने वाला वेदोंका उपदेश भी यज्ञ है[३] ।

---

१. यजनं इन्द्रादि देवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः (यज्ञ-मीमांसा)। इज्यन्ते सम्पूजताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अत्रेति यज्ञः।

२. यजनं धर्म-देश-जाति-मर्यादारक्षायै महापुरुषाणां एकीकरणं यज्ञः। इज्यन्ते संगतीक्रियन्ते विश्वकल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा महान्तो विद्वांसः वैदिकशिरोमणयः व्याख्यानरत्नाकराः निमन्त्रयते अस्मिन्निति यज्ञः।

३. यजनं यथाशक्ति देशकालपात्रादि विचारपुरस्सर द्रव्यादित्यागः।

यज्ञका मुख्य अर्थ :—

देवपूजा, संगतिकरण और दान-यह अर्थ गौण है । जैसे किसी कुत्तेको शौर्यक्रौर्य गुण देखकर शेर कह दिया जाता है । किन्तु वास्तव में वह कुत्ता ही है, शेर नहीं, वैसे ही ऊपर कहे हुए यज्ञके अर्थ गौण ही हैं, मुख्य नहीं ।

यज्ञका मुख्य अर्थ कात्यायनने अपने स्वरचित श्रौतसूत्रमें किया है । जिसका अर्थ इस प्रकार है—"(अग्नि आदि) देवताओंके उद्देश्यसे (दधि, सोम व्रीहियवादि) द्रव्यका त्याग"[१] । निरुक्तमें भी यही कहा गया है कि लोक और वेदमें विख्यात (अग्निमें देवोद्देश्यसे हविका त्याग) ही यज्ञ है । यजमान यज्ञमें देवताओंको तृप्तकर उनसे वर्षा आदिकी कामना करते हैं अथवा यजुसे क्लिन्न होकर (अर्थात् पुरोनुवाक्याओंसे प्रसन्न होकर) देवता यजमानकी कामनापूर्ति करते हैं, इसलिए यह यज्ञ कहा जाता है । औपमन्यव आचार्यका मत है कि इसमें कृष्णाजिनका प्रयोग बहुत होता है, इसलिए यह यज्ञ कहा जाता है । प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त यजुः ही यज्ञ पूरा करता है, इसलिए इसका नाम यज्ञ है[२] ।

जो सूक्ष्म और गुप्त शक्तियाँ अनन्त विचित्रताओंसे परिपूर्ण जगत्का संचालन करती हैं, ऋषियोंकी परिभाषामें उनका नाम देवता है । शक्तिके दो प्रकार माने गए हैं-अव्यक्त और व्यक्त । अव्यक्त शक्ति द्वारा कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, कार्य साधनके लिए शक्तिको उद्बुद्ध कर प्रयोग करना पड़ता है । जिस शक्तिसे जो कार्य सम्पन्न होता है, वह शक्ति जाग्रत होनेपर एवं समुचित रूप से उनका विनियोग होनेपर स्वाभाविक रूपसे उस कार्यको वह जाग्रत् शक्ति सम्पन्न करती है । कार्य करनेपर शक्तिका अपचय अवश्य होता है । इसलिए यदि शक्ति को अक्षुण्ण रखना है तो उक्त अपचयकी पूर्ति के लिए अर्थात् शक्तिकी पुष्टिके लिए उसमें भक्ष्यका समर्पण आवश्यक है, जिसके प्राप्त होनेपर शक्ति पुष्ट होकर अनवरत कार्य साधन करती है । सुप्त शक्ति निष्क्रिय है, उसको आहार की आवश्यकता नहीं किन्तु उस सुप्त शुक्तिके द्वारा कार्य भी सिद्ध नहीं होता । कार्य साधनके लिए शक्तिको जगाकर और उसके अनुरूप आहार देकर उसे समर्थ

---

१. यज्ञं व्याख्यास्यामः । द्रव्यं देवता त्यागः । (काश्रौसू० १.२.१-२) ।

२. यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः । याच्ञो भवतीति वा यजुभिरुत्पन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूँष्येनं नयन्तीति वा (निरुक्त ३.१९) ।

बनाया जाता है। इसीका नाम देवताके उद्देश्यसे द्रव्य त्याग है[1]। इसीलिए सर्वानुक्रमणिकामें देवताका निर्वचन "यस् हविर्दीयते सा देवता" किया गया है।

प्रकार भेदसे यद्यपि "यज्ञ"के बहुतसे निर्वचन प्राप्त होते हैं किन्तु कात्यायन द्वारा प्रदत्त यज्ञका लक्षण उक्त रहस्यको उद्घाटित करता है, जो वस्तुत: यज्ञ का स्वरूप है।

पञ्चाङ्गसम्पन्न यज्ञ :—

आर्ष ग्रन्थोंमें यज्ञके पाँच अंग वर्णित हैं, जिनके समझ लेनेपर यज्ञका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यज्ञके पाँच अंग ये हैं—देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा।

देवताके तीन भेद विद्वानोंने माने हैं—आजानज देवता, कर्म देवता तथा आजान देवता। आजानज देवता तथा कर्म देवता कर्मफलके भोक्ता हैं, वे दिव्य लोकमें रहकर कृत कर्मका फल भोगते रहते हैं, किन्तु आजान देवता ऐसे नहीं हैं। वे सब देवता सृष्टिके आदि कालसे उद्भूत हुए हैं। सूर्य-चन्द्र-वायु-वरुण-इन्द्र आदि इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। ये ही देवता स्तुति-आहुतिसे सन्तुष्ट होकर कर्मफल प्रदान करते हैं। ये देवता दिव्य, साकार तथा ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। साधनकी योग्यता होनेपर साधक इन देवताओंका साक्षात्कार भी करनेमें समर्थ हो जाता है। ये देवता योगीकी तरह अणिमादि सिद्धियोंसे सम्पन्न होकर एक ही समयमें अनेक शरीर धारण कर लेते हैं, इसीलिए भगवान् शंकराचार्यने अपने शारीरिक भाष्यमें लिखा है—एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु योगेषु युगपदङ्गभवं गच्छ-तीति। परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगात् (ब्रह्मसू० १.३.२७)।

यज्ञकी दूसरा अंग हविर्द्रव्य है। यज्ञमें दिया जाने वाला यही द्रव्य आजान देवताओंका आहार है। एक बारमें हविर्द्रव्यका जितना अंश देवताओंको समर्पित किया जाता है, उसे आहुति कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार इसका आहूति अथवा आह्वान् अर्थ है क्योंकि इसीके द्वारा यजमान देवताओंको बुलाते हैं[2]। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार जो कोई भी (इष्टिरूप स्वर्गके) मार्ग हैं, और जो (उस मार्गकी

---

१. पंडित गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित "यज्ञका रहस्य" नामक लेख से उद्धृत्।

२. आहूतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहुतीनामाहूतित्वम् (ऐब्रा० १.२)।

अवयवरूप) आहुतियाँ हैं, ये द्विविध रास्ते ऊतियाँ हैं[1] और यजमान निश्चय ही इनके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करता है अर्थात् ये स्वर्ग प्रापक हैं[2] ।

विधिके साथ यदि केवल एक भी हवि समर्पित की जाय तो देवता उसीको बहुत समझकर सन्तुष्ट होते हैं । अग्निमें हवि अर्पण करना वस्तुत: देवताके मुखमें ही अर्पण करना है । अग्निमें प्रविष्ट होकर हवि अमृत रूपमें परिणत होती है, याज्ञिक लोगोंका यही सिद्धान्त विद्वानोंने प्रामाणिक माना है । शक्तिसम्पन्न शब्दराशि मन्त्र है, जिसके प्रभावसे हवि देवताके समीप भोग्य रूपसे पहुँचती है ।

यज्ञका चतुर्थ अंग ऋत्विक् है । जिस विद्वान् ब्राह्मणको यज्ञ करनेके लिए आमन्त्रित किया जाता है, उसीका नाम ऋत्विक् है । यज्ञीय सम्पूर्ण कर्मकाण्डका अनुष्ठान केवल एक यजमान बिनी किसी सहायकके नहीं कर सकता, सहायकके रूपमें वह ऋत्विजोंको आमन्त्रित करता है, जो विधिके सम्पूर्ण ज्ञाता होते हैं तथा जिनके आश्रित रहकर यजमान यज्ञकर्मका समुचित फल प्राप्त करता है ।

ऋग्वेदके आधारपर कहा जा सकता है कि विधिके सम्पूर्ण ज्ञाता होनेके कारण अध्वर्यु यज्ञके नेता,[3] होता यज्ञके अनुष्ठाता,[4] ऋत्विक् तथा यजमान यज्ञके अध्यक्ष[5] पदपर विभूषित हो चुके थे ।

प्रसंगत: यह कहना अनावश्यक नहीं होगा कि पुरोहित आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न होता था तथा साथ ही यज्ञमें क्रिया परिवर्तनके द्वारा वह यजमानके अंगों, उसके जीवन, उसकी सम्पत्ति और साम्राज्य तक को नष्ट करनेकी सामर्थ्य रखता था । ऋत्विजोंकी इन अलौकिक विशेषताओंके कारण यजमानको उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करनी पड़ती थी । ऋत्विजोंके अनुकूल रहना पड़ता था तथा उनकी प्रसन्नतामें ही यज्ञकी क्रियाकी सिद्धि मानता था ।

---

१. हूयन्ते देवा अस्मिन्निति हवोऽत्र सोमयागो याभिरिष्टिभिस्तत्र ताभिराहुतिभिश्च निमित्तभूताभिर्देवा यजमानस्य यज्ञमागच्छन्ति ता इष्टय आहूतयश्चोतय इत्येतन्नाम प्रतिपद्यन्ते (सायणका ऐब्रा० पर भाष्य) ।

२. ये केचित् पन्थान इष्टिरूपाः स्वर्गस्य प्रौढमार्गाः सन्ति याश्च स्तुतयस्तन्मार्गावयवारूपा आहुतयः सन्ति ता द्विविधा ऊतय इत्युच्यन्ते । त उ एवैतत्त एवैते द्विविधा अपि मार्गा यजमानस्य स्वर्गयाणाः स्वर्गपापका भवन्ति (ऐब्रा० १.२ पर सायणभाष्य) ।

३. ऋसं० (६.४१.२) ।

४. ऋसं० (१०.१२४.१) ।

५. ऋसं० (१०.१२४.१) ।

पुरोहितके कार्योंको घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता, वस्तुत: उनको अत्यधिक योग्यताके साथ कठिन कार्य करने पड़ते थे ।

यहाँ यह कह देना भी अनुचित नहीं होगा कि किसी भी यज्ञका परिणाम निश्चित एवं यथार्थ होता है किन्तु अयोग्य ऋत्विजोंसे ऊटपटांग तरीकेसे यज्ञ कराकर सफलता पाना दिनमें तारे देखना है ।

यज्ञ एक भयानक वस्तु है, यह एक भयंकर वन्य पशु है, जिसे शान्त किया जाता है । ब्राह्मण तथा संहिता ग्रन्थ साक्षी हैं कि स्वयं देवताओं तक को अपने अविवेकके कारण भयानक हानि सहन करनी पड़ी थी । पूषाके दाँत टूट गए, सविताके हाथ कटकर स्वर्णके बन गए और भगको अपनी आँखोंसे वंचित होना पड़ा[१] । त्वष्टाने अशुद्ध स्वरके द्वारा इन्द्रके स्थानपर स्वयं अपने पुत्रका विनाश कर लिया[२] । पुरोहित भाल्लवेयके यज्ञमें एक त्रुटि हो गई, वह गिर पड़ा और उसकी भुजा टूट गई[३] । आषाढि सौश्रोमतेयने यज्ञवेदीके निर्माणके समय वध किये जाने वाले पाँच शिरोंको कहींसे लाए हुए शिरों द्वारा बदलना चाहा और इसका मूल्य उसे अपना जीवन देकर छुटाना पड़ा[४] । यज्ञमें त्रुटि होनेके भयंकर परिणाम हो सकते हैं, उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है ।योग्य ऋत्विक् की नियुक्ति यज्ञका सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है, जिसके सहारे यजमान यज्ञकर्मफल प्राप्त करता है ।

यज्ञका अन्तिम अंग दक्षिणा है । यज्ञके अन्तमें ब्राह्मणोंको उनके पारिश्रमिकके रूपमें जो दिया जाता है, उसी द्रव्यका नाम दक्षिणा है । कर्म कराकर यदि दक्षिणा न दी जाय तो कर्म पूर्णरूपसे फल उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है ।

मत्स्यपुराणमें देवताके स्थानपर पशुका उल्लेख किया गया है[५] । वेदने यज्ञोंका सारतत्त्व पशु ही बतलाया है । यज्ञ ने पशुरूप धारण कर पलायन किया

---

१. तैसं० (२.६.८.३, शब्रा० १.७.४.६-८, कौब्रा० ६.१३-१४) ।

२. तैसं० (२.५.२.१, शब्रा० १.६.३.१०) ।

३. शब्रा० (१.७.३.१९) ।

४. शब्रा० (६.२.१.३७) ।

५. पशूनां द्रव्य हविषां ऋक्सामयजुषां तथा । ऋत्विजां दक्षिणायाश्च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥ (मत्स्यपुराण १४४.४४) ।

था । इन्द्रका सार स्तनयित्नु (मेघ) और उसका सार अशनि (वज्र) था । प्रजापतिका सार यज्ञ और यज्ञका सार पशु था[१] ।

इस प्रकार पाँच अंगोंका ज्ञान परमावश्यक है । पाँच अंगों (देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा) के सम्यक् ज्ञानके अभावमें यज्ञके वास्तविक स्वरूपका रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकता । यज्ञके पाँच आधार हैं, इन्हींसे "यज्ञ" अपने स्वरूपमें स्थित होता है ।

यज्ञोंकी उत्पत्ति एवं उसका विकास :—

भारतीय परम्पराके अनुसार गृह्य एवं श्रौतकर्मोंका अनुष्ठान प्रवाहनित्यत्वन्याय तथा ऋतुलिंगन्यायके समान युगयुगान्तरोंसे माना जाता रहा है । परम्परागत रीतिसे ही आधानके द्वारा तीनों (गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि) अग्नियोंका संस्कार करके, तीन पवमानेष्टियोंका अनुष्ठान करके यजमानके द्वारा यथाकाल अग्निहोत्रादिकोंका अनुष्ठान किया जाता रहा है ।

उपलब्ध वैदिक ग्रन्थों, ब्राह्मणों तथा सूत्रोंमें एवं उन पर लिखे गए भाष्यों, वृत्तियों, टीकाओं वार्तिकों, टिप्पणियों तथा पद्धतियोंके माध्यमसे जिन वैदिक श्रौतयज्ञोंके विधि-विधानका सम्पूर्ण ज्ञान आज हमें प्राप्त होता है, वह प्राचीन समय में कब अस्तित्वमें आया तथा किस क्रमसे वह धीरे धीरे विकसित होता हुआ इस रूपमें आकर स्थिर हुआ, यह स्वाभाविक जिज्ञासा उठने लगती है ।

यज्ञोंकी उत्पत्तिका इतिहास बहुत प्राचीन है । प्रा० ह० रा० दिवेकर लिखते हैं कि ऋक्पूर्व कालमें अर्थात् "तत्सवितुर्वरेण्यम्" यह पहली ऋचा जिस समय विश्वामित्र[२] के द्वारा प्रकट हई, उसके पूर्व सोम तथा होम दोनों बातें हमें ज्ञात थीं अर्थात् सोमवल्लीका रस निकाल उसका सेवन करना और अग्निमें देवताओंके

---

१. कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञः पशुवः इति (बृउ० ३.९.६) ।

२. यह विश्वामित्र महाभारत पूर्व ६४ वीं पीढ़ी में विद्यमान माना गया है । इस गणना के अनुसार विश्वामित्र महाभारतपूर्व १६०० वर्ष में उपस्थित माने जा सकते हैं । महाभारत का युद्ध हमारी प्राचीन गणनानुसार ख्रिस्त पूर्व ३१०२ वर्ष में हुआ था, अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि विश्वामित्र ४७०२ वर्ष क्रिस्ते पूर्व में विद्यमान थे । (ऋग्वेद सूक्त विकास (पृष्ठ सं० २१) ।

नाम से हविर्भाग देना हम जानते थे[१] । इन बातोंकी विशिष्ट विधि अभी निश्चित नहीं हो सकी थी[२] । दिवेकरजी के ही अनुसार महाभारत पूर्व १५०० से लेकर ११२५ वर्ष तक नये-नये यज्ञोंका निर्माण हुआ, यज्ञोंके साथ-साथ नई देवताएँ भी कल्पित की गई[३] ।

ऋक्पूर्व कालमें जिस समय हिमालयसे आर्य उत्तरमें आए और कौसल देशमें बसने वाले वसिष्ठ वर्गके लोगोंने इस पृथिवीपर इक्ष्वाकुको राजा बनाया, उसी समय हिमाचलके दूसरे मार्गसे "पुरूरवा" नामक बलशाली व्यक्तिने कौसल देशके किंचित् पश्चिममें गंगा नदीके उत्तर तीरपर प्रतिष्ठान नामक नगरी बसाई । उसी समय पुरूरवाके साथ ही अग्निनिर्माण करनेकी कला जानने वाले भृगुकुलके लोग यहाँ पर आए ।[४]

हौत्रकर्म भी धीरे-धीरे प्रारम्भ होने लगा था । "हूयते अनेन इति हौत्रम्" देवोंका आवाहन जिससे होता है, उसीको हौत्र कहते हैं । हौत्रकी उक्त परिभाषा निश्चित हो गई थी । सायणने हौत्र शब्दका यही अर्थ किया है । हौत्रकर्मका प्रारम्भ इस प्रकारसे हुआ कि उस कालमें मनुष्यने प्राकृतिक शक्तियोंको अपने अनुकूल करनेकी चेष्टामें "घोर" रूप वाली प्राकृतिक शक्तियोंको सन्तुष्ट करने तथा "शिव" रूप वाली प्राकृतिक शक्तियोंके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिए प्राप्त वस्तुओंमें थोड़ा सा भाग अर्पण करनेकी कल्पना अपने ही आपसी व्यवहारसे निकाली । बादमें इसी समर्पण क्रियाका नाम "यज्ञ" हुआ । प्राकृतिक शक्तियोंमें मनुष्योंके द्वारा धीरे धीरे "देवत्व" प्रतिष्ठित हुआ, पुनः मनुष्योंने अपनी कल्पनानुसार उस देवत्व प्राप्त प्राकृतिक शक्तिको कल्पनानुसार रूप दिया और नाम पुकारकर इष्ट पदार्थ समर्पित करने लगे । समर्पणके अवसरपर देवताके लिए "इदं न मम" यह गद्य वाक्य प्रयुक्त किया गया । यही क्रिया हौत्र नामसे प्रसिद्ध हुई ।

---

१. श्रुति में इस प्रकार का उल्लेख किया गया है—अग्निर्हि देवानां जठरम् (तैआरउपनि० २०.७.१२)। इमं यज्ञं नोवह (अग्ने) स्वर्देवेषु गन्तवे (ऋसं० ९.१७)। अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति (शब्रा० ३.१.३.१)। स यद् अग्नौ जुहोति तद् देवेषु जुहोति (शब्रा० ३.६.२.२५)।

२. ऋग्वेद सूक्त विकास (पृष्ठ सं० १६)।

३. ऋग्वेद सूक्त विकास (पृष्ठ सं० २२)।

४. ऋग्वेद सूक्त विकास (पृष्ठ सं० २९)।

हौत्र कर्म प्रारम्भ तो हुआ किन्तु "न मम" शब्दोंके साथ देवताको अर्पण की हुई वस्तु उस देवताने स्वीकार की या नहीं, यह समझनेका कोई साधन नहीं था। पक्षान्तरमें जब वही वस्तु पशु-पक्षी कीटक आदिकोंका भक्ष्य बनती हुई दीखती तब तो शंका ही उत्पन्न होती थी कि अर्पित की गई वस्तुको उस देवताने स्वीकार किया अथवा उस पशु-पक्षी कीटक आदिने उसका भक्षण किया है। परन्तु आगे भृगुब्राह्मणोंके द्वारा जब अग्निको "देव" मान लिया गया और "इदं न मम" कहकर अग्निको पदार्थ अर्पित किया जाने लगा तब उस पदार्थके अग्नि रूप हो जानेपर उक्त शंका करनेका कोई कारण नहीं रहा। बादमें दूसरी देवताओंके विषयमें भी समर्पित वस्तु अन्यत्र कहीं रखनेकी अपेक्षा अग्निको ही समर्पित करने का विधान किया गया तथा साथ ही यह भी माना जाने लगा कि अग्निदेव उस वस्तुको उक्त देवताओंके पास पहुँचाता है। इस प्रकार अग्निदेव हविर्भाग पहुँचाने वाला "वह्नि" (वहन करने वाला) बना। इस प्रकार अग्नि प्रज्वलित करना और जिस देवताको हवि देना हो, उसका नाम लेकर वह पदार्थ अग्निके स्वाधीन करना, यही प्रथा प्रचलित हुई। स्वयंकी इच्छाके अनुरूप होने वाली इस क्रियाको स्वाहाकृति या स्वाहाकारके रूपमें स्वीकार किया गया। जो हौत्र कर्मसे प्रसिद्ध था, वह स्वाहाकारमें रूपान्तरित हुआ।

धीरे-धीरे अपनी-अपनी इष्टदेवताको हविर्भाग अग्निमें डालकर तृप्त करने का मार्ग प्रशस्त हुआ और भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी इच्छाओंके अनुसार नए-नए देवताओंकी कल्पनाएँकी जाने लगी। इनमेंसे किसी भी देवताको कुछ समर्पित करना धर्म अथवा कर्त्तव्य माना गया। यह कृत्य स्वयं भी किया जाता अथवा किसीसे करवा भी लिया जाता। जब किसीसे उक्त कृत्य करवाया जाता तो उसे कुछ देना भी पड़ता और इस दानको भी सत्कृत्य माना। इस प्रकार शनैः शनैः यजन-याजन क्रियाका "यज्ञ" ही सर्वमान्य वाचक हुआ। यज्ञ अर्थात् यजन क्रिया-देवता समर्पण कर्म।

जब यज्ञ दूसरोंके हाथोंसे करवाया जाने लगा तो मुख्य ऋत्विक् "अध्वर्यु" नामसे प्रचलित हुआ। "अध्वर्यु" नाम भी तभी रूढ हुआ जब यज्ञको "अध्वर" कहा गया। यज्ञके लिए वेदी तैयार करना, समिधा तोड़ लाना, यज्ञपात्र जमा करना, काष्ठस्तम्भसे अग्नि निर्माण करना, पशुको लाना, उसे मारना, अग्निमें उसकी आहुति देना ये सभी कार्य अध्वर्युके स्वाधीन थे। अब ये सारे काम मनमानीसे

किए जावें तो व्यवस्थित रूपसे नहीं हो सकेंगे, अतएव उनकी क्रमबद्ध व्यवस्थित विधि भी इसी समय निश्चित हुई होगी। निश्चित विधि निश्चित क्रमसे ही करनी हो तो वह क्रम याद रखना आवश्यक है, इसके लिए गद्य वाक्य बने, जो अध्वर्युके आवश्यक सबसे पहले मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रोंको यजुस् कहा गया। जब इन्हीं यजुस् का संकलन बादमें किया गया तो वही यजुर्वेद अथवा अध्वर्युवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ। यज्ञका विधिविधान और उसे बतलाने वाले वाक्योंका संग्रह यजुर्वेदका मूलरूप माना गया। जैसे जैसे यज्ञोंका प्रसार होता गया, वैसे वैसे यजुर्वेदका भी विकास होता गया।

अत्रिकी पत्नी अनसूयाके पुत्र सोमने सोमयागकी प्रशस्त प्रथाका प्रारम्भ किया। यद्यपि सोमवल्लीकी जानकारी पुरूरवाके समयसे ही थी किन्तु भृगुवंशज इस सोमवल्लीका रस निकाल हवन और सेवन दोनों करते थे। इस रसके सेवन से शरीरमें उत्साहका संचार होता था। पराक्रमके कृत्य उस जोशमें कर लिए जाते थे, किन्तु धीरे-धीरे सोमके उत्पत्ति स्थान मूंजवत् पर्वतसे जैसे जैसे ऋषि दूर बसते गए वैसे वैसे वह वल्ली दुष्प्राप्य भी होने लगी। दुष्प्राप्य होनेसे सोमका महत्व भी बढ़ा। इसलिए दूरके वनवासी लोगों द्वारा सोम मंगवाना, उसे मोल लेना, सत्कार पूर्वक उसे घर लाना, पुन: ठाठके साथ उसका रस निकालना, पुन: देवताओंको समर्पित करना तथा किंचित् मात्रामें उसका सेवन प्रसादके रूपमें स्वयं करना तथा करवाना आदि क्रिया-कलाप सोमयागमें संयुक्त हुए। आगे सोमसे सम्बन्धित पुरानी दन्तकथाओंमें नई बातें जोड़कर उनका संग्रह किया गया तथा तत्कालीन यजुर्वेदमें उनका समावेश भी किया गया।

ऋक्पूर्व युगमें सारी ही यजु:संहिताका हो जाना असम्भवनीय था। ऋग्वेद रचना प्रारम्भ होने से पूर्व आवश्यक यजुर्मन्त्रोंका निर्माण हो चुका था। आगे ऋक् और यजुस् दोनोंकी उन्नति साथ-साथ होती रही। यज्ञोंके लिए नए सूक्त रचे गए और साथ ही नये सूक्तोंके लिए नए यज्ञ भी निर्मित हुए। अग्निष्टोम यज्ञका भी निर्माण हुआ। यज्ञोंका विकास महाभारतयुद्धके समय तक चला। वेदव्यास द्वारा वेदोंके विभाग किये जानेपर यज्ञोंका विकास फिर नहीं हुआ। प्रा० ह० रा० दिवेकर की मान्यता है कि महाभारत पूर्व २५०० से लेकर १७०० वर्ष तक यज्ञोंका तथा यज्ञोंके लिए आवश्यक यजुर्मन्त्रोंका विकास हुआ।

वेदोंके व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणोंमें यज्ञोंकी उत्पत्ति एवं उनके विकाससे सम्बन्धित पर्याप्त सन्दर्भ प्राप्त होते हैं ।

ब्राह्मणोंमें यज्ञकी उत्पत्तिका सम्बन्ध विभिन्न देवताओंसे जोड़ा गया है । उन देवताओंमें प्रजापति सर्वप्रथम ऐसे देवता हैं, जो अनेक यज्ञोंकी उत्पत्तिके उत्स रहे हैं ।

ब्राह्मणोंमें वर्णित एक आख्यायिकाके अनुसार अग्निहोत्रकी उत्पत्तिका श्रेय प्रजापतिको ही है, जिन्होंने स्वाहाके साथ हविष्यका हवन किया, जो अग्निहोत्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

प्रजापतिके मनमें विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकारकी कामनाएँ उत्पन्न हुई जिनकी पूर्ति उन्होंने विभिन्न प्रकारके यज्ञोंका दर्शन और सेवन करके की । उदाहरणके लिए प्रजापतिने भोजनशक्ति प्राप्त करनेके लिए वाजपेयका दर्शन किया[१] । जिन जीवोंकी सृष्टि प्रजापतिने की, वे उनका पूजन नहीं करते थे, प्रजापतिने सोचा कि इन्हें मेरी पूजा करनी चाहिए, तब प्रजापतिने अपचिति यज्ञका दर्शन किया[२] ।

यज्ञके सम्बन्धमें प्रजापतिको और भी अनेक विस्तृत विषयोंका दर्शन प्राप्त हुआ । जीवोंकी सृष्टि कर चुकनेपर उन्होंने समझा कि मेरा तो पूरा दोहन हो चुका है, मैं रिक्त हो चुका हूँ, तब उन्होंने आप्री मन्त्रोंका दर्शन किया[३] ।

उत्पन्न जीवोंके द्वारा जब अन्य जीवोंकी सृष्टि नहीं हो सकी तो उस स्थितिमें प्रजापतिने साकमश्व नामक सामका दर्शन किया[४] ।

व्रात्यकाण्डमें व्रात्योंसे यज्ञकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है[५] । यजुर्वेदकी एक अन्य ऋचा यज्ञकी उत्पत्तिका रहस्य स्पष्ट करती है[६] ।

---

१. तांब्रा० (१८.७.१)।

२. जैब्रा० (२.१००)।

३. तांब्रा० (१५.८.२)।

४. ताब्रा० (२०.४.५)।

५. व्रात्यकाण्ड (पृष्ठ सं० १८)।

६. यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि (वासं० ३१.१६)

किए जावें तो व्यवस्थित रूपसे नहीं हो सकेंगे, अतएव उनकी क्रमबद्ध व्यवस्थित विधि भी इसी समय निश्चित हुई होगी। निश्चित विधि निश्चित क्रमसे ही करनी हो तो वह क्रम याद रखना आवश्यक है, इसके लिए गद्य वाक्य बने, जो अध्वर्युके आवश्यक सबसे पहले मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रोंको यजुस् कहा गया। जब इन्हीं यजुस् का संकलन बादमें किया गया तो वही यजुर्वेद अथवा अध्वर्युवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ। यज्ञका विधिविधान और उसे बतलाने वाले वाक्योंका संग्रह यजुर्वेदका मूलरूप माना गया। जैसे जैसे यज्ञोंका प्रसार होता गया, वैसे वैसे यजुर्वेदका भी विकास होता गया।

अत्रिकी पत्नी अनसूयाके पुत्र सोमने सोमयागकी प्रशस्त प्रथाका प्रारम्भ किया। यद्यपि सोमवल्लीकी जानकारी पुरूरवाके समयसे ही थी किन्तु भृगुवंशज इस सोमवल्लीका रस निकाल हवन और सेवन दोनों करते थे। इस रसके सेवन से शरीरमें उत्साहका संचार होता था। पराक्रमके कृत्य उस जोशमें कर लिए जाते थे, किन्तु धीरे-धीरे सोमके उत्पत्ति स्थान मूंजवत् पर्वतसे जैसे जैसे ऋषि दूर बसते गए वैसे वैसे वह वल्ली दुष्प्राप्य भी होने लगी। दुष्प्राप्य होनेसे सोमका महत्व भी बढ़ा। इसलिए दूरके वनवासी लोगों द्वारा सोम मंगवाना, उसे मोल लेना, सत्कार पूर्वक उसे घर लाना, पुनः ठाठके साथ उसका रस निकालना, पुनः देवताओंको समर्पित करना तथा किंचित् मात्रामें उसका सेवन प्रसादके रूपमें स्वयं करना तथा करवाना आदि क्रिया-कलाप सोमयागमें संयुक्त हुए। आगे सोमसे सम्बन्धित पुरानी दन्तकथाओंमें नई बातें जोड़कर उनका संग्रह किया गया तथा तत्कालीन यजुर्वेदमें उनका समावेश भी किया गया।

ऋक्पूर्व युगमें सारी ही यजुःसंहिताका हो जाना असम्भवनीय था। ऋग्वेद रचना प्रारम्भ होने से पूर्व आवश्यक यजुर्मन्त्रोंका निर्माण हो चुका था। आगे ऋक् और यजुस् दोनोंकी उन्नति साथ-साथ होती रही। यज्ञोंके लिए नए सूक्त रचे गए और साथ ही नये सूक्तोंके लिए नए यज्ञ भी निर्मित हुए। अग्निष्टोम यज्ञका भी निर्माण हुआ। यज्ञोंका विकास महाभारतयुद्धके समय तक चला। वेदव्यास द्वारा वेदोंके विभाग किये जानेपर यज्ञोंका विकास फिर नहीं हुआ। प्रा० ह० रा० दिवेकर की मान्यता है कि महाभारत पूर्व २५०० से लेकर १७०० वर्ष तक यज्ञोंका तथा यज्ञोंके लिए आवश्यक यजुर्मन्त्रोंका विकास हुआ।

वेदोंके व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणोंमें यज्ञोंकी उत्पत्ति एवं उनके विकाससे सम्बन्धित पर्याप्त सन्दर्भ प्राप्त होते हैं ।

ब्राह्मणोंमें यज्ञकी उत्पत्तिका सम्बन्ध विभिन्न देवताओंसे जोड़ा गया है । उन देवताओंमें प्रजापति सर्वप्रथम ऐसे देवता हैं, जो अनेक यज्ञोंकी उत्पत्तिके उत्स रहे हैं ।

ब्राह्मणोंमें वर्णित एक आख्यायिकाके अनुसार अग्निहोत्रकी उत्पत्तिका श्रेय प्रजापतिको ही है, जिन्होंने स्वाहाके साथ हविष्यका हवन किया, जो अग्निहोत्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

प्रजापतिके मनमें विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकारकी कामनाएँ उत्पन्न हुई जिनकी पूर्ति उन्होंने विभिन्न प्रकारके यज्ञोंका दर्शन और सेवन करके की । उदाहरणके लिए प्रजापतिने भोजनशक्ति प्राप्त करनेके लिए वाजपेयका दर्शन किया[१] । जिन जीवोंकी सृष्टि प्रजापतिने की, वे उनका पूजन नहीं करते थे, प्रजापतिने सोचा कि इन्हें मेरी पूजा करनी चाहिए, तब प्रजापतिने अपचिति यज्ञका दर्शन किया[२] ।

यज्ञके सम्बन्धमें प्रजापतिको और भी अनेक विस्तृत विषयोंका दर्शन प्राप्त हुआ । जीवोंकी सृष्टि कर चुकनेपर उन्होंने समझा कि मेरा तो पूरा दोहन हो चुका है, मैं रिक्त हो चुका हूँ, तब उन्होंने आप्री मन्त्रोंका दर्शन किया[३] ।

उत्पन्न जीवोंके द्वारा जब अन्य जीवोंकी सृष्टि नहीं हो सकी तो उस स्थितिमें प्रजापतिने साकमश्व नामक सामका दर्शन किया[४] ।

व्रात्यकाण्डमें व्रात्योंसे यज्ञकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है[५] । यजुर्वेदकी एक अन्य ऋचा यज्ञकी उत्पत्तिका रहस्य स्पष्ट करती है[६] ।

---

१. तांब्रा० (१८.७.१) ।

२. जैब्रा० (२.१००) ।

३. तांब्रा० (१५.८.२) ।

४. ताब्रा० (२०.४.५) ।

५. व्रात्यकाण्ड (पृष्ठ सं० १८) ।

६. यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि (वासं० ३१.१६)

ब्राह्मणग्रन्थोंके आधारपर यज्ञोंके आविर्भावके अनेक कारण स्पष्ट होते हैं—प्रथम कारण यह है कि स्वयं प्रजापतिने बहुतसे यज्ञोंको दानमें दिया, समय-समयपर प्रजापतिने देवताओंको यज्ञकी भूलोंका ज्ञान कराया तथा उनका परिमार्जन, किया, जिससे देवता लोग अपनी दुर्बलताओंको दूर कर पाए। उदाहरणके लिए १०० अग्निष्टोम तथा उक्थ्य करने पर भी असुर द्वारा घेरे हुए पूरे अन्धकारको देवता दूर नहीं कर पा सकनेपर जब स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सके तो प्रजापतिने देवताओंको १०० अतिरात्र और करनेका उपदेश दिया तथा बादमें १०० अतिरात्रोंकी भूलें भी ठीक की, जिससे देवताओंने स्वर्ग प्राप्त किया[१]। प्रजापतिने दैवी व्रात्योंको व्रात्यस्तोम यज्ञ दिया[२]। प्रजापति द्वारा देवताओंको कालेयसाम दिये जानेका भी उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थोंमें मिलता है[३]।

कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि प्रजापतिने जहाँ यज्ञोंका दान किया, वहाँ कुछ यज्ञोंको उसने प्रकट नहीं किया, अर्थात् उन अप्रकट यज्ञोंको अपने लिए आरक्षित रक्खा, किन्तु देवताओंने उन आरक्षित किए हुए यज्ञोंको भी जानना चाहा, तब प्रजापतिने उज्जिति हवन प्रदान किया[४]। देवताओंने जब आरक्षित अश्वमेध यज्ञका कुछ भाग जानना चाहा तो प्रजापतिने देवताओंको अन्नहोम प्रदान किया[५]। यद्यपि प्रजापतिने अपने लिए वाजपेय भी आरक्षित किया था तथापि बादमें वह भी प्रजापतिने देवताओंको प्रदान किया। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि किस प्रकार अन्नहोम, उज्जितिहोम तथा वाजपेययज्ञोंका प्रादुर्भाव हुआ।

दूसरा प्रमुख कारण यह है कि इन्द्रने स्वयं अनेक यज्ञोंके दर्शन किए तथा बहुतसी यज्ञीय क्रियाओंको उसने सिखाया। यज्ञोंकी विकास परम्परामें इन्द्रका यह व्यवहार भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्द्रने वसिष्ठको स्तोत्रभाग समझाया था[६]। इसके अतिरिक्त इन्द्रने वसिष्ठको प्रायश्चित्तका विधान भी समझाया[७]। विश्वा-

---

१. शब्रा० (११.५.५.१)।

२. जैब्रा० (२.२.२१)।

३. तांब्रा० (८.३.१)।

४. तांब्रा० (१.३.२.५-६)।

५. शब्रा० (१३.२.१.१)।

६. तांब्रा० (१५.५.२४, गोब्रा० २.२.१३)।

७. शब्रा० (१२.६.१.३८)।

मित्रको इन्द्रने उक्थ्य यज्ञ सिखाया था[१] । आदिकालमें सभी जीवोंका अधिपति बननेकी इच्छासे इन्द्रने षोडशीग्रहका दर्शन किया तथा स्वयं उसे ग्रहण किया[२] ।

दुष्ट शत्रुओंके वधकी इच्छासे इन्द्रने सर्वप्रथम "विघान" की उत्पत्ति की[३] । दूसरी बार पुन: सबका अधिपति होनेकी इच्छासे इन्द्रने "इन्द्रष्टोम" यज्ञका दर्शन किया[४] । तेज प्राप्त करनेके लिए इन्द्रने हारायण सामके दर्शन किये[५] । अग्नि और सूर्यके साथ इन्द्रने एक बार अधिपति होनेकी इच्छा व्यक्त की थी और उसने अतिग्राह्यका दर्शन किया तथा स्वयं उसे प्राप्त किया[६] ।

इन्द्रके अतिरिक्त अन्य देवताओंने भी यज्ञके विकासमें महत्वपूर्ण योगदान दिया है । उदाहरणके लिए त्वष्टाने "पुनराधेय" के दर्शन किये[७] । विश्वेदेवोंने द्यावापृथिवीको पुरोडाश देना प्रारम्भ किया[८] । सविताने अग्निचयनके सन्दर्भमें सावित्र होमका दर्शन किया[९] ।

अपनी कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए देवताओंने अनेक यज्ञोंका आविष्कार किया । असुरोंको हरानेके निमित्त देवताओंने "अभिभू" यज्ञका आविष्कार किया[१०] । तथा (सोम व विराज) जब उनके पाससे लुप्त हो गया तब देवताओंने तपस्या करके "ऋतपेय" यज्ञका दर्शन किया जो विराज (कान्तियुक्त) था[११] । असुरों को परास्त करनेकी इच्छासे देवताओंने तपस्या करके "अग्न्याधेय" के दर्शन किये (शब्रा० २.२.२.८-९) ।

---

१. षब्रा० (१.५.१, जैउब्रा० ३.४.१.१) ।
२. शब्रा० (४.५.३.१-२) ।
३. तांब्रा० (१९.१८.२) ।
४. जैब्रा० (२.१३९) ।
५. तांब्रा० (१४.९.३४) ।
६. शब्रा० (४.५.४.१-२) ।
७. शब्रा० (२.४.३.८) ।
८. शब्रा० (२.४.३.८) ।
९. शब्रा० (६.३.१.१) ।
१०. जैब्रा० (२.१०४) ।
११. जैब्रा० (२.१५८) ।

देवता यज्ञका स्वरूप स्थिर नहीं कर पाए, किन्तु जब उन्होंने सम्भारोंका संग्रह किया तो यज्ञ स्थिर हो गया, इस प्रकार यज्ञसम्भारोंकी उत्पत्तिका विवरण मिलता है[1] ।

शतपथब्राह्मणमें विवरण प्राप्त होता है कि सर्वप्रथम प्रजापतिने अग्निवेदीके प्रथम स्तरके दर्शन किये, देवताओंने दूसरे स्तरके, इन्द्र-अग्नि और विश्वकर्माने तीसरे स्तरके, ऋषियोंने चौथे तथा परमेष्ठिने पाँचवें स्तरके दर्शन किये[2] ।

सम्पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थोंमें इस प्रकारके विवरणोंका आधिक्य है, जिनके द्वारा यज्ञके दर्शनका समुचित ज्ञान प्राप्त होता है । तांब्रा० (८.६.३) के अनुसार प्रजापतिने यज्ञायज्ञीय सामकी उत्पत्ति की । गोब्रा० (२.३.२३) के अनुसार प्रजापतिने माध्यन्दिनसवनकी रचना की । इन्द्रने तृतीयसवनकी सृष्टि की (जैब्रा० १.५६) । तानूनप्त्रके द्वारा देवताओंने आपसका वैमनस्य दूर किया[3] ।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें बहुत सी गाथाएँ इस प्रकार की है, जिनके आधारपर यह निष्कर्ष निकलता है कि यज्ञमें बहुत सी क्रियाएँ देवताओंके अनुकरणके आधारपर अनुष्ठित की गई । अमुक देवताने अमुक प्रकारसे यज्ञक्रियाका अनुष्ठान किया तो मर्त्यलोकमें भी उसी प्रकारसे यज्ञक्रियाका अनुष्ठान प्रचलित हुआ ।

उदाहरणके लिए जब देवताओंको असुरोंके पराजयकी इच्छा हुई, तब अग्निने देवताओंसे कहा कि असुर उत्तरकी ओर भागकर बच निकलते हैं, अत: मैं घूमकर उत्तरकी ओर चला जाता हूँ, तुम उन्हें यज्ञभूमिकी ओरसे रोक लेना । इस प्रकार हम उन असुरोंको तीनों लोकोंसे दूर कर देंगे । "स्तम्बयजुहरण" के प्रसंगमें आग्नीध्र इसी प्रकार घूमकर उत्तरकी ओर जाता है और अध्वर्यु कुशाके मुट्ठोंको फेंकता है, जो असुरोंको दबानेके कृत्यका रूप है[4] ।

अग्निष्टोमके अन्तर्गत सोमक्रयके प्रसंगमें जो एक बछिया देकर सोम खरीदा जाता है तथा सोमक्रयके पश्चात् किये जाने वाले अग्निप्रणयन नामक कृत्यसे पूर्व उपांशु स्वरमें जो ऋचाका पाठ किया जाता है, उसके पीछे देवताओं

---

१. तैब्रा० (२.२२.५-६)।

२. शब्रा० (६.३.२.१०)।

३. ऐब्रा० (१.२४, शब्रा० ३.४.२.१, गोब्रा० २.२.२)।

४. शब्रा० (१.२.४.१२-१३)।

का अनुकरण ही मुख्य कारण है, जिसका उल्लेख इस गाथामें है कि देवताओंने वाणीके कहनेपर सोमराजाको गन्धर्वोंसे खरीद लिया। इसके बदले स्त्रीरूप धारण की हुई वाणीको गन्धर्वोंको बेच दिया। इसीके अनुकरणपर बछिया देकर अग्नि-ष्टोमके अन्तर्गत सोम खरीदा जाता है। आख्यानके अनुसार गन्धर्वोंसे वाणी पुन: देवताओंके पास आ गई थी अत: इस अनुकरणके आधारपर सोमविक्रेतासे बछिया पुन: ले ली जाती है, क्योंकि सोम-खरीदनेपर वाणी देवताओंके पास नहीं, गन्धर्वोंके पास चली गई अत: सोमक्रयके अन्तर्गत मन्त्र उपांशु ही बोले जाते हैं। अग्निप्रण-यनके पश्चात् वाणी देवताओंके पास पुन: आ गई अत: अग्निष्टोममें अग्निप्रणयन के पश्चात् मन्त्रोंको पहलेकी तरह वैखरीमें उच्चारण किया जाता है। उक्त उदाहरणसे स्पष्ट होजाता है कि सोमक्रयकी उक्त क्रियाएँ देवताओं द्वारा किये गए अनुष्ठानके अनुसार ही मर्त्यलोकमें अनुष्ठित की गई। देवताओंके अनुकरणके आधारपर ही सोमक्रयका स्वरूप स्थिर किया गया।

देवताओंने धेनुके चार-तीन-दो और एक स्तनपर आश्रित होकर तथा अन्त में सब कुछ त्यागकर अमृतत्व प्राप्त किया, इसी अनुकरणपर यजमान भी गायके चार-तीन-दो और एक स्तनका आश्रय लेकर तथा अन्तमें सब कुछ त्यागकर व्रत करता है[१]। इस प्रकार यज्ञीय क्रियाएँ देवताओंके अनुकरणके आधारपर अनुष्ठित की गई।

किसी-किसी यज्ञीय अनुष्ठानका सम्बन्ध देवताओंकी किसी विशेष घट-नासे भी सम्बन्धित रहा। उदाहरणके लिए जब प्रजापतिने मनके पक्षमें निर्णय दिया तो वाणीने गरम होकर कहा कि मैं तुम्हारा हविष्य नहीं वहन करुँगी, इसीलिए आज तक देवताओंकी इस घटनाके आधारपर प्रजापतिको दी जाने वाली हविका मन्त्र अनुदात्त स्वरमें ही पढ़ा जाता है[२]।

प्रजापति या इन्द्र द्वारा प्राप्त यज्ञ अथवा याज्ञिक क्रियाएँ अथवा देवताओं द्वारा देखी हुई क्रियाएँ मनुष्योंके लिए सरलतासे उपलब्ध नहीं थी, क्योंकि देवता लोग मनुष्योंसे यज्ञको छिपाते थे। देवताओंको हर समय भय रहता कि कहीं यज्ञ विद्या प्राप्त करके मनुष्य भी स्वर्ग न प्राप्त कर ले। तब देवताओंने यज्ञका तत्त्व इस प्रकार चूस लिया जिस प्रकार मधुमक्खी रस चूस लेती है। ऋषियोंने यह सुना तो

---

१. शब्रा० (९.५.१.१)।

२. शब्रा० (१.६.३.१)।

उन्होंने देवताओंकी स्तुति की तथा अनेक प्रयत्न भी किये । ऋषि ऐसे स्थानपर भी गए जहाँ देवताओंके द्वारा यज्ञ किया गया था । वहाँ उन्हें पुरोडाश मिला, जो कच्छप बन कर इधर-उधर भ्रमण कर रहा था । ऋषियोंने विचार किया कि यही कच्छप यज्ञ होगा । उन्होंने उससे कहा कि अश्विनोंके लिए रुक जाओ, इन्द्रके लिए रुक जाओ, किन्तु वह रुका नहीं, रेंगता ही रहा । अन्तमें जब ऋषियोंने "अग्निके लिए रुक जाओ" ऐसा कहा तो वह कच्छप रुक गया, तब ऋषियोंने अग्निमें इस कच्छपकी आहुति दी, ऐसा करने पर यज्ञ प्रकट हो गया[१] । बादमें ऋषियोंने उस यज्ञका विस्तार किया । यह यज्ञ क्रमागत रूपसे पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा । प्रत्येक पीढ़ी उक्त यज्ञको सीखती गई और उसका अनुष्ठान करती गई । उक्त आख्यान कुछ भेदके साथ ऐब्रा० (२.१) में भी प्राप्त होता है । वहाँ न तो कच्छप वाली बात है और न वंशानुगत क्रमसे उसके विस्तारका ही उल्लेख है । वहाँ केवल इतना कहा गया है कि ऋषि और मनुष्य उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ देवताओंने यज्ञ किया था । तब उन्होंने देवताओंसे अनुष्ठित यज्ञभूमिका चारों ओरसे परीक्षण करके "यह यूप यज्ञका चिह्न है" ऐसा कहते हुए उस यूपको प्राप्त किया, जो पृथिवीमें नीचे की ओर मुख करके गड़ा हुआ था । उन्होंने जान लिया कि इसी अधोमुख यूपके द्वारा देवताओंने अपने यज्ञको अन्यथा कर दिया, अर्थात् उलट-पलट दिया । तब ऋषियों व मुनियोंने यूपको उखाड़कर उसका सिरा ऊपरकी ओर गाड़ दिया । इसके पश्चात् शास्त्रके अनुसार अवस्थित यूपके द्वारा मनुष्यों व ऋषियोंने देवताओं से अनुष्ठित यज्ञको जानकर उस यज्ञका अनुष्ठान किया । ऐब्रा० (१.१३) के अनुसार ऋषि ऐसे स्थानपर भी पहुँचे, जहाँ यज्ञमें देवताओंने पशुके आमाशयकी आहुति दी थी । ऋषियोंको वहाँ यज्ञपशु आमाशयहीन मिला, जिससे उन्होंने जान लिया कि यज्ञमें पशुके आमाशयकी आहुतिका बड़ा महत्व है । ब्राह्मणोंमें ऐसे बहुतसे आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषियोंने देवताओंकी स्तुतिके द्वारा तथा अनेक प्रकारके प्रयत्नके द्वारा देवताओंसे यज्ञसूत्र प्राप्त किये । अग्निवेदीके चतुर्थ स्तरका दर्शन ऋषियोंने ही किया था (शब्रा० ६.२.३.१०) । गोब्रा० (१.५.२५) के अनुसार अंगिरसोंने सातों सोमयाग, सातों पाकयज्ञ तथा सातों हविर्यज्ञ कर लिये थे । ऋषियोंने नवीन यज्ञोंका भी आविष्कार समय-समय पर किया । कामनाके वशीभूत होकर ऋषियोंने भी अनेक यज्ञोंके दर्शन किए ।

---

१. शब्रा० (१.६.२.१) ।

उदाहरणके लिए पशु प्राप्त करनेकी इच्छासे गौतमने चतुष्टोम यज्ञके दर्शन किये (जैब्रा० २.१७३)। चार पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे अत्रिने चतुरात्र नामक यज्ञका दर्शन किया (जैब्रा० २.१८१)। जमदग्निने जामदग्न्य यज्ञका दर्शन किया (जैब्रा० २.२८४)। अपने सभी पुत्रोंके मारे जानेपर वसिष्ठने वसिष्ठसाम का दर्शन करके अनेक पशु और पुत्र प्राप्त किये (जैब्रा० २.२६)। युधाजीव विश्वामित्रने प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी इच्छासे तपस्या की तथा यौधाजयसामके दर्शन किये (जैब्रा० १.१२२)।

इतना ही नहीं ऋषियोंने यज्ञानुष्ठान, यज्ञ-दर्शनके अतिरिक्त अपनी प्रति-भासे अनेक यज्ञोंका स्वयं आविष्कार किया। यज्ञोंके परिणामको भी स्पष्टतः जानने का प्रयत्न किय। उदाहरण के लिए ऋषियोंने उपसदोंकी आज्यहविके घृतका यह परिणाम जान लिया था कि यह घृत गले तथा मुखके सौन्दर्यको बढ़ाने वाला है। देविका और देवियोंके लिए पुरोडाश देनेसे बलिष्ठ पुंसन्ततिकी वृद्धि होती है, साथ ही दिया गया यह पुरोडाश पानीमें डूबनेसे भी बचाता है। जानश्रुतेयने ज्ञात कर लिया था कि सूर्योदयके पश्चात् होने वाला हवन अनेक सन्तति देने वाला होता है। रामभार्गव ऋषिने उस रीतिका आविष्कार कर लिया था, जिसके द्वारा क्षत्रियों को भी सोमपानमें अधिकार दिया जा सकता है। सत्यकाम जाबालने व्याहृतिपूर्वक मन्त्रके पाठका विधान किया। एक ऋषिने "अंजः सव" क्रियाका आविष्कार किया। दर्शपूर्णमासमें व्रत न करनेका क्या प्रायश्चित्त होता है, इसका अन्वेषण पैंग्य ऋषिने कर लिया था (ऐब्रा० २.१३, १.२५, २.२४, ३.४८, ५.३०, ६.२९-३०, ७.२७, ७.३४, ८.७, ७.१८, ७.११ तथा ८.२९)।

यज्ञोंके विकासका श्रेय मनुष्योंको भी प्राप्त है, जिन्होंने अग्निसे अनुबन्ध करके अग्निहोत्रका ज्ञान प्राप्त किया। अग्निहोत्रकी उत्पत्ति मनुष्योंके द्वारा ही हुई[१]।

उपर्युक्त विवरणके आधारपर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही प्रजापति, देवता, ऋषियों व मनुष्योंके द्वारा यज्ञोंका प्रादुर्भाव होना प्रारम्भ हो गया था। समय-समयपर यज्ञीय अनुष्ठानोंमें विस्तार किया गया। कामनाभेदसे उनम-संशोधन भी हुए। ऋषियोंने अपनी प्रतिभासे नवीन यज्ञोंका भी आविष्कार किया। बहुत काल तक यज्ञीय कर्मोंका यथाविधि अनुष्ठान भी प्रचलित रहा। यज्ञीय अनुष्ठानमें मतभेद भी उत्पन्न हुए, जिनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है।

---

१. शब्रा० (२.३.३.१)।

यज्ञसे सम्बद्ध विषय बादमें अस्पष्ट हुए, जिनके समाधानके लिए मीमांसा दर्शनका प्रादुर्भाव हुआ । मीमांसा दर्शनने यज्ञीय सिद्धान्तोंका निर्धारण किया । मीमांसा सम्प्रदायके परिष्कृत होनेके उपरान्त भी जब लोगोंकी स्मरण शक्ति इतनी अधिक निर्बल होने लगी कि यज्ञोंका अनुष्ठान, यज्ञोंका रहस्य, उनका तात्पर्य विद्वानोंकी बुद्धिसे विस्मृत होने लगा, तब स्मरण शक्तिकी क्षीणताका विचार करके ऋषियोंने अपने विचारित निर्णीत विषयोंको सूत्र रूपमें ग्रथित किया । आगे चलकर विस्मरण शक्तिके कारण सूत्रोंसे विषयोंका आकलन तथा उसे ठीक ठीक निर्णय कर पानेमें लोगों को जब कठिनाई होने लगी तब तत्कालीन महान् विद्वानोंने उन सूत्रोंपर भाष्य, वृत्तियाँ, टीकाएँ, वार्तिक तथा पद्धतियोंकी रचना प्रारम्भ की ।

इस प्रकार यज्ञोंके विकासके साथ साथ यज्ञीय ग्रन्थोंका भी वृहद् मात्रामें निर्माण हुआ, जिसका अनुमान उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों, कल्पसूत्रों तथा उन पर लिखी गई वृत्तियों, भाष्यों, पद्धतियोंसे किया जा सकता है ।

यज्ञोंका आविर्भाव, उनका अनुष्ठान, उनमें परिवर्तन, संशोधन तथा यज्ञोंका विस्तार महाभारतयद्धके समय तक चला । वेदव्यास द्वारा वेदोंके विभाग किये जानेपर विकास बन्द हो गया ।

यज्ञकी महिमा :—

चिन्तन, मनन और स्वानुभवके आधारपर विद्वानोंका शास्त्रके निष्कर्षके रूपमें कहना है कि रुचि, प्राक्तन-संस्कार, अधिकार-सम्पत्ति आदिकी विचित्रतासे भगवत्प्राप्तिके साधन विविध प्रकारके होते हैं । कोई मार्ग अपेक्षाकृत सरल है तो कोई मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा, दुरूह, कष्टसाध्य और लम्बा है ।

उच्च अधिकारी शास्त्र-विहित “शाम्भव” उपायोंके द्वारा चित्तको हृदयमें स्थापित कर तथा उसकी स्थिरताके प्रतिबन्धक विकल्पराशिको चिन्तनशून्यताके प्रभावसे प्रशान्त कर अविकल्प परामर्श द्वारा देहादि कालुष्यसे अस्पृष्ट निज आत्माके चित्प्रमातृत्वकी निरन्तर भावनाकरके शीघ्र ही तुरीय अथवा तुरीयातीत अवस्थाका विकास करते हुए विकल्प-त्यागके सिद्ध हो जानेपर एकाग्रताके प्रभावसे परम पदको स्वयं प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिनका अधिकार इतना स्वल्प है कि इस पथसे अपने लक्ष्यको नहीं प्राप्त कर सकते, उन्हें यज्ञ-दान-तप आदि अन्य साधनोंका अवलम्बन करके परम पथपर अग्रसर होनेकी चेष्टा करनी पड़ती है ।

सभी शास्त्रीय साधनोंमें यज्ञका सर्वोपरि स्थान है, जिसका सहारा लेकर साधक यजमान क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करता चला जाता है।

शास्त्रपरिशीलनके आधारपर निःसन्देह कहा जा सकता है कि यज्ञानुष्ठानके अनन्तर ही मोक्ष प्राप्तिकी कामना जाग्रत होती है। वस्तुतः जब तक वैदिक गृह्य और श्रौतयागोंका अनुष्ठान नहीं कर लिया जाता, तब तक चित्त भी शुद्ध नहीं होता और अशुद्ध चित्तसे मोक्ष प्राप्तिकी कामना करना भी निरर्थक हो जाता है।

कर्त्तव्यरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिए जब अनासक्त भावसे वेदविहित यज्ञादिकोंका अनुष्ठान किया जाता है, तब मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (३.९) में यही प्रतिपादन किया है। भगवती श्रुति भी यही कहती है—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन (वृहदारण्यक ४.४.२२)। अतः वेद द्वारा प्रतिपादित यज्ञ चित्तशुद्धिमें मुख्य रूपसे हेतु है—"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (गीता १८.५)। इस प्रकार वैदिक यज्ञ-यागादि काम्य कर्मों में निष्णात् होनेपर अन्तमें चित्तशुद्धि करके निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति कर ली जा सकती है।[१] अन्य आप्त प्रमाण भी यही प्रतिपादन करते हैं।[२]

वेदव्यासरचित ब्रह्मसूत्र "सर्वपेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" (३.४.२६) के द्वारा भी मोक्षप्राप्तिमें यज्ञादि वर्णाश्रमधर्मको अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है।

सृष्टिके प्रारम्भसे ही देवताओं, ऋषियों तथा श्रेष्ठपुरुषोंके द्वारा आत्मोन्नतिके लिए यज्ञ किया जाता रहा। यदि जगत्के कल्याणकी भावनासे यज्ञ किया भी गया तो वह समष्टिसे सम्बद्ध होनेके कारण तथा निःस्वार्थताकी प्रधानता होनेसे दूषित नहीं माना जाता। जैसे विष्णुकामना तथा मोक्षकामना आदि कामना रूपसे प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः कामना नहीं है, वैसे ही अन्योंकी मंगलकामनासे कर्मका निष्कामत्व विनष्ट नहीं होता।

---

१. द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ (ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १७)।

२. मैत्र्युपनिषद् (५.२२, अमृतबिन्दु उपनिषद १७, महाभारत शान्तिपर्व ३१६.३०) भागवत के एकादशस्कन्ध में "कामिनः कृपणा लुब्धाः" आदि श्लोकों का भी यही तात्पर्य है।

साक्षात् परहितकी आकांक्षा न कर केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे अर्थात् शास्त्रीय विधिके अनुशासनसे अथवा भगवत्प्रेरणासे भी यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है, किन्तु यज्ञफलकी स्वर्गरूप आकांक्षा न करनेपर भी कर्म यदि किया जाय तो समयपर अवश्य फल उत्पन्न करेगा ही। वह स्वर्ग इत्यादि रूप फल व्यक्तिगत रूपसे कर्मकर्त्ता यजमान द्वारा ईप्सित न होनेके कारण व्यापकरूपसे सारे विश्वमें विकीर्ण हो जाता है। वस्तुतः यज्ञकी यही उत्कृष्ट परिणिति है। इस प्रकारके कर्मसे बन्धन तो होता नहीं, वरन् जो पहलेसे हुआ भी रहता है, वह भी शिथिल हो जाता है। इसीलिए गीतामें कहा गया है—"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" (३.९)। अथवा "यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते" (४.२३)।

यह ठीक है कि मोक्षप्राप्तिमें ज्ञानको कर्मकी अपेक्षा नहीं होती पर स्वयं ज्ञानकी उत्पत्तिमें यज्ञादि कर्मोंकी प्रारम्भमें अपेक्षा रहती है। कर्मका विधायक शास्त्र निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियोंके द्वारा होने वाला साधारण विषयका ज्ञान जिस प्रकार प्रतिबन्धके हटे बिना नहीं होता, उसी प्रकार अन्तःकरणसे उपासना सहयोग द्वारा होने वाला आत्मज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक कि उसके प्रतिबन्धक न हट जाएँ। आत्मज्ञानके प्रतिबन्धक अन्तःकरणके कषाय-मल हैं। जब तक अन्तःकरण राग-द्वेष-ईर्ष्या-मद-मात्सर्य आदिको उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त रहता है, तब तक आत्मज्ञान होना सम्भव नहीं। अन्तःकरणके इन मलोंको नष्ट करनेके निमित्त ही वेदविहित अग्निहोत्रादि नित्यकर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही शास्त्रने यज्ञादिकोंके अनुष्ठानका स्पष्ट उल्लेख किया है। इसीलिए यह कहा जाता है कि कर्म अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक है। यह तथ्य बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है[१]। ज्ञानकी प्राप्ति अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना सम्भव नहीं और अन्तःकरणशुद्धि बिना यज्ञानुष्ठानके सम्भव नहीं। इसीलिए यज्ञको सब आध्यात्मिक साधनोंमें सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

पूर्व मीमांसाके "चोदनालक्षणो धर्मः (१.१.२) में शबरने धर्म शब्दका अर्थ "याग" ही किया है[२]। आर्षग्रन्थोंमें ऐसे बहुतसे सन्दर्भ मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट

---

१. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन (४.४.२२)।

२. न केवलं लोके अपितु वेदेऽपि, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् इति यजति शब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति (शबरभाष्य)।

हो जाता है कि वेदोंकी प्रवृत्ति ही यज्ञों के लिए हुई[1]। ऋग्वेदकी एक ऋचा (१०.९०.१६) यज्ञको ही धर्मके रूपमें स्वीकार करती है। मनुके अनुसार यज्ञोंके सम्पादनके लिये ही अग्नि वायु तथा सूर्यसे तीन वेदोंके मन्त्र लिए गए[2]। मिताक्षरा (याज्ञ० २.१३५), दायतत्व (पृष्ठसं० १७३) तथा व्यवहारमयूख (पृष्ठसं० १५७) में एक श्लोक उद्धृत है, जिसमें कहा गया है कि सारी सम्पत्ति, यज्ञके लिए ही उत्पन्न की गई है, अत: उसका उपयोग धर्मके उपयोगमें होना चाहिए, न कि नारियों, मूर्खों व विधर्मियोंके हितके लिए[3]।

यज्ञसे केवल पारलौकिक सुख ही प्राप्त नहीं होता, वरन् इहलौकिक सुख भी प्राप्त होता है। महापुरुष जीवनमें प्रत्येक प्रकारकी सुख-समृद्धि यज्ञके द्वारा सदासे प्राप्त करते रहे हैं।

शास्त्रोंके अनुसार मोक्ष प्राप्तिके अतिरिक्त यज्ञसे अन्य भी बहुतसे लाभ हैं। जैसे देवयज्ञके द्वारा देवऋणका परिहार। सृष्टिके आदिसे ही देवता लोग मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिए, उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु-पक्षी, तृण औषधि आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं तथा अन्न, बल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं। इसीलिए उन सब वस्तुओंको उन देवोंका ऋण चुकाए बिना उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किए बिना स्वयं काममें लाने वाला मनुष्य कृतघ्न माना गया है। गीतामें उसको चोर कहा गया है।[4] अत: शास्त्रोंके विधानके अनुसार देवऋण चुकानेके लिए द्विजातिगण नित्य प्रति "देवयज्ञ" का अनुष्ठान करते हैं।[5] दक्षस्मृति (२.२८) में "सन्ध्याकर्मावसान तु स्वयं होमौ विधीयते" कहकर प्रात: एवं सायंकाल सन्ध्याके पश्चात् देवयज्ञके अनुष्ठानका आदेश दिया गया है।

---

१. वेदा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ता: (वेदांग ज्योतिष, श्लोक ३)। पुरा कल्पे समुत्पन्न मन्त्रा: कर्मार्थमेव च (याज्ञवल्क्य)।

२. मनुस्मृति (१.२३)।

३. यज्ञार्थं विहितं वित्तं तस्मात्तद् विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु, न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥

४. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स:॥ (गीता ३.१२)।

५. ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो। यन्नाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्तेत्॥

शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंमें विश्वरक्षाका श्रेष्ठतम उपाय होनेसे यज्ञको "विष्णु" रूप वर्णित किया गया ।[1] श्रीभगवान् ने गीतामें कहा है कि सृष्टिके प्रारम्भसे ही प्रजापतिने यज्ञके साथ मनुष्योंको सम्बद्ध करके सृष्टिकी रचना की । उन्होंने कहा है कि मनुष्योंका कर्तव्य देवताओंकी भावना करना है, अर्थात् हविद्रव्य द्वारा देवताओंका संवर्द्धन करना है । इस प्रकार मनुष्यों द्वारा संवर्द्धित देवताओंका कर्तव्य मानवोंकी भावना करना है, अर्थात् उनका आप्यायन करना है । सब प्रकारसे उन्हें अभिलषित भोग देना है । इन सब देवप्रदत्त वस्तुओं और सम्पदाओंको देवताओंके उद्देश्यसे अर्पण न करके भोग करनेसे मनुष्यको ऋणी होना पड़ता है । अतः परस्पर भावनाद्वारा ही यह विश्वचक्र सुखपूर्वक चलता है । जगत् का कल्याण करने वाली इस महानीतिकों सृष्टिके प्रारम्भमें ही भगवान् ने प्रचलित कर दिया था । उन्होंने किसीको भी अपने लिए भावना करनेके लिए नहीं कहा । मनुष्य देवताओंके लिए भावना करे, अपने लिए नहीं और देवता भी मनुष्योंके लिए भावना करे, अपने लिए नहीं । विद्वानोंने परमार्थ कर्म इसीको माना है ।

देवयज्ञके पीछे भी यही रहस्य छिपा हुआ है । अन्यथा यज्ञार्थ कर्मसे विमुख, स्वार्थ चिन्तामें लीन, दूसरोंकी चिन्तासे उपेक्षित जो भगवान्के द्वारा परिचालित मंगलमय यज्ञात्मक जगच्चक्रका अनुवर्तन नहीं करता, उस इन्द्रियाराम व्यर्थजीवनके लिए विश्वसंस्थानमें कोई स्थान नहीं है । इसीलिए वह कालचक्रमें पीसे जानेको बाध्य हो जाता है ।

समस्त ऐश्वर्यशाली एवं सम्पदाओंसे युक्त देवता यज्ञके द्वारा प्रसन्न होकर मनुष्योंको उनके अभिलषित पदार्थ देते रहते हैं । इसी मर्त्यलोकमें असंख्य मानवोंने यज्ञोंके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करके अपनी इच्छित कामनाओंको सिद्ध किया । पुत्रेष्टि यज्ञके द्वारा राजा दशरथने चार पुत्रोंके रूपमें साक्षात् ब्रह्मको हजारों, लाखों नर-नारियोके सामने व्यक्त कर दिया, जिसका योगीजन,ऋषि-महर्षि ध्यानमें भी साक्षात्कार नहीं कर पाते थे ।

कामनाओंके लिए आहुति देनेका विधान शब्रा० (९.४.२.२८) ने यह कह कर किया कि कामनाओंमें "अति" का प्रश्न नहीं उठता । कामनाओंके लिए

---

१. यज्ञो वै विष्णुः (शब्रा० १.१.२.१३) । विष्णुर्वै यज्ञो यज्ञ एवान्वैछँस्तं विष्णा अविन्दन् दशमे (मैसं० ४.४.७) । स यः स विष्णुर्यज्ञः (शब्रा० १४.१.१.६) ।

निश्चित आहुतियोंसे अधिक आहुतियाँ दिये जाने पर शब्रा०को कोई आपत्ति नहीं है ।

राजसूय यज्ञ करने वाला सब प्रकारकी मृत्युओं तथा सब प्रकारके वधसे बच जाता है (शब्रा० ५.४.१.१) । अश्वमेधयज्ञ करने वालेको तेज, पराक्रम, पशु और लक्ष्मी प्राप्त होती है (१३.२.६.३) । वह समस्त अंगोंसे पूर्ण और समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है यहाँ तक कि ब्रह्महत्याके पापसे भी छूट जाता है (शब्रा० १३.३.१.१) ।

तैसं० (७.१.८.२) में अत्रिका उल्लेख है, जो स्वयं यज्ञोंका आविष्कार करके अपनी समस्त इच्छाओंकी पूर्ति कर लिया करते थे । सृष्टिरचना करनेके लिए स्वयं प्रजापतिने ही सर्वप्रथम यज्ञका अनुष्ठान किया था । मनुष्य चाहे तो विविध प्रकारकी इच्छाएँ विविध प्रकारके यज्ञोंके द्वारा पूरी कर सकता है । आदिकालमें प्रजापतिने प्रजाके साथ यज्ञोंकी भी रचना कर कहा कि यज्ञसे तुम लोगोंकी कामनाएँ पूर्ण होंगी ।[१]

ऐब्रा० (४.६.२३) में उल्लेख है कि जब असुरोंने पृथिवीको लोहेके प्राकारसे, अन्तरिक्षको चाँदीके प्राकारसे तथा द्युलोकको सुवर्णके प्राकारसे परिबद्ध कर दिया तब देवताओंने विजय प्राप्तिकी इच्छासे उपसदका अनुष्ठान किया । देवताओंने उपसदकी पहली आहुतिसे ही असुरोंको पृथिवीसे, दूसरी आहुतिके द्वारा अन्तरिक्षलोकसे तथा तीसरी आहुतिके द्वारा द्युलोकसे भगा दिया ।

देवतालोगों पर जब जब संकट आता तब तब वे यज्ञानुष्ठान करके विपत्तिसे छुटकारा पा जाते । इसीलिए कहा गया है कि जिस राष्ट्रमें यज्ञोंके द्वारा विष्णुकी आराधना की जाती है वहाँ सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं (विष्णुपु० १.१३.१९) । वायुपुराणने एक स्थलपर यज्ञको फलवान् बताया है (१०.८६) । मनस्मृति (२.३) में कहा गया है कि कामनाका मूल संकल्प है, जिससे यज्ञकी उत्पत्ति होती है । शब्रा० (४.३.४.६) के अनुसार यज्ञ करके देवलोककी प्राप्ति कर ली जाती है ।

विष्णुपुराण (२.८.१०६-१०९) में कहा गया है कि विष्णुका तृतीय पद (ध्रुवका स्थान) तीनों लोकोंका आधार है । इसमें नक्षत्रोंकी, नक्षत्रोंमें मेघकी और

---

१. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् (गीता ३.१०) ।

मेघमें वृष्टिकी प्रतिष्ठा है । वृष्टिसे ही देवादिकोंका संवर्द्धन होता है । वृष्टिका कारण आज्य है क्योंकि इसीसे परितुष्ट होकर अग्निसे वृष्टि सम्भव हो पाती है। देवपरितोषका परिणाम वृष्टिहै । वृष्टिसे प्राणिमात्र प्रसन्न होते हैं । अतएव यज्ञ सब प्रकारके कल्याणका कारण है (विष्णुपुराण (१.६.८) । पर अवरके ज्ञाता व्यक्ति नित्यप्रति यज्ञोंका अनुष्ठान किया करते हैं । यज्ञका अनुष्ठान मनुष्योंका अपरिमित उपकारक है । यज्ञसे पाप-क्षय होता है । जिनके चित्तमें कालजन्य पाप रहता है, वे ही यज्ञानुष्ठान नहीं करते (विष्णुपु० १.६.२७-२९) ।

महानारायणोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञसे ही देवताओंने स्वर्ग प्राप्त किया और असुरोंको पराजित किया । यज्ञमें शत्रु भी मित्र हो जाते हैं । यज्ञमें सब प्रकारके गुण हैं, अत: श्रेष्ठ जनोंको यज्ञ करना ही चाहिए ।[१] आश्वलायन गृह्यसूत्र (१.१०.१२) में कहा गया है कि यज्ञसे संतान, पशु, आत्मज्ञान और अन्न इन सबकी प्राप्ति हो सकती है ।

जिस समय धर्मराज युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ करनेका संकल्प किया, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा था कि हे राजन् आपका यह यज्ञ आपकी मंगलमयी कीर्तिका विस्तार करने वाला होगा। यह महायज्ञ ऋषियों, पितरों, देवताओं, सगे-सम्बन्धियों, तथा समस्त प्राणियों का अभीष्ट होगा ।[२]

अथर्ववेदमें यज्ञधूमसे क्षयरोग नष्ट होनेका स्पष्ट उल्लेख है ।[३] बहुतसे विद्वानोंका विचार है कि हविद्रव्य भेदसे भिन्न भिन्न असाध्य रोगोंको दूर किया जा सकता है ।

आयुर्वेदशास्त्रमें चरकने यज्ञ-यागको ही राजरोगोंकी औषधि बतलाया है ।

इस दृष्टिसे भी यज्ञकी महत्ताका ज्ञान हो सकता है । समाजके सभी वर्णों व वर्गोंके लिए शास्त्रने किसी न किसी रूपमें यज्ञ करनेका आदेश दिया है । पंचजना मम हौत्रं जुषन्ताम् पर उव्वटने भाष्य किया है—"चत्वारो वर्णा: निषादपंचमा:

---

१. यज्ञेन हि देवा दिवंगताः यज्ञेनासुरानपानुदन्तः । यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ॥

२. धर्मांक (पृष्ठ सं० ७५) ।

३. अथर्ववेद (७.५) ।

पंचजनाः तेषां यज्ञाधिकारोस्ति। रथकारके लिए भी "वर्षासु रथकारः" कहकर वर्षाऋतुमें रथकारोंके अग्न्याधानका विधान सूत्रकारों ने किया। स्त्री भी यजमानके सभी यज्ञीय कार्योंमें पूरा पूरा सहयोग देती थी। सपत्नीक होना यजमानके लिए सर्वप्रथम और पहली शर्त थी। क्षत्रिय राजसूय-अश्वमेधका अनुष्ठान करते, वैश्यों को सौम्य यज्ञका अधिकार प्राप्त हुआ; ब्रह्मचारिको गुरुकुलमें नित्य हवन करना ही पड़ता था। आज भी सद्गृहस्थ पंचमहायज्ञ करते ही हैं। वानप्रस्थीके लिए भी विधान किया गया कि कन्द-मूल फलोंसे ही यज्ञ करे। संन्यासी प्राणायाम रूपी यज्ञ करता ही है। असमर्थ के लिए भी विधान था कि वह केवल हवनीय लकड़ियों से ही यज्ञ कर लिया करें।

विदेशस्य पति वाली पत्नी भी पुरोहितकी सहायतासे अग्निहोत्र, नैमित्तिक कर्म, आवश्यक इष्टियाँ तथा पितृयज्ञ सम्पन्न कर लेती थी। ऐसी पत्नीके लिए केवल सोमयागका निषेध अवश्य किया गया।[१] धर्मार्जन करनेकी इच्छा वाले, धर्मके ज्ञाता, सत्यधर्मका अनुसरण करने वाले शूद्र भी मन्त्ररहित यज्ञ करनेसे सन्तसमाजमें प्रशंसाके भाजन होते थे।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणोंके आधारपर यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीनकालमें सभी व्यक्तियोंके हृदयमें प्रतिष्ठित विराट् यज्ञमूर्त्तिके प्रति दृढ़ आस्था विद्यमान थी तथा सभी यज्ञके वास्तविक स्वरूप एवं उसके महत्वको समझते थे।

यज्ञोंके प्रकार :—

यज्ञ मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—श्रौत एवं स्मार्त। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञों को श्रौतयाग और स्मृतिप्रतिपादित यज्ञोंको स्मार्तयज्ञ कहते हैं। श्रौतयागमें केवल श्रुतिप्रतिपादित मन्त्रोंका प्रयोग होता है और स्मृतियज्ञमें वैदिक, पौराणिक तथा तान्त्रिकमन्त्रोंका प्रयोग होता है।

---

१. अतोग्निहोत्रं नित्येष्टिः पितृयज्ञ इति त्रयम्। कर्तव्य प्रोषिते पत्यौ नान्यस्वामिक्रियान्वितम् (त्रिकाण्डमण्डन १८३)।

२. धर्मप्सेवस्तु धर्मज्ञाः सतां धर्ममपुनुष्ठिताः। मन्त्रवर्जं न तुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च। मन्त्र वर्जं पुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीं क्रियाम्॥

श्रौतयज्ञ भी दो प्रकारके होते हैं-एक यज्ञ (जहाँ यजतिका प्रयोग होता है और खड़े होकर वषट्कारसे हवि दी जाती है) और दूसरा होम (जहाँ जुहोतिका प्रयोग होता है और बैठकर आहुति दी जाती है) ।[१]

ऐतरेय ब्राह्मणने पाँच यज्ञ प्रमुख माने हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग । इन्हीं पाँचोंमें समस्त श्रौतयागोंका समावेश हो जाता है ।[२]

गौतमधर्मसूत्रमें पहले तो यज्ञोंके तीन प्रकार बताये गए ।[३] किन्तु विस्तृत रूपमें गौतम धर्मसूत्रमें इक्कीस प्रकारके यज्ञोंका उल्लेख हुआ है । इनमें सात पाकयज्ञोंका सम्बन्ध स्मार्तयज्ञसे है । शेष अग्निहोत्रसे लेकर सोमयाग तक चौदह यज्ञ श्रौतयज्ञसे सम्बन्धित हैं ।

शब्रा० (१.४.२.१०) में सात पाकयज्ञोंके नाम इस प्रकार दिए गए हैं—१. हुत, २. प्रहुत, ३. आहुत, ४. शूलगव, ५. बलिहरण, ६. प्रत्यवरोहण तथा अष्टका होम । बौधायन गृह्यसूत्रमें इन्हीं सात पाक यज्ञोंका उल्लेख है(१.१.१२) । गोब्रा० (१.५.२३)में भी सात पाकयज्ञोंका उल्लेख है ।[४]

आश्वलायन गृह्यसूत्र(१.१.२ प्रा० पा० ५६)में "त्रयः पाकयज्ञाः" कहकर पाकयज्ञके तीन ही भेद दिखलाये गए हैं ।[५] कौ० गृह्यसूत्र (१.५)में पाकयज्ञके चार प्रकार बतलाए गए हैं ।[६] आपगृ० (१.२.९) में लौकिक यज्ञोंको पाकयज्ञ बतलाया गया है ।[७] गोभिल गृह्यसू० (८.१९.१०.६७) का भी यही मत है । काठकगृ० में

---

१. तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः॥ उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदोना जुहोदाय' (काश्रौसू० , परिभाषाप्रकरण, ६,७) ।

२. स एष यज्ञः पंचविधः —अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्यानि, पशुः सोम इति ।

३. औपासनः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिक श्राद्धम्, श्रवणा शूलगव इति पाक यज्ञ संस्था। अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणि, पिण्डपितृयज्ञादयो कविंहोमाः इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः (गौतमधर्मसूत्र ८.१८) ।

४. सायंप्रातहोमौ स्थालीपाको नवश्च यः । बलिश्च पितृयज्ञश्चोष्टका सप्तमः पशुरित्येके पाकयज्ञाः(गोब्रा० १.५.२३) ।

५. पाकयज्ञास्त्रयः हुताः प्रहुताः ब्रह्मणिहुताः (आश्वगृसू० १.१.३) ।

६. चत्वारः पाकयज्ञा हुतो हुतः प्रहुतः प्राशित इति (कौगृसू० १.५) ।

७. लौकिकानां पाक यज्ञ शब्दः(१.२.९) ।

पाकयज्ञके अनुष्ठानका काल तथा उसके चारों प्रकारका विस्तारसे निरूपण किया है ।[१] कात्यायन तो "यथा दर्शपूर्णमासप्रकृतय: पाकयज्ञा:" कहकर दर्शपूर्णमास की भी पाकयज्ञमें ही गिनती करते हैं । काश्रौसू० (१.५.१८-१९) में "स्थालीपाकेन निर्वर्त्या यज्ञा: पाकयज्ञा: अष्टकाद्या:" से पाकयज्ञकी चर्चा की गई है ।

पारस्कर गृह्यसूत्रकार (१.४.१) इस सम्बन्धमें और गहराईमें उतरते हैं । यों वे भी पाकयज्ञको चार प्रकारका ही बतलाते हैं "चत्वार: पाकयज्ञा: हुत:[२] अहुत:[३] प्रहुत:[४] प्राशित[५] इति । प्राशितके दो भेद किए गए हैं-१. अतिथि भोजन दानादि ब्राह्मणभोजन आदिके रूपमें, २. देवता विशेषके उद्देश्यसे ब्राह्मणभोजन दान आदि ।

पाकयज्ञ गृह्याग्निमें सम्पन्न होता है । काठक गृह्यसूत्रमें पाकयज्ञके अनु-ष्ठानका काल दिया गया है ।

वैखानस गृह्यसूत्रमें पाक यज्ञके सात प्रकार बतलाए गए हैं, पर वे इन ऊपर बताए गए प्रकारों से भिन्न नाम वाले हैं— "स्थालीपाकोष्टका अमाश्राद्धमौपासन होम: श्रावण्याग्रहायणी चैत्रीति सप्त पाक यज्ञ संस्था । वैश्वदेवमेके चैत्रीस्थाने समामनन्ति ॥

इस प्रकार गृह्यसूत्रकारोंने २१ प्रकारके यज्ञोंकी चर्चा की है, जिसमें सात पाकयज्ञ सात हविर्यज्ञ तथा सात सोम यज्ञ हैं । इन सभी यज्ञोंको करनेसे पूर्व यज्ञकर्ताको संस्कार सम्पन्न होनेकी आवश्यकता होती है । क्योंकि इन्हीं सबके द्वारा वह व्यक्ति जहाँ यज्ञ करनेका अधिकारी होता है, वहाँ ब्रह्म प्राप्ति योग्य शरीर भी बनता है । माता पिताके रजोवीर्यगत दोषके कारण सन्तानमें शारीरिक मानसिक बहुत सी त्रुटियाँ रह जाती हैं । संस्कार इन्हें दूर करते हैं ।[६]

---

१. सहधर्मचारिण्या सार्धं यो गृहप्रवेशः । तदनन्तरं पाकयज्ञः कर्त्तव्यः ॥
चतुर्विधः पाक यज्ञो भवति । हुतोहुतः प्रहुतः प्राशितश्चेति ।

२. हुतः होममात्रं यथा सायंप्रातर्होमः (गदाधर) ।

३. अहुतो यत्र न हूयते यथा स्रस्तरारोहणम् (गदाधरः) ।

४. प्रहुतो यत्र हूयते बलिहरणं च यथा पक्षादिः (गदाधरः) ।

५. प्राशितो यत्र प्राश्यत एव (गदाधरः) ।

६. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
(मनुस्मृति २.२६.२७) ।

गौतम धर्मसूत्र (१.८.१४-१४-२२) में ये सस्कार ४० बतलाए गए हैं। जिनमें सभी प्रकारके यज्ञोंका समावेश है—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चूडाकर्म, ८. उपनयन, ९-१२. व्रतबन्ध, १३. समावर्तन, १४. विवाह, १५. देवयज्ञ, १६. पितृयज्ञ, १७. अतिथियज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ब्रह्मयज्ञ, २०. श्रावणी कर्म, २१. आश्विनी कर्म, २२. आग्रहायणी कर्म, २३. चैत्र कर्म, २४. अग्न्याधान, २५. नित्याग्निहोत्र, २६. दर्शपौर्णमासयाग, २७. चातुर्मास्य याग, वैश्वदेव, वरुण प्रघास, शाकमेध, शुनाशीरीय, २८. आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि) २९. निरूढपशु याग, ३०. सौत्रामणि याग (सप्त हविर्याग), ३१. अग्निष्टोम, ३२, अत्यग्निष्टोम, ३३. उक्थ्य, ३४. षोडशी, ३५. वाजपेय, ३६. अतिरात्र ३७. आप्तोर्याम (सात सोमयाग), ३८. पितृमेध (पिण्डपितृयज्ञ), ३९. अष्टका श्राद्ध तथा ४०. पार्वण श्राद्ध।

नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य भेदसे यज्ञोंके तीन भेद किए गये है—अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि नित्य यज्ञ, पथिकृत्क्षामवति आदि नैमित्तिक यज्ञ तथा ऐन्द्राग्न-वायव्य राजसूय आदि काम्य कर्म (यज्ञ) कहे गए हैं।[१]

प्रकृति-विकृतिके आधारपर श्रौतयज्ञोंके चार भेद किये गए हैं—कुछ याग केवल प्रकृति ही होते हैं। जैसे-दर्शपौर्णमास तथा अग्निष्टोम संस्थाक ज्योतिष्टोम आदि। कुछ याग केवल विकृति ही होते हैं— जैसे सौर्यादि याग। कुछ याग प्रकृति-विकृति उभयात्मक होते हैं—जैसे-अग्निषोमीय पशुयाग और उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोमयाग। कुछ यज्ञ न प्रकृति होते हैं न विकृति ही— जैसे दर्वी होम तथा गृहमेधीयेष्टि आदि।

उपर्युक्त सभी प्रकारके यज्ञ सात्विक, राजसी और तामसी भेदसे तीन प्रकार के होते हैं। गीतामें इसका प्रतिपादन किया गया है। शास्त्रोंकी आज्ञा समझकर कर्त्तव्य बुद्धिसे फलकी आकांक्षा न कर जो यज्ञ किया जाता है उसे सात्विक यज्ञ कहते हैं।[२] फलकामनासे दृढ होकर अथवा दिखावेके लिए जो यज्ञ किया जाता

---

१. सरस्वती सुषमा (वर्ष ४ अंक २)

२. अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः॥ (गीता १७.११)।

है, वह राजस है ।[1] विधिहीन, अन्नहीन, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धाहीन यज्ञ तामस कहा गया है ।[2]

उपर्युक्त विवरणके आधारपर संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि आकार, विधि, फलकी दृष्टिसे यज्ञोंके अनेक प्रकार शास्त्रोंमें लिखे गए ।

यज्ञका उद्देश्य :—

प्रत्येक मनुष्य तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी उत्पन्न होता है ।[3] तीनों प्रकार के ये (देवऋण, ऋषिऋण और पितृ) ऋण तीन प्रकारके भिन्न भिन्न यज्ञोंसे अदा किये जाते हैं । कर्म यज्ञ करनेसे देवऋण, ज्ञानयज्ञ करनेसे ऋषिऋण और पुत्रेष्टियज्ञ करनेसे पितृऋण चुकाया जाता है । इन्हीं ऋणोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए यज्ञ किये जाते हैं, मूलमें वस्तुत: यज्ञ करनेका यही उद्देश्य है ।

ऐन्द्राग्न, वायव्य तथा राजसूय आदि काम्य यज्ञोंके अनुष्ठानके द्वारा यजमान स्वर्गकी प्राप्ति करता है । काम्य यज्ञोंके अनुष्ठानकी दृष्टिसे "स्वर्गकामो यजेत्" यह वाक्य ग्रन्थोंमें प्राप्त होता ही है । विद्वान् लोग सकाम कर्मको बन्धनका कारण मानते हैं क्योंकि कामना वाला पुरुष सकाम कर्मोंका अनुष्ठान कर उनका फल भोगकर पुन: कामनावान् होनेसे जन्म लेता है । कामनाहीन प्राणी निष्काम कर्मोंका अनुष्ठानकर रुद्रलोकमें पुण्य भोगकर पुन: इस भूतलपर जन्म लेता है । उसकी निष्ठा तपोयज्ञमें होती है । इसीलिए कर्मयज्ञसे तपोयज्ञ श्रेष्ठ माना गया है । शिवपुराणकी वायुसंहितामें यज्ञके पाँच प्रकार बतलाए गए हैं—१. कर्मयज्ञ, २. तपोयज्ञ, ३. जपयज्ञ, ४. ध्यानयज्ञ, ५. ज्ञानयज्ञ । यही तप यज्ञ कर्मयज्ञसे श्रेष्ठ कहा गया है । तपोयज्ञकी भी अपेक्षा जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है । इस प्रकार ध्यानयज्ञ तथा ज्ञानयज्ञसे प्राणी अनायास ही संसारसागरको पार कर लेता है । उत्कृष्ट यज्ञोंके अनुष्ठानके द्वारा क्रमश: मुक्ति लाभ करना ही यज्ञोंका उद्देश्य है ।

---

१. अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् । इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ (गीता १७.१२) ।

२. विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ (गीता १७.१३) ।

३. जायमानो ह वै पुरुषस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ॥

सोमयागके प्रकार एवं अग्निष्टोम :—

गौतम (८.२१) एवं लाट्यायनश्रौसू० (५.४.२४) के अनुसार सोमयज्ञ सात प्रकारके हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम ।[१] अग्निष्टोम इन सब यागोंमें आदर्श माना गया है । अग्निष्टोम ऐकाहिक या एकाह अर्थात् एक दिन वाला यज्ञ है और यह ज्योतिष्टोमका ऐसा अन्तर्हित भाग है कि दोनोंको कभी-कभी एक ही माना जाता है ।

सोमयज्ञ कई प्रकारके हैं—यथा एकाह (एक दिन वाला), अहीन (एक दिन से लेकर बारह दिनोंतक चलने वाला), तथा सत्र (जो बारह दिनोंसे अधिक दिनों तक चलता है)। द्वादशाह नामक यज्ञ सत्र एवं अहीन माना गया है (जैमिनि १०.६.६०-६१ एवं तन्त्रवार्तिक (२.२.२) ।

जैमिनि (४.३.३७) में आया है कि दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य, पशुयज्ञ सम्पादित करनेके उपरान्त ही सोमयज्ञ किया जाना चाहिए किन्तु कुछ लोगों का मत है कि दर्शपूर्णमासके पूर्व भी किया जा सकता है, परन्तु अग्न्याधानके उपरान्त ही ऐसा करना उचित है (आश्व ४.१.१-२ एवं सत्या श्रौ सू० ७.१, पृष्ठसं० ५५६) । तीनों वर्णोंके लिए ज्योतिष्टोमके विधानका उल्लेख जैमिनि (६.२.३१) ने किया है ।

पूर्वांग और उत्तरांग सहित यह अग्निष्टोम पाँच दिनमें सम्पन्न होता है । इसमें १६ ऋत्विज होते हैं । चार-चार ऋत्विजोंका एक-एक वर्ग होता है । इस तरह चार वर्गमें सभी ऋत्विज विभक्त हो जाते हैं ।

---

१. सभी सूत्र सोमयज्ञों की एक संस्था नहीं बतलाते । आपश्रौसू० (१४.१.१) तथा सत्याषाढ श्रौसू० (पृष्ठसं० ९५८) ने स्पष्ट लिखा है कि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र और अप्तोर्याम केवल अग्निष्टोम के परिष्कृत रूप हैं। ब्राह्मणोंमें अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी एवं अतिरात्र ज्योतिष्टोमके विविध रूपोंमें ही वर्णित हैं (शब्रा० ४६.३.३, तैत्तिब्रा० १.३.२)। सोमयागस्य सप्त संस्थाः (वार्तिक on कात्यायन, ५ on p. iv.३.६६) अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्था" (बौश्रौ. ३.१८८.३, लाट्यायनश्रौसू. ५.४.२४, कूर्मपुराण ६६.३, प्रशस्तपादभाष्यपर न्यायकन्दली २७७.१८, शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्रभाष्यपर प्रकटार्थ विवरण ९७५.१५, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरापर सुबोधिनी ३.१२ (on 2.4) तन्त्रवार्तिक १११७.१४ (on iii. 6.43) "ज्योतिष्टोमस्य चतस्रः संस्थाः अग्निष्टोमः उक्थ्यः षोडश्यतिरात्र" इति (शास्त्रदीपिका ३.१३.१२ (on iii.6.16) [(भाट्टदीपिका ii.37.10 (on iii.6.16)] [शाबर भाष्य १०६०.४ (on iii.6.41],

अध्वर्यु वर्गमें अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा तथा उन्नेता, ब्रह्मवर्गमें ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता, होतृवर्गमें होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् । उद्गातृवर्गमें उद्गाता, प्रस्तोता प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य । इसी क्रमसे वर्गके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ शब्दसे व्यवहार होता है । इसीके अनुसार दक्षिणाका भी विभाग होता है । जितनी गौ दक्षिणारूपमें देय होती हैं उनका बराबर बराबर चार विभाग करके एक एक वर्गको एक एक भाग दक्षिणा दी जाती है । प्रत्येक वर्ग उसका विषम विभाग करता है । अध्वर्युको आधा, प्रतिप्रस्ताताको उसका आधा, नेष्टाको अध्वर्युका तिहाई तथा उन्नेताकी अध्वर्युकी दक्षिणा चौथाई होती है । उदाहरणके लिए सोमयागमें १०० गौ दक्षिणा है । अध्वर्युवर्ग को २५, गौ मिलती है । इसमें अध्वर्युको १२, प्रतिप्रस्थाताको ६, नेष्टाको ४ और उन्नेताको ३ गाय दक्षिणारूपमें प्राप्त होती हैं । इसीलिए इन ऋत्विजों का अर्थी, तृतीयी, पादी यह भी नाम लोकमें प्रचलित है ।

अग्निष्टोममें चारों वेदोंका उपयोग किया जाता है । अध्वर्यु यजुर्वेदी होतृ ऋग्वेदी, उद्गातृगण सामवेदी तथा इन तीनों गणोंके द्वारा अनुष्ठीयमान कर्मका निरीक्षण करने वाला ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है ।

अग्निष्टोममें बारहस्तोत्र एवं बारहशस्त्र होते हैं । एक बहिष्पवमान, चार आज्य नामक स्तोत्र, चार पृष्ठ्य नामक शस्त्र, एक माध्यंदिन पवमान नामक स्तोत्र, एक आर्भव पवमान स्तोत्र तथा एक अग्निष्टोम स्तोत्र । अग्निष्टोम नामक स्तोत्र सबसे अन्तमें गाया जाता है ।

बृहत्, रथन्तर, वैरूप, वैराज, शाक्व और रैवत ये साम पृष्ठ हैं । इनका समूह पृष्ठ्य है । सामवेदकी उत्तर संहितामें आज्य स्तोत्रके बाद जो तीन सूक्त पढ़े गए हैं वे ही माध्यन्दिन सवनके सूक्त हैं । गायत्र, आमहीयव, रौरव, यौधाजय और औशन सामसे उनका गान होता है । ये ही पाँच माध्यन्दिन सवनके स्तोत्र हैं । जिस देवताके लिए ग्रह या चमस ग्रहण किया जाता है, उद्गाता आदि तीन ऋत्विज उस देवताका स्तोत्र ग्रहग्रहण या चमसग्रहणके अनन्तर ही करते हैं । उसका प्रकार निम्नलिखित है—सामवेदमें एक-एक ऋचामें एक एक साम होता है । यज्ञकालमें तीन ऋचाओंमें उसी सामका गान विहित है । जिन तीन ऋचाओंमें एक साम गाया जाता है इन तीन ऋचाओंका नाम स्तोत्रिय ही है । स्तोत्रियमें पहली ऋचाकी संज्ञा योनि है । और बाद वाली दो ऋचाओंकी संज्ञा है उत्तरा । "यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गा-

यति"। उसी गान में त्रिवृत् पंचदशादि स्तोम भी विहित है। उन स्तोमोंका सम्पादन तीन ऋचाओंमें करना होता है। तीन पर्यायमें यह पंचदश स्तोम बनता है। पहले पर्यायमें पहली ऋचामें उत्पन्न साम तीन बार पढ़कर दूसरी और तीसरी ऋचामें उत्पन्न साम एक-एक बार पढ़नेसे पाँच संख्या होती है। दूसरे पर्यायमें पहली ऋचाका साम एक बार, दूसरी ऋचाका तीन बार और तीसरीका एक बार पढ़नेसे पाँच संख्या होती है। तीसरे पर्यायमें पहली और दूसरी को एक-एक बार पढ़कर स्तोम होता है। इसी प्रकार सप्तदशस्तोम को भी समझना चाहिए। पंचदशके अनन्तर उत्तर का गान करनेसे सप्तदश होगा, यही भाव है। इनमें भी एक ही सामके पाँच विभाग होता हैं—१. प्रस्ताव, २. उद्गीथ, ३. प्रतीहार, ४. उपद्रव और ५. निधन। औद्गात्रगण सम्बन्धी प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्त्ता ये तीन ऋत्विक् इनका गान करते हैं अर्थात् प्रथम भाग प्रस्ताव प्रस्तोताके द्वारा, दूसरा भाग उद्गीथ उद्गाताके द्वारा, तीसरा भाग प्रतीहार प्रतिहर्ताके द्वारा गया जाता है। उपद्रव और निधनका गान सब ऋत्विज ही करते हैं। स्तोत्रके अनन्तर शस्त्रका पाठ होता है। मैत्रावरुण तथा अच्छावाकके लिए भी शस्त्रोंका विधान है। जितने ग्रह होते हैं, उतने ही स्तोत्र और उतने ही शस्त्र होते हैं। अग्निष्टोमकी दूसरी संस्था उक्थ्य है। इस सोमयज्ञमें अग्निष्टोमके स्तोत्रों एवं शस्त्रोंके अतिरिक्त अन्य तीन स्तोत्र (उक्थ्य स्तोत्र) एवं शस्त्र (उक्थ्य शस्त्र) पाये जाते हैं। इस प्रकार सायंकालीन सोमरस निकालते समय गाये जाने वाले (स्तोत्र) एवं कहे जाने वाले शस्त्र कुल मिलाकर १५ होते हैं।[१] आपस्तम्ब (१४.१.२) का कथन है कि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम क्रमसे उन्हीं लोगों द्वारा सम्पादित होते हैं जो पशु, शक्ति, सन्तति एवं सभी वस्तुओंके अभिकांक्षी होते हैं। उक्थ्यमें अग्निष्टोमके समान बलि दिये जाने वालें पशुओंके अतिरिक्त बकरीकी भी बलि दी जाती है।[२]

षोडशी यज्ञमें १५ स्तोत्रों एवं शस्त्रोंके अतिरिक्त एक अन्य स्तोत्र एवं शस्त्रका गायन एवं पाठ होता है, जिसे तृतीय सवनमें षोडशीके नामसे पुकारा जाता है। आपस्तम्ब (१४.२.४-५) के मतसे प्रातःकाल या अन्य कालोंमें रस रखनेकेलिए एक अहिक पात्र भी रख दिया जाता है। यह पात्र खदिर वृक्षकी लकड़ीसे बनाया जाता है। इसका आकार चतुष्कोण होता है। इस यज्ञमें इन्द्रके लिए एक भेडा भी

१. ऐब्रा० (१४.३, आश्वश्रौसू० ६.१.१-३)।

२. ऐब्रा० (१४.३, आश्वश्रौ सू० ६.१.१-३, सत्याश्रौसू. ९.७, आपश्रौ सू. १४.१)

आलभन किया जाता है। इसकी दक्षिणा लोहित-पिंगल घोडा या मादा खच्चर होती है।[1]

अतिरात्रका नाम ऋग्वेद (७.१०३.७) में भी आया है। यह एक दिन और रात्रिमें होता है। आपस्तम्ब (१०.२.४) का कहना है कि कुछ लोगोंके मतसे यह अग्निष्टोमके पूर्व सम्पादित होता है। अतिरात्रमें २९ स्तोत्र और २९ शस्त्र होते हैं। इसमें अतिरिक्त स्तोत्र एवं शस्त्र रात्रिके समय तीन स्तोत्रों एवं शस्त्रोंके चार आवर्तों में, जिन्हें पर्याय कहा जाता है, कहे जाते हैं। आश्वलायन (६.४.१०) ने इन १२ शस्त्रोंकी ओर संकेत किया है। इसमें आश्विन नामक शस्त्र गाये जाते हैं किन्तु इसके पूर्व रात्रिमें ६ आहुतियाँ दी जाती हैं। आश्विनशस्त्रों की पाठविधि प्रातरनुवाकके अनुसार होती है। सूर्योदयतक कमसे कम एक सहस्र मन्त्र कह दिये जाते हैं। सन्धिस्तोत्रका पाठ सन्ध्याकालमें होता है। इसका स्वर रथन्तर होता है। यदि सूर्यका उदय न हो तो होता ऋग्वेद (१.११२) का पाठ करता है। सोमरस निकालनेके दिन सरस्वतीको एक भेड (कुछ लोगोंके मतसे भेडा) चढ़ाई जाती है। किन्तु यदि सूर्य उदय हो जाय तो वह सौरी (१०.१५८, १.५०.१-९, १.१५। आदि ऋचाएँ कहता है। रात्रिमें प्रमुख चमस इन्द्र अपिशर्वरको दिये जाते हैं। दो कपालोंपर बनी एक रोटी (पुरोडाश) तथा एक प्याली भर सोमरस अश्विनोंको प्रतिप्रस्थाता द्वारा दिया जाता है। ऐब्रा० (१४.३, १६.५-७), आश्वश्रौसू० (६.४-५), सत्याषाढ (९.७) तथा आपस्तम्ब (१५.३.८-१४.४.११) में अतिरात्रके कर्मकाण्ड का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

अप्तोर्याम अतिरात्रके ही सदृश है केवल अतिरात्रकी अपेक्षा विस्तृत है। इसमें चार अतिरिक्त स्तोत्र (कुल मिलाकर ३३ स्तोत्र) और चार अतिरिक्त शस्त्र होता एवं उसके सहायकों द्वारा पढ़े जाते हैं। अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव और विष्णुके लिए क्रमसे एक एक अर्थात् कुल मिलाकर चार चमस होते हैं।[2] आश्वश्रौसू० (९.११.१) के मतसे यह यज्ञ उन लोगों द्वारा सम्पादित होता है, जिनके पशु जीवित नहीं रहते या जो अच्छी जातिके पशुके आकांक्षी होते हैं। अप्तोर्यामकी दक्षिणा सहस्रों गौवें होती है। होताको रजतज़टित तथा गदहियोंसे खींचा जाने वाला रथ

---

१. ऐब्रा० (१४.१-४, आश्रौ.सू. १४.२.३, आश्व श्रौसू० ६.२.३, सत्याश्रौसू० ९.७)।

२. आपश्रौसू० (१४.४.१२-१६, सत्याश्रौसू० ० ९.७, शांखायन १५.५.१४-१८)।

मिलता है। बहुधा यज्ञ अन्य यज्ञोंके साथ किया जाता है। तांब्रा० (२०.३.४-५) का कहना है कि इसका नाम अप्तोर्याम इसलिए पड़ा है क्योंकि इसके द्वारा अभिकांक्षित वस्तु प्राप्त होती हैं।

आधिपत्य (आश्वश्रौसू० ९.९.१) या समृद्धि (आपश्रौसू० १८.१.१) या स्वराज्य (निर्विरोध राज्य अथवा इन्द्रकी स्थिति) का अभिलाषी ही वाजपेयका अनुष्ठान करता है। इसमें षोडशीकी विधि पायी जाती है और यह ज्यतिष्टोमका ही रूप है किन्तु इसकी अपनी पृथक् विशेषताएँ हैं। अधिकांश पदार्थोंकी संख्या १७ है, उदाहरणके लिए स्तोत्रों एवं शस्त्रोंकी संख्या १७ है। प्रजापतिके लिए १७ पशुओंकी बलि दी जाती है। दक्षिणामें १७ वस्तुएँ दी जाती हैं। यूप १७ अरत्नियों वाला होता है। यूपमें जो परिधान बाँधा जाता है, वह भी १७ टुकड़ों वाला होता है। १७ दिनों तक ही यह वाजपेय यज्ञ चलता है। प्रजापतिके लिए सुरा १७ पात्रों में भरी जाती है। सोमरस भी १७ पात्रोंसे ही भरा जाता है। १७ रथ होते हैं, जिनमें घोड़े जोते जाते हैं तथा जिनकी दौड़ की जाती है। वेदीकी उत्तरी श्रोणीपर १७ ढोलकें रक्खी जाती हैं, जिन्हें बजाया जाता है।[१] वाजपेयका सम्पादन शरद् ऋतुमें किया जाता है। इसका सम्पादन केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय ही कर सकता है, वैश्य नहीं (तैब्रा० १.३.२, लाट्यायनश्रौसू० ८.११.१, काश्रौसू० १४.१.१ एवं आपश्रौसू० १८.१.१)। इसमें अग्नि, इन्द्र, इन्द्राग्नीके लिए जो पशु आलभन किए जाते हैं, उनके अतिरिक्त मरुतोंके लिए एक वन्ध्या गाय, सरस्वतीके लिए एक भेड़, प्रजापतिके लिए शृंगविहीन, एक रंगवाली या काली, तरुण एवं पुष्ट १७ बकरियाँ दी जाती हैं (आपश्रौसू० १८.२.१२-१३)। दक्षिणाके विषयमें कई मत हैं (देखिए आपश्रौसू० १८.३.४-५, आश्वश्रौसू० ९.९.१४-१७, काश्रौसू० १४.२.२९-३३, लाट्याश्रौसू० ८.११.१६-२२)। आश्वलायनका कहना है कि दक्षिणाके रूपमें १७०० गौएँ, १७ रथ (घोड़ों सहित), १७ घोड़े, पुरुषोंके चढ़ने योग्य १७ पशु, १७ बैल, १७ गाड़ियाँ, सुनहरे परिधानों-झालरोंसे सजे हुए १७ हाथी दिए जाने चाहिए। ये वस्तुएँ पुरोहितोंमें बाँट दी जाती हैं। वाजपेयके पश्चात् राजा राजसूय यज्ञ

१. आपश्रौसू० (१८.१.५, तांब्रा०, १८.७.५, आपश्रौसू० १८.१.१२, आश्वश्रौसू० ९.९.२-३)।

करनेका अधिकारी होता है और ब्राह्मण बृहस्पतिसव[1] करनेका अधिकारी होता है (आश्वश्रौसू० ९.९.२९)।

राजसूययज्ञ एक लम्बी अवधि तक चलने वाला यज्ञ है। यह यज्ञ केवल क्षत्रिय द्वारा ही किया जाता है। कुछ लोगों के मतके अनुसार यह उसी व्यक्ति द्वारा सम्पादित होता है, जिसने वाजपेय यज्ञ न किया हो (काश्रौसू० ९.९.१९)। शब्रा० (९.३.४.८) में आया है कि राजसूय करनेसे व्यक्ति राजा होता है तथा वाजपेय करनेसे सम्राट् होता है। यहाँ यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि राजसूयके ही पश्चात् वाजपेय किया जाता है क्योंकि सम्राट् की स्थिति राजाके पश्चात् है। राजसूयमें यद्यपि कई भागों एवं अंगोंके कृत्योंमें दक्षिणा देनेका विधान है किन्तु दो प्रमुख कृत्यों (अभिषेचनीय तथा दशपेय) में दक्षिणा विशेष रूपसे दी जाती है। अभिषेचनीय कृत्यमें ३२००० गायें चार प्रमुख पुरोहितोंको, १६००० प्रथम सहायकों को, ८००० आगेके चार सहायकोंको तथा ४००० अन्तिम चार सहायकों को दी जाती है। इस प्रकार होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गातामें प्रत्येकको ३२००० गायें, मैत्रावरुण (होताके प्रथम सहायक), प्रतिप्रस्थाता (अध्वर्युके प्रथम सहायक), ब्राह्मणाच्छंसी (ब्रह्माके प्रथम सहायक) एवं प्रस्तोता (उद्गाताके प्रथम सहायक) में प्रत्येकको १६०००गायें तथा अच्छावाक् नेष्टा, आग्नीध्र एवं प्रतिहर्ताको ८००० गायें और ग्रावस्तुत, उन्नेता, पोता और सुब्रह्मण्य इन प्रत्येकको ४००० गायें दी जाती हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २,४०,००० गायें दी जाती हैं। दशपेय कृत्यके उपरान्त १००० गायें दी जाती हैं। १६ पुरोहितोंकी विशिष्ट दक्षिणाएँ दी जाती हैं (आश्वश्रौसू० ९.४.७, आपश्रौसू० १८.३१.६-७, का श्रौ सू० १५.८.२३-२७, लाट्याश्रौसू० ९.२.१५)। विशिष्ट वस्तुओंमें निम्नांकित हैं-सोनेकी एक सिकड़ी, एक घोड़ा, बछड़ेके साथ एक दुधारु गाय, एक बकरी, सोनेके दो कर्णफूल, चाँदीके दो कर्णफूल, पाँच वर्ष वाली बारह गाभिन गायें, एक वन्ध्या गाय, सोनेका एक गोलाकार आभूषण (रुक्म), एक बैल, रुईका एक परिधान, सनका एक मोटा वस्त्र, जौंसे भरी एवं एक बैलयुक्त गाड़ी, एक सांड, एक बछिया एवं तीन वर्षीय बैल

---

१. जैमिनी (४.३.२९-३९) के मतसे बृहस्पतिसव वाजपेयका ही अंग है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.७.१) आपश्रौसू० (२२.७.५) तथा आश्वश्रौसू० (९.५.३) के अनुसार बृहस्पतिसव एक प्रकारका एकाह सोमयाग है, जो आधिपत्यके अभिलाषी द्वारा किया जाता है। आश्वश्रौसू० (९.५.३) ने ब्रह्मवर्चसके अभिलाषीके लिए इसे करनेको कहा है। तैत्तिब्रा० (२.७.१) ने राजपुरोहित पदकी प्राप्तिके लिए इसे करनेको कहा है।

क्रम से उद्गाता एवं उसके तीन सहायकों (प्रस्तोता, प्रतिहर्ता व सुब्रह्मण्य), अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मा, मैत्रावरुण, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, आग्नीध्र, उन्नेता एव ग्रावस्तुत को दिए जाते हैं। राजसूय की समाप्तिके एक मास उपरान्त सौत्रामणि नामक इष्टि की जाती है। तैत्तिरीय संहिता (१.८.१-१७), तैत्तिब्रा० (१.४.९-१०), शब्रा० (५.२.३-५), ऐब्रा० (७.१३ एवं ८), तांब्रा० (१८.८-११), आपश्रौसू० (१८.८.२२), काश्रौसू० (१५.१-९), आश्वश्रौसू० (९.३-४), लाट्या-श्रौसू० (९.१-३), शांखाश्रौसू० (१५.१२), बौधाश्रौसू० (१२) में राजसूयका निरूपण विस्तारपूर्वक किया गया है।

अग्निष्टोम की[1] उत्पत्ति :—

गोपथब्राह्मण विभिन्न देवताओंसे अग्निष्टोमके विभिन्न कृत्योंकी उत्पत्ति का उल्लेख करता है। यथा-श्रद्धासे दीक्षणीयाकी, अदितिसे प्रायणीयाकी, सोमसे क्रयकी, विष्णुसे आतिथ्यकी, सूर्यसे प्रवर्ग्यकी, स्वधासे उपसदकी, अग्नि और सोमसे उपवसथकी, प्रातःकाल चलने वाले देवोंसे प्रातरनुवाककी, आठ (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, प्रकाश, चन्द्रमा, नक्षत्र) वसुओं से प्रातःसवनकी, रुद्रोंसे माध्यन्दिनसवनकी, आदित्योंसे तृतीयसवनकी, वरुणसे अवभृथकी अदि-तिसे उदयनीयाकी, मित्र और वरुणसे अनुबन्ध्याकी, त्वष्टासे त्वाष्ट्रकी, देवियों और देविकाओंसे देवताओंकी अनेक हविकी, कामसे दशातिरात्रकी, तथा स्वर्गलोकसे उदवसानीयाकी उत्पत्ति। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा अग्निष्टोमका जन्म होता है।[2] तांब्रा० (६.१.१) के अनुसार प्रजापतिने बहुत होनेके लिए तथा सृष्टि उत्पन्न करनेके लिए अग्निष्टोमकी उत्पत्तिकी। विष्णुपुराण (१.५.५४) में ब्रह्माके प्रथम (पूर्व) मुखसे अग्निष्टोमकी उत्पत्तिका उल्लेख है। कालिकापुराण (अध्याय ३०) के अनुसार यज्ञवराहके उठे हुए कपोलसे लेकर कर्णमूल तकके भागसे अग्निष्टोम की उत्पत्ति हुई। देवताओंने तपस्या करके अग्निष्टोमका विधान निकाला, जिसके द्वारा उन्होंने असुरोंका विरोध किया तथा सम्पूर्ण यज्ञ प्राप्त किया (शब्रा० ४.२.४.११-१२)। इस प्रकार वैदिक एवं पौराणिक ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न देवताओं को अग्निष्टोमकी उत्पत्तिका श्रेय प्राप्त है।

---

१. अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात् (विष्णुपु. १.५.५३, मार्कण्डेयपु. ४८.३१, ब्रह्माण्डपु. १८.५०)

२. गोपथब्राह्मण (१.४.७)।

अग्निष्टोमकी[१] व्युत्पत्ति

ऐब्रा० (३.१४.५) में आया है कि जो अग्निष्टोम है, वह साक्षात् अग्नि ही है। उस क्रतुरूप अग्निको देवोंने स्तोमसे स्तुति की, इसीलिए उसका "अग्नि-स्तो[१]म" नाम हुआ। अग्निस्तोम होते हुए उस नामसे युक्त क्रतुको परोक्ष रूपसे व्यवहारके लिए वैदिक सका-तकारका षकार-टकार रूप वर्णान्तर करके उसे "अग्निस्तोम" से "अग्निष्टोम" कहने लगे। इस प्रकार "अग्निस्तोम" अग्निष्टोम हो गया।

इसी अग्निष्टोमके दो नाम "चतुस्तोम"[२] और "ज्योतिस्तोम"[३] भी हैं, जिसका उल्लेख ऐब्रा०के उक्त सन्दर्भमें ही किया गया है। जिस प्रकार अग्नि-स्तोमसे अग्निष्टोम हुआ उसी प्रकार चतुस्तोमसे चतुष्टोम और ज्योतिस्तोमसे ज्योतिष्टोम हुआ।

इस अग्निष्टोममें "यज्ञायज्ञीय" अग्निष्टोम नामक सामका सबसे अन्तमें पाठ किया जाता है, इसीलिए इसका नाम अग्निष्टोम हुआ।[४]

---

१. "सोमयागस्य सप्त संस्थाः तत्राद्या संस्था (अग्निष्टोमः) उच्यते" (अष्टाध्यायी की काशिकावृत्तिपर पदमञ्जरी ८-३-८२) "अग्नीनां स्तोमः अग्निष्टोम इति सोमयागे आद्या संस्था" (प्रक्रियाकौमुदीपर प्रसाद १.६३८.१४) "अग्नीनां स्तोमोऽग्निष्टोमः सोमयागस्य संस्थास्वाद्यासंस्था उच्यते" (सिद्धान्तकौमुदीपर तत्वबोधिनी २०६ अ. १४) "अग्निष्टोमः ज्योतिष्टोमस्याद्या संस्था" (चतुर्वर्गचिन्तामणि iii (i) (६१.३१६), iv (i), १७.४ अग्निष्टोमः प्रथमयज्ञः (आपश्रौ. १०.२.३) अग्निष्टोमः पञ्चापवर्गः प्रथममहः (आपश्रौ. १८.८.३, १८.२२.१३, २०.२४.५, २१.६.१०) (अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः) अग्निष्टोमः (सिद्धान्तकौमुदी २०६ अ.१४ तत्वबोधिनी व बालमनोहरा) तत्रैव अग्निष्टोम इति। स्तोत्रविशेषस्य संस्थाविशेषस्य च नाम (बालमनोहरा) स्तोम श्लाघायाम्। स्तोमयति। स्तोम्यम्। अग्निष्टोमः (धातुप्रदीप १०.३६६ (१५.२.१०)

२. तं यच्चतुष्टया देवाश्चतुर्भिः स्तोमैरस्तुवंस्तस्माच्चतुस्तोमस्तं चतुस्तोमं सन्तं चतुष्टोम इत्याचक्षते (ऐब्रा० ३.१४.५)।

३. अथ यदेनमूर्ध्वं सन्तं ज्योतिर्भूतमस्तुवंस्तस्माज्ज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते (ऐब्रा० ३.१४.५)।

४. अग्निष्टोमसाम्ना यज्ञायज्ञीयाख्येन यज्ञसमाप्तिर्यत्र सोयमग्निष्टोमः॥ (सुधाकर मालवीय द्वारा सम्पादित ऐब्रा० पर सायणाचार्य द्वारा विरचित भाष्यके अन्तर्गत टिप्पणी, पृष्ठ ९)। यज्ञायज्ञीयस्य स्तोत्रे अग्निस्तुत्या यस्य संस्था सो अग्निष्टोमः (आपश्रौसू० १०.२.३ पर रुद्रदत्त की टिप्पणी)।

प्रकृतिरूप एवं अपूर्वकर्म अग्नि[1]ष्टोम :—

"यत्र समग्रांगोपदेश: सा प्रकृति:" यह लक्षण मीमांसकों ने किया है । इसका परीक्षित रूप यह है—जो पदार्थ जिस प्रकारके उपकारके द्वारा जिसका अंग हुआ है, उसके सम्बन्धिके रूपमें उसी प्रकारके द्वारा उस पदार्थमें अन्यांगत्व बोधक प्रमाणको अतिदेश कहा गया है। तथाहि-जैसे प्रयाज-अनुयाजादि पर अदृष्ट उपकार और दृष्टार्थों पर दृष्ट उपकारके पदार्थ, अदृष्टार्थी द्वारा आग्नेयादिके अंग रूप में अवधारित हुआ है, अत: उस प्रयाजानूयाजादि पदार्थ में आग्नेयादिके सम्बन्ध के रूपमें दृष्टादृष्टोपकार द्वारा सौर्यादि याग निरूपित अंगत्वबोधक "प्रकृतिवद् विकृति: कर्तव्या:" प्रकृतिके समान विकृतिका अनुष्ठान करना चाहिये-यह वाक्य प्रमाण होता है । प्रयाजानुयाजादिका आग्नेयादिसे सम्बन्धित होना स्वरूपत: नहीं है, किन्तु वे प्रयाजानूयाजादि साथ होने वाली प्रयाजानूयाजकी सम्बन्धिताका अवच्छेदक धर्म "आग्नेयेतिकर्तव्यतात्व" ही होगा, यह स्पष्ट है । जैसे प्रकृतिमें भावनाकी इतिकर्तव्यताकाक्षांके पूरक बनकर प्रयाजानूयाजादिका भावनामें अन्वय (सम्बन्ध) होता है, वैसे ही विकृति भावनामें भी तत्तदुपकार द्वारा वे प्रयाजानूयाजादि अन्वित होते हैं । अत: अपनी इतिकर्तव्यताकांक्षाके पूरक समग्र अंगोंका अम्नान(पाठ) जहाँ हो, उसे प्रकृति[2] शब्दसे कहा गया है । यह लक्षण सूत्रारूढ भी है । "कृत्स्नविधानाद्वापूर्वत्वम्" (जैसू० ८.१.५) यह सूत्र अग्निष्टोमकी अपूर्वतामें तथा प्रकृतित्वको प्रदर्शित करनेके लिए कृत्स्नविधान का रहा है अर्थात् अभिषवादि सकल अंगोंका यहाँ विधान रहनेके कारण अग्निष्टोम एक अपूर्वकर्म है, तथा वह प्रकृतिरूप कर्म है । अत: अभिषवादिसकलांगविधान (कृत्स्न विधान) ही अग्निष्टोममें अपूर्वता और प्रकृतित्व होनेमें हेतु है । यही सूत्रकारने बताया है । इस कारण "यत्र समग्रांगोपदेश: सा प्रकृति:" यही प्रकृतिका लक्षण है । पंडित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा प्रदर्शित "यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृति:" "चोदकात् यत्र नांगप्राप्ति: सा प्रकृति:" इन दोनों परिभाषाओंका श्रीहरिहरानन्दजी सरस्वती (करपात्रीजी) ने अपने वेदार्थपारिजातमें खण्डन किया है। आपस्तम्बके अनुसार अग्निष्टोम एकाह सोमयागोंकी प्रकृति है (आपपरिसू० १४१) । सायणने उक्थ्य,

---

१. सर्वक्रतूनां प्रकृतिरग्निष्टोम:(आपश्रौसू० २२.१.२,१२.१.४,२२.१.६,२२.१.१२)।

२. प्रकर्षेण क्रियते साकल्येनानुष्ठेयमुपदिश्यते यस्यां सा प्रकृति: (सायण)

षोडशी, अतिरात्रकी प्रकृति अग्निष्टोम बतलाया है (ऐब्रा० ३.४.९ पर सायण भाष्य)। इसी प्रकार उक्थ्य आदि यज्ञोंको अग्निष्टोमकी विकृति बतलाया है।[१]

अग्निष्टोमकी महत्ता :—

गोब्रा० (१.३.१७) ने स्वर्ग पाने वालेके लिए अग्निष्टोमका विधान किया है। शब्रा० (११.५.५.१) में वर्णित एक आख्यानसे अग्निष्टोमकी महत्ता का स्पष्टतया ज्ञान प्राप्त होता है-एक बार देवता स्वर्गकी ओर जा रहे थे, तब असुरोंने उन्हें अन्धकारसे घेर दिया। तदनन्तर देवताओंने १०० अग्निष्टोम करके उतनी दूरी तकका अन्धकार दूर कर डाला। उक्त आख्यानसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अग्निष्टोमके अनुष्ठानसे देवताओंने अन्धकार नष्ट करके स्वर्गको प्राप्त किया।

ऐब्रा० (३.४.१) में प्रकारान्तरसे अग्निष्टोमकी इस प्रकार स्तुति की गई है-जब देवताओं ने अग्निकी स्तुति कर ली और अग्निने भी देवोंका युद्धार्थ अनुसरण किया तो उसने तीन श्रेणी बनाकर असुरोंपर विजय पानेके लिए तीन (सेनापति रूपी) मुखियोंमें युद्धके लिए प्रस्थान किया। तीन श्रेणियाँ वस्तुतः तीन छन्दों (गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती) से बनाई और "तीन मुख" वस्तुतः तीन सवनोंसे। इससे उन असुरोंको उस अग्निने आशातीत पराजय दी। उसके बाद वे देव ही विजयी हुए और असुर पराभूत हुए।

गायत्रीके साथ साम्य दिखाकर[२] अग्निष्टोमकी महत्ता इस प्रकार व्यक्त की गई है-वेदवादी जो यह कहते हैं कि "सोम रूप अन्नसे युक्त अग्निष्टोम सम्यक् रूपसे अनुष्ठित होकर स्वर्गमें यजमानको स्थापित करता है—यह गायत्री (साम्यको) ही (अभिप्रेत करके कहा गया) है। वस्तुतः गायत्री भूमिपर सन्तुष्ट नहीं होती किन्तु वह ऊर्ध्वगामी होकर यजमानको लेकर स्वर्गको प्राप्त करती है। अग्निष्टोम भी वैसा ही है। अग्निष्टोम भी भूमिपर सन्तुष्ट नहीं होता अपितु वह भी ऊर्ध्वगामी होकर यजमानको लेकर स्वर्गको प्राप्त करता है।[३]

---

१. उक्थ्यादयस्तु विकृतयः विशेषस्यैव तत्र प्रत्यक्षोपदेशेन सम्पादितत्वात् (सायण)।

२. गायत्रीमें चौबीस अक्षर होते हैं, अग्निष्टोममें भी चौबीस स्तोत्र एवं शस्त्र होते हैं। अतः संख्या साम्यके कारण अग्निष्टोमको गायत्री कहा गया (ऐब्रा० ३.४.१)।

३. ऐब्रा० (३.४.१)।

अग्निष्टोमके प्रारम्भमें होने वाली दीक्षणीयेष्टि, पाकयज्ञ, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासयाग, चातुर्मास्येष्टि, दाक्षायणयज्ञ, सभी वेदोक्त पशुबन्ध, इडादध नामक इष्टि अग्निष्टोमको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अग्निष्टोमके पश्चात् होने वाले उक्थ्य, अतिरात्र आदि सभी प्रकारके यज्ञों का अग्निष्टोममें प्रवेश होता है। ऐब्रा० (३.४.२ व ३) में अग्निष्टोमकी महत्ताका प्रतिपादन करनेके लिए उक्त उल्लेख किया गया है। प्रवाह रूप नदियाँ जैसे समुद्रमें जाती हैं, वैसे ही सभी (विकृति रूप उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अहीनसत्र वाले) यज्ञ प्रकृति रूप उस (अग्निष्टोम) को ही प्राप्त करते है।[१] इस प्रकारका विवरण निश्चित रूपसे अग्निष्टोमकी सर्वोच्चता प्रकट करता है।

अग्निष्टोमके सम्यक् ज्ञानका बड़ा फल बतलाया गया है। गोब्रा० (१.४.७) में कहा गया है कि जो अग्निष्टोमकी उत्पत्तिका सम्यक् रूपेण ज्ञान रखता है, वह दिव्य गुणोंकी प्राप्ति करता है। स्वर्गलोकमें ठहरता है तथा प्रजासे पशुओंसे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

सभी प्रकारके यज्ञोंकी अपेक्षा सोमयागका महत्त्व इसीलिए सबसे अधिक है क्योंकि वे सब सोममें सम्पन्न होते हैं। जैसे १से लेकर १० संख्या तकमें सभी संख्याओंका समावेश हो जाता है, वैसे ही सोममें यज्ञके सभी स्वरूपोंका समावेश है।[२]

गोष्टोमायुष्टोमादि सोमयागोंमें सबसे पहले उल्लेख श्रुति ज्योतिष्टोमका ही करती है।[३] ऐब्रा० में प्रारम्भमें १७ अध्याय तक चतु: संस्थ ज्योतिष्टोमका ही वर्णन किया गया है। सभी यज्ञों का उपजीव्य होनेसे अग्निष्टोम का ही सर्वप्रथम उल्लेख प्राय: सभी सूत्रकारोंने तथा ब्राह्मणोंने ने किया है।

---

१. ऐब्रा० (३.४.१)।

२. स एष यज्ञानां सम्पन्नतमो यत्सोम:, एतस्मिन् ह्येता: पंचविधा अधिगम्यन्ते, यत् प्राक् सवनेभ्य: सैकाविधा त्रीणि सवनानि यदूर्ध्वं सा पंचमी होती।

३. गोष्टोमायुष्टोमादिषु सोमयागेषु ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यमुक्तम्-एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोम:-इति श्रुति: (ऐब्रा० की भाष्य भूमिका, सायण)। एष वाव प्रथमो यज्ञानां एतेनानिष्ट्वाथान्येन यजते कर्तपत्यमेव तज्जीयते वा प्रवामीयते (तांब्रा० १६.१.२) एष प्रथम: सोम: (काश्रौसू० १०.९.२५)।

अग्निष्टोमकी कतिपय विशेषताएँ:—

अग्निष्टोमके अन्तर्गत १२ स्तोत्र एवं १२ शस्त्र होते हैं। शस्त्रके ६ या ७ प्रकार माने गए हैं—मौन रूपसे जप, आहाव, प्रतिगर, तूष्णीशंस, निविद्, सूक्त, उक्थवाचि शब्दोंका जप एवं याज्या। स्तोत्रके अन्तर्गत ५ चीजें आती हैं-हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार तथा निधन।

१२ स्तोत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—बहिष्पवमान, माध्यन्दिनपवमान, आर्भवपवमान, आज्यस्तोत्र जिनकी संख्या ४ हैं, पृष्ठ्यस्तोत्र भी चार हैं और अन्तमें यज्ञायज्ञीय स्तोत्रका गान किया जाता है।

१२ शस्त्रोंके नाम इस प्रकार हैं—होताके ६ शस्त्र, आज्य, प्रउग, निष्केवल्य, मरुत्वतीय, वैश्वदेव, और अग्निमारुत। इसी प्रकार होत्रकों (मैत्रावरुण, आदिकों) के ६ शस्त्र हैं—मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाक तथा आज्य शस्त्र।

प्रात: सवनमें होता द्वारा आज्य, प्रउग तथा तीन आज्य शस्त्रोंका पाठ किया जाता है तथा मैत्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाक् आज्यशस्त्रोंका पाठ करते हैं। मध्याह्नसवनमें होता द्वारा मरुत्वतीयशस्त्र तथा निष्केवल्य तथा होताके सहायकों द्वारा अन्य तीन शस्त्र। तृतीय सवनमें होता वैश्वदेव तथा अग्निमारुतशस्त्रका पाठ करता है। अग्निष्टोममें आज्यशस्त्र प्रथम तथा अग्निमारुत अन्तिम शस्त्र होता है।

पाँच स्तोत्र प्रात: सवनमें गाये जाते हैं—बहिष्पवमान तथा अन्य चार आज्य स्तोत्र। पाँच ही स्तोत्र माध्यन्दिनसवनमें गाये जाते हैं—माध्यन्दिनपवमान तथा चार पृष्ठ्य स्तोत्र। सायं सवनमें बाकी दो स्तोत्र गाये जाते हैं—आर्भवपवमान तथा अग्निष्टोमसाम।

शस्त्रका पाठ प्रात: कालमें मन्द गतिसे, मध्याह्न कालमें मध्यम गतिसे तथा सायंकालमें तीव्रगतिसे किया जाता है।

जो यजमान अग्निष्टोम करता है, उसके यज्ञमें चार स्तोमोंसे स्तोत्रका गायन किया जाता है-त्रिवृत्स्तोमके द्वारा बहिषवमान, पंचदशस्तोमके द्वारा चार आज्यस्तोत्र एवं आर्भवपवमान, सप्तदशस्तोमके द्वारा चार पृष्ठ्यस्तोत्र एवं आर्भवपवमान तथा एकविंशस्तोमके द्वारा यज्ञायज्ञीय साम।

एक ही दिनमें यदि अग्निष्टोम करना होता है तो मध्य रात्रिके पश्चात् प्रारम्भ करके अगले दिन शाम तक क्रमश: प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायंसवन करते हुए समाप्त कर देते हैं। तीनों सवनोंमें शीघ्रता बिल्कुल नहीं की जाती।

अग्निष्टोमकी (उद्गाताओं द्वारा तीनों सवनोंमें) संस्तुत स्तोत्रिय ऋचाएँ (सब मिलाकर) कुल एक सौ नब्बे हैं। अर्थात् प्रात: सवनमें एक त्रिवृत् और चार पंचदश-६९, मध्यंदिन सवनमें एक पंचदश और चार सप्तदश-८३ तथा सायंसवनमें एकसप्तदश और एकविंश-३८ अर्थात् १९०।

अग्निष्टोम आदि और अन्तसे रहित माना गया है। इस अवसर पर कहा गया है कि जैसे रथका पहिया बार-बार घूमनेसे आदि-अन्तके विभागसे रहित होता है वैसे ही यह आदि और अन्तसे रहित है। अग्निष्टोमका जैसा प्रारम्भिक कर्म है वैसा ही अन्तिम कर्म है।[१] पत्नीसंयाजके द्वारा दीक्षणीयेष्टिकी, शंयुके द्वारा प्रायणीयेष्टिकी तथा इडाके द्वारा आतिथ्यकी समाप्ति होती है। उपसदिष्टिमें तीन सामधेनियोंका पाठ किया जाता है। दक्षिणीयेष्टिके समान ही उपवसथकी समाप्ति भी पत्नीसंयाजसे ही होती है।

प्रात:सवनके आदिमें प्रयुक्त होने वाला त्रिवृत् (९ मन्त्र) स्तोम उपक्रम रूप है और सायंसवनमें एकविंशस्तोम समाप्ति रूप है।[२]

सोमलताका लक्षण, उत्पत्तिस्थान व गुण :—

जिन अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, पावमानेष्टि, महारुद्रयाग, वैश्वानर याग, वाजपेय, राजसूय यादि यज्ञोंमें सोमलताके रसका प्रयोग किया जाता है, उस लताके विषयमें संक्षिप्त सा निरूपण करना आवश्यक है।

सोम एक पौधा विशेष माना गया है, जिसका प्रयोग वैदिक सोमयज्ञोंके समय हविका निर्माण करनेके लिए किया जाता था। यद्यपि ऋग्वेदका समस्त नवम मण्डल तथा अन्य मण्डलोंके ६ सूक्त सोमकी प्रशस्ति प्रस्तुत करते हैं किन्तु पौधेके सम्बन्धमें बहुत कम विवरण प्राप्त हैं।

---

१. ऐब्रा० (३.४.५)।

२. ऐब्रा० (३.४.५)।

अमरकोश (१.३) में सोमके जो २० पर्यायवाची शब्द दिये गए हैं, वे चन्द्रमाके हैं किन्तु अमरकोश (२.४.८३) में ही सोमवल्लीके जो वत्सादिनी, छिन्नरूहा, गुडुची, तन्त्रिका, अमृता, जीवन्तिका, सोमवल्ली, विशल्या, मधुपर्णी ये नौ नाम दिए गए हैं, वे गिलोयके हैं, वैदिक सोमवल्लीके नहीं । निरुक्तके निघण्टुमें सोमोअक्षाः (४.२), सोमानम् (५.३) तथा सोमः (५.५) ये तीन शब्द प्राप्त होते हैं । किन्तु इनका सम्बन्ध भी वैदिक सोमवल्लीसे नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि सोमोअक्षाः का अर्थ गोदुग्धके साथ सोम मिलाना और सोमानम् का अर्थ सोमका रस निकालने वाला बताया गया है और सोम उस औषधिका नाम बताया गया है, जिसका रस निकाला जाता है । आयुर्वेदके निघण्टु (श्लोक ३१८) में भी सोमवल्लीसे गिलोयका ही अर्थ निकलता है ।

प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुतसंहिताके चिकित्सास्थानमें सोम रसायन विषयक एक पूरा (२९ वाँ) अध्याय है, जिसमें सोमवल्लीका विस्तृत विवरण दिया गया है । वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मादिकों ने जरा-मृत्यु समाप्त करनेके लिए सोम नामक अमृत बनाया था, जो नाम, रूप, रंग, स्थान आदिके कारण और विशिष्ट शक्तियोंमें भेद होनेके कारण २४ प्रकारोंमें विभक्त हो गया । इस प्रकारका उल्लेख केवल सुश्रुत संहितामें ही प्राप्त हुआ है । इन सभी प्रकारके सोमोंमें १५-१५ पत्तियाँ होती हैं, जो शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके साथ साथ बढ़ती हैं तथा कृष्ण पक्षमें चन्द्रमाकी घटती हुई कलाके साथ क्रमशः घटती जाती है । पूर्णिमाके दिन पूरी १५ पत्तियाँ सोमलतापर होती है और अमावास्याके दिन केवल लता मात्र रहती है । ऋग्वेद (९.७१.९) तथा अथर्ववेद (५.२४.७)में सोमके पत्तोंका उल्लेख हुआ है ।

सुश्रुत संहिताके अध्याय (२९) में ही सोमकी उत्पत्ति के स्थानका भी उल्लेख है । यथा-हिमालय, अर्बुद (अरावली),[१] सह्याद्रि,[२] महेन्द्र पर्वत,[३] मलय,[४]

---

१. इसीको आबु पर्वत कहते हैं, जो वर्तमान डीसासे लगभग बाईस कोस दूर है ।

२. ताप्तीनदीसे कन्याकुमारी तक फैली हुई पश्चिमी घाटकी पहाड़ियाँ सह्याद्रि कहलाती हैं ।

३. दक्षिण भारतमें जहाँ त्रिचेनगुडी-नगर स्थित है, वही तिन्नेवलीके समीपका स्थान महेन्द्र पर्वत है ।

४. पश्चिमी घाटका वह भाग जो मैसूरके दक्षिण और त्रावंकोरके पूर्वमें है । कोई कोई नीलगिरि को भी मलयाचल कहते हैं ।

श्रीपर्वत,[१] देवगिरि,[२] देवसह,[३] पारियात्र,[४] विन्ध्य, देवसुन्द तालाब, वतस्ता (झेलम) नदीके उत्तरके बड़े-बड़े पर्वत, सिन्धुनद और काश्मीरकी क्षुद्रक नामक सुन्दर झील।

ऋग्वेद (९.११३.१-२) के अनुसार सोमवल्ली मौञ्जवान,[५] शर्यणावत,[६] आर्जीकीया,[७] सुषोमा[८] और सिन्धुमें उत्पन्न होती थी। ऋग्वेदमें भूमियोंपर (९.९४.३) तथा द्युलोकपर (१.११२.३) उत्पन्न होनेका भी उल्लेख है। ऋग्वेदके अनुसार बादलके द्वारा आकाशसे सोम भूलोकपर आता है, अर्थात् वर्षाके दिनोंमें यह पहाड़से बहकर नीचे आ जाता है, या यों कह सकते हैं कि वह ऊँचे पहाड़से खोजकर नीचे लाया जाता है। पर्वतसे सोमके लानेका उल्लेख कितने ही मन्त्रों में (ऋसं. ९.१८.१, ९.६२.४ तथा ९.८५.१०) आता है। पूर्वतोंपर होनेके कारण ही सोमको पर्वतावृथ (ऋसं० ९.७१.४) तथा गिरिष्ठा (ऋसं० ९.६२.४) कहा गया।

पर्वतपर सोमलता किस आकार-प्रकार की, किस रंगकी, देखनेमें किस तरहकी होती थी, इसका वेदमें विस्तारसे तो नहीं किन्तु स्पष्टवर्णन अवश्य प्राप्त होता है। सोमको विचित्र तुर्रेवाला पौधा बताया गया है (ऋसं० १.२३.१३)। यह स्थिर रहने वाला पौधा, जल युक्त किन्तु जरा कठिन स्थानपर उगता है (ऋसं० १.२३.१३)। सोम छहों ऋतुओंमें रहता है (ऋसं० १.२३.१५)।

सोमको हरे रंगवाला (ऋसं. ९.२.६,९.१०३.२), भूरे रंग वाला (ऋसं. ९.३१.५, ९.३३.२), अनेक रूपोंके हरे रंग वाला (असं० ९.३४.४), स्वर्गीय सुन्दर पत्तों वाला (ऋसं० ९.९७.९४) बताया गया है। एक मन्त्र में सोमको सुपर्ण कहा

---

१. बम्बई प्रैसिडेन्सीके धारवाड़ जिलेके अन्तर्गत। भागवत (५.१९.१६) के अनुसार श्रीपर्वत तीर्थ माना गया है।

२. देवताओंका प्रिय पर्वत, जो कैलासके पास है।

३. सोमाकर पर्वत भेद। ये सब पर्वत उत्तरकी ओर विस्तृत हैं।

४. सप्तकुलाचलमेंसे एक। मार्कण्डेयपुराण—(५७.१९) के अनुसार इसमेंसे १५ नदियाँ निकलती हैं। वृहत्संहिताके अनुसार यह पर्वत कूर्म विभागके मध्यप्रदेशमें अवस्थित है (अध्याय १४)।

५. हिमालयका एक भाग।

६. कुरुक्षेत्रके ऊपरी-भागमें हिमालय की तराईमें स्थित एक विशाल झील।

७. यह नदीका नाम है।

८. यह भी नदी है, जिसका उल्लेख भागवत (५.१९.१७) में हुआ है।

गया है (ऋसं० ९.८६.१) । इस प्रकार भाँति भाँति रूपसे सोमका वर्णन किया गया है ।

ऋग्वेदमें सोमके गुणोंका इतना विस्तृत विवरण प्राप्त किया जा सकता है जिससे इसी विषयपर एक पुस्तक भी बन सकती है । संक्षेपमें सोमके गुणोंकी सराहना करते हुए बताया गया है कि उसमें उत्साह और उमंग ब़ढ़ाने की अपूर्व शक्ति होती है (ऋसं० १.१४.४) । वह बुद्धि बढ़ाने वाला (ऋसं० ०.९७.२६, ६.४७.३, ९.९७.२), आयु बढ़ाने वाला (ऋसं० ९.९०.२), वीर्यवर्द्धक (ऋसं० ८.२.५), यौवनदायक (ऋसं० ९.६७.२९), बललदायक (ऋसं० ९.१.४, ८.३.८), सब मानवोंका हितकारी (ऋसं० ९.१.२), शत्रुका नाश करने वाला (ऋसं० ९.६९.१०) है ।

स्वादके विषयमें भी ऋग्वेदमें एक जैसा वर्णन नहीं है । विशेषकर सोमको मधुर रस वाला कहा है (ऋसं० ९.१.१), किन्तु इसके साथ-साथ सोमको रसीला (ऋसं० १.१६.६), तीखे स्वाद वाला (ऋसं० १.२३.१), तीव्र स्वाद वाला (ऋसं० ८.२.१०), मीठे सोमका गरम रस (ऋसं० ८.८७.२) कहा गया है ।

सोमके तीखेपनको मिटाकर और अधिक स्वादिष्ट करनेके लिए उसमें दूध (ऋसं० ९.१.९), नदियों का जल (ऋसं० ७.३२.४), सत्तू (ऋस० ७.३७.१), वृष्टिका जल (ऋसं० ७.४७.१), तथा आटा आदि मिलाया जाता था ।

प्रसंगवश यह कहना आवश्यक है कि ऋग्वेदकी एक ऋचा (६.४१.४) यह संकेत देती है कि रस निकाला हुआ सोम ही श्रेष्ठ है, रस न निकाला हुआ सोम श्रेष्ठ नहीं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सोमकी अपेक्षा उसके रसको ही विशेष महत्व दिया गया है ।

वैदिक यज्ञ कर्मकाण्डमें विस्तारपूर्वक देवताओं को सोमरस अर्पण करनेकी चर्चा आई है । इस सन्दर्भमें इन्द्रका स्थान सर्वोपरि कहा जा सकता है । इन्द्र सोमपान करनेके लिए सर्वप्रथम अधिकारी है (ऋसं० ८.२.४) तथा उसको सर्वप्रम सोम पान करनेके लिए दिया भी दिया जाता है (ऋसं० ८.२.२३) । इसके अतिरिक्त वरुणदेव (ऋसं० १.४४), अश्विदेव (ऋसं० १.४६.१५), उषा (ऋसं० १.४४) विबुध गण (ऋसं० १.४५.९), मरुत् (ऋसं० १.६४.१२), अग्नि (ऋसं० १.१४.१०), इन्द्रवरुण और अग्निकी पत्नियाँ (ऋसं० १.२२.१२), इन्द्रकी पत्नी (ऋसं. १.८२.६), वायु (ऋसं० १.२३.१), मेध्यातिथि (ऋसं० ८.३३.४), मित्रावरुण (ऋसं० ९.९७.५,) विष्णु

(ऋसं० ६.६९.२), आदित्य अदिति मित्र-अर्यमा (ऋसं० ७.५१.२), भग (ऋसं० ९.१०८.१४) आदिके सोमपानका वर्णन ऋग्वेदमें विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है। एक मन्त्रमें सभी देवताओंके एक साथ भी सोमपीने का वर्णन है (ऋसं० ९.१०२.५)।

कितने ही मन्त्रों में "स्वाहा" कहकर सोम देने की बात आयी है (ऋसं० १.११०.१)। सोमकी आहुतिका भी उल्लेख किया गया है (ऋसं० १.९४.१४)। इन्द्र और वरुणके उद्देश्यसे किए गए सोमके हवनका वर्णन भी ऋग्वेद (७.८५.१) में आता है।

भ्रमवश यह माना जाता रहा है कि सोमपान करनेसे नशा होता है किन्तु साक्ष्य सोमको मदिरा नहीं ठहराते हैं। ऋसं० (८.२.१) से पता चलता है कि पेट भर पीनेसे भीं सोम नशा नहीं करता। सोमपानसे (सुहार्द्) उत्तम हृदय (सुमतिः) बुद्धि उत्तम होती है, (शुचिः) शुचिता आती है, (शुक्र) वीर्यकी वृद्धि होती है, (मद भय मन्दितमः) एक विलक्षण आनन्दकी स्फूर्ति का अनुभव होता है। सोम पीकर ही इन्द्र एक हाथसे वज्र फेंककर वृत्रका वध करता है (ऋसं० ८.२.३) । सोमकी यही महिमा है कि पेट भर सोम पीनेसे भी सुमति हटती नहीं, सुहार्द अस्थिर होता नहीं। वीर इन्द्र दिनमें तीन बार पेटभर सोम पीता है किन्तु बेहोशीका चिह्न तक उसपर नहीं दीखता और वह सुमतिपूर्वक सब कार्य करता रहता है (ऋसं० ७.३२.१, ८.३२.५ व ८.३२ २६)।

सोमकी गणना अन्नके अन्तर्गत की गई है।[१] सोमको देवताओंका अन्न ही माना गया है।[२] इसीलिए देवताओंके सोमपानका बहुत सुन्दर चित्रण ऋग्वेद में प्राप्त होता है। उदाहरणके लिए प्यासे अश्विदेव मृगके समान जल्दी-जल्दी सोमपान करते हैं।[३] वरुण अपने सामर्थ्यसे अधिक सोमपान करते हैं।[४] यद्यपि

---

१. ऋसं० (८.२.१)।

२. अन्नं वै सोमः (शब्रा० ३.९.१.८, ७.२.२.११)। एतद्वै देवानां परमं अन्नं यत्सोमः (तैब्रा० १.३.३.२) एष वै सोमो राजा देवानां अन्नम् (शब्रा० १.६.४.५)। औषधिभ्योन्नम् (तै० उपनि०)। ऋसं० (६.४१.३) में सोमरस इन्द्रका अन्न कहा गया है।

३. ऋसं० (७.६९.६)।

४. ऋसं० (७.८८.२)।

इन्द्रके लिए सोमका प्रथम भाग पहले ही रख दिया जाता है, तथापि जितना उनके शरीरमें वेग और बल है इन्द्र उतने परिमाण से सोम पीते हैं ।[१] अन्य देवताओंकी अपेक्षा इन्द्रके सोम पीनेका वर्णन ऋग्वेदमें अधिक आया है । वह सोमको अपने उदरमें धारण करता है ।[२] उत्पन्न होते ही इन्द्र सोमपान करने लगता है ।[३]

देवोंका सोमपान निरर्थक भी नहीं जाता । सोम पीकर वे मनुष्योंके लिए कल्याणकारी कार्य करते हैं । सोम पान करनेपर सभी देवता बहुत आनन्दित होते हैं । इन्द्रके आनन्दका तो बहुत ही सुन्दर चित्रण ऋग्वेद में मिलता है । घास मिलनेपर जैसे घोड़े आनन्दित होते हैं, वैसे ही सोम पीकर इन्द्र भी आनन्द मनाता है ।[४] सोम पीकर इन्द्र अनेक पराक्रमी कार्योंको सम्पन्न करता है । वह मुष्योंके भाग्यको बढ़ाता है ।[५] कुटिल, कपटी तथा आसुरी आक्रमणोंको निरस्त करता है ।[६] वृत्रोंका नाश करता है ।[७] शम्बरासुरको मारता है ।[८] किलेमें बन्दी गौओंको मुक्त करता है ।[९] सोमरस पिलानेवाले की सुरक्षामें वह कभी पीछे नहीं हटता ।[१०] सोमके द्वारा पितरोंने प्रकाश और गौवें प्राप्त की ।[११] उपर्युक्त विवरणसे इतना सुनिश्चित हो जाता है कि जितने भी वीरता-पराक्रम एवं शौर्यसे सम्बन्धित कार्य हैं, वे सभी कार्य सोमपान किये जाने के पश्चात् देवता लोग सम्पन्न करते हैं साथ ही सोम पिलाने वालोंकी अनेक प्रकारकी विपत्तियोंका भी नाश करते हैं ।

जिस सोमके सम्बन्धमें वैदिक संहिताओं ब्राह्मणोंमें इतना सब विवरण प्राप्त होता है, वह सोम धीरे धीरे लुप्त होता चला गया, तथा आर्य ज्यों ज्यों दक्षिणकी

---

१. ऋसं० (७.८९.२)।
२. ऋसं० (७.९८.२)।
३. ऋसं० (७.९८.२)।
४. ऋसं० (६.५९.३)।
५. ऋसं० (७.९७.५)।
६. ऋसं० (७.९८.५)।
७. ऋसं० (७.२२.२)।
८. ऋसं० (६.४३.१)।
९. ऋसं० (६.४३.३)।
१०. ऋसं० (६.२३.९)।
११. ऋसं० (९.९७.३९)।

ओर बढ़े, सोमकी दुर्लभता भी बढ़ती गई । इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आर्यों को सोमकी निरन्तर आवश्यकता रहती थी । इसी समय सोम बेचने का काम भी निश्चित रूपसे जोरोंसे चला होगा । अग्निष्टोमके प्रसंगमें सोमक्रयके कर्मकाण्डमें सोमविक्रेता तथा अध्वर्युके संवाद से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है, जिसका उल्लेख कात्यायनने अपने श्रौतसूत्रमें किया है ।

आज सोमलता सर्वथा लुप्त है और लुप्त होने का प्रधान कारण उसकी स्वयं दिव्यता है, क्योंकि यदि वह उपलब्ध भी हो तो भी पाप से युक्त, अधार्मिक तथा श्रद्धाहीन व्यक्ति उसे देख नहीं पा सकता । वह लता उसके सामने होते हुए भी अप्रकट ही रहती है । कोई दिव्य प्राणी ही उस दिव्य लताको प्राप्त कर सकता है । उसकी विलक्षणता का उलल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होती है । उदाहरणके लिए वह दीप्तिमान् है, प्रकाशता है । रात्रिके समयमें चमकता है तथा उसका रस भी चमकता है (ऋसं० १.२३.१४) । आश्वलायनने सोमके स्थानपर पूतिकाका उल्लेख किया है । मराठी में इसे "मयाल" कहते हैं । यह भी लता ही होती है । लाल और सफ़ेद दो प्रकार की पूतिका मिलती है । इसका रस कुछ अरुण होता है । गुणोंमें यह सोमवल्लीके समान होती है । शब्रा० (४.५.१०.१) पूतिका के अभावमें अरुण दूर्वाका उल्लेख करता है ।

विषयकी परिधि एवं उद्देश्य

सुविधा की दृष्टिसे याज्ञिकों ने यज्ञों के सोमयज्ञ, हविर्यज्ञ और पाकयज्ञ ये तीन भेद किये हैं । प्रकृत ग्रन्थका विषय इसी सोमयाग संस्था का प्रथम सोमयाग प्रकृतिभूत अग्निष्टोम है, जिसके कर्मकाण्ड पक्षपर ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों, संहिता-ग्रन्थोंके आधारपर प्रकाश डालना है ।

कर्मकाण्डके मूलमें ऋषियोंने अध्यात्मका जो निरूपण किया है तथा उपाख्यानके द्वारा भी जिस अध्यात्मकी पुष्टि की गई है, उन उपाख्यानोंके द्वारा कर्मकाण्डगत आध्यात्मिक पक्षकी चर्चा करना प्रकृत ग्रन्थका विषय नहीं है ।

अग्निष्टोमका कर्मकाण्ड लिखने के लिए शुक्लयजुर्वेदके कात्यायन श्रौत-सूत्रको तथा कृष्णयजुर्वेदके भारद्वाजश्रौतसूत्रको आधार बनाया गया है । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, बौधायनश्रौतसूत्र तथा वैखानसश्रौतसूत्रमें जहाँ भिन्नप्रकार से कर्मका-ण्डका विधान किया गया है, उसका उल्लेख स्थान-स्थानपर किया गया है ।

अग्निष्टोमके कृत्यों से सम्बन्धित जितनी भी सामग्री मूल वैदिक ग्रन्थों से प्राप्त हो सकी, उस सामग्री को विशेष रूपसे इस ग्रन्थमें समाया गया है ।

आर्ष परम्पराका प्राणपणसे निर्वाह करने वाले आप्तकाम, मन्त्रदृष्टा, तपःपूत महर्षियों ने जिस वेदार्थका अनुसरण किया, साक्षात्धर्मा अपने सर्वज्ञ पूर्वजोंसे जिन्होंने आर्यजीवनको गाया; शरीरको ही जिन पुण्यकर्माओंने वेदरूप बनाया, उन्हींकी ही लेखनी और वाणीसे जो शाश्वत धर्म "यज्ञ" के कर्मकाण्डके पक्षमें भाष्यके रूपमें, वृत्तिके रूपमें, संहिताके रूप में, ब्राह्मणके रूपमें, श्रौतसूत्रके रूपमें अपूर्व, अतुल, अनन्त, असीम तथा अत्यधिक समृद्ध साहित्य प्राप्त हुआ, उसीके आधारपर उस सनातनधर्मरूप "अनिष्टोमका" कर्मकाण्ड लिखा गया है । यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि देवयाज्ञिक, कर्काचार्य, सायणाचार्य, षड्गुरुशिष्य, गोविन्दस्वामी आदि याज्ञिकशिरोमणियों के भाष्य परम प्रामाणिक माने जायेंगे, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रमका सेवन करते हुए आचार्योंसे चतुर्वेदसंहिताका विधिवत् अध्ययन किया, तत्पश्चात् सभी स्मार्त्त और श्रौतयज्ञोंको स्वयं किया और अनेकों बार उन यज्ञोंको कराया, अतः निश्चितरूपसे उनके द्वारा लिखी गई एक एक पंक्ति अकाट्य मानी जानी चाहिए । अग्निष्टोमका कर्मकाण्ड लिखते समय इन्हीं आचार्योंके ग्रन्थों की सहायता प्रारम्भ से इति तक ली गई है ।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें शतपथब्राह्मण तथा तैत्तिरीयब्राह्मणका आश्रय लिया गया है । हौत्रकर्मों के लिए ऐतरेय ब्राह्मणका सहारा अवश्य लेना पड़ा है । गोपथब्राह्मणमें वर्णित उपयोगी सामग्रीसे भी वंचित नहीं रहा गया है ।

एक महत्वपूर्ण और आवश्यक बात यह है कि सम्पूर्ण श्रौतयागविधान आर्यजीवनकी उत्पत्तिके साथ साथ हुआ । जिस प्रकार वेदमन्त्रोंका क्रम परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यज्ञीय विधान भी इच्छानुसार मन-माने ढंगसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता । परम्परया जैसे एक वेदकी विभिन्न शाखाओंके भिन्न भिन्न मन्त्र माननीय-विश्वसनीय और आप्त हैं, आर्ष प्रणीत हैं, उसी प्रकार एक ही वेदकी भिन्न भिन्न शाखाका उस उस श्रौतसूत्र द्वारा ग्रथित परम्परागत यज्ञीय विधान आप्त प्रमाणकी तरह माननीय और विश्वसनीय है । अतः प्रस्तुत ग्रन्थमें एक ही कृत्यसे सम्बन्धित परम्परागत प्राप्त भिन्न भिन्न मतों को दर्शाया तो गया है किन्तु क्या उचित है, क्या अनुचित है, यह कहीं नहीं कहा गया है । व्यवहारिकी दृष्टिसे कौन सा मत आदरणीय होना चाहिए, किस मतका आश्रय लेकर यज्ञ करनेमें

व्यावहारिक सरलता अधिक प्राप्त हो सकेगी, इस बात का कहीं-कहीं अवश्य उल्लेख किया गया है ।

कर्मकाण्डीय पारिभाषिक शब्दोंकी सरल व्याख्या करनेका, प्रत्येक कृत्यका स्पष्ट तथा सरल भाषामें वर्णन करनेका पूरा-पूरा प्रयास किया गया है । जिस स्थानपर जो परिभाषिक शब्द आया है, उसका विद्वानों द्वारा प्रतिपादित प्रामाणिक अर्थ सन्दर्भ सहित उसी स्थानपर बता दिया गया है । पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या की पुनरावृत्ति नहीं की गई है । ग्रन्थ के अन्तमें पारिभाषिक शब्दोंकी अकारादिक्रमसे एक सूची भी दे दी गई है ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ दस अध्यायोंमें विभक्त किया गया है । पहले अध्यायमें विषयकी परिधि एवं उद्देश्योंका उल्लेख किया गया है । दूसरे अध्यायमें अग्निष्टोमके प्रथम दिवसीय कृत्यका, तीसरे अध्यायमें द्वितीय दिवसीय कृत्यका, चौथे अध्यायमें तृतीय दिवसीय कृत्यका तथा पाँचवे अध्यायमें चतुर्थ दिवसीय कृत्यका वर्णन किया गया है । अग्निष्टोमके अन्तिम अर्थात् पाँचवे दिवस के कृत्योंका चार अध्यायोंमें वर्णन किया गया है ।

केवल यजुर्वेदसे ही अग्निष्टोम सम्पन्न नहीं होता अपितु अन्य तीनों वेदों के मन्त्रों का भी प्रयोग होता है, अत: चारों वेदोंके मन्त्रोंका यथास्थान ग्रहण किया गया है ।

अग्निष्टोमके अन्तर्गत ही "प्रवर्ग्य" की भी गणना की जाती है, क्योंकि प्रवर्ग्य केवल पहले अग्निष्टोममें नहीं किया जाता किन्तु दूसरी बार प्रवर्ग्यका अनुष्ठानअग्निहोम के साथ ही किया जाता है । अधिकांश पूत्रकाकों व ब्रह्मण ग्रन्थकारोंने गया है । परिशिष्टमें ही यज्ञीय पात्रों व वेदियों के चित्र दिए गए हैं । अन्तमें सहायक ग्रन्थोंकी सूची तथा उनकी संकेत सूची भी दे दी गई है ।

उपसंहार :—

मेरा परम सौभाग्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थके निमित्त वैदिक वाङ्मयकी उस धारामें निमज्जित होनेका सुअवसर एवं संयोग मिला, जिस धारामें डुबकी लगाकर महीधर व सायण जैसे कर्मकाण्ड-विचक्षण एवं वैदिक विद्वान् सदाके लिए कृत्कृत्य हुए हैं ।

इस विषयपर अध्ययन करनेकी प्रेरणा देनेका श्रेय स्वर्गीय पं० श्रीकुन्दनलालजी शर्मा को है, जिन्होंने वेदके प्रति मेरी जिज्ञासाको परखकर मेरी दिशा इस

ओर बदली । प्रारम्भमें तो निश्चित रूपसे मुझे अग्निष्टोमके विषयमें चञ्चुप्रवेश भी नहीं था । आचार्य जनोंसे ही प्रेरणा व साहस पाकर मैंने तत्सम्बन्धित वैदिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना प्रारम्भ किया । अनेक स्थानों पर जा जाकर वैदिक विद्वानोंसे अग्निष्टोमसे सम्बन्धित अपनी अनेक शंकाओंका समाधान किया । धीरे धीरे विषयका स्वरूप स्पष्ट हुआ और साहसके साथ लेखनी उठानेका सत्प्रयास किया ।

मुजफ्फरनगरके वेदपाठी भवनके अत्यन्त समृद्ध पुस्तकालय को स्मरण करता हूँ, जहाँ इस अगम्य विषयपर सभी दुर्लभ एवं अप्राप्य ग्रन्थ उपलब्ध हुए । आचार्य पण्डित सीतारामजी चतुर्वेदीके श्रीचरणोंमें बैठकर प्रारम्भसे लेकर इतितक जो यज्ञविद्या मुझे स्नेहपूर्वक तथा सब काल में मिली है, उसके निमित्त भावाञ्जलि समर्पित करनेमें मैं किसी भी प्रकारसे समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ । घरमें रहकर माता-पिता, भाई -बहिन तथा सहधर्मिणी ने जो इस महत्वपूर्ण कार्यको पूरा करनेमें सहयोग प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्षरूपसे पहुँचाया है, उसके प्रति भी मैं किसी प्रकार उऋण नहीं हो सकता हूँ । इन सभीके सहयोग से मेरा यह कार्य कभी भी अवरुद्ध नहीं हो पाया । काशीके पंडित शिवरामजी नागर, वृन्दावन निवासी स्वर्गीय श्रीऋषिशंकरजी, राष्ट्रपति पुरस्कारसे मण्डित वेदमूर्ति पंडित महादेवशास्त्रीजीसे अग्निष्टोमसे सम्बन्धित सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक सभी प्रकारका ज्ञान मुझे मिला । मेरी सभी असंख्य शंकाओंका तत्काल समाधान मुझे इन विद्वानोंकी सन्निधिमें प्राप्त हुआ है । इन सब वैदिक धुरन्धर विद्वानोंके प्रति मेरा बार-बार नमन ।

भगवती गङ्गाका अस्तित्व हो, किन्तु गोमुख न हो तो मर्त्यलोक निवासियोंको पाप-तापविनाशिनी गङ्गाजलका स्पर्श सुलभ नहीं हो सकता । गोमुखका होना आवश्यक है, जहाँसे गङ्गाका प्राकट्य होता है । श्रीदेवशर्माका सहयोग कुछ इसी प्रकार का है, जिसके परिणामस्वरूप विद्वद्जनोंके सम्मुख मैं इस ग्रन्थ को लानेमें समर्थ हो पा रहा हूँ ।

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानके तत्कालीन निदेशककी स्वीकृतिके परिणाम स्वरूप आर्थिक अनुदान प्राप्त हुआ, जिसके लिए मैं अनेकानेक हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ ।

यज्ञीय पात्रों एवं विधियोंके फोटोग्राफसे सुसज्जित होनेके कारण पुस्तककी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है, जिसके लिए पूनाके विश्वविश्रुत वैदिक

विद्वान् प्रो० एच० जी० रानाडे तथा इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्रमें वर्तमान सदस्य सचिव, प्रोफेसर एन० आर० शेट्टि के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। आप दोनोंकी अहैतुकी कृपासे मुझे फोटोग्राफ प्राप्त हुए तथा उन्हें यथास्थान पुस्तकमें अलंकृत करनेके लिए सहर्ष अनुमति प्राप्त हुई।

जिनका मुझे स्मरण नहीं हो रहा है, उनके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष योगदान के लिए इस अवसरपर आभार व्यक्त करता हूँ।

जिन ज्ञात-अज्ञात ऋषियों, लेखकों एवं सुधीजनोंकी कृतियोंकी सहायता से मेरा ग्रन्थ यह रूप धारण कर पाया, उन सभीके प्रति हृदयसे अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ।

संस्कृतनिष्ठ, कठोर परिश्रमी तथा इस ग्रन्थके प्रकाशक श्रीइन्द्रराज के प्रति आभार प्रकट करते हुए संकोच हो रहा है क्योंकि उनके प्रकाशनके कार्यकी जो तीव्र गति है उसके सामने मैं जरा भी ठहर नहीं पाया। मेरा तो कार्य कूर्मगति से ही चलता रहा।

अन्तमें सुधी पाठकों के प्रति मेरा विनम्र निवेदन, यह ग्रन्थ जो भी है, जैसा भी है निरपेक्ष भाव से उसे स्वीकार करने में अपनी उदारता दिखायेंगे तथा जो भी त्रुटियाँ उनकी दृष्टिमें आएँगी उन्हें मुझ तक सम्प्रेषित करनेमें संकोच नहीं करेंगे। पाठकों की प्रतिक्रियासे मेरा मार्ग और अधिक प्रशस्त होगा।

देव प्रबोधिनी एकादशी
२६.११.२००१

नारायण दत्त शर्मा

सहायक ग्रन्थोंकी सूची

अथर्वसं० — अथर्ववेदसंहिता

आधानपं० — आधानपद्धति

आपश्रौसू० — आपस्तम्बश्रौतसूत्र

आश्वगृसू० — आश्वलायनगृह्यसूत्र

आश्वश्रौसू० — आश्वलायनश्रौतसूत्र

ऐब्रा० — एतरेयब्राह्मण

ऋसं० — ऋग्वेदसंहिता

कठसं० — कठसंहिता

कपिसं० — कपिष्ठलसंहिता

काण्वसं० — काण्वसंहिता

काशुसू० — कात्यायन शुल्वसूत्र

काश्रौसू० — कात्यायनश्रौतसूत्र

कूर्मपु० — कूर्मपुराण

कौथुसं० — कौथुमसंहिता

गोब्रा० — गोपथब्राह्मण

गौधर्मसू० — गौतमधर्मसूत्र

जैमिन्यामाला — जैमिनीय न्यायमाला विस्तर

जैमिसूत्रवृ० — जैमिनीय सूत्रवृत्ति

जैमिसं० — जैमिनीय संहिता

जैमिब्रा० — जैमिनीय ब्राह्मण

तांब्रा० — ताण्ड्य महाब्राह्म

तैआ०	—	तैत्तिरीय आरण्यक
तैब्रा०	—	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैसं०	—	तैत्तिरीय संहिता
देवयाज्ञिकप०	—	देवयाज्ञिकपद्धति
निदानसू०	—	निदानसूत्र
निरु०	—	निरुक्त
पञ्चविंब्रा०	—	पञ्चविंशब्राह्मण
पद्मपु०	—	पद्मपुराण
परास्मृ०	—	पराशरस्मृति
पारगृसू०	—	पारस्करगृह्यसूत्र
बौश्रौसू०	—	बौधायनश्रौतसूत्र
भाट्टदी०	—	भाट्टदीपिका
भारश्रौसू०	—	भारद्वाजश्रौतसूत्र
मनुस्मृ०	—	मनुस्मृति
महानाराउ०	—	महानारायणोपनिषद्
मार्कपु०	—	मार्कण्डेय पुराण
मीमांसाद०	—	मीमांसादर्शन
मीन्यायप्र०	—	मीमांसान्यायप्रकाश
मैसं०	—	मैत्रायणीय संहिता
यज्ञतप्र०	—	यज्ञतत्वप्रकाश
यज्ञमी०	—	यज्ञमीमांसा
याज्ञस्मृ०	—	याज्ञवल्क्यस्मृति
लाट्याश्रौसू०	—	लाट्यायनश्रौतसूत्र
वासं०	—	वाजसनेयी संहिता
वैखाश्रौसू०	—	वैखानस श्रौतसूत्र

वैदिकवि०	—	वैदिकविज्ञान
वैदियोगसू०	—	वैदिक योगसूत्र
वृउ०	—	वृहदारण्यकोषनिषद्
श्रौपनि०	—	श्रौतपदार्थनिर्वचन
शब्रा०	—	शतपथब्राह्मण
शास्त्रदी०	—	शास्त्रदीपिका
सत्याषाढश्रौसू०	—	सत्याषाढश्रौसूत्र
सांख्यद०	—	सांख्यदर्शन
सांख्याब्रा०	—	सांख्यायन ब्राह्मण
सांख्याश्रौसू०	—	सांख्यायन श्रौतसूत्र
सामवेद उ०	—	सामवेद उत्तरार्चिक
सामवेदग्रा०	—	सामवेदग्रामगेय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

प्रथम दिवसीय कृत्य

यज्ञका प्रारम्भ

सभी प्रकारके गृह्य यज्ञोंका कृत्य तो यजमान स्वयं अपने घरपर ही सम्पन्न करता है, किन्तु श्रौतयागोंके सम्पादनके लिए उपयुक्त यज्ञभूमिका निर्वाचन करना आवश्यक होता है । गृह्य यज्ञोंके लिए अधिक स्थान अपेक्षित नहीं होता किन्तु श्रौतयागानुष्ठानके लिए स्वतन्त्ररूपसे ऐसे विस्तृत स्थानकी आवश्यकता होती है जहाँ यजमान तथा ऋत्विजोंके लिए, यज्ञाग्नि-वेदी-मण्डप-यज्ञीय पदार्थोंके संरक्षणके लिए तथा गमनागमनके लिए तथा आगन्तुक परिजनों, सम्बन्धियों के बैठने आदिके लिए कठिनाई न हो । अत: सर्वप्रथम शास्त्र सम्मत यज्ञभूमिका चयन किया जाता है ।

यज्ञभूमिका चयन

भगवान् मनुने यज्ञीयदेशके सम्बन्धमें निर्णय दिया है कि जिस प्रदेशमें कृष्णसार (काली पीठवाले) मृग विचरण करते हों, वही यज्ञीय देश है, इसके अतिरिक्त शेष देश म्लेच्छ देश हैं[१] । वस्तुत: भगवान् मनु यह अर्थ विवक्षित कराना चाहते हैं कि जहाँ हिंसा का सर्वथा अभाव हो, ऐसे सुन्दर सात्विक वनप्रदेशमें यज्ञ करना प्रशस्त होता है ।

उपर्युक्त विवरणके आधारपर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि यदि कहीं कृष्णसार मृग विचरण न करते हों तो क्या उस स्थानपर यज्ञ ही नहीं करना चाहिए ? वर्तमान समयमें जहाँ कृष्णसार मृगके दर्शन दुर्लभ हो गए हैं, क्या भगवान् मनुके

---

१. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥ (मनुस्मृ० २.२३)।

निर्देशके अनुसार यज्ञ करना अनुपयुक्त और श्रुति-स्मृति विरुद्ध होगा ?इस प्रश्नका समाधान करते हुए तत्त्वदर्शी सात्ययज्ञने कहा है कि समस्त पृथिवी देवी ही यज्ञका स्थान है[१]। सायणने लिखा है कि यज्ञके लिए आवश्यक भूमिको "यत्र क्व च यजु:" मन्त्रसे ग्रहण कर लेनी चाहिए[२]। श्रुतशास्त्र, सांगप्रवचन अध्येता तथा दोषरहित वेदपाठी जहाँ जहाँ यज्ञ करते हों, वही स्थान यज्ञभूमिके योग्य हो जाता है। सात्ययज्ञका वचन व्यावहारिक दृष्टिसे बहुत महत्व रखता है, इसीलिए शब्रा० ने भी सात्ययज्ञ के वचनका आदर किया है। जहाँ सात्ययज्ञका मत व्यावहारिक दृष्टिसे आदरणीय है वहाँ मनुका वचन भी सर्वथा मान्य ही है, क्योंकि जब मनुस्मृतिकी रचना हुई उस समय वैदिक आर्योंका निवास स्थान आर्यावर्तके उस प्रदेशमें था, जहाँ कृष्णसार मृग निर्भीक होकर विचरण किया करते थे और शेष प्रदेशोंमें म्लेच्छोंका निवास था, जो यज्ञोंमें विघ्न पहुँचाना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। रामायणके प्रसंगोंसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण मनु भगवान् ने कृष्णसार मृगद्वारा वासित प्रदेशको छोड़कर शेष स्थानको यज्ञके लिए अनुपयुक्त बताया था।

यज्ञभूमिकी विशेषता

यज्ञस्थान वहीं निर्वाचित करना चाहिए जहाँ किसी प्रकारके विघ्नकी आशंका न हो अर्थात् जहाँ वन्य प्राणियों तथा अन्य बाधाओं का आतंक न हो, जलकी समुचित व्यवस्थआ हो, चारों ओरका वातावरण पूर्णत: सात्विक, पवित्र तथा शान्त हो, जिसके चारों ओर पर्वत, वन, उपवन, वृक्ष, नदी आदि मनोरम प्राकृतिक स्थल हों।

यज्ञभूमिकी विशेषता बताते हुए ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्पष्ट किया गया है कि यज्ञस्थल अन्य चारों ओरके स्थानकी अपेक्षा अधिक ऊँचा, चौरस, स्थिर, पूर्व या उत्तरकी ओर ढलवाँ, दक्षिण की ओर उन्नत, पूर्वकी ओर अधिक विस्तृत, पश्चिमकी ओर फैला हुआ और उत्तरकी ओर अथवा दक्षिणकी ओर बराबर होना चाहिए[३]।

---

१. एतावती वै पृथिवी यावती वेदि:(तैसं० २.५.४.३)। सर्वा वा इयं पृथिवी देवी देवयजनं, यत्र वा अस्यै क्व च यजुषैव परिगृह्य याजयेत् (शब्रा० ३.१.१.४)।

२. अतो यत्र क्व च मन्त्रेण परिग्रहे सति तदुक्तलक्षणमेव भवेदित्यर्थः (शब्रासा० ३.१.१.४)।

३. शब्रा० (३.१.१.३)।

सामान्यत: यज्ञस्थानका दक्षिणकी ओर ढलवाँ तथा पूर्वकी ओर विस्तीर्ण होना अशुभ माना जाता है। पश्चिमकी ओर विस्तृत तथा उत्तर दक्षिणका आमने-सामनेका भाग बराबर होना प्रशस्त माना जाता है। वही यज्ञस्थान उत्तम माना गया है जो अत्यधिक दृढ, गहरी नींव वाला और अग्निके भयसे मुक्त हो[१]।

देवयजनका तात्पर्य

ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञभूमिको देवयजन संज्ञासे अभिहित किया गया है। व्युत्पत्तिके अनुसार देवयजन उस स्थानको कहते हैं, जहाँ देवता लोग यज्ञ करते हैं[२]। सायणने देवयागाधिकरणभूत स्थानको देवयजन कहा है[३]। एक स्थानपर कहा गया है कि चन्द्रलोकमें इस पृथ्वीका यज्ञस्थान है जो काले धब्बोंके रूपमें दिखायी देता है[४]। यज्ञभूमिमें मुख्यत: प्राचीनवंश, सदोमण्डप, हविर्धान आदिका निर्माण किया जाता है अत: उसीके आधारपर सायणने एक स्थानपर देवयजनकी परिभाषा की है[५]। आपस्तम्बश्रौतसूत्रके वृत्तिकार रुद्रदत्तने यज्ञमें प्रतिष्ठित गार्हपत्य-आहवनीय अग्नियोंके आधार पर देवयजनकी परिभाषा की है। उपर्युक्त उल्लिखित व्याख्याओंके समान ही कुछ अन्य श्रौतसूत्रकारोंने भी यज्ञभूमिकी व्याख्या की है[६]।

अग्निष्टोमका काल

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि मैं सब ऋतुओंमें वसन्त ऋतु हूँ[७]। वसन्तको ऋतुराज भी माना गया है इसीलिए ऋषियोंने अग्निष्टोम यज्ञके लिए वसन्त को ही श्रेष्ठ माना है, क्योंकि उस समय न तो अधिक शीत ही होता है

---

१. गोब्रा० (१.२.११)।

२. शब्रा० का हिन्दी विज्ञान भाष्य (पृष्ठसं० ७८७)। वयमिदं पृथिव्याः सम्बन्धि देवयजनं देवा इज्यन्ते यस्मिंस्तद्देवयजनं स्थानम् (वासं० ४.१ पर महीधर भाष्य)।

३. देवयागाधिकरणभूतं स्थानं देवयजनम् (शब्रासा० १.२.५.१८)।

४. तस्मादाहुः चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमिति (शब्रासा० १.२.५.१८)।

५. प्राचीनवंशसदोहविर्द्धानादिनिर्माणपर्याप्तं देवयजनस्थानम् (शब्रा० ३.१.१.१ पर सायण भाष्य)।

६. दक्षिणत उन्नतमुदीचीनावनतं प्राक्प्रवणं प्रागुदक्प्रवणं वा देवयजनम् (आपश्रौसू० १०.२०.१)।

७. ऋतूनां कुसुमाकरः (श्रीमद्भगवद्गीता १०.३५)।

और न ही अधिक गरमी होती है, फलतः श्रौतसूत्रकारोंने स्पष्ट विधान किया है कि वसन्त ऋतुमें अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिये[१]। प्रायः याज्ञिक लोग शुक्लपक्षकी एकादशीको प्रारम्भ करके पूर्णिमाको सोमयाग समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार पाँच दिनोंमें सम्पूर्ण अंगोंके सहित अग्निष्टोम सम्पन्न हो जाता है[२]। पुराणोंमें भी वसन्तर्तुमें ही अग्निष्टोम यज्ञ करनेका उल्लेख प्राप्त होता है। कूर्मपुराणमें कहा गया है कि वर्षके अन्त (फाल्गुन अर्थात् वसन्त) में ही अग्निष्टोम करना चाहिये।[३]

अग्निष्टोममें यद्यपि पाँच दिन लग जाते हैं तथापि अग्निष्टोम ऐकाहिक या एकाह अर्थात् एक दिन वाला यज्ञ है[४]। ऐब्रा० में कहा गया है कि यह एक दिवसीय यज्ञ प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवनके रूपमें मध्यरात्रिसे लेकर अगले दिनकी रात्रि तक समाप्त कर लिया जाता है[५]। उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि एक दिवसीय यज्ञमें केवल प्रातः माध्यन्दिन और तृतीय सवन ही मुख्य कृत्य होते हैं, सम्पूर्ण अंगों सहित एकाह अग्निष्टोम सम्पन्न नहीं होता है। सम्पूर्ण अंगोंसहित अग्निष्टोम पाँच दिनमें समाप्त होता है। सोमयज्ञ कई प्रकार के हैं, यथा एकाह (एक दिन वाला), अहीन (एक दिनसे लेकर बारह दिनों तक चलने वाला) तथा सत्र (जो बारह दिनोंसे अधिक दिनों तक चलता है)[६]। एक दिनमें सम्पन्न होने वाला अग्निष्टोम यज्ञ ब्राह्मण ग्रन्थोंमें साह्न नामसे अभिहित हुआ है[७]।

अग्निष्टोमानुष्ठानका क्रम

याज्ञिक सम्प्रदायके अनुसार कोई द्विज श्रुतिसम्मत निश्चित क्रमके अनुसार ही अपने जीवनमें क्रमशः यज्ञोंका अनुष्ठान कर सकता है। किसी भी यज्ञको किसी भी अवस्थामें करनेकी छूट वैदिक विधानके अन्तर्गत नहीं है। यदि कोई द्विज यज्ञ करना चाहेगा तो उसे निश्चित क्रमसे ही अनुष्ठान करना होगा।

---

१. वसन्तेऽग्निष्टोमः (काश्रौसू० ७.१.५ भारश्रौसू० १०.१.१)। वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत (आपश्रौसू० १०.२.२)। तेन वसन्ते वसन्ते यजेत (सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ५५४)।

२. वैदिककोश सूर्यकान्त (पृष्ठसं० ४०३)।

३. कूर्मपुराण (पृष्ठसं० ३४७)।

४. धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठसं० ५४५)।

५. ऐब्रा० (३.४.४४)।

६. धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठसं० ५४५)।

७. तस्मादादित्यस्यैव साह्नः इति क्रतोर्नाम सम्पन्नम् (ऐब्रासा० ३.४.४४)

परम्पराके अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यकालमें गुरुकुलमें रहकर सम्पूर्ण वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन करके विवाहोपरान्त स्मार्त्ताग्निके द्वारा औपासन होमादि पाकसंस्थागत यज्ञोंका सम्पादन करनेके कुछ कालके अनन्तर पुत्रादि हो जानेपर अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदिका अनुष्ठान करना चाहिए, तत्पश्चात् यदि द्विज सोमयाग करनेकी इच्छा करे तो वह सोमयाग कर सकता है, किन्तु विधान यह है कि अग्निष्टोम सम्पादन करने के पश्चात् अन्य सोमयाग न करे, सब प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन करने के पश्चात् सोमयाग किया जाता है, उसके पश्चात् अन्य कोई याग अनुष्ठेय नहीं रहता। पाकसंस्थागत तथा हविर्यज्ञसंस्थागत यागोंका अनुष्ठान करनेके पश्चात् ही सोमयाग किया जा सकता है, यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है। उपर्युक्त सिद्धान्तके विपरीत जितने भी विधान प्राप्त होते हैं, वे सब अपवादस्वरूप ही हैं, यथा- कोई कोई आचार्य मानते हैं कि पहले अतिरात्र यज्ञ करना चाहिए। भारद्वाज तथा सत्याषाढ श्रौतसूत्रने इस मतका उल्लेख किया है[१]। इस अवसरपर गोपीनाथने अतिरात्रका अर्थ ज्योति अतिरात्र किया है[२]।

जैमिनि (४.३.३७) में आया है कि दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य एवं पशुयज्ञ सम्पादित करनेके उपरान्त ही सोमयज्ञ किया जाना चाहिए, किन्तु कुछ अन्य लोगों का मत है कि दर्शपूर्णमासके पूर्व भी यह किया जा सकता है, परन्तु अग्न्याधानके उपरान्त ही ऐसा करना उचित है (आश्वश्रौसू० ४.१.१-२, सत्यश्रौसू० ७.१)। भारश्रौसू० ने सोमयागानुष्ठानके विषय में लिखा है कि रथन्तरपृष्ठसे युक्त अग्निष्टोम करनेके पश्चात् ही बृहत्पृष्ठसे युक्त अग्निष्टोम करना चाहिए[३]।

गोब्रा० ने स्पष्टरूपसे सम्पूर्ण यज्ञोंके सम्पादनका व्यवस्थित क्रम दिया है, यथा-सर्वप्रथम अग्न्याधान, फिर पूर्णाहुति, पूर्णाहुतिके बाद अग्निहोत्र, अग्निहोत्रके बाद दर्शपूर्णमास, दर्शपूर्णमासके बाद आग्रयण, आग्रयणके बाद चातुर्मास्य, चातुर्मास्यके बाद पशुबन्ध, पशुबन्धके बाद अग्निष्टोम, अग्निष्टोमके बाद राजसूय, राजसूयके बाद वाजपेय, वाजपेयके बाद अश्वमेध, अश्वमेधके बाद पुरुषमेध, पुरुषमेधके बाद सर्वमेध, सर्वमेधके बाद दक्षिणावाले यज्ञ, दक्षिणा वाले यज्ञोंके बाद बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ, बहुत दक्षिणा वाले यज्ञोंके बाद बड़ी से बड़ी दक्षिणा

---

१. भारश्रौसू० (१०.२.२३), सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ५६०)।

२. अत्रातिरात्रो ज्योतिरतिरात्रो ग्राह्यः (सत्याषाढश्रौसू० पृ० ५६०)।

३. न रथन्तरपृष्ठमकृत्वा बृहत्पृष्ठं कुर्वीत (भारश्रौसू० १०.२.१४)।

वाले यज्ञ और अन्तमें सहस्रदक्षिणावाले यज्ञोंको करना चाहिये[१] । गोब्रा० के अनुसार यही सिद्ध होता है कि पशुबन्धके पश्चात् ही अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिये ।

सोमयागका अधिकारी

यज्ञतत्वप्रकाशमें सोमयागके अधिकारीका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि सोमयागका अनुष्ठाता वही व्यक्ति हो सकता है जो कूष्माण्ड[२](तैआ० में दिए हुए "यद्देवा देवहेडनम्" आदि मन्त्रोंसे किये हुए होम) आदिसे, जपसे तथा पुण्य तीर्थों में स्नानादि करनेसे अपने आपको पवित्र कर चुका हो तथा सब प्राणियों में निर्वैरभाव रखता हो । त्रैवर्णिक तथा आहिताग्नि ही सपत्नीक सोमयागके अनुष्ठानका अधिकारी है[३] । कात्यायनके अनुसार अन्य पंगु-बधिर आदि, अश्रोत्रिय (वेद न पढ़े हुए), नपुंसक तथा शूद्र यागानुष्ठान करनेके अधिकार नहीं है, क्योंकि अन्धा आज्यका अवेक्षण नहीं कर सकता, पंगु प्रदक्षिणा नहीं कर सकता, बधिर मन्त्र श्रवण नहीं कर सकता, मूक मन्त्रोच्चारण नहीं कर सकता और नपुंसक पवित्र नहीं हो सकता[४] ।

स्त्रीको स्वतन्त्र अधिकार नहीं दिया गया है, अपितु वह पतिके साथ ही यज्ञमें भाग ले सकती है[५] । मनुने पृथक् से यज्ञकरनेका निषेध किया है[६] । जैमिनिने व्यवस्था दी है कि पति-पत्नी दोनोंको एक साथ धार्मिक कृत्य करने चाहिए(६.१.१७-२१) । साथ ही यह भी कहा है कि श्रुतिके निर्देशानुसार जहाँ यजमान द्वारा ही क्रिया करने का विधान है, वहाँ वहाँ यजमानको ही उक्त क्रियाएँ करनी चाहिय, पत्नी को नहीं, क्योंकि उसे मन्त्रों का ज्ञान नहीं होता । पत्नी यज्ञके उन्हीं कर्मों को करनेकी अधिकारिणी है जहाँ स्पष्ट रूपसे उन कर्मों की व्यवस्था दी

---

१. गोब्रा० (पृष्ठसं० २२६)।

२. तैत्तिरीयारण्यके पठिताः यद्येवा देवहेडनम् (२.२.२-६) इत्यादयो मन्त्राः कूष्माण्डाः। तैः क्रियमाणा होमा अपि कूष्माण्डा इत्युच्यन्ते (यज्ञतत्वप्रकाश पृष्ठसं० ५६)।

३. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ५६-५७)।

४. काश्रौसू० (१.१.५)।

५. काश्रौसू० (१.१.८)।

६. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् । शुश्रूषयति भर्त्तारं तेन स्वर्गे महीयते ॥ (मनुस्मृ० ५.५५)।

गई है, जैसे आज्यका देखना, ब्रह्मचर्यपालन आदि। इसी प्रकार अंजन लगाना, आचमन करना, प्रात:काल तथा सायंकाल अग्निहोत्र चलते रहने तक मौन धारण करना, अग्निष्टोमयज्ञमें योक्त्र (मूंजके त्रिसूत्र) से अपनी कटिको मेखलाके रूप में बाँधे रखना, शिरोवेष्टन करना आदि कार्य पत्नी द्वारा ही किये जाते हैं। अशिक्षित पत्नी उपर्युक्त कार्यों को नहीं कर सकती, जब तक कि उसको पर्याप्त प्रशिक्षण न दिया जाय। इसीलिए यह भी विधान किया गया है कि अग्न्याधानके पूर्व ही पत्नीको अपने पिता या पतिसे यज्ञोंमें कहे जाने वाले मन्त्रोंको सीख लेना चाहिए[1]।

यद्यपि यज्ञमें सोलहों ऋत्विज अपने अपने कार्यसे यज्ञका सम्पूर्ण कृत्य सम्पादन करते हैं किन्तु दीक्षा लेनेके कारण यजमान यज्ञफलका भागी होता है अत: यदि यजमान स्वयं अशिक्षित तथा वेदका अध्ययन न किया हुआ होगा तो वह स्वर्गप्राप्ति रूप यज्ञका फल नहीं प्राप्त कर सकता। वेदाध्ययनके अभावमें यजमान कदापि यज्ञकी व्यवस्था नहीं कर सकता, अत: विद्वान् यजमान ही वस्तुत: यज्ञका अधिकारी हो सकता है। इस सन्दर्भमें शबरने प्रश्न उठाया है कि यज्ञ करने वाले यजमानको कितना वेद जानना चाहिये? इसके उत्तरमें कहा गया है कि उसे उतना वेद अवश्य कण्ठाग्र कर लेना चाहिये जितनेसे वह अपने संकल्पित यज्ञको पूर्ण कर सके। इस सूत्रपर तन्त्रवार्त्तिककार ने इतना और जोड़ दिया कि वेदका अध्ययन तो ब्रह्मचर्य कालमें ही पूर्ण कर लेना चाहिये किन्तु यदि वह सम्पूर्ण वेदको कण्ठाग्र कर सकने में असमर्थ हो तो कमसे कम उसे अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमासेष्टिका अंश तो अवश्य ही कण्ठाग्र कर ही लेना चाहिये। इस प्रकार वह अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमासेष्टि कर सकता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी यज्ञको करने के लिए उस यज्ञमें पठित मन्त्रोंका ज्ञान यजमानको अवश्य होना चाहिये[2]।

देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३२) में कहा गया है कि दो प्रकारके व्यक्ति अनधिकारी हैं—एक तो वह व्यक्ति, जिसके पिता-पितामहने कभी सोमयाग न किया हो, दूसरा वह व्यक्ति जिसने हविर्यज्ञ किया हो। ऐसा व्यक्ति दुर्ब्राह्मण कहलाता है जो अनधिकारी होता है। दुर्ब्राह्मण भी यदि यज्ञ करना चाहता हो तो दोषकी निवृत्तिके लिए पहले ऐन्द्राग्न पशुयाग तथा पवमान आदि इष्टियाँ कर लेनी चाहिये। ऐन्द्राग्न पशुयाग तथा पवमान आदि इष्टियोंके करनेके पश्चात् ही वह

---

१. धर्मशास्त्रका इतिहास, खण्ड २ (पृष्ठसं० १०४१)।

२. धर्मशास्त्रका इतिहास, खण्ड ५ (पृष्ठसं० १०५)।

सोमयाग कर सकता है। कात्यायनका मत है कि अपनेको लेकर तीन पीढ़ी तक यदि सोमपान न किया गया हो तब ऐन्द्राग्नपशुयाग करना चाहिये(काश्रौसू० ७.१.६) किन्तु यज्ञतत्वप्रकाशमें कहा गया है कि अपनेको छोड़कर तीन पीढ़ी तक यदि सोमयाग न किया गया हो तो उस दोषकी निवृत्तिके लिए ऐन्द्राग्नपशुयाग तथा आश्विनपशुयागका अनुष्ठान करके तब सोमयागका अनुष्ठान करना चाहिए (पृष्ठसं० ५६)। देवयाज्ञिकने लिखा है कि ऐन्द्राग्न पशुयाग निरूढपशुवत् होना चाहिये किन्तु कर्कके मतानुसार यह अग्निषोमीयवत् किया जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २३२)। ऐन्द्राग्न पशुयाग या तो सोमयागसे पहले ही किया जाता है अथवा सोमयागके चौथे दिन अग्निषोमीय पशुयागके दिन ही सम्पन्न कर लिया जाता है[१]।

उल्लिखित तथ्योंके आधारपर कहा जा सकता है कि अधिकारसम्पन्न व्यक्ति ही क्रमश: स्मार्त्ताग्निके द्वारा औपासन होमादि पाकसंस्थागत यज्ञोंका सम्पादन करनेके पश्चात् अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासेष्टि आदि हविर्यज्ञोंका अनुष्ठान करके सोमयागमें दीक्षित हो सकता है।

सोमयागमें अधिकार प्राप्त करने के लिए मुख्य रूपसे तीन योग्यताओं का होना परम आवश्यक है—१. वेदका भलीभाँति अध्ययन, २, विवाहित होना तथा ३. प्रारम्भके दो (पाकयज्ञ तथा हविर्यज्ञ) संस्थागत यज्ञोंके अनुष्ठानकी योग्यता। शास्त्रीय अधिकार प्राप्त हो जाने पर भी व्यवहारकी दृष्टिसे अन्य योग्यताओं का होना भी आवश्यक है। अग्निष्टोमयज्ञ वही व्यक्ति कर सकता है जिसके पास पर्याप्त मात्रामें धन हो क्योंकि धनके अभावमें न तो शास्त्रसम्मत दक्षिणा दी जा सकती, न यज्ञीय पदार्थों का ही निर्माण किया जा सकता है। निर्धन व्यक्ति को तो सोमपान करने का भी अधिकार नहीं दिया गया है। कूर्मपुराण (पृष्ठसं० ३४७) में कहा गया है कि जिसके पास भृत्यों के भरण-पोषण करने हेतु तीन वर्षके लिए पर्याप्त सामग्री हो, वही सोमपान का आधिकारी है। मनुने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिसके घरमें तीन वर्षके लिए या उससे अधिक भृत्यपोषण के लिए पर्याप्त वित्त हो, उसे ज्योतिष्टोमयज्ञ करके सोमपान करना चाहिए[२]।

---

१. कर्कभाष्य (पृष्ठसं० ४४५)।

२. यस्य त्रैवार्षिकं भुक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये। अधिकं वाऽपि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ (मनुस्मृ० ११.७)।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि शरीरसे स्वस्थ, विद्वान्, विवाहित तथा धनसम्पन्न व्यक्ति ही सोमयाग करनेका अधिकारी है ।

ऋत्विग्वरण

ऋत्विग्वरण सम्बन्धी कर्मकाण्ड लिखनेसे पहले ऋत्विजोंके लक्षण, ऋत्विजोंकी योग्यता, विशेषत: ब्रह्माकी योग्यता, योग्य ऋत्विजों की महत्ता, अयोग्य ऋत्विजों की निन्दा, ऋत्विजोंके मुख्य कर्म तथा ऋत्विजोंकी संख्या आदिका विवेचन कर लेना आवश्यक है ।

यज्ञादिकार्योंके सुसम्पादनार्थ सर्वप्रथम ऋत्विजोंकी ही आवश्यकता पड़ती है । ऋत्विजोंके बिना यज्ञादि कर्म निष्पन्न नही हो सकते, अत: यह निश्चित है कि ऋत्विजों पर ही समस्त यज्ञकर्मकी प्रतिष्ठा निर्भर है[१] ।

पुराणों, स्मृतियों व सूत्रोंमें ऋत्विजोंके लक्षण की विस्तारपूर्वक चर्चाकी गई है । पारस्कर गृह्यसूत्रके टीकाकार गदाधरने में कहा है कि जो दक्षिणा लेकर श्रौतस्मार्त्त कर्म करता है उसे "ऋत्विक्" कहते हैं[२] । पद्मपुराणमें यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को ऋत्विक् बताया गया है ।[३] मनुस्मृतिमें कहा गया है कि आचार्यत्वेन वृत्त होकर जो यजमानकी प्रेरणानुसार अग्न्याधान, पाकयज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञोंको करता है, वह उसका ऋत्विक् कहलाता है[४] । याज्ञवल्क्य स्मृतिमें भी इसी प्रकार की परिभाषा की गई है[५] । निरुक्तमें कहा गया है कि वह स्तुति वाक्य कहता है तथा ऋचाओं द्वारा यज्ञ कराता है, इसीसे उसे "ऋत्विक्" कहते हैं । अथवा ऋतुमें यजन करता है, इसलिए उसे "ऋत्विक्" कहते हैं[६] ।

---

१. ऋत्विजि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः (ऐब्रा० ९८)।
२. ऋत्विक् यो दक्षिणा परिक्रीतः कर्माणि करोति (१.३.१)।
३. ये च यज्ञकरा विप्रा य ऋत्विज इति स्मृताः (३६.३८)।
४. अग्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते (मनुस्मृ० २.१४३)।
५. श्रीविज्ञानेश्वरमहाराजने ब्रह्मचर्यप्रकरणके २५वें श्लोक में "यः पाकयज्ञादिकं वृतः करोति स ऋत्विक्" ऐसा कहा है।
६. ऋत्विक् कस्मात् ? ईरणः। ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा (निरुक्त ३.१९)।

ब्राह्मणग्रन्थों व श्रौतसूत्रोंमें ऋत्विजोंकी योग्यतापर विस्तारसे विवेचन किया गया है। भारश्रौसू० में कहा गया है कि जो ब्राह्मण युवा या प्रौढ हो, विकलांग न हो तथा उच्च स्वरसे पाठ कर सकता हो, उसी को वरण करना चाहिए[1]। गोब्रा० (१.२.२४) में कहा गया है कि संसारकी जयके लिए, संसारकी विविध जयके लिए संसारके पूरे जयके लिए, संसारकी रक्षा के लिए, संसार की विविध बढ़ती के लिए, संसार की पूरी बढ़ती के लिए, संसार के उठानके लिए, संसारके फैलावके लिए, संसार की पूर्णताके लिए तथा संसारकी सिद्धिके लिए ऋग्वेद जाननेवाले होताको, यजुर्वेद जानने वाले अध्वर्युको, सामवेद जानने वाले उद्गाता को, तथा चारों वेद जानने वाले ब्रह्माको चुनना चाहिये। इस प्रकार की योग्यताकी परीक्षा किए बिना यदि अनपढ़ व्यक्तियों को ऋत्विक् बना दिया जाय तो उसका यज्ञ चारों दिशाओं में बिखरकर नष्ट हो जाता है। विद्वान् ऋत्विजोंके वरण होनेसे संसारकी वृद्धि और सिद्धि होती है (गोब्रा० १.२.२४)। अन्यत्र भी गोब्रा०ने ऐसे व्यक्तिका स्पष्ट रूपसे निषेध किया है, जो चारों वेदोंको न जानता हो, अल्पशक्तिवाला हो। यदि अनधिकारी व्यक्ति ऋत्विक् बन जाता है तो क्रमश: यज्ञ, यजमान, ऋत्विक्, दक्षिणाएँ, यजमानके पुत्र-पौत्रादि सम्बन्धी और अन्तमें सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती है (गोब्रा० १.३.१-२)।

अन्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा ब्रह्माको अधिक योग्य होना चाहिये, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत अधिक होता है। किसी भी वेदसे सम्बन्धित कृत्यके दूषित होने पर ब्रह्मा ही प्रायश्चित्तका विधान करके यज्ञकी रक्षा करता है, इसीलिए कहा गया है कि यदि ऋत्विक् और यजमानका अपमान हो अथवा यज्ञमें मन्त्रों-ब्राह्मणों और कल्पोंका प्रयोग न हो अथवा यथोक्त दक्षिणा न दी गई हो अथवा न्यून वा अधिक दक्षिणा दी गई हो अथवा प्राणियोंपर प्राकृतिक विपत्ति आ गई हो अथवा प्रायश्चित्तका उल्लंघन हो गया हो तो उस स्थितिमें ब्रह्माका उत्तरदायित्व होता है कि वह यज्ञको त्रुटित होनेसे बचावे। ब्रह्माको अन्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा अधिक विद्वान्, योग्य, कुशल, यज्ञका हितैषी, यथाविधि शास्त्रीय रीतिसे सम्पूर्ण वेदों का अध्येता, ब्रह्मचारी, अप्रमत्त तथा न्यून या अधिक अंगोंसे रहित होना चाहिए। योग्य ब्रह्मासे ही यज्ञ त्रुटिरहित तथा स्थिर रहता है[2]।

---

१. भारश्रौसू० (१०.१.१)।
२. गोब्रा० (१.२.५)।

ब्रह्माके सम्बन्धमें एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यजमान जिस शाखाका हो, ब्रह्माको उसी शाखा का ब्रह्मत्व प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि भिन्न-भिन्न शाखा का ब्रह्मत्व भिन्न-भिन्न है, इस प्रकार ब्रह्माको यजमानकी शाखाका ब्रह्मत्वप्रयोग तथा अन्य सभी शाखाओंके ब्रह्मत्वका प्रयोग भी आना चाहिए।

जिस प्रकार अध्वर्यु यजुर्वेदका, होता ऋग्वेद का, उद्गाता सामवेदका ज्ञाता होता है, उसी प्रकार ब्रह्मा अथर्ववेदका ज्ञाता होता है। यह जो कहा जाता है कि ब्रह्माको चारों वेदों का ज्ञाता होना चाहिए, वह इसलिए कि ब्रह्मा ही अन्य तीनों ऋत्विजोंके कार्यों का निरीक्षण करता है। यदि ब्रह्मा चारों वेदोंका ज्ञाता न हो तो वह अध्वर्यु, होता और उद्गाता की त्रुटियों को नहीं परख सकता। अब यहाँ प्रश्न होता है कि यदि ऐसी बात है तब यह क्यों कहा जाता है कि ब्रह्मा को अथर्ववेदका ज्ञाता होना चाहिए? वस्तुत: ब्रह्मा ज्ञाता तो होता है अथर्ववेदका ही, किन्तु अथर्ववेदको त्रयी कहते हैं, क्योंकि इसमें ऋक्, यजु: और साम तीनों की स्थिति मानी जाती है। काठक शाखाके शताध्ययन ब्राह्मणके ब्रह्मौदन प्रकरणके अन्त में कहा गया है कि अथर्ववेद अकेला ही चारों वेदोंका प्रतिनिधित्व करता है, इसीलिए यह कहा जाता है कि ब्रह्माको चारों वेदोंका ज्ञाता होना चाहिए (वेदार्थपारिजात पृष्ठसं० ९२३-९२४)। अथर्ववेदज्ञ ब्रह्मा ही यज्ञमें आए विघ्नों को दूर करता है और कर्मको तेजस्वी बनाता है, इसीलिए अथर्ववेदज्ञ ब्राह्मण को सोमपान करने का अधिकार दिया गया है[१]। गोब्रा० में कहा गया है कि जो अथर्ववेदज्ञ को ब्रह्मा नहीं चुनता, उसका यज्ञ दक्षिणदिशामें बिछुड़ जाता है। अन्यत्र कहा गया है कि वेदज्ञ ऋत्विक् ही यज्ञके तेजसे तेज, बलसे बल और यशसे यश पाता है। अयोग्य व्यक्ति को कभी भी यज्ञमें पदाधिकारी नहीं बनाना चाहिए। जिस प्रकार दूहनेसे पहले बछड़ा आकर गायका दूध पी जाता, उस प्रकार ब्रह्माको केवल अपना ही स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहिए[२]।

किसी भी वेदसे सम्बन्धित यदि कोई भी कृत्य छूट जाता है तो विद्वान् ब्रह्मा को ही तत्काल उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। अत: उसे प्रायश्चित्तका सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इस प्रसंगमें शब्रा० (११.५.८.६) की निम्नांकित आख्यायिका अवश्य देखनी चाहिए। एक बार देवोंने प्रजापतिसे कहा कि यदि हमारा यज्ञ ऋक्

---

१. वेदार्थपारिजात (पृष्ठसं० ९२२)।

२. गोब्रा० १.२.१ व २४ (पृष्ठसं० १३४)।

से छूट जाय तथा यजुस् से और सामसे विफल हो जाय तो इसका क्या उपचार किया जाना चाहिए, अर्थात् यदि इन वेदों से सम्बन्धित कोई कृत्य छूट जाय तो क्या प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए। प्रजापति बोले कि यदि यज्ञ ऋक् से विफल हो जाय तो चार स्रुवा आज्य लेकर गार्हपत्य अग्निमें "भू:" मन्त्रसे आहुति दी जाए। यदि यजुस् से यज्ञ विफल हो तो चार स्रुवा लेकर आज्य लेकर "भुव:" मन्त्रसे आग्नीध्रीयमें आहुति दी जाय और यदि सामसे यज्ञ विफल हो जाय तो चार स्रुवा आज्य लेकर 'स्व:' मन्त्रसे आहुति दी जाय। यदि यह न जान पड़े कि यज्ञमें कहाँ भूल हुई है तो तानों मन्त्रों को शीघ्रतासे कहकर आहवनीय अग्निमें आहुति दी जाय। इस प्रकार उत्पन्न होने वाली त्रुटिका उपर्युक्त प्रकारसे प्रायश्चित्त हो जाता है। गोब्रा० (१.३.३) में आया है कि ब्रह्मा "ओम् भू: जनत्"मन्त्रके द्वारा गार्हपत्य अग्निमें हवन करके यजुर्वेदसे उत्पन्न हुई त्रुटिको, "ओम् भुव: जनत्" मन्त्रके द्वारा दक्षिणाग्निमें हवन करके सामवेदसे उत्पन्न हुई त्रुटिको और "ओम् स्व: जनत्" मन्त्रके द्वारा आहवनीय अग्निमें हवन करके न जानी हुई त्रुटियोंके परिहारके लिए प्रायश्चित्त कर ले। इस प्रकार प्रायश्चित्त विधानके द्वारा यजमानका यज्ञ निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। यज्ञके निश्चल होने पर यजमान भी निश्चल हो जाता है, यजमानके निश्चल होनेपर ऋत्विक् लोग निश्चल हो जाते हैं, ऋत्विजोंके निश्चल होने पर दक्षिणाएँ निश्चल हो जाती हैं। दक्षिणाओंके निश्चल हो जाने पर यजमान पुत्रों सहित निश्चल हो जाता है। पुत्रों और पशुओंके निश्चल हो जाने पर स्वर्गलोक सहित निश्चलता प्राप्त कर लेता है। स्वर्गलोककी निश्चलता हो जाने पर उस यजमानकी उस ऋद्धिका योगक्षेम हो जाता है जिस सम्पत्तिसे वे यज्ञ करते हैं[१]।

पहले वसिष्ठवंशी ही ब्रह्माके पदपर प्रतिष्ठित होते थे, जिसका संकेत-शब्रा० की उस आख्यायिका से प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि इन्द्रने वसिष्ठको अग्निहोत्रसे लेकर महदुक्थ तक के सब प्रायश्चित्त सिखाए थे (१२.६.१.४१)। बाद में अन्य व्यक्ति भी ब्रह्मा होने लगे, जिन्होंने उक्त पद की योग्यता प्राप्त की।

गोब्रा० में एक स्थान पर कहा गया है कि जो ब्रह्मज्ञान वाला हो उसी को ब्रह्मा बनाना चाहिए। उपर्युक्त योग्यता से सम्पन्न ब्रह्माकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मासे ही यज्ञ ठहरा हुआ है, ब्रह्मा ही यज्ञको यथावत् चलाता है, ब्रह्मा

---

१. गोब्रा० (१.१.१४, ऐब्रा० ५.३४)।

ही दक्षिण दिशा में बैठा हुआ यज्ञको सुधारता चलता है । ब्रह्मा ही यज्ञकी रक्षा कर सकता है । जिस प्रकार टूटी नाव अथाह जलमें डूब जाती है उसी प्रकार ब्रह्माकी भूलसे अथवा उसके समीपमें न रहने से यज्ञ नष्ट हो जाता है[१] ।

तीन प्रकारके यज्ञीय दोष बतलाकर ऐब्रा० ने तीन प्रकारके अयोग्य ऋत्विजोंका विवरण देते हुए कहा है कि यज्ञके तीन दोष हैं-पहला जग्धम् (उगले हुएको खा लेना), दूसरा गीर्णम् (निगल जाना) तथा तीसरा वातम् (वमन करना) । यदि कोई ऋत्विक् यह सोचकर अपनेको स्वयं ही अर्पण करे कि यजमान मुझे कुछ देगा या यजमान मुझसे यह कृत्य करायेगा तो ऐसे पुरुषको नियुक्त नहीं करना चाहिए । ऐसे पुरुषका वरण करना उगले हुएको खा लेनेके समान है । इस प्रकारके ऋत्विक् का वरण यजमानके लिए अशुभ होता है । यदि कोई यजमान किसी ऋत्विक् को भयके मारे नियुक्त करता है अर्थात् यह सोचकर कि यदि मैं इसकी नियुक्ति नहीं करूँगा तो यह मुझे मार डालेगा या मेरे यज्ञमें विघ्न पहुँचा देगा तो यह यज्ञ निगल जानेके समान है, इस प्रकारके ऋत्विक् की नियुक्ति भी यजमानके लिए अशुभ होती है । यदि किसी ऐसे ऋत्विक् को चुन लिया गया है जिसकी कीर्ति ठीक नहीं है, तो वह वमन करने के समान है, ऐसे ऋत्विक् का भी वरण नहीं करना चाहिए[२] ।

यदि प्रमादसे ऐसे ऋत्विजों की नियुक्ति हो जाती है तो प्रत्यवायकी निवृत्ति के लिए वामदेव्य सामका[३] गान किया जाना चाहिए । ऐतरेय ऋषिका कथन है कि यदि श्रेष्ठ ऋत्विजोंका वरण हो भी जाता है तब भी वामदेव्य सामका गान करना ही चाहिए[४] ।

प्रत्येक यज्ञमें ऋत्विक् लोग ब्राह्मणग्रन्थों द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को करते थे । मुख्यत: अध्वर्यु यजुस् मन्त्रोंसे, होता ऋक् मन्त्रोंसे, ब्रह्मा अथर्व मन्त्रोंसे तथा उद्गाता साम मन्त्रोंसे अपना कार्य करते है (गोब्रा० १.२.९) । एक स्थानपर कहा गया है कि

---

१. गोब्रा० (२.२.५)।

२. ऐब्रा० (३.५.४६)।

३. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः । दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ (ऋसं० ४.३१.१-३, सामसं० १.३.१-३)।

४. ऐब्रा० (३.५.४६)।

हिंकार करना, स्तुति करना, सामगान करना तथा सुब्रह्मण्याका गान करना उद्गाताओं का, ग्रहोंका ग्रहण करना, ग्रहयाग करना, ऋचाओं को सुनाना और वषट्कार करना अध्वर्युका, होतृसदन में बैठना, स्तुति करना, वषट्कार करना और याज्या अनुवाक्योंका पाठ करना होताका, देवयजन बनाना वषट्कार कहना-पुरस्ता होम तथा संस्थित होम करना तथा जप करना ब्रह्मा का कार्य है (गोब्रा० १.३.४) । वैदिककोश में कहा गया है कि होताका मुख्य कर्म ऋचाओंका गान करना है । अध्वर्यु प्रार्थना एवं निर्ऋतिनाशक मन्त्रोच्चारण के साथ यज्ञका व्यावहारिक कार्य करता है, उसे प्रमुख सहायता अग्नीध्रसे प्राप्त होती है । दोनों एक दूसरे की सहायता से छोटे मोटे यज्ञ सम्पन्न करते हैं । मैत्रावरुणका कार्य होता को उपदेश देना और कुछ प्रार्थनाएँ करना है । पोता-नेष्टा तथा ब्राह्मणाच्छंसिन् मुख्य रूप से सोमयागमें काम करते हैं ।[१]

अग्निष्टोममें सोलह ऋत्विजोंका वरण किया जाता है । एक सत्रहवें ऋत्विक् का भी उल्लेख प्राप्त होता है । यद्यपि कौषीतकिशाखा वाले उसे सदस्य मानते हैं किन्तु सामान्यतया उसे स्वीकृति नहीं मिली है (शब्रा० १०.४.१.१९) । आश्वलायन श्रौतसूत्र (४.१.६), तथा शांश्रौसू० (१३.१४.१) ने सोलहों ऋत्विजों को चार गणों में विभक्त कर दिया है-अध्वर्युगण, ब्रह्मगण, होतृगण तथा उद्गातृगण । प्रत्येक गण में चार चार ऋत्विक् होते हैं-अध्वर्युगणमें अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता, ब्रह्मगण में ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता होतृगण में होता, मैत्रावरुण (प्रशास्ता), अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् उद्गातृगणमें उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य । आचार्यों ने जो यज्ञका तीन वेदों द्वारा सम्पादन बताया है, वह सोमयागके लिए कहा गया है ।[२] सोमयागका तीन वेदोंसे सम्बन्ध रहता है, अतएव इसमें तीन वेदों से सम्बद्ध ऋत्विजों का, उस उस वेदसे सम्बद्ध कर्मको करनेके लिए वरण किया जाता है । अध्वर्युगण यजुर्वेदसे सम्बद्ध होता है, होतृगण बह्वृच् सम्बन्धी अनुष्ठानों के लिए होता है तथा सामवेद के अनुष्ठानोंके लिए उद्गातृगण रहता है । इन तीन गणों द्वारा किये गए कर्मों का निरीक्षण करनेके लिए ब्रह्मगण रहता है ।

---

१. वैदिक कोश (पृ.६९-७०) ।

२. यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः (आपश्रौसू० २४.१.१) ।

इस प्रकार सोमयागमें चारों गणोंका उपयोग है[१] । उपर्युक्त चारों गणोंके ऋत्विजों का उल्लेख श्रौतसूत्रोंमें किया गया है[२] ।

ऋत्विग्वरण सम्बन्धी कर्मकाण्ड

विविध प्रमाणोंके आधारपर ऋत्विजोंकी योग्यताका विवेचन करनेके पश्चात् श्रौतसूत्रोंके आधारपर प्रकृत विषयका कर्मकाण्ड लिखनेके पहले कुछ अन्य विषयों का विवेचन करना आवश्यक है ।

ऋत्विजोंके वरणसे पहले यजमान सर्वप्रथम मातृपूजा[३] करता है । मातृपूजाके अन्तर्गत अनेक कृत्य सम्मिलित हैं । प्राय: इसके अन्तर्गत गणपतिपूजन, षोडशमातृकापूजन, सप्तघृतमातृकापूजन (वसोधारा), आयुष्यपाठ, नान्दीश्राद्ध, पुण्याहवाचन आदि कृत्य सम्मिलित हैं । यह कृत्य प्रथम अग्निष्टोम के समय ही किया जाता है, पुन: अग्निष्टोमका अनुष्ठान करनेपर मातृकापूजन किया भी जा सकता है नहीं भी ।

मातृपूजाके अनन्तर यजमान श्राद्ध करता है[४] । वैदिक कोशमें कहा गया है कि आभ्युदयिक के अनन्तर ऋत्विजोंका वरण करनेके लिए सबसे पहले सोमप्रवाकका[५] वरण किया जाता है । वरण किया गया ऋत्विक् सोमप्रवाक अध्वर्यु आदिके घर जाकर उनसे कहता है-अमुक शर्माका यज्ञ होगा, उसमें आप ऋत्विक् का कार्य करें । इस अवसरपर अर्ध्वर्यु आदि ऋत्विक् सोमप्रवाकसे कुछ प्रश्न पूछते हैं-आधान इत्यादिके समय कौन ऋत्विक् थे ? वे कहाँ गए ? इस समय हमें क्यों ढूँढ रहे हो ? क्या यजमान अच्छी दक्षिणा देगा ? इत्यादि । सोमप्रवाक उनको यथावत् उत्तर देकर यजमानके घर उन ऋत्विजोंके साथ आ जाता है । सोमप्रवाक

---

१. वैदिक कोश (पृष्ठ सं० ३९९)।

२. होता मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुदध्वर्यु: प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्याग्नीध्र: पोतोद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्त्ता सुब्रह्मण्य इति (आश्रौसू० ४.१.६, आपश्रौसू० १०.१.९)।

३. श्रौतपनिर्व० (४९.३६८)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३३)।

५. सोमयागं करिष्यता यजमानेन ऋत्विजां वरणार्थं तत्समीपं य: प्रेष्यते स सोमप्रवाक:। सोमं प्रकर्षेण वक्ति ऋत्विभ्य इति (यज्ञतत्वप्रकाश पृष्ठ सं० ५८)।

सहित ऋत्विजोंके आने पर ही यजमान उनका विधिवत् मन्त्रोच्चारणपूर्वक वरण करता है[१] ।

ऋत्विग्वरणके अवसरपर सोलहों ऋत्विक् पूर्वकी ओर मुँह करके बैठ जाते हैं और स्वयं यजमान उत्तरकी ओर मुँह करके इष्टदेवताको प्रणामकरके मन्त्रोच्चारणमात्रसे दैवी ऋत्विजोंका वरण करता है[२] । मानवश्रौतसूत्रके अनुसार यजमान "आदित्योऽध्वर्युः स मेऽध्वर्युरध्वर्यो त्वं मेऽध्वर्युरसि" मन्त्रसे दैवी अध्वर्युका, "चन्द्रमा ब्रह्मा से मे ब्रह्मा ब्रह्मंस्त्वं मे ब्रह्मासि" मन्त्रसे दैवी ब्रह्मा का, "अग्निर्मे होता स मे होता होतस्त्वं मे होतासि" मन्त्रसे होता का, "पर्जन्य उद्गाता स म उद्गातोद्गातस्त्वं म उद्गातासि" मन्त्र से उद्गाताका, "दिशो होत्राशंसिन्यस्ता मे होत्राशंसिन्यो होत्राशंसिन्यो यूयं मे होत्राशंसिन्यः स्थ" मन्त्रसे द्वादश होत्राशंसियों[३]का वरण करता है[४] ।

इस प्रकार सोलहों दैवी (अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, उद्गाता तथा होत्राशंसी) ऋत्विजों का मन्त्रोच्चारण मात्रसे वरण हो चुकने पर मानुषी ऋत्विजों का वरण इस प्रकार किया जाता है-बाएँ हाथमें स्फ्य और चावलोंसे युक्त दाहिने हाथसे दक्षिण ऋत्विक् को छूकर यजमान "अमुक गोत्र शर्मन् हिरण्यशतगवदक्षिणेन वासोश्वदक्षिणेन च रथन्तर पृष्ठेन चतुष्टोमेनाग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये" कहकर "मे त्वं ब्रह्मा भव" के द्वारा ब्रह्माका वरण कर लेता है । इस अवसर पर ब्रह्मा "भवामि" ऐसा कहता है । ब्रह्माका वरण कर लेने पर यजमान उद्गाता भव, होता भव, अध्वर्यु भव, ब्राह्मणाच्छंसी भव, प्रस्तोता भव, मैत्रावरुणो भव, प्रतिप्रस्थाता भव, पोता भव, प्रतिहर्त्ता भव, अच्छावाको भव, नेष्टा भव, अग्नीध्र भव, सुब्रह्मण्या भव, ग्रावस्तुद् भव तथा उन्नेता भव कहकर उन उन ऋत्विजोंका वरण कर लेता है[५] । इस प्रकार मानुषी ऋत्विजोंका वरण हो जाता है ।

भारश्रौसू० के अनुसार यजमान दैवी अध्वर्युका वरण करनेके लिए "आदित्यो देवो दैव्योऽध्वर्युः स मेऽध्वर्युरस्तु" मन्त्र उपांशु स्वर से कहकर "असौ

---

१. वैदिक कोश (पृष्ठसं० ४०३)।
२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३३)।
३. महर्त्विग्व्यतिरिक्ता ब्राह्मणाच्छंस्याद्या द्वादशर्त्विजो होत्राशंसिन इत्युच्यन्त इति (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २३३)।
४. मानवश्रौतसू० (२.१.१.४)।
५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३३)।

मानुषः" मन्त्रके द्वारा मानुषी अध्वर्युका वरण करता है। इस अवसरपर यजमान कहता है कि अमुक मेरे मानवीय अध्वर्यु हैं। "चन्द्रमा देवो दैव्यो ब्रह्मा स मे ब्रह्मास्तु" मन्त्र उपांशु स्वरसे पढ़कर यजमान दैवी ब्रह्माका वरण करके "असौ मानुषः" कहकर मानवीय ब्रह्माका वरण करते हुए कहता है कि अमुक मेरे ब्रह्मा हैं। "अग्निर्देवो दैव्यो होता स मे होतास्तु" मन्त्र कहकर यजमान दैवी होताका वरण करके "असौ मानुषः" कहकर मानवीय होताका वरण करते हुए कहता है कि अमुक मेरे होता हैं। "पर्जन्यो देवो दैव्य उद्गाता स म उद्गातास्तु" मन्त्र उपांशु स्वरसे कहकर यजमान दैवी उद्‌गाताका वरण करके "असौ मानुषः" कहकर मानवीय उद्गाताका वरण करते हुए कहता है कि अमुक मेरे उद्गाता है। "आकाशो देवो दैव्यः सदस्यः स मे सदस्योऽस्तु" मन्त्र उपांशु स्वरसे कहकर यजमान दैवी सदस्यका वरण करके "असौ मानुषः" कहकर मानवीय सदस्यका वरण करते हुए कहता है कि अमुक मेरे सदस्य हैं। कात्यायनश्रौसू० में सदस्यका कोई उल्लेख नहीं मिलता, केवल कौषीतकिका मत देकर भारश्रौसू०ने पाँचवें ऋत्विक् सदस्यका उल्लेख करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक उसके वरणका उल्लेख किया है। इसके पश्चात् "आपो देवीर्दैव्या होत्राशंसिनस्ते मे होत्राशंसिनः सन्तु" मन्त्र उपांशु कहकर यजमान दैवी होत्राशंसियोंका वरण करके "असौ चासौ च मानुषः" मन्त्र उच्चस्वरसे कहकर मानवीय होत्राशंसियोंका वरण करते हुए कहता है कि अमुक मेरे होत्राशंसी हैं। "रश्मयो देवा दैव्याश्चमसाध्वर्यवस्ते मे चमसाध्वर्यवः सन्तु" मन्त्र उपांशु स्वरसे कहकर दैवी चमसाध्वर्युओंका वरण करके "असौ चासौ च मानुषः" मन्त्रको उच्चस्वरसे पढ़कर मानवीय चमसाध्वर्युओंका वरण करते हुए यजमान कहता है कि अमुक मेरे मानवीय चमसाध्वर्यु हैं। इस अवसर पर प्रत्येक ऋत्विक् यज्ञोपवीत धारण करके, आचमन करके, पूर्व या उत्तरकी ओर खड़े होकर अथवा बैठकर "भूर्भुवः सुवः ॥ आयुर्मे प्रावोचो वर्चो में प्रावोचो यशो मे प्रावोचो श्रियं मे प्रावोचः ॥ आयुष्मानहं वर्चस्वी यशस्वी श्रीमानपदितिमान् भूयासम् ॥ भूर्भुवः सुवः ॥ सर्वं भूयासम्"[१] "मन्त्र कहकर अपनी स्वीकृति देते हैं, अर्थात् यह स्वीकार करते हैं कि हम आपके ऋत्वक् हैं, आपने हमारा वरण कर लिया है। वरण होना स्वीकार कर

---

१. आपश्रौसू० (१०.१.४) में "महन्मेऽवोचो भर्गो मेऽवोचो यशो मे वोचः स्तोमं मे वोचः क्लृप्तिं मेऽवोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मेऽवोचस्तन्मावतु तन्माविशतु तेन भुक्षिषीय" यह मन्त्र दिया गया है। देखिये पञ्चविंशब्रा० (१.१.२.३) तथा सत्याश्रौसू० (पृष्ठसं० ५६७)।

चुकने पर ऋत्विक् देवो देवमेतु सोमः सोममेत्वृतस्य पथा । विहाय दौष्कृत्यम्[१] मन्त्र कहते हैं[२] । यदि यजमानकी ओरसे वरणके लिए आमन्त्रण आता है तो व्यावहारिक दृष्टिसे ऋत्विजोंको यजमानका आमन्त्रण अस्वीकृत नहीं करना चाहिए ।

कात्यायनने ऋत्विग्वरणके क्रमके सम्बन्ध में दो विकल्प दिए हैं- या तो वह सोलहों ऋत्विजोंका वरण एक साथ कर ले अथवा पहले ब्रह्मा-उद्गाता-होता तथा अध्वर्युका वरण करके फिर ब्रह्मगण के अन्य तीन ब्राह्मणाच्छंसी-आग्नीध्र और पोताका, उद्गातृगणके अन्य तीन प्रस्तोता-प्रतिहर्त्ता और सुब्रह्मण्यका, होतृगण के अन्य तीन मैत्रावरुण-अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् का तथा अन्तमें अध्वर्युगण के अन्य तीन प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा तथा उन्नेताका वरण करे[३] । कर्कने सोलहों ऋत्विजों के वरणकी व्यवस्था दी है[४] ।

आपश्रौसू० (१०.१.१०) तथा भारश्रौसू० (१०.१.११) ने चारों (ब्रह्मा, उद्गाता, होता तथा अध्वर्यु) ऋत्विजोंके अतिरिक्त पाँचवें ऋत्विक् सदस्यके वरणका उल्लेख किया है । यज्ञमीमांसामें हेमाद्रिका मत देकर यह कहा गया है सदस्य ऋत्विक् का सर्वप्रथम वरण करना चाहिए (पृष्ठसं० ५०) । सत्रहों ऋत्विजों के अतिरिक्त भारश्रौसू० (१०.२.१) ने चमसाध्वर्युओंके वरणका भी उल्लेख किया है ।

काश्रौसू०, भारश्रौसू० तथा मानवश्रौसू० तीनों में ऋत्विजों के वरणका क्रम भिन्न है । प्रमुख चार ऋत्विजोंके वरणका क्रम भारश्रौसू० तथा मानवश्रौसू० में समान है किन्तु कात्यायनश्रौसू० में भिन्न हैं । चमसाध्वर्युओंके वरणका उल्लेख केवल आपश्रौसू० में ही है, न कात्यायनमें और न मानवमें । कात्यायनके अनुसार चारों ऋत्विजों का वरण क्रमशः इस प्रकार होता है—ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु किन्तु भारश्रौसू० और मानवश्रौसू० में चारों ऋत्विजों का क्रम इस प्रकार है-अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता तथा उद्गाता । भारश्रौसू० में पाँचवा ऋत्विज सदस्य है ।

---

१. पञ्चविंशब्रा० (१.१.२-३)।

२. भारश्रौसू० (१०.२.३)।

३. काश्रौतसूत्र (७.१.७-९)।

४. कर्कभाष्य (पृष्ठसं० ४४६)।

मधुपर्क

इस प्रकार घरपर ही दैवी व मानवीय ऋत्विजोंका वरण सम्पन्न होनेपर यजमान उन ऋत्विजोंके प्रति "साधु भवन्त आसतामर्चयिष्यामो भवत"इस प्रकारका वचन कहता है । व्यवहारकी दृष्टिसे यह उपयुक्त भी है कि घरपर आये हुए ऋत्विजों को यजमान वाणी और कर्मसे उनका स्वागत-अर्चन करे । इस अवसरपर यजमान ऋत्विजों को मधुपर्क देता है[1] । भारद्वाजश्रौतसूत्रमें आया है कि इस अवसरपर यजमान प्रत्येक ऋत्विजोंको ओढनेके लिए वस्त्र, कानमें पहननेके लिए कुण्डल तथा कोई एक अन्य वस्तु भेंट करता है[2] ।

देवयजनकी प्रार्थना

ऋत्विजोंका वरण तथा मधुपर्क आदिके द्वारा स्वागत-सत्कार करनेके पश्चात् यजमान सर्वप्रथम देवयजनकी "अग्निर्मे होता स मे देवयजनं ददातु" मन्त्र उपांशु स्वरसे कहकर" होतर्देवयजनं मे देहि" मन्त्र उच्च स्वरसे पढ़कर प्रार्थना करता है । इसी प्रकार देवयजनकी निम्नांकित मन्त्रोंके द्वारा प्रार्थना करता है- "आदित्यो मेऽध्वर्युः स मे देवयजनं ददातु" उपांशु स्वरसे, "अध्वर्यो देवयजनं मे देहि" उच्च स्वरसे, "चन्द्रमा मे ब्रह्मा स मे देवयजनं ददातु" उपांशु स्वरसे "ब्रह्मन्देवयजनं मे देहि" उच्चस्वरसे, "पर्जन्यो म उद्गाता स मे देवयजनं ददातु" उपांशु स्वरसे, "अध्वर्यो देवयजनं मे देहि" उच्च स्वरसे, "चन्द्रमा मे ब्रह्मा स मे देवयजनं ददातु" उपांशु स्वरसे "ब्रह्मन्देवयजनं मे देहि" उच्चस्वरसे, "पर्जन्यो म उद्गाता स मे देवयजनं ददातु" उपांशु स्वरसे, "उद्गातर्देवयजनं मे देहि" मन्त्र उच्च स्वरसे । "आपो मे होत्राशंसिनस्ते देवयजनं ददतु" मन्त्र उपांशु स्वरसे, "होत्राशंसिनो देवयजनं मे दत्त" मन्त्र उच्च स्वरसे ।" रश्मयो मे चमसाध्वर्यवस्ते मे देवयजनं ददतु" मन्त्र उपांशु स्वरसे, "चमसाध्वर्यवो देवयजनं मे दत्त" मन्त्र उच्चस्वरसे[3] ।

प्राचीनवंशशाला निर्माण

देवयजनकी प्रार्थना करनेपर यजमान ऋत्विजोंके साथ सर्वप्रथम यज्ञभूमि का निरीक्षण करनेके लिए प्रस्थान करता है । कात्यायनमें कहा गया है कि यजमानके सहित ऋत्विक् लोग सकलप्रयोगांगभूत भूमिप्रदेशका अवलोकन करते हैं[4] ।

---

१. वैदिक कोश (पृष्ठसं० ४०३, देवयाज्ञिक पद्धति पृष्ठसं० २३३)।

२. भारश्रौसू० (१०.२७-८)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३३)।

४. काश्रौसू० (७.१.१०)।

यज्ञभूमिके सम्बन्धमें एक औपचारिकताका विवरण देते हुए पी.वी. काणेने अपने धर्मशास्त्रके इतिहासमें लिखा है कि यजमान अपने देशके राजाके पास यज्ञभूमि (देवयजन) की याचना करने के लिए जाता है, यहाँ तक कि यज्ञ करने के लिए राजा भी इस प्रकार की याचना होता तथा अन्य पुरोहितों से करता है[१] । यद्यपि यह बड़ी विचित्र बात है कि अपनी भूमि रहते हुए भी यजमानको राजासे ऐसी याचना करनी पड़े, तथापि विधि तो विधि है ।

अवलोकित यज्ञभूमिकी विशेषता बताते हुए कात्यायनने (७.१.११-१२) कहा है कि यह दृढ, समतल, अन्य समीपवर्ती प्रदेशोंकी अपेक्षा अधिक ऊँची होनी चाहिए तथा वेदी आदिके निर्माणके लिए यज्ञभूमिके पूर्वकी ओर अधिक स्थान छुटा रहना चाहिए । देवयाज्ञिकने कहा है कि यदि उपर्युक्त गुणोंसे युक्त यज्ञभूमि नहीं प्राप्त होती है तो जिस यजमानके ऋत्विक् वेदवेदांगोंमें पारंगत (अनूचान) हो उस यजमानको जैसी यज्ञभूमि प्राप्त हो सके वैसी ही यज्ञभूमिमें संकल्पित यज्ञका सम्पादन करना चाहिए[२] ।

यज्ञीय क्रियाओंको सम्पन्न करनेके लिए यज्ञभूमिके पश्चिमी भागमें घास-पात, कुश-कण्टक आदि हटाकर ऐसा विमित[३] (मण्डप) खड़ा किया जाता है जो दस अरत्नि[४] लम्बा-चौड़ा और चौकोर होता है[५] । इस यज्ञमण्डपको ही

---

१. धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठसं० ५४६)।

२. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठसं० २३४)।

३. विमितं चतुरस्रं स्याद्दशारत्निप्रमाणतः। "विमितं" इति मण्डप विशेषः सोमयागे प्रसिद्धः (काशुसू० पृष्ठसं० ७)। विंशत्या तु करेः शाला दशायामेन विस्तृता । विमितं चतुरस्रं स्याद्दशारत्नि प्रमाणतः। विंशतिहस्तायता दशहस्तविस्तारा शाला उदगायता प्राग्वंशा सोमे सत्रेषूदग्वंशा। दशहस्तसमचतुरस्रन्तु विमितम् (काशुल्वसूत्र पृष्ठसं० ४१)। विमितं सर्वतः समपरिमाणम् (शब्रासा० ३.१.१.६)।

४. "नारत्निः कफौणां हस्ते सप्रकोष्ठे चांगुलौ" इत्यादिके अनुसार बद्धमुष्टिमेंसे कनिष्ठिका अंगुलि सीधी कर दीजिए यही मान अरत्नि (चौबीस अंगुलिमित) होता है (हिन्दी विज्ञान भाष्य, पृष्ठसं० ७८०)। अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना (अमरकोश २.६.८६)। अरत्निर्वा सप्रकोष्ठतांगुलिकरेऽपि च (मेदिनी)।"

५. काश्रौसू० (७.१.१४)।

प्राचीनवंश या प्राग्वंश[१] कहते हैं । कुछ आचार्योंके अनुसार यह मण्डप पश्चिमसे पूर्व सोलह प्रक्रम[२] लम्बा तथा दक्षिणसे उत्तरकी ओर बारह प्रक्रम चौड़ा होना चाहिए[३] । मण्डपके चारों ओर (चारों दिशाओं में) चार द्वार तथा उत्तर-पूर्व दिशामें एक पाँचवाँ द्वार होता[४] है । गोपीनाथने कहा है कि सब कोणोंमें गवाक्ष भी होने चाहिए[५] । यद्यपि सब दिशाओंमें द्वार बनानेका उल्लेख तो है तथापि किसी विशेष कामनाके निमित्त किये जाने वाले यज्ञमें केवल एक ही द्वार बनानेका विधान भी प्राप्त होता है[६] । एक ही द्वार बनाये जानेपर सब प्रकारका आवागमन उस एक ही द्वारसे किया जाता है ।

कामना विशेषसे द्वार बनानेकी व्यवस्थाके सम्बन्ध में कहा गया है कि स्वर्गकी कामना वालेको पूर्वकी ओर, पितृ (भुवः) लोककी कामना वालेको दक्षिणकी ओर तथा मर्त्यलोककी कामना वालेको पश्चिमकी ओर, प्रजा (सन्तति) की कामना वालेको उत्तरकी ओर तथा उभय लोककी प्राप्ति करने वालेको उत्तरपूर्वकी ओर द्वार बनाना चाहिए,[७] किन्तु जो समृद्धि चाहता हो उसे सब ओर द्वार बनाने चाहिए ।[८] यज्ञमण्डपमें दस-बारह बल्लियाँ गाड़ी जाती हैं, जिनमें बीचवाली बल्ली पूर्वकी ओर झुकी हुई होनी चाहिए अर्थात् वह पूर्वसे पश्चिमकी ओर डाली हुई होनी चाहिए[९] । देवयाज्ञिक (पृष्ठसं० २३४) का कहना है कि ऊँचे वाले बाँस पूर्व दिशामें गाड़ने चाहिये ।

---

१. प्रागग्रो वंशः पृष्ठवंशो मध्यबलो यस्य तत् । यस्य वंशस्योपरि दक्षिणत उत्तरश्च वंशाः प्रोता भवन्ति स मध्यमो वंशः पृष्ठवंशः (काश्रौसूसरलावृ० ७.१.१५) ।

२. "द्विपदस्त्रिपदो वा" (गोपीनाथ; पृष्ठसं० ५८१) ।

३. धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठसं० ५४६) ।

४. तस्य प्रतिदिशं द्वाराणि भवन्ति । उत्तरपूर्वमवान्तरदेशं प्रति पंचमं द्वारम् (भारश्रौसू० १०.३.२) ।

५. पृष्ठसं० (५८२) ।

६. एक द्वाराः काम्याः कल्पाः (गोपीनाथ पृष्ठसं० ५८३) ।

७. सत्याषाढश्रौतसूत्र (पृष्ठसं० ५८३) ।

८. सर्वतो द्वारं यः कामयेत सर्वासु दिक्ष्वृध्नुयामिति (सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ५८३) ।

९. एगलिंग, सेबुई० (२६.३) ।

यजमानकी दीक्षाके लिए ही प्राचीनवंशशालाका निर्माण किया जाता है। यजमानके अतिरिक्त उसकी पत्नी, ऋत्विक् तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य अभ्यागतोंको भी बुलाकर इसमें बैठाया जाता है। प्राचीनवंशशालाकी चारों दिशाओंमें देवता आदिकी स्थितिके सम्बन्धमें कहा गया है कि शालाके पूर्वमें देव, दक्षिणमें पितर, पश्चिममें मनुष्य तथा उत्तरमें रुद्र (यज्ञरक्षक भृत्य) खड़े रहते हैं[1]।

मैक्डोनेल तथा कीथ का कहना है कि प्राचीनवंश एक विशेषण है, जो "जिसकी छतको आश्रय देनेवाली धरन पूर्वमुखी हो" आशयका द्योतक है। इससे उस केन्द्रीय धरन का तात्पर्य है जो किसी कक्षकी पश्चिमी दीवारके मध्यसे पूर्वी दीवारके मध्य भागको सम्बद्ध करती है। यह धरन दोनों ओर स्थित अन्य धरनोंसे सम्भवत: कुछ ऊँची होती है (वैदिक इण्डैक्स, भाग दो, पृष्ठ संख्या ५०)।

सूर्यकान्तने प्राचीनवंशको यज्ञशालाका एक विशेष कक्ष कहा है (वैदिक कोश, पृष्ठ सं० ३१३)। सायणने शालाका अलग तथा प्राचीनवंशका अलग अर्थ किया है, जिससे प्राचीनवंश शब्द शालाका विशेषण प्रतीत होता है[2]।

प्राचीनवंशशालाके निर्माणके क्रमके सम्बन्धमें दो मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मतके अनुसार दीक्षणीयेष्टिके पूर्व ही निर्माण कर लिया जाय, दूसरे मतके अनुसार दक्षिणीयेष्टिके पश्चात् निर्माण किया जाय[3]। व्यवहारकी दृष्टिसे प्राचीनवंशका निर्माण पहले ही हो जाना चाहिए क्योंकि दीक्षणीयेष्टि प्रारम्भ होनेपर फिर समयाभाव हो जाता है।

कात्यायनमें कहा गया है कि मण्डपके उत्तरकी ओर दो हाथके अन्तरालपर एक परिवृत (गृह) तथा मण्डपके पीछे दूसरा परिवृत बनाना चाहिये (काश्रौसू० ७.१.२०)। देवयाज्ञिक के अनुसार पहला परिवृत अप्सुदीक्षाकेलिए तथा दूसरा परिवृत पत्नीदीक्षाके लिए बनाया जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २३४)। पी० वी० काणेने लिखा है कि दक्षिणमें व्रत-भोजन बनानेके लिए एक शाला तथा पश्चिममें (यजमान की) पत्नीके लिए दूसरी शाला बनायी जाती है (धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४६)।

---

१. पं० गोकुलचन्द, मीमांसादर्शन, (पृष्ठसं० २८५)।

२. "शाला" दीर्घचतुरस्रं गृहम्, "प्राग्वंशं" प्रागग्रवंशं (शब्रासा० ३.१.१.६)।

३. प्राग्वंशमेके पूर्वं समामनन्ति। दीक्षणीयामेके (आपश्रौसू० १०.४.६)।

प्राचीनवंशशालाके प्रयोजनका उल्लेख करता हुआ शब्रा० कहता है कि प्राचीनवंशशाला का निर्माण दीक्षित व्यक्तिके ही लिए किया जाता है, अदीक्षितके लिए नहीं। अदीक्षितके लिए प्राचीनवंशके बदले उदीचीनवंशका निर्माण किया जाता है जिसमें धरन दक्षिण से उत्तर की ओर डाली जाती है[१]।

यजमानकी दीक्षाविधि तथा दीक्षणीयेष्टि

दीक्षा सम्बन्धी कर्मकाण्ड लिखनेसे पूर्व कुछ विषयों (दीक्षाका अर्थ, दीक्षा ग्रहण करने वाले अधिकारीके लक्षण, दीक्षाका प्रकार आदि) का विवेचन करना आवश्यक है।

दीक्षा का अर्थ

"दीक्ष" धातुसे "गुरोश्च हलः" (अष्टा० ३.१.१०३) इस सूत्रसे अकार प्रत्यय करनेपर तथा "अजाद्यतष्टाप्" (अष्टा० ४.१.२) इस सूत्रसे "टाप्" प्रत्यय होने पर "दीक्षा" शब्द बनता है जो स्वभाव से ही आकारान्त स्त्रीलिंग है।

धातुपाठ में "दीक्ष-मौण्ड्येज्योपनयन-नियम-व्रतोदेशेषु" ऐसा पाठ है। यों तो सभी धातु जिनके एक अर्थ भी धात्वर्थ-निर्देशमें दिए गए हैं, अनेकार्थक होते हैं। "दीक्ष" धातुके मौण्ड्य, इज्या, उपनयन, नियम, व्रत और आदेश अर्थ होते हैं। अतः "दीक्षा" शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ तथा अनेक अर्थ हो सकते हैं[२]।

आत्मशान्ति या विशेषकार्यसिद्धिके लिए जिस नियमविशेषको ग्रहण किया जाय, उसे दीक्षा कहते हैं-यही परिभाषा प्रकृत विषयके सन्दर्भमें उपयुक्त कही जा सकती है[३]।

दीक्षाग्रहणके अधिकारी

जो अविवाहित होता है वह स्मार्ताधान ग्रहण नहीं कर सकता और जिसने स्मार्ताधान न ग्रहण किया हो वह श्रौताधानका अधिकारी नहीं होता। अदीक्षित

---

१. शब्रा० (३.१.१.७)।

२. दीक्ष्यतेऽनया शिष्यादिर्बाहुलकात् करणेऽकारः प्रत्ययः। दीक्षा-उपनयनम्। दीणं दीक्षा। दीक्षा यज्ञविशेषः। दीक्षा व्रतविशेषः। दीक्षा आदेशविशेषः।

३. दीक्षा नियमविशेषः। (दीक्षामीमांसा पृष्ठसं० २)। कर्मकाण्डके सन्दर्भमें सायणकृत लक्षण ही उपयुक्त है—मुण्डनादि संस्कारो दीक्षा (तैसंसा० १.२.१)

शब्दका अर्थ ही है कि वह अनाहिताग्नि है अर्थात् उसने श्रौताधान नहीं किया है। शास्त्रके अनुसार अदीक्षितको अनुष्ठान सम्पादन करनेका अधिकार नहीं है क्योंकि वह अनुष्ठानके लिए अनुपयुक्त और अनधिकारी होता है, इसीलिए जिस यजमानने यथासमय स्मार्ताधान ग्रहण कर लिया हो, वही अग्निष्टोम प्रारम्भ करनेके लिए दीक्षा ग्रहण करके यज्ञ करनेका अधिकारी हो जाता है। वैदिक दीक्षाका अधिकार केवल त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को ही है। द्विजेतर अर्थात् स्त्री और शूद्रको केवल तान्त्रिक दीक्षा तथा पौराणिक दीक्षामें तो अधिकार है किन्तु वैदिक दीक्षाका अधिकार नहीं है।[१]

दीक्षाकाल

वसन्त ऋतुमें शुभ मुहूर्त और दिन देखकर अधिकारी व्यक्ति अपराह्णमें दीक्षा ग्रहण कर सकता है (आपश्रौसू० १०.१२.२)। सायण ने अपराह्ण का अर्थ दिनका तीसरा भाग किया है।[२] इस अवसरपर कहा गया है कि दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्व यजमान अपनी इच्छासे भोजन करे अथवा जो मिले वह खा ले क्योंकि दीक्षा ग्रहण कर लेनेपर यजमानको व्रतदुग्धपर ही निर्भर रहना पड़ता है (शब्रा० ३.१.२.१)। आपस्तम्बने इतनी छूट अवश्य दी है कि यजमान केशवपनसे पूर्व अथवा वस्त्रधारणसे पहले भोजन कर सकता है (आपश्रौसू० १०.६.१०)। शुभ मुहूर्त तथा श्रेष्ठ दिनके अतिरिक्त शुक्लपक्षमें दीक्षा ग्रहण करनेका विधान प्राप्त है।[३]

दीक्षा पक्ष

एक दीक्षा, तीन दीक्षा, बारह दीक्षा अथवा अपरिमित दीक्षा-ये चार पक्ष अग्निष्टोममें कहे गए हैं।[४] यदि एक दीक्षा पक्षको स्वीकार किया जाता है तो पहले दिनमें दीक्षा, दूसरे-तीसरे तथा चौथे दिन उपसद और अन्तिम पाँचवे दिन सुत्याका अनुष्ठान किया जाता है, यदि दीक्षात्रय पक्षको स्वीकार किया जाता है तो तीन दिनमें

---

१. दीक्षा-तत्व-मीमांसा (पृष्ठसं० ७)।

२. अपराह्णे अह्नस्तृतीये भागे (आपश्रौसू० १०.१२.२)।

३. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २४५)।

४. कर्कभाष्य (पृष्ठसं० ४४९)।

दीक्षा, चौथे-पाँचवे तथा छठे दिनमें उपसद और सातवें दिनमें सुत्याका अनुष्ठान किया जाता है ।[१]

दीक्षासे सम्बन्धित आवश्यक विषयोंके पश्चात् उसके कर्मकाण्ड का ही विवेचन करना अब शेष है ।

आहवनीयमें पूर्णाहुति

देवयजनके पश्चाद्‌भागमें निर्मित दोनों परिवृत अथवा विमितका निष्पादन करके, घरपर आकर, पूर्णाहुतिके लिए आहवनीयका उद्धरण करके, आज्य संस्कार से पूर्व चार बार में आज्य ग्रहण करके स्रुवासे परिस्तरण[२] समिदाधानपूर्वक "उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (वासं० ५.३८) मन्त्रसे अध्वर्यु आहवनीयमें आहुति देता है, तथा बचे हुए आज्यको किसी सुरक्षित स्थानपर रखता है (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २३५) ।

पञ्च भूसंस्कार

पूर्णाहुतिके पश्चात् भूमिके पाँच संस्कार किये जाते हैं । पहले तीन कुशोंसे दक्षिणसे उत्तरको तीन बार आहवनीय कुण्डको झाड़ता है, फिर गोबर और जलसे आहवनीय कुण्डको लीपता है, फिर पश्चिमसे पूर्वकी ओर स्फ्यसे तीन रेखाएँ दक्षिणमें तथा उसके उत्तरमें खींचता हैं । इन रेखाओंको कुण्डके बराबर अथवा प्रादेशमात्र खींचा जाता है । अब अनामिका तथा अंगूठेसे तीनों रेखाओंकी उखड़ी हुई मिट्टियोंको उठाता है । ये मिट्टियाँ एक साथ नहीं उठाई जाती अपितु पहले प्रथम रेखा की फिर उससे उत्तरकी रेखाकी और फिर उससे भी उत्तरकी रेखा की । इसके बाद उठाई गई मिट्टीको उत्तर दिशामें फेकता है । अब उन रेखाओंके ऊपर जल छिड़कता है, उपर्युक्त सभी क्रियाएँ दक्षिणाग्निकुण्डपर भी करता है । तात्पर्य यह है कि आहवनीय तथा दक्षिणाग्निपर झाड़ना, लेपन करना, रेखा करना, मिट्टी उठाना तथा जल छिड़कना ये पांच संस्कार किये जाते हैं, जिन्हें पञ्च भूसंस्कार कहते हैं ।[३]

---

१. काश्रौसू० (७.१.२१ पर सरलावृत्ति) ।

२. अग्नीनां पूर्वादिक्रमेण दर्भैः स्तरणं परिस्तरणम् (काश्रौसू० पृष्ठसं० ३८) ।

३. पं० भीमसेन शर्मा: दर्शपूर्णमासेष्टिप्रकरण (पृष्ठसं० ३) ।

देवयजनके प्रति गमन

पञ्च भूसंस्कार करनेके पश्चात् आवहनीयका उद्धरण करके गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्निमें "अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा: । तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम्(वासं० १२.५२) मन्त्र पढ़कर अरणियोंका समारोपण करके शकटमें अरणी तथा सम्पूर्ण यज्ञसामग्रियोंको रखकर माङ्गल्यशान्तिपाठादि करते हुए यजमान देवयजन स्थानपर जाता है ।[१]

शालाप्रवेश

यज्ञभूमिमें आकर शालामें प्रवेश करके प्राचीनवंशशालाके पूर्वभागमें स्थित उन्नत स्तम्भको ग्रहण करके हाथमें अरणी लिये हुए यजमान "एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे । ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम"(वासं. ४.१) मन्त्रका[२] पाठ करता है ।[३] भारश्रौसू० (१०.३.४) के अनुसार प्राचीनवंशमें अध्वर्यु मानसिक रूपसे सप्तहोतृमन्त्र[४] का पाठ करके आहवनीय अग्निमें ग्रहसहित आज्यकी आहुति देता है । शब्रा० में कहा गया है कि इस प्रकार सब देवों तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा शाला पसन्द हो जाती है, क्योंकि जिसको वेदपाठी ब्राह्मण आँखोंसे देख लेते हैं, वह उनको पसन्द हो ही जाती है ।[५] पूर्वोक्त "एदमगन्म" मन्त्र कहने से पहले यजमानको पैर धोने चाहिए तथा आचमन करना चाहिए तथा शालास्तम्भको दक्षिण हाथके अग्र भागसे स्पर्श करना चाहिए ।[६]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३५)।

२. तैसं० (१.२.३.४) में यह मन्त्र "एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या विश्वे देवा यदजुषन्त पूर्व ऋक्सामाभ्यां यजुषा सन्तरन्तो रायस्पोषेण समिषा मदेम" है जिसका विनियोग भारश्रौसू० (१०.१३.१) ने यज्ञमण्डपमें जानेके लिए किया है । यही मन्त्र कासं० (२५.३) में भी आया है । इस अवसरपर आपश्रौसू० (१०.२०.१-२) में कहा गया है कि जिसे अभिचार क्रिया करनी हो उसे ऐसे स्थानपर यज्ञकरना चाहिए यहां पर सब वृक्ष पेड़-पौधे आदि जडसे उखाड़ दिये गए हों तथा यह भी कि जिस व्यक्तिके विरुद्ध कोई अभियोग हो उसे गुप्त स्थानमें यज्ञ करना चाहिए ।

३. समारोह्याग्नी शालास्तम्भं पूर्वार्द्ध्यं गृहीत्वाऽरणिपाणिरा "हेदमगन्मे" ति (काश्रौसू० ७.१.३०)।

४. सायणने तैब्रा० (२.२.८) के भाष्यमें "महाहविर्होता" मन्त्रको सप्तहोतृमन्त्र कहा है ।

५. शब्रा० (३.१.१.११)।

६. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठसं० २३५)।

पूर्वाह्न कृत्य

यदि वनसे सोम आ जाय तो उसे शालाके मध्यमें किसी उच्चस्थानपर रख देना चाहिए, यह कार्य अध्वर्यु करता है ।[१] मण्डपमें एक वेदी बनाकर उसमें घर्षणसे उत्पन्न अग्नि रखी जाती है ।[२] कात्यायनके अनुसार इस अवसर पर गार्हपत्यसे आहवनीयका विहरण किया जाता है ।[३]

अपराह्न कृत्य

अपराह्न में यदि यजमान चावल, खीर, पूड़े, लड्डू आदि ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है किन्तु मांस ग्रहण नहीं कर सकता । यह भी कहा गया है कि जो प्राप्त हो वह उसे ग्रहण कर लेना चाहिए । साथ ही यदि वह भोजन न भी करना चाहे तो नहीं करे ।[४] मानवश्रौसू० (२.१.१.१३) में कहा गया है कि यजमान और उसकी पत्नीको मधु मिश्रित दहीका भक्षण करना चाहिए । आपश्रौसू० (१०.६.७) में कहा गया है कि यजमान को घी मिश्रित दही या शहदका भक्षण करना चाहिए । अथवा जो उसको प्रिय लगे उसका भक्षण करना चाहिए ।

अप्सुदीक्षा

केश-श्मश्रुवपन, स्नानादि संस्कारका नाम ही अप्सु दीक्षा है ।[५] सर्वप्रथम यजमानके क्षौर कर्मकी व्यवस्था की जाती है, इस व्यवस्थाके लिए शालाके उत्तरकी ओर जलका घड़ा भरकर रख दिया जाता है, जिससे क्षौर कर्म सम्पन्न किया जाता है ।[६]

---

१. काश्रौसू० (७.२.१) ।

२. धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथमभाग (पृष्ठसं० ५४६) ।

३. काश्रौसू० (७.२.३) ।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३५) ।

५. अप्सुदीक्षेति वक्ष्यमाणस्य केशश्मश्रुवपनस्नानादिसंस्कारस्य नामधेयम् (काश्रौसू० ७.२.५ पर सरलावृत्ति) ।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३६) ।

क्षौर कर्ममें सिरके बाल और दाढ़ी मुंडवाने तथा हाथ-पैरोंके नख कटवानेसे ही शुद्धि हो जाती है । ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शरीरके सारे बाल मुंडवानेसे ही शरीरकी शुद्धि होगी, क्योंकि गोपीनाथने स्मृतियोंके उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि उपस्थ तथा शिखाके बाल न काटे जाय ।[१] यदि सत्र हो तो शिखा सहित वपन किया जा सकता है ।[२] भारश्रौसू० (१०.३.१०) में कहा गया है कि प्राग्वंशके उत्तरमें चारों ओरसे बन्द स्थानमें यजमानको अपने सिर और दाढीके बाल बनवाने चाहिए ।

नखनिकृन्तन

समीपमें नाईके बैठे रहते हुए ही अध्वर्यु सर्वप्रथम दाहिने हाथके अंगूठे से प्रारम्भ करके कनिष्ठिका तक क्रमश: नख काटता है ।[३] देवयाज्ञिकपद्धति में कहा गया है कि इस अवसरपर यजमानको पूर्वकी ओर मुख करके तथा अध्वर्युको उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिए ।[४]भारश्रौसू० में कहा गया है कि पहले बाएँ हाथकी कनिष्ठिकासे प्रारम्भ करके अंगूठे तक नाखून काटना चाहिए, उसके बाद दाहिने हाथके नाखून काटने चाहिए ।[५] किन्तु कात्यायनके अनुसार पहले दाहिने हाथके फिर बाएँ हाथके नाखून काटने चाहिये । भारश्रौसू० तथा सत्याश्रौसू० दोनों में नखकर्तनकी एक समान विधि वर्णित है ।[६]

भारश्रौसू० (१०.३.२०) में पैरोंके नखकर्तनके सम्बन्ध में कहा गया है कि पहले बाएँ पैरकी कनिष्ठिकासे प्रारम्भ करके अंगूठे तक तथा फिर दाहिने पैरकी कनिष्ठिका से लेकर अंगूठे तक नाखून काटने चाहिये ।

आपश्रौसू० (१०.५.११) पर कैलेण्डने टिप्पणी दी है कि प्रत्येक नख पहले एक ओरसे फिर दूसरी ओरसे काटना चाहिए । ऐसा करनेसे नख ठीक प्रकार से

---

१. उपपक्षश्मश्रुकेशान्वापयीत क्रमात्सदा । शिखाप्रकोष्ठभ्रूपस्थान्वर्जयित्वा द्विजोत्तमः। (पृ० ५८६-५८७)।

२. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २४८)

३. काश्रौसू० (७.२.६)।

४. पृष्ठसं० (२३६)।

५. भारश्रौसू० (१०.३.१९, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ५८७)।

६. उपर्युक्त विवरणसे प्रतीत होता है कि शुक्ल यजुर्वेदीय शाखाका क्रम अन्य शाखाओंसे भिन्न है।

कटता है, न वह शेष रह जाता है और न कच्चा ही कटता है। भारश्रौसू० तथा सत्याश्रौसू० का कहना है कि नख काटते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि नख बाहर न निकले रह जाय (भारश्रौसू० १०.३.१८, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ५८७)।

यज्ञके लिए यजमानपत्नीकी शुद्धि भी आवश्यक है, किन्तु जिस प्रकार यजमानकी दाढ़ी-मूछोंका तथा सिरके बालोंका मुण्डन होता है उस प्रकार पत्नीका नहीं, किन्तु यजमानकी तरह वह प्रतिप्रस्थाताके द्वारा हाथ-पैरोंके नख कटवा सकती है तथा वस्त्र परिधान आदि ग्रहण कर सकती है।[१] फिर भी पी० वी० काणे ने लिखा है कि कुछ आचार्योंने पत्नीके केशमुण्डनकी व्यवस्था भी दी है।[२] देवयाज्ञिक के अनुसार पत्नीकी दीक्षा पश्चिम परिवृत (गृह) में प्रतिप्रस्थाता द्वारा अमन्त्रक दी जाती है।[३]

यद्यपि नखकर्तन तथा मुण्डनका कार्य अध्वर्यु द्वारा ही किया जाना चाहिए तथापि यदि उसमें बाल काटने की योग्यता न हो तो उसे यह कार्य नाईसे ही करा लेना चाहिए। यदि स्वयं अध्वर्यु बाल काटता है तो ऐसी स्थिति में उसे अपनी शुद्धिके लिए अमन्त्रक स्नान करन चाहिये।[४]

वपन कृत्य

सर्वप्रथम यजमान दक्षिण कानके ऊपरी प्रदेशको बाल बाहनेकी कंघीसे सवाँरकर जलपात्रके जलसे मन्त्र[५] के द्वारा बालों को गीला करता है।[६] भारश्रौसू० (१०.३.१२) में कहा गया है कि तीन धारी वाले साही[७] के काँटेसे अपने बाल अलग करके सवाँरने चाहिए। बाल सवाँरने तथा कंघीसे बाल सुलझानेके पश्चात् यजमान मन्त्र[८] पढ़कर केशके मध्यमें सूक्ष्म कुशके अग्रभाग को रखकर उसमें ऊपर क्षुरको

---

१. काश्रौसू० (७.२.१८-१९, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २३७)।
२. धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठसं० ५४६)।
३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठ सं० २३७)।
४. सत्याश्रौसू० (पृष्ठसं० ५८७)।
५. "इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः" (वासं० ४.१)। तैसं० (१.२.१.१.१) का "आप उदन्तु जीवसे" यह मन्त्र इस क्रियामें विनियुक्त किया गया है।
६. काश्रौसू० (७.२.७)।
७. साही एक पक्षी विशेष होता है, जिसे अंग्रेजीमें पारंक्यूपाइन कहते हैं।
८. ओषधे त्रायस्व (वासं० ४.१)।

रखता है । काटने के बाद यजमान तृणसहित बालोंको मन्त्र[१] से जलपात्रमें छोड़ देता है ।[२] उत्तरकी ओरके पीछेके बाल अध्वर्यु मौन होकर काटता है ।[३] देवयाज्ञिकपद्धति में कहा गया है कि सिरके उत्तरी भागको जलसे गीला करके, शलाका आदिसे बालोंको पृथक् करके चुपचाप तृणको रखकर उसके ऊपर क्षुरको रखकर चुपचाप ही तृणसहित बालों को काटकर, अध्वर्यु कटे हुए बालोंको जलपात्रमें डालता है (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २३६) ।

भारश्रौसू० के अनुसार बाल काटनेका क्रम इस प्रकार है-सबसे पहले यजमानके दाहिने कानके ऊपर अध्वर्यु जल लगाता है, फिर तीन धारी वाले साहीके काँटेसे बाल सवाँरता है, फिर हाथमें ऊपरकी ओर सिरे वाले तीन कुशाके गुच्छे लेकर मन्त्र[४] पढ़ता है, फिर कुशाके पत्तों पर छुरी (स्वधिति)[५] रखता है और अन्तमें मन्त्रसे[६] बाल काटता है । बाल कट जानेके उपरान्त यजमान अस्फुट स्वरसे मन्त्रका[७] जप करता है ।[८] अब उदुम्बरकी दातूनसे इस प्रकार दाँत साफ करता है कि रक्त नहीं निकले, इसके पश्चात् यजमान पहले बाएँ हाथकी कनिष्ठिकासे प्रारम्भ करके अंगूठे तक के नाखून कटवाता है और फिर दाहिने हाथके नाखून इसी प्रकार कटवाता है । हाथके नाखून कटवानेके पश्चात् पैरके नाखून कटवाता है ।[९] जिस क्रमसे माध्यन्दिन शाखीय कृत्य किया जाता है उससे भिन्न तैत्तिरीय शाखीय कृत्य होता है, साथ ही किन्हीं किन्हीं कृत्योंमें मन्त्रोंका विनियोग भी भिन्न है ।

तृण सहित बालोंका छेदन करके तथा उन बालों को जलपात्रमें डालनेके पश्चात् अध्वर्यु नाईको वह छुरा सौंप देता है और फिर नाई यजमानके मूछों व

---

१. 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (वासं० ४.१)। भारश्रौसू० (१०.३.१३) के अनुसार इस मन्त्र से कुश के पत्तों पर छुरि रक्खी जाती है ।
२. काश्रौसू० (७.२.८-१०)।
३. काश्रौसू० (७.२.११)।
४. ओषधे त्रायस्वैनम् (तैसं० १.२.१.१)।
५. स्वधितिः क्षुरः (तैसंसा० १.२.१)।
६. स्वधिते मैनं हिंसीः (तैसं० १.२.१.१)।
७. स्वस्त्युत्तराण्यशीय (तैसं० १.२.१.१)।
८. भारश्रौसू० (१०.३.१२-१५)।
९. भारश्रौसू० (१०.३.१७-२०)।

दाढ़ी को उस छुरे से काटता है । इस सम्बन्धमें विधान है कि नाईको भौहों तथा पलकोंके, उपस्थके, तथा शिखाके और बगलके बाल नहीं काटने चाहिए ।[१] इस प्रकार का विधान कात्यायनके अनुसार है ।[२]

स्नान

क्षौर कर्म करा चुकनेके पश्चात् मन्त्र[३] पढ़कर यजमान स्नान करता है ।[४] भारश्रौसू० (१०.४.२) में कहा गया है कि स्नानसे पहले यजमानको जलमें हिरण्यखण्ड डाल लेना चाहिए । देवयाज्ञिकने इस अवसर पर जलकुम्भसे स्नान करने का निषेध किया है (पृष्ठसं० २३७) । कुण्ड या तालाबमें स्नान करनेका विधान करके भारश्रौसू० ने उस तालाबकी विशेषता बताते हुए कहा है कि वह स्नानका स्थल ऐसा होना चाहिए, जहाँ घास उगी हो, जो अवका (शैवाल) से भरा हुआ हो, वहाँ जल शान्त हो तथा स्थिर हो ।[५]

स्नान करनेके अनन्तर यजमान मन्त्र[६] पढ़कर उत्तरपूर्वकी ओर निकलता है ।[७] देवयाज्ञिकपद्धति में कहा गया है कि स्नान करके निकलने से पहले जलके मध्य ही यजमानको आचमन करना चाहिये (पृष्ठसं० २३७) ।

वस्त्रधारण

स्नानके अनन्तर यजमान मन्त्र[८] पढ़कर वस्त्र धारण करता है ।[९] वस्त्रकी विशेषता बताते हुए कहा है कि वस्त्र न तो पत्थरपर पीटा हुआ हो और न ही धुला

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३६) ।

२. काश्रौसू० (७.२.१२-१३) ।

३. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु । विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः (वासं० ४.२) । आपो अस्मान् मातरः शुन्धन्तु (तैसं० १.२.१.१) ।

४. काश्रौसू० (७.२.१४, भारश्रौसू० १०.४.२, शब्रा० ३.१.२.११, आपश्रौसू० १०.६.१) ।

५. भारश्रौसू० (१०.४.२) ।

६. उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि (वासं० ४.२) । उदाभ्यः शुचिरा पूत एमि (तैसं १.२.१.१) ।

७. काश्रौसू० (७.२.१४, भारश्रौसू० १०.४.२, शब्रा० ३.१.२.१२) ।

८. दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवां शग्मां परि दधे भद्रं वर्णं पुष्यन् (वासं० ४.२) । तैसं० (१.२.१.१) में यह मन्त्रपाठ है-सोमस्य तनूरसि तनुवं मे पाहि ।

९. काश्रौसू० (७.२.१६, शब्रा० ३.१.२.२०, भारश्रौसू० १०.४.३) ।

हुआ हो, तथा वस्त्रमें पूरी चमक सुरक्षित हो । किसी अपवित्र स्त्री द्वारा बुने हुए वस्त्रमें आये हुए दोषके निवारणके लिए अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाताको आदेश देता है कि वह उस वस्त्रको पीटे । यदि वस्त्र नया हो तो केवल उसपर जल छिड़क दिया जाता है । ऐसे वस्त्र भी पहने लेने चाहिए जो पहननेके बाद सदा अलग रक्खा जाता रहा हो और स्नान के पश्चात् ही पहना जाता रहा हो ।[१] सायणने कहा है कि प्रतिदिन धोकर जिस वस्त्रको यजमान पहना करता है उसी वस्त्रको धारण करे ।[२] गिरिधर भाष्यमें कहा गया है कि नित्य पहननेकी जो धोती धोबीके घर धुली न होकर घर की धुली हो और जिसे पहनकर मूत्रोत्सर्ग न किया गया हो उसे खोलकर पहन लेना चाहिए ।[३] गोपीनाथके अनुसार यह वस्त्र अहत[४] होना चाहिए ।[५] भारश्रौसू० (१०.४.३) में कहा गया है कि यजमानको आचमन करके ऊनी या रेशमी वस्त्र पहनना चाहिए । हरिस्वामीके अनुसार यजमानको एक वस्त्र उत्तरीय ही पहनना चाहिए (शब्रा०, पृष्ठसं० १२) । काण्वसंहिता (पृष्ठसं० ३०) में सायणने कहा है कि यजमानको दुकूलवस्त्र ओढ़ना चाहिए । वस्त्रके रंगके सम्बन्धमें कहा गया है कि दीक्षा कार्यमें लाल और पीला वस्त्र ग्रहण किया जा सकता है किन्तु यजमानको नीला वस्त्र कभी नहीं पहनना चाहिये ।[६]

नीविके संबन्धमें कहा गया है कि यजमानको मन्त्र पढ़कर नीवि धारण करनी चाहिए ।[७] किन्तु काश्रौसू० ने नीवि पहननेका स्पष्ट निषेध किया है ।[८] इससे स्पष्ट है कि तैत्तिरीय शाखीय यजमान नीवि धारण करता है, किन्तु माध्यन्दिन शाखीय यजमान नीवि धारण नहीं करता ।

---

१. काश्रौसू० (७.२१५-१६,शब्रा० ३.१.२.१९)।

२. प्रतिदिनं प्रक्षाल्य यदेव धार्यते,तदित्यर्थः(शब्रा० ३.१.२.१९ पर सायण भाष्य)।

३. पृष्ठसं० (१६८)।

४. ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् । अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनम् ॥ (सत्याश्रौतसूत्रपर गोपीनाथका भाष्य,पृष्ठसं० ५९२)।

५. पृष्ठसं० (५९२)।

६. तेन रक्तपीतादिकमपि वस्त्रमहतं भवति। नीलस्य स्मृतौ सर्वथा निषेधान्नैव तस्य कुत्रापि ग्रहणम् (गोपीनाथभाष्य,पृष्ठसं० ५९२)।

७. भारश्रौसू० (१०.४.४)।

८. काश्रौसू० (७.२.१७)।

इस प्रकार अप्सु दीक्षाके अन्तर्गत क्षौरकर्म, स्नान, दन्तधावन, नखकर्तन तथा वस्त्र परिधान आदि कृत्योंका विवेचन किया गया।

दीक्षणीयेष्टि

अप्सुदीक्षाके पश्चात् बाँह पकड़े हुए यजमानको अध्वर्यु पूर्वद्वारसे तथा प्रतिप्रस्थाता बाँह पकड़ेहुए यजमानपत्नीको दूसरे द्वारसे शालामें प्रवेश कराता है, जहाँ दोनों अपने अपने स्थानपर बैठ जाते हैं।[१]

दक्षिणीयेष्टिके अन्तर्गत अग्निविष्णूको ग्यारह कपालों[२] वाला पुरोडाश[३] अर्पित किया जाता है।[४]इनमेंसे कितने कपाल अग्निके और कितने [५]कपाल विष्णुके होते हैं, यह प्रश्न उठाकर ऐब्रा० (१.१.१) में उत्तर दिया गया है कि अग्निदेवताके लिए आठ कपाल तथा तीन कपाल विष्णुके लिए है। इसी अवसरपर यह भी कहा गया है कि जो यजमान अपनेको अप्रतिष्ठित समझे अर्थात् जो अपनेको पुत्रादि रूप प्रजा और गवादि रूप पशुसे रहित माने, उसे प्रतिष्ठार्थ घृतयुक्त चरु[६] अर्पित करना चाहिए।

---

१. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठसं० २३८)।

२. एकादशसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश एकादशकपालः (ऐब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० १४)। एकादश कपालोंका उपधान इस प्रकार किया जाता है—मध्यमें मुख्य कपाल रहता है, इसके पश्चिम में दूसरा, पूर्वमें तीसरा, दक्षिणमें चौथा, चतुर्थके पूर्व एक कपालका व्यवधान छोड़कर पाँचवा, चतुर्थ पंचमके मध्यमें छठा, चतुर्थके पश्चिममें सातवाँ सातवेंके पश्चिममें आठवाँ। सबके उत्तरमें नवम, दशम और एकादश कपालोंका पूर्वक्रमसे उपधान (हिन्दी विज्ञान भाष्य पृष्ठसं० ७११)।

३. व्रीहिपिष्टैर्यवपिष्टैर्वा निर्मितः पक्वः पिण्डविशेषः पुरोडाशः (सरलावृत्ति पृष्ठसं० ३१)। हवि ही पककर पुरोडाश कहलाता है (हिन्दी विज्ञान भाष्य, पृष्ठसं० ६१६)। यथोक्तं देवतां प्रति हविष्ट्वेन प्रदेयद्रव्यरूपः पक्वः पिष्टपिण्डः पुरोडाश इत्युच्यते (ऐब्रा० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० ११)।

४. काश्रौसू० (७.२.२३, ऐब्रा० १.१.१, शब्रा० ३.१.३.१, भारश्रौसू० १०.३.६)।

५. पुरोडाशभर्जनार्थं मृत्तिकया निर्मितानि वह्नौ परिपक्वानि द्व्यंगुलोच्छ्रयाणि यस्मिन् पुरोडाशे यावन्ति वहितानि तानि कपालानि।

६. अनिर्गतोष्मा सुस्विन्नो ह्यदाघो कठिनश्चरुः। न चातिशिथिलः पाच्यो न च वीतरसो भवेत् (काश्रौसू० पृष्ठसं० २५, सत्याषाश्रौसू० पृष्ठसं० ५७३)। तदघृततण्डुलोभयात्मकं चरुद्रव्यं (ऐब्रा० १.१.१ पर सायण भाष्य)।

काश्रौसू० (७.२.२४) में कहा गया है कि दक्षिणीयेष्टिमें अग्नि एवं विष्णुको ग्यारह कपालों वाला पुरोडाश तो अर्पित किया जाता ही है किन्तु विकल्पके रूपमें आदित्यको चरु दिया भी जा सकता है नहीं भी । इस अवसरपर सत्रह सामिधेनियोंका[1] पाठ करनेके लिए अध्वर्यु होताको प्रैष[2] करता है ।[3]

---

१. वह्निसमिन्धनहेतुत्वात् सामिधेन्य इत्युच्यन्ते (ऐब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २०)। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात् सामिधेन्यो नाम (शब्रा० १.३.५.१)।

२. सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात् (ऐब्रा १.१.१)। अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि (शब्रा० १.३.५.२)। अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति संप्रेष्यति इति (आपश्रौसू० २.१२.१)।

३. पन्द्रह सामिधेनी ऋचाएँ तथा दो धाइयाँ, इस प्रकार सत्रह सामिधेनी ऋचाएँ होती हैं। वस्तुतः ये ग्यारह ही ऋचाएँ हैं । प्रथम और अन्तिम मन्त्रके तीन तीन बार पढ़े जानेसे पन्द्रह हो जाती हैं । ये सामिधेनी ऋचाएँ इस प्रकार हैं— प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या । देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋसं० ३.२७.१) ॥ १ ॥ इसी ऋचा की आवृत्ति ॥ २ ॥ पुनरावृत्ति ॥ ३ ॥ अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि (ऋसं० ६.१६.१०) ॥ ४ ॥ तं त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य (ऋसं० ६.१६.११) ॥ ५ ॥ स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि । बृहदग्ने सुवीर्यम् (ऋसं० ६.१६.१२) ॥ ६ ॥ ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः समग्निरिध्यते वृषा (ऋसं० ३.२७.१३) ॥ ७ ॥ वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः । तं हविष्मन्त ईळते (ऋसं० ३.२७.१४) ॥ ८ ॥ वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं बृहत् (ऋसं० ३.२७.१५) ॥ ९ ॥ अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् (ऋसं० १.१२.१) ॥ १० ॥ समिध्यमानो अध्वरेऽअग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केशस्तमीमहे (ऋसं० ३.२७.४) यह ऋचा समिध्यमान है इस ग्यारहवीं ऋचाके बाद इस धाय्या का पाठ किया जाता है-पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुतः। अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट् (ऋसं० ३.२७.५) ॥ १२ ॥) समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर । त्वं हि हव्यवाळसि (ऋसं० ५.२८.५) । यह समिद्धवती ऋचा कहलाती है इसके बाद धाय्याका पाठ किया जाता है जो इस प्रकार है-तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः। आ चक्रुरग्निमूतये (ऋसं० ३.२७.६) ॥ १४ ॥ आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वं हव्यवाहनम् (ऋसं० ५.२८.६) ऋचाको तीन बार पढ़नेका उल्लेख तैसं० (२.५.७.१) में किया गया है । तैब्रा० (३.५.२) ने समिध्यमानो (ऋसं० ३.२७.४) ऋचाको समिध्यमान तथा तैब्रा० (१.३.५.२) ने समिद्धो (ऋसं० ५.२८.५) ऋचाको समिद्धवती कहा है। धाय्याके सम्बन्धमें ऐब्रा० (३.२.७) ने ताः प्रक्षेपणीयर्च एव धाय्या-ऐसा कहा है ।

दीक्षणीयेष्टिके कालका विधान करते हुए ऐब्रा० ने कहा है कि यजमानको दर्शपूर्णमासेष्टि करनेके पश्चात् ही दीक्षणीयेष्टि करना चाहिए।[१]

समिष्टयजुकी आहुति तथा पत्नीसंयाजके विषयमें कहा गया है कि दीक्षणीयेष्टिमें पत्नीसंयाज तो किया जा सकता है किन्तु समिष्टयजुओंकी आहुति नहीं दी सकती क्योंकि समिष्टयजु यज्ञका अन्त है।[२] कात्यायनने दो विकल्प दिये हैं- पहला यह कि इष्टि में समिष्टयजुः से पहले ही सम्पूर्ण कृत्योंको सम्पन्न कर लिया जाय अथवा दूसरा विकल्प यह है कि समिष्टयजुः को न करके अन्य जितने भी कर्म हैं, उन सबको कर लिया जाय।[३]

कात्यायन श्रौतसूत्रमें इस अवसरपर कहा गया है कि सोमयागके संकल्पसे लेकर अग्निषोमीय कृत्य करने तक सम्पूर्ण कृत्य उपांशु स्वरमें करने चाहिये अथवा दीक्षणीयेष्टि उच्च स्वरसे करे और प्रायणीयेष्टि उससे नीचे स्वरसे तथा आतिथ्येष्टि उससे भी नीचे स्वरसे करे। उपसदिष्टि उपांशु स्वरसे ही करे।[४] दीक्षणीयेष्टि में होता द्वारा पुरोनुवाक्या याज्या व अनुवाक्या का भी पाठ किया जाता है।[५]

---

१. ऐब्रा० (१.१.१)।
२. शब्रा० (३.१.३.६)।
३. काश्रौसू० (७.२.२५-२६)।
४. काश्रौसू० (७.२.२७-२९)।
५. ऐब्रा० (१.१.४) में कहा गया है कि जिस यजमानने पहले कभी सोमयाग नहीं किया है उसके लिए दीक्षणीयेष्टिके बाद "त्वमग्ने (ऋसं० ५.१३.४) आदि प्रथम आज्यभागकी पुरोनुवाक्याको तथा "सोम यास्ते" (ऋसं० १.९१.९) आदि द्वितीय आज्यभागकी पुरोनुवाक्याको अध्वर्यु द्वारा प्रेषित होता के द्वारा बोलना चाहिये। यदि यजमान पहले सोमयाग कर चुका है तो उसके लिए होताको प्रथम आज्य भागकी पुरोनुवाक्याके लिए तथा द्वितीय आज्यभागकी पुरोनुवाक्याके लिए निम्नांकित दो मन्त्र क्रमशः बोलने चाहिये-"अग्निः प्रत्नेन" (ऋसं० ८.४४.१२) "सोम गीर्भिष्ट्वा" (ऋसं० १.९१.११)। उक्त दोनों मन्त्रोंके स्थानपर निम्नांकित ये दो मन्त्र कहे जा सकते हैं—"अग्निर्वृत्राणि" (ऋसं० ६.१६.३४) "त्वं सोमासि सत्पतिः" (ऋसं० १.९१.५)। आश्वश्रौसू० (१.५.३५) तथा (१.५.२९) में उपर्युक्त मन्त्र उल्लिखित हैं। इसके बाद होताको हविकी पुरोनुवाक्या और याज्याका पाठ करना चाहिये जिसका विधान आश्वश्रौसू० (४.२.३) में किया गया है। पुरोनुवाक्या मन्त्र "अग्निर्मुखं" तथा याज्या मन्त्र "अग्निश्च विष्णो तप" ऋग्वेदमें नहीं है, अपितु आश्वश्रौसू० (४.२.३) में ही ये मन्त्र कहे गए हैं।

नवनीत अनुलेपन

दीक्षणीयेष्टिके पश्चात् अध्वर्यु शालाके सामने कुशोंको बिछाता है, जिसपर यजमान पूर्वकी ओर मुखकरके और उसकी पत्नी दक्षिणकी ओर मुख करके बैठती है। अध्वर्यु यजमानको नवनीत (ताजा मक्खन) समर्पित करता है और प्रतिप्रस्थाता उसकी पत्नी को।

इसके पश्चात् अध्वर्युके द्वारा समर्पित नवनीतको यजमान अनुलोम क्रमसे अर्थात् सिर से प्रारम्भ करके पैर तक सम्पूर्ण शरीरपर आगे तथा पीछे मन्त्र[१] पढ़कर मलता है।[२] यदि यजमान पीछेकी ओर मलनेमें समर्थ नहीं होता तो उस स्थितिमें अध्वर्यु ही यजमान के उस स्थानपर नवनीत मल देता है।[३] भट्टभास्कर तथा बौधायनके अनुसार मन्त्र[४] पढ़कर सर्वप्रथम मुखपर नवनीतका अनुलेपन करना चाहिए[५] किन्तु आपस्तम्ब के अनुसार मन्त्रभेद है अर्थात् मन्त्र[६] पढ़कर अध्वर्युको कुशाके गुच्छेसे नवनीत देना चाहिए और निम्नांकित मन्त्र[७] पढ़कर यजमानको नवनीत तीन बार मलना चाहिये।[८]

अञ्जन

नवनीत मले जा चुकनेके पश्चात् अध्वर्यु त्रिककुत्[९] पर्वतसे उत्पन्न हुए सौवीर नाम के प्रसिद्ध अञ्जनको अथवा उसके अभावमें किसी भी अन्य अञ्जन (काजल) को शर नामक तृणकी मध्य शलाका (इषीका) से यजमानकी दाहिनी आँखमें नासिकासे संलग्न कोणसे प्रारम्भ करके अन्ततक एक बार मन्त्र[१०] पढ़कर

---

१. महीनां पयोऽसि वर्चोदाअसि वर्चो मे देहि (वासं० ४.३)।
२. काश्रौसू० (७.२.३०) शब्रा० (३.१.३.९)।
३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २३९)।
४. महीनां पयोऽसि वर्चोधा असि वर्चो मयि धेहि (तैसं० १.२.१)।
५. नवनीतेन मुखमभ्यक्ते महीनाम् इति (भट्टभास्कर पृष्ठसं० २२५), बौधयनश्रौसू० (६.२), द्र- भाश्रौसू० (१०.४८-९)।
६. महीनां पयोऽसि (तैसं. १.२.१)।
७. वर्चोधा असि (तैसं० १.२.१)।
८. आपश्रौसू० (१०.६.२८-२९)।
९. आजकल इसका नाम त्रिकोट है (वैदिककोश, पृष्ठसं० १८२)
१०. वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि (वासं० ४.३)। वृत्रस्य कनीनिकाऽसि चक्षुष्पा असि चक्षुर्मे पाहि (तैस० १.२.१)।

तथा दूसरी बार पहले की तरह आवृत्ति करके चुपचाप काजल लगाता है। इसी प्रकार दूसरी आँखमें एक बार मन्त्र पढ़कर तथा दो बार चुपचाप काजल लगाता है। तात्पर्य यह है कि अध्वर्यु यजमानकी आँखमें कुल पाँच बार काजल लगाता है, दो बार मन्त्र पढ़कर तथा तीन बार मन्त्र बिना पढ़े हुए ही।[१] भारश्रौसू० (१०.४.१३) में कहा गया है कि दाहिनी आँखमें तीन बार और बायीं आँखमें दो बार अञ्जन लगाना चाहिये। आपश्रौसू० (१०.७.३-४) में अञ्जन लगानेकी तीन रीतियाँ दी गई हैं-पहली रीति यह है कि दो बार दाहिनी आँखमें और एक बार बायीं आँखमें, दूसरी रीति यह है कि दो बार दाहिनी आँखमें और तीन बार बायीं आँखमें तथा तीसरी रीति यह है कि तीन बार बायीं आँखमें और तीन बार दाहिनी आँखमें।

यजमानका मार्जन

यजमानकी आँखमें अञ्जन डल चुकनेपर अध्वर्यु एक अथवा तीन अथवा सात-सात कुशाके तृणोंसे मन्त्र[२] पढ़कर तीन बारमें मार्जन करके यजमानको शुद्ध करता है।[३] मन्त्रमें अच्छिद्रेण जोड़कर तीन मन्त्रोंसे तीन बार मार्जन करता है दो बार नाभिसे ऊपर तथा एक बार नाभिसे नीचे पैरों तक।[४] गोपीनाथके अनुसार यह सेचन हाथ ऊपर उठाकर किया जाना चाहिए (पृष्ठसं० ५८९)। ऐब्रा० (१.१.३) में कुशके इक्कीस मुट्ठोंसे यजमानको मार्जन करके शुद्ध करनेका विधान किया गया है। कोई कोई आचार्य कुश के सात-सात मुट्ठों से यजमानका सिरसे आरम्भ करके पैर तक मार्जन करके शुद्धि करने का विधान करते हैं (आपश्रौसू० १०.७.८)। एक स्थानपर सायणका कहना है कि कुशके मुट्ठोंके सम्बन्धमें बहुत पक्ष हैं-यथा एक,दो, तीन,पाँच,छह,सात, नौ तथा इक्कीस मुट्ठोंसे यजमानका मार्जन किया जा सकता है (ऐब्रा० १.१.३ पर सायण भाष्य)। आपश्रौसू० (१०.७.७) में इक्कीस कुशोंका सात-सात कुशोंमें विभाजन करके यजमानका तीन बार मार्जन करके शुद्धि करनेका विधान किया गया है।

---

१. काश्रौसू० (७.२.३१-३५, शब्रा० ३.१.३.१०-१७, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २३९ महीधरभाष्य, पृष्ठसं० ६०)।

२. चित्पतिर्मा (वासं. ४.४)।

३. काश्रौसू० (७.३.१-३)।

४. काश्रौसू० (७.३.१, शब्रा० ३.१.३.२ पर सायणभाष्य)।

काश्रौसू० (७.३.१) में पहले मन्त्र चित्पतिर्मा पुनातु तथा वाक्पतिर्मा पुनातु इस दूसरे मन्त्रमें "अच्छिद्रेण" यह मन्त्र जोड़नेको कहा है, इसी प्रकार बौश्रौसू० (६.२) में तथा गोपीनाथने प्रथम मन्त्र "चित्पतिस्त्वा पुनातु" द्वितीय मन्त्र "वाक्पति स्त्वा पुनातु" तथा तृतीय मन्त्र "देवस्त्वा सविता पुनातु" में "अच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः" यह मन्त्र जोड़ने को कहा है ।[1]

भारश्रौसू० के अनुसार इस अवसर पर यजमानको दो अनुवाकोंका[2] धीरे-

---

१. काश्रौसू० के अनुसार तीन मन्त्र इस प्रकार हैं—१. चित्पतिर्मा पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् (वासं० ४.४) २. वाक्पतिर्मा पुनातु अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् (वासं० ४.४)। ३. देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् (वास० ४.४)। तैसं० (१.२.१) के अनुसार तीन मन्त्र इस प्रकार हैं—१. चित्पतिस्त्वा पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः॥ २. वाक्पतिस्त्वा पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः॥ ३. देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः॥ इस प्रकार एक एक मन्त्रसे एक एक बार यजमानका मार्जन करके उसे शुद्ध किया जाता है।

२. प्रथम अनुवाकगत मन्त्र तैब्रा० (१.४.८) में इस प्रकार दिए गए हैं—१. पवमानः सुवर्जनः। पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा॥ २. पुनन्तु मा देवजनाः। पुनन्तु मनवो धिया। पुनन्तु विश्व आयवः॥ ३. जातवेदः पवित्रवत्। पवित्रेण पुनाहि मा। शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूं रनु॥ ४. यत्ते पवित्रमर्चिषि। अग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनीमहे॥ ५. उभाभ्या देव सवितः। पवित्रेण सवेन च। इदं ब्रह्म पुनीमहे॥ ६. वैश्वदेवी पुनती देव्यागात्। यस्यै बह्वीस्तनुवो वीतपृष्ठाः। तया मदन्तः सध माद्येषु। वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ७. वैश्वानरो रश्मिभिर्मा पुनातु। वातः प्राणेनेषिरो मयोभूः। द्यावापृथिवी पयसा पयोभिः। ऋतावरी यत्रिये मा पुनीताम्॥ ८. वृहद्भिः सवितस्तृभिः। वर्षिष्ठैर्देवमन्मभिः अग्ने दक्षैः नाहि मा॥ ९. येन देवा अपुनत। येना ऽऽपो दिव्यंकशः। तेन दिव्येन ब्रह्मणा। इदं ब्रह्म पुनीमहे॥ १०. यः पावमानीरध्येति। ऋषिभिः संभृतं रसम्। सर्वं स पूतमश्नाति। स्वदितं मातरिश्वना॥ ११. पावमानीर्यो अध्येति। ऋषिभिः संभृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे। क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ १२. पावमानीः स्वस्त्ययनीः। सुदुघा हि पयस्वतीः। ऋषिभिः संभृतो रसः। ब्राह्मणेष्वमृतं हितम्॥ १३. पावमानीर्दिशन्तु नः। इमं लोकमथो अमुम्। कामान्समर्धयन्तु नः। देवीर्देवैः समाभृताः॥ १४. पावमानीः स्वस्त्ययनीः। सुदुघा हि घृतश्चुतः। ऋषिभिः संभृतो रसः। ब्राह्मणेष्वमृतं हितम्॥ १५. येन देवाः पवित्रेण। आत्मानं पुनते सदा। तेन सहस्रधारेण। पावमान्यः पुनन्तु मा॥

धीरे पाठ करना चाहिये तथा निम्नांकित[1] ऋचा का पाठ करना चाहिए।[2] काश्रौसू० (७.३.४) के अनुसार अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र कहलाता है।[3]

---

१६. प्राजापत्यं पवित्रम्। शतो शतोद्यामं हिरण्मयम्। तेन ब्रह्मविदो वयम्। पूतं ब्रह्म पुनीमहे॥ १७. इन्द्रः सुनीती सह मा पुनातु। सोमः स्वस्त्या वरुणः समीच्या। यमो राजा प्रमृणाभिः पुनातु मा। जातवेदा मोर्जयन्त्या पुनातु॥ इति। द्वितीय अनुवाकगत मन्त्र (तैब्रा० ३.७.१२) में इस प्रकार दिये गए हैं—१. यद्देवा देवहेडनम्। देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्मा मुञ्चत। ऋतस्यर्तेन मामुत॥ २. देवा जीवनकाम्या यत्। वाचा अनृतमूदिम। अग्निर्मा तस्मादेनसः। गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु। दुरिता यानि चकृम। करोतु मामनेनसम्॥ ३. ऋतेन द्यावापृथिवी। ऋतेन त्वं सरस्वति। ऋतान्मा मुंचतां हसः। यदन्यकृतमारिम॥ ४. सजातशं सादुत वा जामिशं सात्। ज्यायसः शंसादुत वा कनीयसः। अनाज्ञातं देवकृतं यदेनः। तस्मात्वमस्मान्जातवेदो मुमुग्धि॥ ५. यद्वाचा यन्मनसा। बाहुभ्यामूरुभ्यामष्ठीवद्भ्याम्। शिश्नैर्यदनृतं चकृमा वयम्। अग्निर्मा तस्मादेनसः॥ ६. यद्धस्ताभ्यां चकर किल्विषाणि अक्षाणां वग्नुमुपजिघ्नमानः। दूरेपश्या च राष्ट्रभृच्च। तान्यप्सरसावनुदत्तामृणानि॥ ७. अदीव्यन्नृणं यदहं चकार। यद्वा अदास्यन्त्संजगारा जनेभ्यः। अग्निर्मा तस्मादेनसः॥ ८. यन्मयि माता गर्भे सति। एनश्चकार यत्पिता। अग्निर्मा तस्मादेनसः॥ ९. यदा पिपेष मातरं पितरम्। पुत्रः प्रमुदितो धयन्। अहिंसितौ पितरौ मया तत्। तदग्ने अनृणो भवामि॥ १०. यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्याम्। यमान्तरं पितरं वा जिहिंसिम् अग्निर्मा तस्मादेनसः॥ ११. यदाशसा निशसा यत्पराशसा। यदेनश्चकृमा नूतनं यत्पुराणम्। अग्निर्मा तस्मादेनसः॥ १२. अतिक्रामामि दुरितं यदेनः। जहामि रिप्रं परमे सधस्थे। यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतः। तमारोहामि सुकृतां नु लोकम्॥ १३. त्रिते देवा अमृतैतदेनः। त्रित एतन्मनुष्येषु मामृजे। ततो मा यदि किंचिदानशे। अग्निर्मा तस्मादेनसः। गार्हपत्यः प्रमुंचतु। दुरिता यानि चकृम। करोतु मामनेनसम्॥ १४. दिवि जाता अप्सु जाताः या जाता ओषधीभ्यः। अथो या अग्निजा आपः। ता नः शुन्धतु शुन्धनीः॥ १५. यदापो नक्तं दुरितं चराम। यद्वा दिवा नूतनं यत्पुराणम्। हिरण्यवर्णास्तत उत्पुनीत नः॥ १६. इमं मे वरुण तत्त्वा यामि। त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने। त्वमग्ने अयासि। इति।

१. तस्य ते पवित्रपते पवित्रेण यस्मै कं पुने तच्छकेयम् (तैसं० १.२.१)।

२. भारश्रौसू० (१०.५.४-५)।

३. आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे। आ वो देवासआशिषो यज्ञियासो हवामहे (वासं० ४.५)।

मुष्टीकरण

दर्भके मुट्ठोंके मार्जनसे शुद्ध होकर यजमान मन्त्र[१] पढ़कर अपनी दोनों हाथों की दोनों कनिष्ठिकाएँ, मन्त्र[२] पढ़कर दोनों अनामिकाएँ, मन्त्र[३] पढ़कर दोनों मध्यमा उंगुलियाँ तथा मन्त्र[४] पढ़कर दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध लेता है ।[५] इस अवसरपर भारश्रौसू० (१०.७.७) में कहा गया है कि यदि भूलसे यजमानके द्वारा मुट्ठी खुल जाती है तो उसे मन्त्र[६] कहना चाहिए ।

माध्यन्दिन तथा तैत्तिरीय शाखामें यद्यपि मुष्टीकरण में विनियुक्त होने वाले मन्त्र समान हैं किन्तु क्रम भेद अवश्य है । जहाँ आपश्रौसू० ने इन मन्त्रोंका विनियोग मुष्टीकरण में बताया है वहाँ बौश्रौसू० ने इन मन्त्रोंको अध्वर्युके द्वारा यजमानसे कहलाया है । भट्टभास्करने बौश्रौसू० का ही अनुसरण किया है किन्तु सायणने निरपेक्ष होकर दोनों श्रौतसूत्रोंका उल्लेख अपने भाष्यमें किया है ।

वाग्यमन

मुट्ठी बन्द कर चुकनेपर यजमान मन्त्र[७] पढ़कर मौन हो जाता है ।[८] भारश्रौसू० (१०.७.५-६) में कहा गया है कि यजमानको तारे निकलने तक मौन रहना चाहिए । यदि तारे निकलनेसे पहले उसे बोलना पड़ भी जाय तो उसे विष्णु, अग्निविष्णू, सरस्वती या बृहस्पतिमेंसे किसीका मन्त्र पाठ करके पुन: मौन धारण कर लेना चाहिए । उपर्युक्त विधानका आपश्रौसू० (१०.१६.३) में भी उल्लेख हुआ है ।

---

१. स्वाहा यज्ञं मनसः (वासं ४.६) । स्वाहा यज्ञं मनसा (तैसं० १.२.२) ।

२. स्वाहोरोरन्तरिक्षात् (वासं० ४.६) । बौश्रौसू० (६.५) तथा भट्टभास्कर (पृष्ठसं० २४७) ने इन मन्त्रों को यजमानसे कहलवाया है । आपश्रौसू० (१०.११.३-४) ने इन मन्त्रोंका विनियोग मुष्टीकरण कृत्यके लिए ही किया है (तै.सं० १.२.२)

३. स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम् (वासं० ४.६, तैसं० १.२.२)

४. स्वाहा वातादारभे (वासं० ४.६, तैसं० १.२.२)

५. काश्रौसू० (७.३.५-६, गिरिधरभाष्य पृष्ठसं० १७१, आपश्रौसू० १०.११.३-४, भारश्रौसू० १०.७.२-३, शब्रा० ३.१.३.२५) ।

६. त्वमग्ने व्रतपा असि (तैसं० १.२.३.१) ।

७. स्वाहा (वासं० ४.६) ।

८. काश्रौसू० (७.३.७, भारश्रौसू० १०.७.५, शब्रा० ३.१.३.२७) ।

मौन होनेके पश्चात् यजमान अंगूठे तथा तर्जनीको खोल लेता है बाकी तीनों अंगुलियोंको भींचे रखता है। तीनों अंगुलियाँ दोनों हाथोंकी ही संकुचित रहती है।[१]

शाला प्रवेश

दो अंगुलियोंको खोलनेके पश्चात् अध्वर्यु यजमानको हाथसे पकड़कर पूर्वद्वारसे शालामें प्रवेश करके गार्हपत्याहवनीयके बीचसे प्रवेश करता है और यजमान अपने आसनपर बैठ जाता है। इस अवसरपर कहा गया है कि यजमान अवभृथ स्नान होने तक इसी गार्हपत्याहवनीय अग्निके बीच मार्गमें संचरण करता है। प्रतिप्रस्थाता यजमानपत्नीको आहवनीय गार्हपत्यके पीछेके मार्गसे अथवा बीचके मार्गसे प्रवेश कराता है। पत्नी भी इसी प्रकार आहवनीय गार्हपत्य अग्निके बीचके मार्गमें अवभृथ स्नान तक सञ्चरण करती है।[२] भारश्रौसू० में कहा गया है कि मन्त्र[३] पढ़कर यजमानको प्राग्वंशके पूर्वी द्वारसे प्रवेश करके आहवनीय अग्निके पीछेसे चलकर दक्षिणकी ओर खड़ा हो जाना चाहिए।[४] इसके पश्चात् मन्त्र[५] पढ़कर बैठ जाना चाहिए।[६]

औद्ग्रभण होम

आहवनीयके समीप बैठकर अध्वर्यु समिधा लेकर स्थालीसे आज्य ग्रहण करके जुहूके द्वारा आहुति न देकर स्रुवासे चार मन्त्रोंसे[७] चार आहुतियाँ देता है।[८]

---

१. काश्रौसू० (७.३.८, देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २४०)।

२. काश्रौसू० (७.३.१०.१२)। शब्रा० (३.१.३.२८) पर सायणने लिखा है कि यजमान को आहवनीयके पश्चिम देशमें और गार्हपत्यके बीचमें कार्यार्थ गमनागमन करना चाहिए। देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २४०)।

३. आ वो देवास ईमहे (तैसं० १.२.१)।

४. भारश्रौसू० (१०.५.६)।

५. इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी (तैसं० १.२.१)।

६. भारश्रौसू० (१०.५.६)।

७. आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा (वासं० ४.७)। मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा (वासं० ४.७)। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा (वासं० ४.७)। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथ्वी उरो अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा (वासं० ४.७)।

८. काश्रौसू० (७.३.१३, शब्रा० ३.१.४-१५)

अब दीक्षणीयेष्टिसे सम्बन्धित जो आज्य ध्रुवामें बचा रह जाता है उसे जुहूमें डाल दिया जाता है । इसके पश्चात् आज्यस्थालीसे आज्य स्रुवाके द्वारा तीन बार डाला जाता है, यह आज्य जुहूमें ही तीन बार डाला जाता है अर्थात् चार बार कुल मिलाकर आज्य डाला जाता है, इसके पश्चात् जूहूके ऊपर स्रुवेको उत्तान रखकर जिस प्रकार जुहूमें आज्य भरा जाय उस प्रकार आज्य भरकर मन्त्रसे[१] पाँचवी औद्ग्रभण आहुति दी जाती है ।[२]

औद्ग्रभण संज्ञक छह मन्त्रोंमें तृतीय मन्त्र[३] तो केवल जपा जाता है अन्य पाँच मन्त्रोंसे आहुति दी जाती है, जिनमें पहले तीन मन्त्रोंके द्वारा आहुति स्रुवाके[४] द्वारा, स्वर्गकी कामनाके लिए चौथी आहुति भी स्रुवासे ही दी जाती है और अन्तिम पाँचवीं आहुति स्रुक्[५] या जुहूसे[६] दी जाती है ।

देवयाज्ञिक ने कहा है कि घृतसे जुहूको भरकर उससे अन्तिम पाँचवीं औद्ग्रभण ही दी जाय, न कि इससे पूर्वकी अन्य चार आहुतियाँ ।[७]

भट्टभास्करके अनुसार चार मन्त्रोंसे[८] स्रुवासे दीक्षाहुति दी जाय, पाँचवें मन्त्रसे[९] आहुति स्रुचिसे तथा छठे मन्त्रकी[१०] आहुति भी स्रुचिसे ही दी जानी

---

१. विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा (वासं० ४८) ।

२. काश्रौसू० (७.३.१५) ।

३. दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा (वासं० ४.७) ।

४. वर्तुलपुष्करो दर्व्याकारः स्रुवः (यज्ञतत्वप्रकाश पृष्ठसं० ११) ।

५. पलाशकाष्ठनिर्मिता, बाहुप्रमाणा हंसमुखप्रणालिका स्रुक् इत्युच्यते । तस्या अपरपर्यायो जुहूः इति (चन्द्रधरशर्माः शब्रा० , पृष्ठसं १२५) ।

६. बाहुमात्री पाणिमात्रमुखी तावद्बिलवती दण्डवती हंसमुखप्रसेका हूयते अनया इति व्युत्पत्या होमसाधना स्रुक् जुहूः (काश्रौसू० पृष्ठसं० ४७) ।

७. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २४१), शब्रा० (३.१.४.२२) ने इस मतका निषेध किया है ।

८. १.आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा ॥२. मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा ॥ ३. दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा ॥४, सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा (तैसं० १.२.२) ।

९. आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्षं बृहस्पतिर्नो हविषा वृधातु स्वाहा (तैसं० १.२.२) ।

१०. विश्वे देवस्य नेतुर्मर्तो वृणीत सख्यं विश्वे राय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा (तैसं० १.२.२) ।

चाहिए। भारश्रौसू० (१०.५.११०) के अनुसार अन्तिम छठी आहुति चार या बारह बारमें स्रुचिमें आज्य भरकर दी जानी चाहिए। बौश्रौ (६.४) के अनुसार स्रुचिमें चार बारमें आज्य भरकर आहुति दी जानी चाहिये, किन्तु आपश्रौसू० (१०.८.६) ने कहा है कि बारह बार में स्रुचिको आज्य से भरकर आहुति देनी चाहिए।

यद्यपि माध्यन्दिन तथा तैत्तिरीय शाखा दोनोंमें औद्ग्रभण[1] संज्ञक मन्त्रोंका उल्लेख है और उनकी संख्या भी समान है तथापि माध्यन्दिन शाखाने जिस तीसरे मन्त्रसे आहुति देनेका निषेध किया है, तैत्तिरीय शाखाने उस मन्त्रके द्वारा आहुति देनेका विधान किया है तात्पर्य यह है माध्यन्दिन शाखाके अनुसार कुल पाँच आहुतियाँ दी जाती है एक मन्त्रका जप किया जाता है किन्तु तैत्तिरीय शाखाके अनुसार छहों मन्त्रों से छह आहुतियाँ दी जाती हैं किसी भी मन्त्रका जप नहीं किया जाता।

इस प्रकार दीक्षणीयेष्टि समाप्त हो जाती है जिसमें नवनीतलेपन, अञ्जन, शुद्धिकरण, मुष्टीकरण, वाग्यमन, शालाप्रवेश तथा औद्ग्रभण होम कृत्य सम्मिलित हैं।

कृष्णाजिनादि दीक्षा

यज्ञकालमें यजमान निरन्तर कृष्णाजिनपर ही बैठता है इसलिए कृष्णाजिन नितान्त आवश्यक पदार्थ है। सामान्यत: सुविधाकी दृष्टिसे दो मृगचर्म होने आवश्यक है किन्तु यदि एक ही मृगचर्म हो तो काम चलानेके लिए उस एक कृष्णाजिनके पीछेभागमें सन्धिप्रदेशसे दो भाग कर दिये जाते हैं।[2] देवयाज्ञिक ने कृष्णाजिनके चार भाग करने का निषेध किया है (पृष्ठसं० २४१)। भारश्रौसू० (१०.५.१३-१४) में कहा गया है कि कृष्णाजिनके आगेके दोनों पैरों को सी देना चाहिए जिससे कि उसके मांस प्रदेशके सिरे जुड़ जायँ अथवा उसके अगले दाहिने पैरोंको भी सी देना चहिए। गोपीनाथके अनुसार कृष्णाजिन समस्त अंगोंवाला होना चाहिए(पृष्ठसं० ५९१)। व्याघ्रचर्मके सम्बन्धमें कहा गया है यदि अभिचार करना हो तो व्याघ्रचर्मका प्रयोग किया जा सकता है (गोपीनाथ, पृष्ठसं० ५९१)।

---

१. यजुः सम्बन्धाद् दीक्षासम्बन्धीनि यजूंषि औद्ग्रभणानि। तेषु यजुःषु मध्ये एतानि एव दीक्षाहुतिसाधनानि आकूत्यादीनि औद्ग्रभणानि (शब्रासा० पृष्ठसं० २५)।

२. शब्रासा० (पृष्ठसं० ३४)।

कृष्णाजिनके समीपमें उपवेशन

सर्वप्रथम यजमान पूर्वकी ओर मुख करके कृष्णाजिनके पीछे दाहिने घुटनेको मोड़कर बैठ जाता है।[१]

कृष्णाजिनका स्पर्श

अब यजमान मन्त्रसे[२] कृष्णाजिनके काले तथा सफेद बालों के सन्धिस्थलको स्पर्श करता है।[३] गंगाप्रसाद उपाध्यायने शब्रा० के हिन्दी अनुवादमें कोष्ठक में यह स्पष्ट किया है कि श्वेत बालको अंगूठेसे तथा काले बालको तर्जनी अंगुलीसे स्पर्श करना चाहिए।[४] भारश्रौसू० में कहा गया है कि मन्त्र[५] पढ़कर ऐसे कृष्णाजिनके काले तथा सफेद बालोंके सन्धिस्थलको छूना चाहिये जो पूर्वकी ओर गर्दन वाला तथा जिसके बाल ऊपरकी ओर हो।[६] सत्याषाढ श्रौतसूत्रने कहा है कि मन्त्र[७] पढ़कर वेदीके मध्यमें ऐसे कृष्णाजिनको बिछाना चाहिए जिसकी ग्रीवा पूर्वकी ओर तथा बाल वाला भाग ऊपर हो।[८]

कृष्णाजिनपर आरोहण

स्पर्श करनेके पश्चात् यजमान मन्त्र[९] पढ़कर दाहिने घुटनेसे कृष्णाजिनपर बैठता है।[१०] देवयाज्ञिकने कहा है कि उसी दाहिने घुटनेसे कृष्णाजिन पर पीछेकी ओर बैठ जाना चाहिये, बीचमें नहीं।[११] शब्रा० ने एक बड़ा विचित्र विवरण इस

---

१. काश्रौसू० (७.३.१९, देवयाज्ञिक पद्धति पृष्ठसं० २४१, शब्रा० ३.२.१.५)।
२. ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः (वासं० ४.९)।
३. काश्रौसू० (७.३.२०, शब्रा० ३.२.१.५-६)।
४. पृष्ठसं० (३६०-३६१)
५. ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः (तैसं० १.२.२.१)।
६. भारश्रौसू० (१०.५.१५)।
७. इन्द्र शाक्वर गायत्रीं प्रपद्ये तां ते युनज्मीन्द्र शाक्वर त्रिष्टुभं प्रपद्ये तां ते युनज्मीन्द्रशाक्वर जगतीं प्रपद्ये तां ते युनज्मीन्द्र शाक्वरानुष्टुभं प्रपद्ये तां ते युनज्मीन्द्र शाक्वर पंक्तिं प्रपद्ये तां ते युनज्मि (तैब्रा० ३.७.७.३)।
८. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ५९१)।
९. शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः (वासं० ४.९)।
१०. काश्रौसू० (७.३.२१, शब्रा० ३.२.१.८)।
११. पृष्ठसं० (२४१)।

अवसर पर दिया है कि यदि यजमान पहले ही बीचमें बैठ जाय और कोई उसको शाप दे कि यह नष्ट हो जायेगा या इसका पतन हो जायेगा तो उसका शाप सत्य हो जाता है । अत: यह आवश्यक है कि मध्यमें न बैठकर पीछेकी ओर ही यजमानको बैठना चाहिये ।[१] भारश्रौसू० (१०.५.१६) में भिन्न मन्त्र[२] दिया हुआ है । बैठ जानेके पश्चात् यजमान मन्त्रका[३] पाठ करता है ।[४]

यद्यपि काश्रौसू० तथा भारश्रौसू० दोनों ने यजमान द्वारा कृष्णाजिनपर बैठनेका विधान किया है तथापि ऐब्रा० (१.१.३) में कहा गया है कि यजमानको वस्त्रके ऊपर चर्म लपेट लेना चाहिये । चर्म लपेटनेका विधान उपर्युक्त दोनों श्रौतसूत्रों में नहीं मिलता, केवल ऐब्रा० ने ही इस प्रकारका उल्लेख किया है ।

यद्यपि कृष्णाजिनकी विशेषताओंके सम्बन्धमें विस्तारसे विवेचन किया जा चुका है किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि चर्मके सम्बन्धमें तीन बातें नितान्त आवश्यक हैं—१. वह सम्पूर्ण अंगों वाला होना चाहिए २. व्याघ्र चर्मका प्रयोग केवल अभिचारके लिए ही करना चाहिये तथा ३. चर्मके पीछे के भाग में जितने भी छिद्र होते हैं उन्हीं को सिया जाना चाहिए अन्य छिद्रों को नहीं । सम्पूर्ण कर्मकाण्डमें जहाँ जहाँ भी चर्मकी आवश्यकता हो वहाँ वहाँ चर्मकी ग्रीवा पूर्वाभिमुख और उसके बाल ऊपर कर लेने चाहिये ।

मेखलाबन्धन

दक्षिणजानुसे कृष्णाजिनपर बैठ जानेके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्र[५] पढ़कर यजमानके कटिप्रदेशमें वस्त्रके अन्दर मेखला बाँधता है ।[६]

मेखलाकी विशेषताओंके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह शण और मूंजकी बनी हुई होनी चाहिए, वेणीके आकार की तथा तीन लड़ियों वाली होनी चाहिए ।[७]

---

१. शब्रा० (३.२.१.९) ।

२. इमां धियं शिक्षमाणस्य (तैसं० १.२.२.२ तथा १.५.११.५) ।

३. इमां सु नावमारुहम् (तैसं० १.५.११.२०) ।

४. भारश्रौसू० (१०.६.१) ।

५. ऊर्गस्यांगिरस्यूर्णम्प्रदा ऊर्जं मयि धेहि (वासं० ४.१०) । ऊर्गस्यांगिरसि (तैसं० १.२.२) ।

६. काश्रौसू० (७.३.२२ भारश्रौसू० १०.६.१०, आपश्रौसू० १०.९.१५, शब्रा० ३.२.१.१४) ।

७. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २५४) ।

भारश्रौसू० में कहा गया है कि बाँधनेसे पहले अध्वर्युको चाहिये कि नाभिसे उत्तरकी ओर ढीली गाँठ देकर उसे नाभिके दक्षिणकी ओर सरका दे (१०.६.११)। सत्याषाढश्रौसू० में कहा गया है कि अध्वर्युको यजमानके अनुकूल ही दृढ़ या शिथिल मेखला बाँधनी चाहिये (पृष्ठसं० ५९४)। इसी अवसर पर यह भी कहा गया है कि अध्वर्युको चाहिये कि दक्षिणकी ओरसे नाभिसे मेखलाको खींचकर उत्तरकी ओर लाकर नाभिके दक्षिणकी ओर इस प्रकार ग्रन्थि लगावे कि वह अन्य स्थानपर न जा सके (सत्याषाश्रौसू० पृष्ठसं० ५९४)। भारश्रौसू० ने इस प्रकार की मेखला का वर्णन किया है जिसके फन्दे दोनों ओर हों तथा जो तिहरी बँधी हुई हो अर्थात् तीन लपेटेवाली हो (१०.६.१०)। आपश्रौसू० (१०.९.१५) में प्रदक्षिणक्रमसे मेखला बाँधने का विधान किया गया है।

अभिचारकी सिद्धिके लिए यजमान को मेखला[१] खींचते समय या बाँधते समय उस पुरुषका ध्यान करना चाहिये जिससे वह द्वेष करता हो। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ५९४) में कहा गया है कि इस प्रकार ध्यानके द्वारा द्वेष करनेसे उस पुरुषका अवश्य अनिष्ट होता है। पत्नीकी दीक्षाके सम्बन्धमें कहा गया है कि जब यजमानकी समन्त्रक दीक्षा होती है तभी प्रतिप्रस्थाताके द्वारा पत्नीको भी मेखला पहना दी जानी चाहिये अथवा योक्त्र (डोरी) के द्वारा अथवा मेखला सहित योक्त्रके[२] द्वारा पत्नीको दीक्षा देनी चाहिये।[३]

भारश्रौसू० के अनुसार पत्नीको योक्त्र न तो अमन्त्रक बाँधा जाता है और न यह कार्य प्रतिप्रस्थाता करता है बल्कि मन्त्र[४] पढ़कर अध्वर्यु यजमानकी पत्नीकी कमरमें योक्त्र लपेटता है।[५]

काश्रौतसूत्र तथा भारश्रौसू० दोनोंमें यद्यपि मेखला धारणसे सम्बन्धित विधान तो प्राप्त होता है किन्तु दोनोंकी पद्धतियाँ भिन्न भिन्न हैं। कात्यायनके अनुसार पत्नीको योक्त्र अमन्त्रक तथा प्रतिप्रस्थाताके द्वारा पहनाया जाता है।

---

१. शणमुंजनामकतृणरूपेणाविर्भूतस्तस्माच्छणमुंजमयी मेखला (महीधर भाष्य, पृष्ठसं० ६३)।

२. योक्त्रं तु जटासदृशम् (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ५९३)।

३. काश्रौसू० (७.४.५-६)।

४. सं त्वा नह्यामि (तैसं० ३.५.६.१)।

५. भारश्रौसू० (१०.६.१२, सत्याश्रौसू०, पृष्ठसं० ५९४)।

भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्यु मन्त्र पढ़कर पत्नीको योक्त्र बाँधकर दीक्षित करता है। अत: दोनों सूत्रोंके कर्मकाण्डमें पर्याप्त अन्तर स्पष्टत: झलकता है। यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो इसका स्पष्ट कारण शाखा भेद प्रतीत होता है।

नीविबन्धन

मेखला धारण करनेके पश्चात् अब यजमान नीवि[१] बाँधता है।[२] महीधर भाष्यमें कहा गया है कि अदीक्षितकी नीवि पितृदेवताके लिए तथा दीक्षितकी नीवि सोमयागके लिए कही गई है (पृष्ठसं० ६३)।

उष्णीषसे शिर:संवरण

मेखला तथा नीवि धारण कर चुकने पर अब यजमान मन्त्र[३] पढ़कर उष्णीषसे अपने सिरको ढकता है।[४] आपश्रौसू० के अनुसार उसे प्रदक्षिणक्रमसे उष्णीष बाँधनी चाहिए।[५] भारश्रौसू० (१०.४.४) में कहा गया है कि या तो उष्णीषसे सिरको आच्छादित करे अथवा ठीक प्रकारसे कन्धे को ढक ले।

जिस प्रकार यजमानका सिर पगड़ीसे बाँधा जाता है उसी प्रकार पत्नीका सिर पगड़ीसे नहीं बाँधा जाता बल्कि उसके सिरको जालीसे मंडित किया जाता है। इस अवसरपर गोपीनाथने लिखा है कि जालीको इस प्रकार कसा जाना चाहिए कि जिससे वह गिरे नहीं (पृष्ठसं० ५९५)। सरलावृत्तिके अनुसार यह जाली पत्नीके सिरपर तीन बार अथवा एक बार लपेटी जाती है (पृष्ठसं० २५५)। भारश्रौसू०

---

१. नीविरपवर्तिकोच्यते (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २५४)। वेष्टितवसनग्रन्थिर्नीवि:(आपश्रौसू० १०.६.६ पर रुद्रदत्तका भाष्य)। मूलाग्रयोरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीवि: उच्यते (महीधरभाष्य, पृष्ठसं० ६३)।

२. सोमस्य नीविरसि (वासं० ४.१० कासं० २.३, काश्रौसू० ७.३.२३, भारश्रौसू० १०.४.४, शब्रा० ३.२.१.१६)।

३. विष्णो: शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य (वासं० ४.१०)। नक्षत्राणां माऽतीकाशात् पाहि (तैसं० १.२.२.२)।

४. काश्रौसू० (७.३.२४, शब्रा० ३.२.१.१७, भारश्रौसू० १०.६.३)।

५. आपश्रौसू० (१०.९.९)।

(१०.६.५) में पत्नीके सिरपर कुम्बकुरीर[1] (विशेष शिरोवेष्टन) धारण करनेका विधान प्राप्त है। इस अवसरपर गोपीनाथने अपने भाष्यमें लिखा है कि यह दर्भका भी हो सकता है यदि इसका अभाव हो (पृष्ठसं० ५९२)। आपश्रौसू० (१०.९.५) के अनुसार कुम्बकुरीर कपास आदिका भी हो सकता है। जालीके[2] सम्बन्धमें कहा गया है कि यह जीवित भेड़के काले ऊनकी भी बनी हुई हो सकती है।[3]

कृष्णविषाणबन्धन

यदि यजमानको खाज लगे तो ऐसा नहीं कि उसे किसी काष्ठादि अथवा नाखूनसे खुजा लेना चाहिये क्योंकि शब्रा० ने निषेध किया है कि यजमानको काष्ठादिसे नहीं खुजलाना चाहिये, किन्तु हिरणके सींगसे ही खुजलाना चाहिए।[4] अतः इस अवसरपर यजमान अपने वस्त्रके अन्दर सींग इस प्रकार बाँध लेता है कि जिससे सींगका मुख ऊपर को रहता है।[5] भारश्रौसू० (१०.६.१३) के अनुसार अध्वर्यु मृगके सींगको मन्त्र[6] पढ़कर दे देता है, जिसे यजमान उसी मन्त्रके द्वारा अपने वस्त्रमें खोंस लेता है। आपश्रौसू० (१०.९.१८) के अनुसार अध्वर्यु स्वयं उसके वस्त्रमें उस सींगको खोंस लेता है। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ५९४) ने लिखा है कि अध्वर्युको सींग या तो दे देना चाहिये अथवा स्वयं उसके वस्त्रके अन्दर बाँध देना चाहिये। भट्टभास्करने अपने भाष्यमें कृष्णमृगशृंग देनेका ही विधान किया है (पृष्ठसं० २४५)।

कृष्णमृगशृंगकी विशेषता बताते हुए कात्यायनने कहा है कि वह सींग ऐसा हो जिसमें तीन या पाँच वलय हो जो प्रादेशमात्र लम्बा हो, तथा जिसे वस्त्रके सिरेसे

---

१. अथर्ववेद (६.१३८.३) के भाष्यमें सायणने कुम्बका अर्थ केशजाल तथा कुरीरका अर्थ आभूषण किया है। भारश्रौसू० (१०.६.६) में जालीको कुरीर कहा गया है। सम्भवतः यह केशको सजानेका अलंकरण प्रतीत होता है।

२. जालं पट्टसूत्रैर्विलैर्निर्मितम्। भाषया जाली इत्युच्यते। (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ५९२) विदलं कुम्बं भवति जालं कुरीरमिति (बौधायन)।

३. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ५९२)।

४. अथ न दीक्षितः काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत। (शब्रा० ३.२.१.३१)।

५. शब्रा० (३.२.१.२९)।

६. इन्द्रस्य योनिरसि मा मा हिंसीः (तैसं० १.२.२)।

बाँधा गया हो।[१] गोपीनाथने अपने भाष्यमें स्पष्ट किया है कि यदि ऐसा सींग हो जिसमें पाँच वलयसे अधिक वलय हों तो पाँचसे अधिक वलयोंको काटकर तब पाँच वलय वाला सींग ही काममें लेना चाहिये (पृष्ठसं० ५९४)।

गोपीनाथने पत्नीको सींग दिये जाने का निषेध करके शंकु[२] दिये जानेका उल्लेख किया है।[३] कण्डूनिवृत्तिके लिए पत्नी शंकु प्रयोगमें लाती है।[४]

कृष्णविषाणसे ललाटका स्पर्श

अब यजमान मन्त्र[५] पढ़कर सींगसे दक्षिण भौंह के ऊपर ललाट प्रदेशका स्पर्श करता है। इसके पश्चात् मन्त्र[६] पढ़कर सींगसे ही भूमिमें रेखा करता है।[७] आपश्रौसू० तथा भारश्रौसू० के अनुसार मन्त्र[८] पढ़कर भूमिसे थोड़ी सी मिट्टी खोद लेनी चाहिये।[९] मिश्रभाष्यके अनुसार वेदीके बाहर पूर्वकी ओर भूमिपर रेखा खींची जाती है।[१०]

पत्नीकी दीक्षाके सम्बन्धमें कहा गया है कि यदि पत्नी मेखलाबन्धनादि कर्म करती है तो उसे भूमिपर रेखा करने तकके सम्पूर्ण कार्य करने चाहिये और यदि वह कृष्णाजिनादि कर्म करती है तो उसे यजमानके दण्डग्रहण करने तकके सम्पूर्ण कर्म करने चाहिये।[११]

---

१. सरलावृत्ति (पृष्ठ सं० २५४)।

२. पृथुमुखी यज्ञियवृक्षशंकुरिति (काश्रौसू० ७.४.८)।

३. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठ सं० ५९५)।

४. सरलावृत्तिके अनुसार यजमानपत्नी शंकुसे भूमिपर रेखा कर सकती है (काश्रौसू० ७.४.८)।

५. इन्द्रस्य योनिरसि (वासं० ४.१०)।

६. सुसस्याः कृषीस्कृधि (वासं० ४.१०)।

७. काश्रौसू० (७.३.२७-२८, शब्रा० ३.२.१.३०)।

८. कृष्यै त्वा सुसस्यायै (तैसं० १.२.२.३)।

९. भारश्रौसू० (१०.६.१५, आपश्रौसू० १०.१०.१)।

१०. मिश्रभाष्य (पृष्ठ सं० १३१)।

११. काश्रौसू० (७.४.९-१०)।

दण्डधारण

यजमानके द्वारा सींगसे भूमिपर रेखाका उल्लेखन हो चुकनेपर अब अध्वर्यु यजमानको एक ऐसा दण्ड प्रदान करता है जो यजमानके मुखकी ऊँचाई तक होता है।[१] गोपीनाथ के अनुसार दण्ड यजमानके ऊपरके होठ या उसकी ठुड्डी जितना लम्बा होना चाहिये।[२] कहीं कहीं यह दण्ड मुष्टि प्रमाण कहा गया है।[३] सामान्यतः उदुम्बरके दण्डका उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु कुछ आचार्यों के अनुसार यह किसी भी यज्ञिय वृक्षका हो सकता है जिसमें फल लगते हों।[४] वृक्षके सम्बन्धमें अन्यत्र कहा गया है कि वृक्ष या तो ऐसा हो कि उदुम्बरकी तरह जिसमें फल ही प्राप्त होते हों, पुष्प नहीं अथवा ऐसा वृक्ष हो जो न तो कम आयुका हो और न वन्ध्या हो अर्थात् फलदार वृक्ष हो और कम आयु वाला न हो।[५]

अध्वर्यु द्वारा दिये हुए दण्डको प्राप्त करके यजमान मन्त्र[६] पढ़कर उस दण्डको ऊपर उठाता है। इसके पश्चात् उठाए हुए उस उदुम्बरके दण्डको अपने दक्षिण कन्धेपर स्थापित कर लेता है।[७] कात्यायनमें यद्यपि यजमान द्वारा दण्ड उठाये जाने की क्रियामें मन्त्रका उल्लेख हुआ है किन्तु भारश्रौसू० के अनुसार यजमानको अध्वर्यु मन्त्र[८] पढ़कर दण्ड अर्पित करता है और मन्त्र[९] पढ़कर यजमान उस दण्डको ग्रहण कर लेता है।[१०] तात्पर्य यह है कि जहाँ कात्यायनके अनुसार दण्डकी उच्छ्रयण क्रिया समन्त्रक होती है, दण्ड प्रदान तथा दण्ड ग्रहणकी नहीं, वहाँ भारश्रौसू० में दण्डप्रदान क्रिया तथा दण्डग्रहण क्रिया दोनों समन्त्रक ही होती हैं।

---

१. काश्रौसू० (७.४.१, शब्रा० ३.२.१.३२-३४, आपश्रौसू० १०.१०.५)।

२. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठ सं० ५९५)।

३. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ५९५)।

४. भारश्रौसू० (१०.६.१९)।

५. फलं गृह्णाति न वन्ध्यो बालो वा। अथवा य उदुम्बरादिवत्फलमेव गृह्णाति पुष्पमपीत्यर्थः। (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ५९५)।

६. उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यं हसआस्य यज्ञस्योदृचः (वासं० ४.१०)।

७. काश्रौसू० (७.४.२.३, शब्रा० ३.२.१.३५)।

८. ऊर्ध्वसदसि वानस्पत्यः सुद्युम्नो द्युम्नं यजमानाय धेहि (मैसं० १.२.२)।

९. सुपस्था अद्य देवो वनस्पतिः (तैसं० १.२.२.३)।

१०. भारश्रौसू० (१०.६.१८, २० सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ५९५)।

कात्यायनमें जहाँ उच्छ्रयण क्रिया का उल्लेख समन्त्रक प्राप्त होता है वहाँ भारश्रौसू० में यह क्रिया उल्लिखित नहीं है ।

भारश्रौसू० के अनुसार यजमान अध्वर्यु द्वारा दिये गए दण्डको ग्रहण तो कर लेता है किन्तु न उसको खड़ा करता है और न उसे दक्षिण कन्धेपर रखता है । कात्यायनके अनुसार यजमान अध्वर्यु द्वारा दिये गए दण्डको ग्रहण भी करता है और उसको मन्त्रपूर्वक खड़ा करके अपने दाहिने कन्धेपर धारण भी करता है ।

सत्याषाढश्रौतसू०ने इस अवसर पर सम्भार[१] यजूँषिके वाचन तथा हवनका विधान किया है । गोपीनाथने हवनके सम्बन्धमें स्पष्ट किया है कि या तो स्थालीगत आज्यसे अथवा उसके अभावमें गृह्यसूत्रों द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से आज्यको संस्कृत करके समस्त संभार यजूँषि मन्त्रोंसे[२] हवन करना चाहिये ।[३] भारश्रौसू० (१०.७.४) ने उपर्युक्त क्रियाका वर्णन मुष्टीकरण क्रियाके बाद किया है । सत्याषाढ के अनुसार यह क्रिया दण्ड ग्रहण करनेके बाद की जाती है । कात्यायन ने इस क्रिया का कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु यह अवश्य कहा है कि विकल्पके रूपमें इस क्रियाके पश्चात् मुष्टीकरण और वाग्यमनका भी विधान कोई कोई आचार्य करते हैं ।[४]

दीक्षितके प्रति कथन

उपर्युक्त दीक्षणीयेष्टि-कृष्णाजिनादि दीक्षा संस्कारसे यजमान संस्कृत हो जाता है इसी बातकी पुष्टिके लिए अध्वर्यु दीक्षित यजमानके प्रति "दीक्षितोऽयं ब्राह्मण दीक्षितोऽयं ब्राह्मण" यह कथन उच्चस्वरसे तथा उपांशु[५] स्वरसे कहता

---

१. तैआ० (३८) में कहे गए मन्त्र सम्भारयजूँषि कहलाते हैं ।

२. अग्निर्यजुर्भिः । सविता स्तोमैः । इन्द्र उक्थामदैः । मित्रावरुणावाशिषा । अंगिरसो धिष्णियैरग्निभिः मरुतः सदोहविर्धानाभ्याम् । आपः प्रोक्षणीभिः । ओषधयो बर्हिषा । अदितिर्वेद्या । सोमो दीक्षया । त्वष्टेध्मेन । विष्णुर्यज्ञेन । वसव आज्येन । आदित्या दक्षिणाभिः । विश्वे देवा ऊर्जा । पूषा स्वगाकारेण । बृहस्पतिः पुरोधया । प्रजापतिरुद्गीथेन । अन्तरिक्षं पवित्रेण । वायुः पात्रैः । अहं श्रद्धया । दीक्षया पात्रैरेकं च । तैआ० (३८) ।

३. सत्याषाढश्रौसू० पर गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ५९५) ।

४. अत्र वा मुष्टिकरणवाग्यमने काश्रौसू० (७.४.४) ।

५. उपांशु लक्षणं प्रातिशाख्ये-करणवदशब्दममनः प्रयोग उपांश्विति (गोपीनाथ का भाष्य, पृष्ठसं० ५९७) ।

है ।[१] कात्यायनके अनुसार "दीक्षितोऽयं ब्राह्मण" यह कथन अध्वर्यु न कहकर उसका सहायक प्रतिप्रस्थाता अथवा अन्य कोई तीन बार उच्च स्वरसे तथा तीन बार उपांशु स्वरसे कहता है ।[२] देवयाज्ञिक के अनुसार यह कथन प्रतिप्रस्थाताको शालाके पूर्व प्रदेशमें अवस्थित होकर कहना चाहिये । भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्युको "अदीक्षिष्टायं ब्राह्मणोऽसावामुष्यायणोऽमुष्य पुत्रोऽमुष्य पौत्रोऽमुष्य नप्तामुष्याः पुत्रोऽमुष्याः पौत्रोऽमुष्या नप्ता" यह कथन कहना चाहिये ।[३] उपर्युक्त कथनकी व्याख्या करते हुए गोपीनाथने लिखा है कि असौ इस पदसे यजमानका वह नाम ग्रहण करना चाहिये जो लोकमें प्रसिद्ध हो । अध्वर्युको गोत्रका उल्लेख नामके आगे करके अन्तमें शर्मा शब्दसे कथन करके दीक्षितके पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, मातामह, प्रमातामही का नाम भी कथन करना चाहिये । उदाहरणके लिए—"अदीक्षिष्टायं ब्राह्मणो गोपीनाथशर्मा वासिष्ठो गणेशशर्मणः पुत्र केशवशर्मणः पौत्रः कृष्णशर्मणो नप्ता यमुनादायाः पुत्रो लक्ष्मीदायाः पौत्रो रुक्मिणीदायानप्तेति । यदि स्त्रीके नामके अन्तमें दान्त शब्द न प्रयुक्त करना हो और देवी शब्द प्रयोग करना हो तो अध्वर्युको इस प्रकार कहना चाहिये- यमुनादेव्याः पुत्रो लक्ष्मीदेव्याः पौत्रो रुक्मिणीदेव्या नप्ता इति । जहाँ जहाँ आमुष्यायण आया है वहाँ वहाँ सर्वत्र गोत्र को ग्रहण करना चाहिये । यदि यजमानके माता-पिताका नाम अज्ञात हो तो अध्वर्यु को किसी देवताका नाम ग्रहण करना चाहिये । गोत्रके अज्ञात होनेपर काश्यप गोत्र ग्रहण करना चाहिए ।[४]

सपत्नीका नाम लेनेका विधान कोई कोई आचार्य करते हैं । पत्नीके प्रति आवेदनके सम्बन्धमें कहा गया है कि न तो वह केशिनीदीक्षा-जप-मुष्टिकरण-अंगुल्युत्सर्ग करती है और न उसके प्रति आवेदन (कथन) करनेका सूत्रोंमें विधान किया गया है ।[५]

काश्रौसू०की सरलावृत्ति में कहा गया है कि यदि क्षत्रिय-वैश्यको भी दीक्षा दी जाती है तो अध्वर्यु को अथवा उसके सहायक प्रतिप्रस्थाता आदिको चाहिये कि

---

१. शब्रा० (३.२.१.३९)।

२. काश्रौसू० (७.४.११)।

३. भारश्रौसू० (१०.७८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ५९७)।

४. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठ सं० ५९७-५९८)।

५. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठ सं० ५९७)।

उसे ब्राह्मण ही घोषित करे, क्योंकि वह दीक्षा ग्रहण करनेके बाद ब्राह्मण ही हो जाता।[1] शब्रा० में कहा गया है कि क्षत्रिय-वैश्यको भी ब्राह्मण ही कहना चाहिये क्योंकि जो यज्ञसे उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण ही होता है।[2]

सरलावृत्तिमें कहा गया है कि यदि दीक्षाके लिए एक ही दिन निश्चित हो तो उसके बात क्रमशः महावीरसम्भरण, यूपाहुति तथा यूपच्छेदन आदि क्रियाएँ करनी चाहिये और यदि एक से अधिक दिनमें दीक्षा सम्पन्न होती हो तो जिस किसी भी दिन उपर्युक्त कृत्यों को यजमान अपनी इच्छासे सम्पन्न कर सकता है।[3]

यद्यपि उपर्युक्त कृत्यका प्रतिपादन दोनों काश्रौसू० तथा भारश्रौसू० में किया गया है किन्तु कात्यायनके अनुसार प्रतिप्रस्थाता आदिके द्वारा किया गया यजमानके प्रति आवेदन संक्षिप्त तथा भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्युके द्वारा किया गया यजमानके प्रति आवेदन (कथन) विस्तृत है।

वाग्यमावधि

मुट्ठी बन्द करनेके समय ही यजमान मौन धारण कर लेता है। इस अवसरपर कहा गया है कि यजमानको सूर्य अस्त होने तक मौन धारण करना चाहिये, इसके बाद नहीं।[4] भारश्रौसू० (१०.७.५) में कहा गया है कि यजमानको तारे निकलने तक मौन धारण करना चाहिये।

वाग्विसर्जनकाल

सूर्यास्त होनेपर अध्वर्यु "दीक्षित वाचं विसृजस्व" "पत्नि वाचं विसृजस्व" तीन बार कहता है।[5] तारा देखकर मौन तोड़नेकी बातको असंगत बताते हुए शब्रा० का कहना है कि यदि बादल हों तब तारा कैसे दीख पावेगा अतः यह जो कहा जाता है कि तारा देखकर मौन तोड़ा जा सकता है यह विधान ठीक नहीं है।[6] उपर्युक्त

---

१. काश्रौसू० (७.४.१२ पर सरलावृत्ति, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ५९८)।

२. शब्रा० (३.२.१.४०)।

३. काश्रौसू० (७.४.११ पर सरलावृत्ति)।

४. आस्तमयाद्वाचं यच्छति (काश्रौसू० ७.४.१३)।

५. काश्रौसू० (७.४.१४)।

६. शब्रा० (३.२.२.५)।

समस्याका समाधान करते हुए ब्राह्मणने कहा है कि जब यजमान समझे कि सूर्यास्त हो गया है और तारे निकलने वाले हैं तभी उसको मौन तोड़ देना चाहिये (शब्रा० ३.२.२.५)।

वाग्विसर्जन मन्त्र

कृष्णाजिनपर बैठा हुआ यजमान आहवनीयके अभिमुख होकर निम्नांकित मन्त्र[१] तीन बार तथा निम्नांकित मन्त्र[२] एक बार पढ़कर वाणीका विसर्जन कर देता है। विकल्पके रूपमें कात्यायनने निम्नांकित मन्त्रका[३] विधान तो किया है किन्तु शब्रा० का कहना है उपर्युक्त मन्त्रके कहनेसे कोई लाभ नहीं है (शब्रा० ३.२.२.६, काश्रौसू० ७.४.१६)। भारश्रौसू० (१०.७.६) तथा आपश्रौसू० (१०.१६.३) के अनुसार यजमानको यह मन्त्र[४] पढ़कर मौन तोड़ना चाहिये।

तारे निकलनेकी अवधिसे पहले ही यजमानके द्वारा मौन तोड़ लेने पर उत्पन्न प्रत्यवाय की निवृत्तिके लिए प्रायश्चित्तका विधान करते हुए भारश्रौसू० का कहना है कि ऐसी स्थितिमें यजमानको विष्णु, अग्निविष्णु सरस्वती या बृहस्पतिमें से किसी का भी मन्त्र[५] पाठ करके पुन: मौन धारण कर लेना चाहिए।[६]

भोजन व्यवस्था

यजमानके लिए गौका दूध ही एक मात्र भोजन है जिसे व्रत कहा गया है। पत्नी भी गौके दूधपर ही निर्भर रहती है। काश्रौसू० (७.४.२०) के अनुसार यजमान

---

१. व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत (वासं० ४.११)।

२. अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः (वासं० ४.११)।

३. भूर्भुवः स्वः॥ देवयाज्ञिकके अनुसार विकल्पके रूपमें "अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः मन्त्रसे मौन न तोड़कर भूर्भुवः स्वः" मन्त्रसे मौन तोड़ा जा सकता है (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २४४)।

४. त्वमग्ने व्रतपा असि। (तैसं० १.२.३.१)।

५. "इदं विष्णुः" विष्णुका, "अग्नाविष्णूमहि तद्वाम्" अग्निविष्णुका, "प्र णो देव्या नो दिवः" मन्त्र सरस्वतीका, "बार्हस्पत्या बृहस्पते" मन्त्र बृहस्पति का (आपश्रौसू० १०.१६.३ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

६. भारश्रौसू० (१०.७.६)।

शृतका[1] पान करता है । पहली बार जो क्षीरपान किया जाता है उसमें व्रीहि-यव का प्रक्षेप किया जा सकता है, जिसे प्रथम व्रत कहा गया है (काश्रौसू० ७.४.२१) ।

यदि किसी कारणसे यज्ञीय गौ दूध न दे पा सके उस स्थितिमें व्रीहि या यव का व्रत भोज बनाया जा सकता है (काश्रौसू० ७.४.२२, शब्रा० ३.२.२.१४) । सरला वृत्तिके अनुसार यह विधान केवल प्रथम व्रतमें ही किया जाना चाहिये (पृष्ठसं० २५७) ।

कात्यायनने किसी शाखागत विधानका उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रथम व्रतमें औषधि तथा सुरभिका प्रक्षेप किया जा सकता है (काश्रौसू० ७.४.२३) । सायणने औषधिका अर्थ "व्रीहियवप्रियंगुगोधूमादिक" तथा सुरभिका अर्थ "सुगन्धि पिप्पल्यादि" किया है (शब्रा० ३.२.२.१५) । यदि यजमान रुग्ण हो जाय तो रोगकी निवृत्तिके लिए जिस उपचारकी आवश्यकता हो वही उपचार करके स्वस्थ हो जाय, ऐसा नहीं कि दूध ही ग्रहण करे अथवा व्रीहि-यवका प्रयोग करे । उपचारके लिए जिस किसी भी वस्तुका ग्रहण आवश्यक हो वही वस्तु भोजनके रूपमें ग्रहण की जानी चाहिए ।[2]

भारश्रौसू० के अनुसार केवल दूध ही व्रत नहीं है अपितु उसके साथ यवागू (जौंका दलिया) भी पकाया जा सकता है । यदि दूध अपर्याप्त हो तो यज्ञीय गौके अतिरिक्त अन्य गौका भी दूध ग्रहण किया जा सकता है । यदि दूध प्राप्त ही न हो सके तो पानीमें ही यवागू पका लिया जा सकता है और व्रतके रूपमें उसका प्रयोग किया जाता है । यदि यजमान चाहे तो दही खा सकता है और यदि अन्य कोई खाद्य पदार्थ ग्रहण करना चाहे तो कोई अन्य व्यक्ति उसके लिए भुने हुए जौं अथवा भुने हुए जौंका आटा और घी लाकर दे सकता है (भारश्रौसू० १०.१०-३८) ।

देवयाज्ञिकपद्धतिमें आया है कि क्षत्रिय के लिए यवागू[3] तथा वैश्यके लिए पयस्या (दही) व्रत होता है (पृष्ठसं० २४४) । भारश्रौसू० (१०.९.१३) के अनुसार वैश्यका व्रत आमिक्षा[4] तथा ब्राह्मणका व्रत केवल दूध ही है । यजमानकी पत्नीके

---

१. सायणने शृतका अर्थ पक्वम् तथा क्षीरम् किया है (शब्रा० ३.२.२.१०) ।

२. शब्रा० (३.२.२.१५) ।

३. तण्डुलानां शिथिलः पाको यवागू (सरलावृत्ति पृष्ठसं० २५८) ।

४. आमिक्षा स्फुटितं दुग्धम् (सरलावृत्ति पृष्ठसं० २५८) ।

लिए कहा गया है कि उसे केवल दूध ही पीकर रहना चाहिये और ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये (भारश्रौसू० १०.९.९)।

व्रतदुग्धदोहन

प्रैषके[१] द्वारा अध्वर्यु व्रतके लिए दूही जाने वाली गौका दूध दुहता है।[२]सत्याश्रौसू० के अनुसार सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय गौ वत्सके पीने के लिए एक स्तन छोड़कर शेष तीनों स्तनोंका दूध दोह लेना चाहिए। (पृष्ठसं० ६००-६०१)।

व्रतश्रपण

दीक्षित यजमानके लिए गार्हपत्यमें तथा पत्नीके लिए दक्षिणाग्निमें व्रतको पकाया जाता है।[३] इस अवसर पर कहा गया है कि व्रतको पकाने वाले पात्र तथा दूधमें विपर्यास नहीं होना चाहिये अर्थात् जिस पात्रमें दीक्षितके लिए दूध पकाया जाने वाला है उसमें पत्नीका दूध और जिसमें पत्नीका दूध पकाया जाने वाला है उसमें दीक्षित यजमानका दूध नहीं पकाया जाना चाहिए। इसी प्रकार दूधमें भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए। जो दूध पत्नीके लिए है वह पत्नीको और जो दूध यजमानके लिए है वह यजमानको प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए कुछ न कुछ पहचान कर लेना आवश्यक है जिससे यह भूल न हो।[४]

व्रतप्रदानकाल

शब्रा० के अनुसार शामको दूहा हुआ दूध रात्रिमें तथा सवेरे का दूहा हुआ दूध मध्याह्नमें देना चाहिये।[५] भारश्रौसू० में कहा गया है मध्यरात्रि तथा मध्याह्नको ही व्रत ग्रहण करना चाहिये (१०.११.६)। सोमसवनके दिन व्रत ग्रहण करनेका विधान और निषेध दोनों प्राप्त होते हैं (भारश्रौसू० १०.११.९)।

---

१. व्रतदुघे धुक्ष्व इति (काश्रौसू० ७.४.१९ पर सरलावृत्ति)।

२. काश्रौसू० (७.४.१९)।

३. सत्याश्रौसू० (पृष्ठ सं० ६०१, काश्रौसू० ७.४.२४)।

४. काश्रौसू० (७.४.२४ पर सरलावृत्ति पृष्ठ सं० २५७)।

५. शब्रा० (३.२.२.१६)।

व्रतके लिए आचमन

कृष्णाजिनपर बैठा हुआ यजमान मन्त्र[१] पढ़कर व्रतके लिए आचमन[२] करता है ।[३] भारश्रौसू० (१०.१०.१४) के अनुसार व्रत पीकर मन्त्र[४] पढ़कर आचमन किया जाता है । कात्यायनने व्रत पीनेसे पहले आचमन करनेका विधान किया है किन्तु भारद्वाजने व्रत पीनेके बाद आचमन करने का विधान किया है। इस प्रकार आचमनका क्रम शाखा भेदसे व्रतपीनेसे पूर्व या पश्चात् दोनों ही प्राप्त होते हैं ।

व्रतकरण

अब आचमन करनेके पश्चात् यजमान मन्त्र[५] द्वारा कांस्यपात्रमें व्रत ग्रहण करके उसका पान करता है ।[६] सत्याश्रौसू० (पृष्ठसं० ६००) के अनुसार अध्वर्युवोंके बीचमें कोई भी जो व्रत प्रदान करने वाला होता है वह पहले प्रैष[७] करता है फिर आहवनीयके पीछेसे लाकर अध्वर्यु या व्रतप्रदान करने वाला यजमानको व्रत लाकर देता है । इसके पश्चात् वह यजमान व्रतका पान करता है ।

यजमान कांस्य पात्रमें और उसकी पत्नी लौह पात्रमें व्रत पीती है । अध्वर्यु यजमान को व्रत प्रदान करता है और प्रतिप्रस्थाता यजमान पत्नीको व्रत प्रदान करता है ।[८] इस अवसरपर भारश्रौसू० (१०.१०.११) में कहा गया है कि जो लोग दीक्षित

---

१. दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्वशे (वासं० ४.११)।

२. शब्रा० (३.२.२.१७) पर सायण ने उपस्पर्शयति का अर्थ उदकस्पर्श किया है। हरिस्वामीने भी जलका स्पर्शमात्र करना कहा है । शब्रा० में सर्वत्र जलके स्पर्श करनेमें उक्त क्रियाका अर्थ प्रयुक्त हुआ है । महीधरने तथा कर्कने भी उपस्पर्शयतिका अर्थ आचमन करना लिखा है ।

३. काश्रौसू० (७.४.२७, शब्रा० ३.२.२.१७)।

४. शिवाः पीता भवथ यूयमापो अस्माकं योना उदरे सुशेवाः। इरावतीरनमीवा अनागसः शिवा नो भवथ जीवसे (मैसं० ३.६.९)।

५. ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा (वासं० ४.११ तैसं० १.२.३.१)।

६. काश्रौसू० (७.४.२८, भारश्रौसू० १०.१०.१३, शब्रा० ३.२.२.१८)।

७. अग्नीज्ज्योतिष्मतः कुरुत दीक्षित वाचं यच्छ पत्नि वाचं यच्छ (सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ६००, भारश्रौसू० १०.१०.१५)।

८. काश्रौसू० (७.४.२८-२९)।

नहीं हैं उन्हें दीक्षित यजमान द्वारा व्रत पीते हुए नहीं देखना चाहिए। एक स्थानपर कहा गया है कि जो व्यक्ति यजमानको व्रत देने जाय उसे चाहिये कि यजमान को बोलने न दे अर्थात् व्रत देनेके लिए उसे पुकार नहीं लगानी चाहिए (भारश्रौसू० १०.१०१५)।

यजमानको दिये जाने वाले व्रतके सम्बन्धमें सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २५८) में कहा गया है कि यजमानके भोजनके लिए अध्वर्युको अनुत्सिक्त[१] पय ही प्रदान करना चाहिये अर्थात् अन्योंके द्वारा दिये गए दूधसे, असंसृष्ट दूध ही अध्वर्युको देना चाहिये।

यजमानका व्रत शुद्ध और अमिश्रित होना चाहिए। यदि उसमें कोई मिलावट हो जाती है तो उस स्थितिमें यजमान पापका भागी हो जाता है। शब्रा० का कहना है कि यदि व्रत दुग्धमें मिलावट हो जाती है तो उसके प्रायश्चित्त के लिए मन्त्र[२] पढ़ना चाहिए (शब्रा० ३.२.२.१९)।

नाभिस्पर्श

व्रत पी चुकने पर यजमान निम्नांकित मन्त्र[३] पढ़कर अपनी नाभिका स्पर्श करता है। भारश्रौसू० में नाभि स्पर्श करनेका कोई विधान नहीं मिलता किन्तु आपश्रौसू० ने व्रतपानके पश्चात् नाभिस्पर्शका विधान तो किया है किन्तु मन्त्र (मैसं० ३.६.९) में भिन्नता है।[४] भारश्रौसू० (१०.१०.१४) ने उपर्युक्त मन्त्रका विधान व्रतपानके पश्चात् आचमन करनेके लिए किया है, आपश्रौसू० (१०.१७.१२) में इस मन्त्रका विनियोग व्रत पी चुकनेपर नाभि स्पर्शके लिए तो हुआ ही है साथ ही इस मन्त्रका विनियोग जल पीने के लिए भी किया गया है। यदि यजमान को प्यास लगे तो वह इस मन्त्रका पाठ करके जल पी सकता है।

गिरिधरभाष्यमें कहा गया है कि नाभि स्पर्श करनेसे पूर्व आचमन अवश्य कर लेना चाहिये (पृष्ठ सं० १७७)।

---

१. व्रतदुग्धमल्पं दृष्ट्वा यदि कश्चित् स्नेहदयादियुक्तः पुरुषो अन्यद् दुग्धमानीय व्रतमध्ये निनयति तदुत्सिक्तम्। तद्विपरीतमनुत्सिक्तं क्षीरान्तरेणासंसृष्टमित्यर्थः (काश्रौसू० ७.४.२६ पर सरलावृत्ति)।

२. वासं० (४.१२)।

३. श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।

४. आपश्रौसू० (१०.१७.११)।

मूत्रपुरीषोत्सर्गमें कर्तव्य कर्म

यदि यजमानको लघुशंकाकी इच्छा हो तब वह काले मृगके सींगसे मिट्टी का ढेला अथवा तृण उठाकर निम्नांकित मन्त्र[१] पढ़े तथा निम्नांकित मन्त्र[२] पढ़कर शौचकर्म या लघुशंका करे ।[३] आपस्तम्बमें कहा गया है कि यदि किसी कारण यजमानका वीर्य स्खलित हो, रक्तस्राव हो, कफ निकलता हो अथवा आँसू या पसीना बहता हो तो उस समय भी उपर्युक्त मन्त्रका पाठ करना चाहिये ।[४] लघुशंका अथवा शौचकर्म के पश्चात् उठाया हुआ मिट्टीका ढेला अथवा तृण उसी स्थानपर यजमानको छोड़ देना चाहिए[५] तथा यह मन्त्र[६] पढ़ना चाहिए । श्रौतसूत्रोंमें कहा गया है कि लघुशंका अथवा शौचकर्म दिनमें नहीं करना चाहिये, यदि वेग रोकनेमें असमर्थ ही हो तो उस अवस्थामें छायामें शौचकर्म अथवा लघुशंका कृत्य किया जा सकता है ।[७]

शयन

शयनके सम्बन्धमें नियम है कि यजमानको मन्त्र[८] पढ़कर आहवनीयके दक्षिणमें पूर्वकी ओर मुख करके भूमिपर सोना चाहिए ।[९] देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठ सं० २४५) में कहा गया है कि यजमानको भूमिमें वस्त्र आदि को बिछाकर इस प्रकार सोना चाहिये जिससे सिर पूर्वकी ओर तथा आहवनीयके दक्षिणकी ओर हो तथा न तो उत्तान और न अधोमुख करके और न अग्निकी ओर पीठ करके यजमानको सोना चाहिये । पत्नीको गार्हपत्यके दक्षिणकी ओर सोना चाहिये ।

---

१. इयं ते यज्ञिया तनूः (वासं० ४.१३) ।

२. अपो मुञ्चामि न प्रजाम् । अंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमा विशत (वासं० ४.१३) ।

३. भारश्रौसू० (१०.८.१५, काश्रौसू० ७.४.३१-३२, शब्रा० ३.२.२.२०-२२) ।

४. आपश्रौसू० (१०.१३.१०) ।

५. काश्रौसू० (७.४.३३) ।

६. पृथिव्या सम्भव (वासं० ४.१३) ।

७. आपश्रौसू० (१०.१३.७-८, भारश्रौसू० १०.८.१४) ।

८. अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सुमन्दिषीमहि । रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि (वासं० ४.१४ तैसं० १.२.३.१) ।

९. शब्रा० (३.२.२.२२, काश्रौसू० ७.४.३४, आपश्रौसू० १०.१८.१, भारश्रौसू० १०.११.१०) ।

भारश्रौसू०(१०.९.१२) के अनुसार यजमानको सोमक्रयके बाद की रात्रि तथा सोमसवनकी रात्रिको जागते रहना चाहिये, उस दिन सोना नहीं चाहिये ।

प्रथम दिवसीय कृत्यकी समाप्ति

प्रथम दिनमें मुख्यत: प्राचीनवंशशालाका निर्माण तथा यजमानकी दीक्षा ये दो कृत्य सम्पन्न होते हैं । प्रात:कालमें मण्डपनिर्माण, मध्याह्नसे सायंकालतक दीक्षा-कृत्य होने पर रात्रिमें यजमान तथा उसकी पत्नीके सोनेके साथ ही प्रथम दिवसीय कृत्य सम्पन्न हो जाता है ।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय दिवसीय कृत्य

प्रथम अध्यायमें प्रथम दिवसीय कृत्योंका विस्तारसे विवेचन किया जा चुका है । पहले दिन यज्ञकी तैयारी की जाती है । वास्तविक कृत्य द्वितीय दिनसे ही प्रारम्भ होता हैं । दूसरे दिन प्रात: यजमान मन्त्रपाठ करके निद्रा का परित्याग करके भूमिसे उठता है और प्रायणीयेष्टि, सोमक्रय आदि प्रमुख कृत्यों को सम्पन्न करता है ।

इस अध्यायमें यजमानके इन्हीं प्रमुख कृत्योंका सविस्तार विवेचन किया जाता है ।

विबुद्ध यजमानका मन्त्रवाचन

अरुणोदयकी वेलामें जगा हुआ यजमान आहवनीयके सम्मुख होकर अध्वर्युके निर्देशसे मन्त्रका वाचन करता है ।[१] सरलावृत्ति में कहा गया है कि यदि यजमान पुन: न सोनेकी इच्छा करे तो उसे यह मन्त्र पढ़ना चाहिये (पृष्ठसं० २५९) वास्तवमें सो चुकनेपर यजमानको आलस्य न आ जाय इसीलिए अध्वर्यु यजमान से उपर्युक्त मन्त्र कहलाता है ।

इस अवसरपर देवयाज्ञिकपद्धतिमें कहा गया है कि अध्वर्युको तीन बार "दीक्षित वाचं यच्छ" तथा एक बार "पत्नि वाचं यच्छ" कहना चाहिये । अध्वर्युके ऐसा कहनेपर यजमान तथा पत्नीको मौन धारण कर लेना चाहिये । इसीप्रकार सायंकालके समय अध्वर्युको तीन बार "दीक्षित वाचं विसृजस्व" तथा एक बार

---

१. पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् (वासं० ४.१५)। भारश्रौसू० (१०.११.११) ने निम्नांकित त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ विश्वे देवा अभि मामाऽववृत्रन् (तैसं० १.२.३) मन्त्रका उल्लेख किया है ।

"पत्नि वाचं विसृजस्व" कहना चाहिये । इसके पश्चात् यजमान आहवनीय अग्निके सम्मुख होकर "व्रतं कृणुत" तीन बार कहकर तथा "अग्निर्ब्रह्म" यह मन्त्र एक बार कहकर मौन तोड़ देता है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पहले दिन मुष्टिकरण कृत्यके पश्चात् यजमान मौन धारण कर लेता हैं और सायंकालके समय तारे निकलने पर मौन तोड़ता है उसी प्रकार दूसरे दिन भी प्रात:काल मौन धारण करके सायंकालके समय मौनका परित्याग करता हैं ।[१]

द्रव्य प्राप्तिमें वाचन

यज्ञके लिए गवादि धन लाभ होने पर उस धनको प्राप्त करके अध्वर्यु प्राप्त धनके छूने पर यजमानसे मन्त्र[२] कहलाता है । इस अवसरपर कहा गया है कि अशक्त होने पर केवल अभिमन्त्रण किया जा सकता है ।[३]

देवयाज्ञिकपद्धतिमें विस्तारपूर्वक कहा गया है कि यदि यजमानको कोई हिरण्य, गाय-वस्त्र आदि देता है तो उसको प्राप्त करके "गामालभस्व हिरण्यमाल-भस्व वस्त्रमालभस्व" इस प्रैषके द्वारा उसका स्पर्श कराकर उपर्युक्त मन्त्र यजमान से कहलाता है । अध्वर्यु उस कार्यको सम्पन्न करता है । यदि किसी कारणसे यजमान उसका स्पर्श नहीं कर सकता तो तद्देशस्थ वस्तुओंके लिए यजमान अभिमन्त्रण उसी मन्त्रसे करता हैं ।[४]

दीक्षा सम्बन्धी नियमोंका पालन करते चलने से यजमान स्वभावत: दुर्बल हो जाता है । कुछ सूत्रों[५] के अनुसार यदि दीक्षाकार्य बारह अथवा एकमास अथवा एक वर्षतक चलता रहे तब तो यजमान और भी दुर्बल हो जाता है ऐसी अवस्था में यजमानका कर्तव्य है कि वह यज्ञके लिए अन्य सभी सामग्री और धन आदि अपने सनीहारों[६] द्वारा एकत्र करा ले और उन्हें तत्सम्बन्धी उचित निर्देश भी दे ।[७] भारश्रौसू० में तो उन अनेक वस्तुओंका उल्लेख प्राप्त है जिन्हें यजमान मन्त्र पढ

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २४५-२४६)।

२. रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् (वासं० ४.१६)।

३. काश्रौसू० (७.५.२-३, शब्रा० ३.२.२.२५)।

४. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठसं० २४६)।

५. आपश्रौस० (१०.१४८, आश्वश्रौसू० ४.२.१३-१५)।

६. सनिहारा द्रव्याणामानेतारः (तैसं० १.२.३ पर सायणभाष्य)।

७. भारश्रौसू० (१०.१२.१)।

पढकर मंगाता है, यथा "देव: सविता" मन्त्रसे लाई हुई भेंट तथा अन्य वस्तुओं को, "वायवे त्वा" मन्त्रसे बारह दिन की दक्षिणाको, खोई हुई वस्तुओंको "वरुणाय त्वा" मन्त्रसे पानीमें डूबी हुई वस्तुओं को निर्ऋत्यै त्वा मन्त्रसे जो वस्तु नष्ट हो गई है उस वस्तुको रुद्राय त्वा मन्त्र से मांगी गई वस्तुको, "इन्द्राय त्वा" मन्त्रसे किसी हिंसक जीवके द्वारा नष्ट की गई अथवा गिराई गई वस्तुको, "मरुद्भ्यस्त्वा" मन्त्र से बिजली के द्वारा नष्ट की गई वस्तुको, "इन्द्राय त्वा प्रसह्वने" मन्त्र से आक्रमणकारी सेनाका सामना करने के लिए आवश्यक वस्तुको, "यमाय त्वा" मन्त्र से अज्ञात कारणों से नष्ट हुई दक्षिणाको[१] । ये सभी मन्त्र तैसं० (१.२.३) में आये हैं, जिनके द्वारा यजमान सनीहारोंसे वस्तुओं को मंगाता है ।

अवभृथपर्यन्त दीक्षितनियम

अन्तमें ऐसे नियमोंका उल्लेख करना शेष है, जिनका पालन यजमान अवभृथ स्नानपर्यन्त करता है । दीक्षाके प्रसंगमें यद्यपि स्थान-स्थानपर ऐसे नियमों का उल्लेख किया जा चुका है तथापि शेष नियमोंका उल्लेख यहाँ करना आवश्यक हैं ।

दीक्षित यजमानके सत्यभाषी होने का विधान करते हुए ऐब्रा० (१.१.६) ने कहा है कि दीक्षा ऋत है दीक्षा सत्य है, इसलिए दीक्षित यजमानको सत्य ही कहना चाहिये, असत्य नहीं बोलना चाहिये, किन्तु ब्रह्मवादियोंके यह कहने पर कि सत्य तो देवता ही बोलते हैं, मनुष्य पूर्णत: सत्य कैसे बोल सकता है, इसके उत्तरमें ऐब्रा० ने यह व्यवस्था दी है कि विचक्षणसे युक्त वाक्यका कथन करनेसे यजमानको असत्य बोलनेका पाप नहीं लगेगा । सायण के अनुसार चार अक्षर वाले इस मन्त्रके साथ वाक्यका प्रयोग करना चाहिये यथा-देवदत्त विचक्षण गाय लाओ, यज्ञदत्त विचक्षण गायको बाँधो इत्यादि (ऐब्रा० १.१.६ पर सायण भाष्य) । विचक्षण शब्द से युक्त वाणीका प्रयोग करनेसे सत्यसे इतर भी वाणी सत्य ही हो जाती है, इसीलिए ही विचक्षण शब्दसे युक्त वाणीका विधान किया गया है ।

आपश्रौसू० (१०.१२.७) में कहा गया है कि ब्राह्मणके प्रति चनसित शब्दसे युक्त और क्षत्रिय या वैश्यके लिए विचक्षण शब्द से युक्त वाणीका प्रयोग किया

---

१. भारश्रौसू० (१०.२-१२)।

जाना चाहिये । सामान्यत: यजमानको कठोर वाणीका प्रयोग न करके मृदु वाणीका ही प्रयोग करना चाहिये (काश्रौसू० ७.५.५) ।

यजमानको सबसे बोलना भी नहीं चाहिये, यदि शूद्रसे बोलना ही पड़े तो द्विजोंमें से किसी एकको कह दे कि इससे ऐसा कह दो, इससे ऐसा कह दो । आवश्यकता पड़नेपर भी प्रत्यक्षत: शूद्रसे सम्भाषण नहीं करना चाहिये ।[१] न तो शूद्र यज्ञका अधिकारी है और न उससे बात करनेका विधान शास्त्रोंमें दिया गया है । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही यज्ञके अधिकारी हैं इन्हींसे बात करनेका विधान शास्त्रोंमें दिया गया है ।

यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ६०) के अनुसार यज्ञकालमें यजमानको लौकिक वाणीका प्रयोग न करके संस्कृत वाणीका ही प्रयोग करना चाहिये ।

गोब्रा० (१.३.१९) में कहा गया है कि यजमानका नाम किसीको नहीं लेना चाहिये । जो व्यक्ति दीक्षितका नाम लेते हैं वे मानों उसका पाप ग्रहण करते हैं ।

यजमानके शयन तथा जागरणके सम्बन्धमें विशेष रूपसे कहा गया है कि यजमानको सूर्यास्तसे पूर्व ही यज्ञशाला में प्रविष्ट हो जाना चाहिये, ऐसा नहीं कि यजमान बाहर ही रह जाय और सूर्यास्त हो जाय । यजमानको सूर्योदय होने से पूर्व ही जाग उठना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये कि सूर्यादय होने तक यजमान पड़ा सोता रहे । इस नियमका पालन अत्यन्त सावधानीसे किया जाना चाहिये क्योंकि इस दोषकी निवृत्तिके लिए आचार्योंने किसी भी प्रायश्चित्तका विधान नहीं किया हैं । अवभृथपर्यन्त दीक्षितका जलावगाहन-अभिमर्षण अविहित है ।[२]

यजमान तथा उसकी पत्नीको यज्ञकी पूरी अवधिमें दूधपर ही अवलम्बित रहना चाहिये । जैमिनि (४.३.८-९) के अनुसार यह व्यवहार क्रत्वर्थ (अनिवार्य) है न कि पुरुषार्थ । व्रतका दुग्ध दो गौवोंके स्तनोंसे दूहा जाकर दो पात्रोंमें अलग अलग गरम किया जाना चाहिये (धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४६) ।

गोब्रा० (१.३.२१) में कहा गया है कि यजमानको अत्यन्त सावधानी के साथ निम्नांकित कार्य करने चाहिये- नियमित अग्निहोत्र करना, पौणमासीका होम, अमावास्या का होम; अमावास्याके यज्ञके दिनसे यज्ञशालामें निवास करना, पितृ

---

१. शब्रा० (३.१.१.१०)।

२. शब्रा० (३.२.२.२७)।

यज्ञ करना, केवल वहीं पर जाना, जहाँ मनसे जानेकी इच्छा हो, पुत्रेष्टि नवशस्येष्टि संवत्सरेष्टि आदि इष्टियाँ करना, उचित ढंगसे बातचीन करना, मिथुन (मेधा तथा धारणावती बुद्धि) का अनुष्ठान करना, दूसरेसे तभी मिलना जब अपनी इच्छा हो, पशुबन्ध करना, केवल वहीं तक जाना जहाँ तक नेत्रसे दिखायी पडता हो, काली मृगछाला धारण करना, केश बढाये रखना, दोनों मुट्ठियाँ बाँधे रखना, अंगूठे आदि तीन अंगुलियों को ऊपर किये रखना, हरिणका सींग सदा अपने साथ रखना, सींग से ही खुजलाना।

दाँत दिखाना, उच्च स्वरसे हँसना, मांसभक्षण करना, स्त्रीसंग करना, पलंगपर सोना, सन्ध्याके समय प्राग्वंशसे बाहर निकलना, सबसे वार्तालाप करना आदि नियमोंका निषेध शब्रा० (३.१.१.१०) ने किया है।

देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २४७) में कहा गया है कि दन्तधावन, नित्य-स्नान, अग्निहोत्र, अवसथ्यहोम, वैश्वदेव-तर्पण-सन्ध्या आदि कोई भी कृत्य यज-मान को नहीं करने चाहिये।

भारश्रौसू०(१०.७.१३) में कहा गया है कि यजमानको ऊँचे आसनपर नहीं बैठना चाहिये। आपश्रौसू० (१०.१३.६) के अनुसार यजमानको शहदका सेवन नहीं करना चाहिये। यजमान दूसरोंको आशीर्वाद तो दे सकता है किन्तु यदि उसके गुरु, श्वसुर, और राजा भी आगे आ जायें तो यजमान को उस अवसरपर उठकर उनके आगे नतमस्तक नहीं होना चाहिये (भारश्रौसू० १०.७.१६ पर टिप्पणी)। यजमानको ऋत्विजोंका परिचय जहाँ वे खड़े हों वहीं से करा देना चाहिये (भारश्रौसू० १०.७.१७)। आपश्रौसू० (१०.१२.१०) के अनुसार यजमानको स्त्रियोंसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये।

भारश्रौसू० में दीक्षाके प्रसंगमें यत्र-तत्र यजमान द्वारा पालनीय आवश्यक नियमों का उल्लेख हुआ है, कुछ नियमों का उल्लेख करना आवश्यक है अत: उनपर विचार किया जाता है— यजमानको थूकना नहीं चाहिये (१०.८.१३)। यदि थूकने की आवश्यकता ही हो तो छायासे युक्त स्थानमें ही थूकना चाहिये। (१०.८.१४)। न तो यजमानको भोजन पकाना चाहिये, न ही कोई वस्तु दानमें देनी चाहिये तथा न ही सोमयोग से सम्बन्ध रखने वाली किसी प्रकारकी कोई बलि देनी चाहिये (१०.८.१६)। आपश्रौसू० (१०.१४.६-७) में वैश्वदेवबलि मनुष्यबलि तथा भूतबलिका निषेध किया गया है। सोमक्रयसे पूर्व यजमानको अपना सिर और

कन्धा नहीं खोलना चाहिये (भारश्रौसू० १०.८.१) । इसी प्रकार अपना काला मृगचर्म और दण्ड भी नहीं उतारना चाहिये (भारश्रौसू० १०.८.१८) । यदि यजमान कृष्ण मृगचर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थानपर बैठे तो मन्त्र[१] पढ़कर उसे बैठना चाहिये (भारश्रौसू० १०.९.१) । यद्यपि दीक्षित अन्योंको आशीर्वाद तो दे सकता है किन्तु अन्यों को न तो यजमानकी निन्दा करना चाहिये और न ही यजमानको आशीर्वाद देना चाहिये (भारश्रौसू० १०.९.२) । यजमानके घर किसीको भी अग्निषोमीय पशुयाग होनेसे पूर्व भोजन नहीं करना चाहिये । वपायाग अथवा सोमक्रयके पश्चात् भी भोजन किया जा सकता है किन्तु श्रेष्ठ विधि यह है कि यजमानको पहले सारी व्यवस्था यज्ञ की कर लेनी चाहिये फिर दीक्षा ग्रहण करे और बचे हुए भागमें से कभी भी आवश्यकतानुसार भोजन करा दे (भारश्रौसू० १०.९.३-६) । शयन या जागरणके समय यदि यजमान न कहने योग्य बात कर देता है तो मन्त्र[२] पढ़कर प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये (तैसं० १०.११.१२) । यदि यजमान यात्रा करना चाहे तो उसे सब अग्नियाँ अलग-अलग जलती हुई लकड़ियों में स्थापित कर देनी चाहिये । यदि रथमें जाना सम्भव न हो तो रथका कोई भाग लेकर ही यात्रा करनी चाहिये । बीचमें जलाशय मन्त्र[३] पढ़कर पार करना चाहिये । पृथिवीपर जाते हुए उसे हाथसे मिट्टीका एक ढेला मसलते हुए मन्त्र[४] पढ़ना चाहिये । जलाशयके मध्यमें पहुँचकर या पार पहुँचकर बालू या मिट्टीका ढेला डालते हुए मन्त्र पढना चाहिये । यदि नावसे जलाशय पार करना हो तो उसे अपना रथ और

---

१. देवांजनमगन् यज्ञस्तस्य माशीरवतु (कासं० ५.६) । सत्याश्रौसू० (पृष्ठसं० ५९९) में कहा गया है कि यदि यजमान सोनके समय अथवा अन्य समयमें कृष्णाजिनसे अलग होता है तो उसे निम्नांकित मन्त्र देवांजनमगन्यक्षस्ततो मा यज्ञस्याशीरागच्छतु गन्धर्वांजनमगन्यज्ञस्ततो मा यज्ञस्या शीरागच्छतु पितृंजनमगन्यज्ञस्ततो मा यज्ञस्याशीरागच्छत्वप ओषधीर्वनस्पतींजनमगन्यज्ञस्ततो मा यज्ञस्याशीरागच्छतु पंचजनांजनमगन्यज्ञस्ततो मा यज्ञस्याशीरागच्छतु वर्धतां भूतिर्दध्ना घृतेन मुंचतु यज्ञो यज्ञपतिमंहसो भूपतये स्वाहा" से अध्वर्युसे अभिमंत्रण कराना चाहिये । गोपीनाथने लिखा है कि समुच्चयपक्षमें वर्धतां भूतिरितिमन्त्र सबसे संयुक्त नहीं करना चाहिये, विकल्पपक्षमें करना चाहिये ।

२. त्वमग्ने व्रतपा असि (तैसं० १.२.३.१) ।

३. देवीरापो अपां नपात् (तैसं० १.२.३.३) ।

४. अच्छिन्नं तन्तुं पृथिव्या अनु गेषम् (तैसं० १.२.३.३) ।

जलती हुई लकडियाँ साथमें ले जानी चाहिये, यदि रथ न हो तो रथके किसी भाग को लेकर नाव पार की जा सकती है (भारश्रौसू० १०.१२.१५-२१)।

भारश्रौसू० में विस्तारसे दीक्षाके प्रकरणमें इन नियमोंका प्रसंगानुसार उल्लेख किया गया है। सभी श्रौतसूत्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें कहीं विस्तारसे कहीं संक्षेपमें इन नियमोंका उल्लेख किया गया है।

दो प्रकारके नियम मुख्यत: यजमानको पालन करते पड़ते हैं। एक तो वे नियम जो किसी विशेष अवसर पर ही पालन किये जाते हैं और दूसरे वे नियम जो सामान्यत: सभी समय पालन किये जाते हैं।

कात्यायनश्रौतसूत्र (७.५.१०) में कहा गया है कि अनुल्लंघनीय नियमोंका व्यतिक्रम हो जानेपर यद्यपि यज्ञकालमें उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथापि यदि यजमानसे त्रुटि हो ही जाती है तो "दीक्षिता उपह्वयध्वम्" कहकर प्रार्थनापूर्वक सबसे अनुज्ञा लेनी चाहिये। सामान्यत: यह कहा गया है कि यजमानको पूर्णत: सावधान रहना चाहिये, दीक्षा ग्रहण कर लेनेपर प्रमाद करना, नियमोंका उल्लंघन करना, वाञ्छनीय नियमोंका पालन न करना, अमर्यादित होना आदिका पूर्णत: परित्याग करना चाहिये।

दीक्षाग्रहण कर लेनेपर यजमान दूसरा शरीर धारण कर लेता है। उसके शरीरमें देवत्वकी प्रतिष्ठा हो जाती है। ऐब्रा० (१.१.३) में कहा गया है जो पुरुष पहले दीक्षित हो जाता है उसकी मुट्ठीमें यज्ञ होता है, उसकी मुट्ठीमें देवता होते हैं और उसे संसवदोष[1] भी नहीं लगता। तन्त्रों तथा पुराणोंमें दीक्षाका विवेचन विस्तार से किया गया है। वैष्णवतन्त्रमें कहा गया है जिस प्रकार रसकी विधिसे कांसा सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार दीक्षाग्रहणसे मनुष्य द्विजत्व प्राप्त कर लेता है।[2]

अधिकारी यजमान योग्य ऋत्विजोंका वरण करके उनसे दीक्षा ग्रहण करके सभी सोमयागकी प्रकृतिभूत अग्निष्टोम यज्ञको सम्पन्न करके अन्तमें सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्ति कर लेता है। अधिकारप्राप्ति ही दीक्षाका सबसे महत्वपूर्ण लाभ

---

१. दो या अधिक यजमानोंका एक स्थानपर सोमाभिषव करना संसव कहलाता है और यह दोष है क्योंकि एक ही स्थानपर ईर्ष्यावशात् यजमान उसमें प्रवर्तित होते हैं (ऐब्रा०, पृष्ठसं० ३३)।

२. यथा कांचनता याति कांस्य-रसविधानतः। तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥ (दीक्षातत्व मीमांसा, पृष्ठसं० ४)।

है । इसीलिए सभी ऋत्विक् मिलकर वैदिक मन्त्रोंके द्वारा यजमानको वैदिक विधिसे दीक्षा दिलाते हैं जिससे वह अधिकार प्राप्त कर सके तथा अग्निष्टोमका सम्पादन कर सके । इस प्रकार पहले दिन से प्रारम्भ हुआ दीक्षा कृत्य दूसरे दिन समाप्त हो जाता है ।

प्रायणीयेष्टि

पहला दिन तो दीक्षामें ही व्यतीत हो जाता है । दूसरे दिन दीक्षाके बाद प्रायणीयेष्टि की जाती है । यद्यपि दीक्षाके दिन ही प्रायणीयेष्टि की जा सकती है किन्तु अगले दिन प्रातःकाल प्रायणीयेष्टि करना सुगम होता है । यदि दीक्षा बहुत दिनों तक चलने वाली हो तो दीक्षामें ही प्रायणीयेष्टि कृत्य सम्पन्न किया जा सकता है और यदि एक दिनमें ही दीक्षा समाप्त की जानी हो तो अगले दिन ही प्रायणीयेष्टि प्रारम्भ की जाती हैं ।[१]

प्रायणीयेष्टिका अर्थ

जिस दीक्षणीयेष्टिका उल्लेख सर्वप्रथम किया गया वह मात्र यज्ञकी तैयारी थी । वस्तुत: प्रायणीयेष्टिसे तात्पर्य है "प्रारम्भ की" और उदयनीयेष्टि से तात्पर्य "अन्तकी" । जब यज्ञ प्रारम्भ हुआ तो प्रारम्भकी इष्टि हुई प्रायणीयेष्टि और जब यज्ञ की समाप्ति होगी तब की इष्टि होगी उदयनीयेष्टि ।[२]

शब्रा० में प्रायणीयेष्टिकी व्युत्पतिके सम्बन्ध में कहा गया है कि— क्योंकि सोम राजाको मोल लेनेकी इच्छासे जाते समय आहुति दी जाती है इसलिए इसका नाम प्रायणीयष्टि पड़ गया ।[३]

---

१. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ६१)।

२. ऐब्रा० (१.२.१) पर सायणका भाष्य.।

३. स यदमुत्र राजानं क्रेष्यन्नुपप्रैष्यन्यजते । तस्मात्तत्प्रायणीयं नाम (शब्रा० ४.५.१.२)। ब्राह्मणोद्धारकोश (पृष्ठसं० ५७७)। स्वर्गे वा एतेन लोकं प्रयन्ति यत् प्रायणीयं तत्प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम् (ऐब्रा० १.२.७)। काठसं० (२३.७, कपिष्ठलकठसं० ३६.५,तांब्रा० ४.२.२) प्रैति प्रारभत अनेन सौमिकं कर्मेति प्रायणीयम् (शब्रा० पर सायण भाष्य, पृष्ठ सं० ६०)। प्रायणीयाख्यो य: कर्मविशेषो स्त्येतेन यजमाना: स्वर्गं लोकं सामीप्येन प्राप्नुवन्ति । तस्मात् प्रयन्त्यनेनेति व्युत्पत्या तत्प्रायणीयनाम सम्पन्नम् (ऐब्रा० १.२.१ पर सायण भाष्य) ।

प्रायणीयेष्टिका काल

काश्रौसू० (७.५.१३) में कहा गया है दीक्षाके अन्तमें प्रायणीयेष्टि की जानी चाहिये। आश्वश्रौसू० (४.२.१८) में कहा गया है कि दीक्षाके अन्तमें जिस दिन सोमक्रय किया जाय उस दिन प्रायणीयेष्टि की जानी चाहिये।

प्रायणीयेष्टिसे स्वर्गलोकका सामीप्य

ऐब्रा० (१.२.१) में कहा गया है कि प्रायणीयेष्टि नामक कर्मविशेषको करने वाला यजमान इस इष्टिके द्वारा स्वर्ग लोकका सामीप्य प्राप्त करता है। इसीलिए इस सामीप्य प्राप्तिके साधक होनेके कारण इसको प्रायणीयेष्टि कहते हैं।

पाँच देवताओंका यजन

इस इष्टिमें पाँच याग किये जाते हैं-प्रथम पूर्व दिशामें अवस्थित पथ्या[1] स्वस्तिके लिए, द्वितीय दक्षिण दिशामें अवस्थित अग्निके लिए, तृतीय पश्चिम दिशामें अवस्थित सोमके लिए, चतुर्थ उत्तर दिशामें अवस्थित सविता के लिए तथा अन्तमें पञ्चम ऊर्ध्व दिशामें अवस्थित अदितिके लिए।[2]

अदितिके लिए चरु[3] बनाया जाता है। शेष चारों देवताओंको आज्यकी चार हवियाँ समर्पित की जाती है।

देवयाज्ञिकपद्धतिके अनुसार पथ्यायै स्वस्तयेऽनुब्रूहि, पथ्यां स्वस्तिं यज। इदं पथ्यायै स्वस्तये कहकर पूर्व दिशामें, अग्नयेऽनुब्रूहि अग्निं यज, इदमग्नये कहकर दक्षिण दिक् में सोमायानुब्रूहि सोमं यज, इदं सोमाय कहकर पश्चिम दिशामें, सवित्रेऽनुब्रूहि सवितारं यज इदं सवित्रे कहकर उत्तर दिशामें, क्रमशः पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम और सविताके लिए यजन किया जाता है। चरुसे अदितियाग सम्पन्न होता है।[4] अन्य चारों याग ध्रुवासे चार बारमें आज्य लेकर किये जाते हैं।[5]

---

१. मन्त्ररूपावाक् एव पथ्या स्वस्तिः इत्युच्यते (शब्रा० ३.२.३८ पर सायण)

२. ऐब्रा० (१.२.७)।

३. घी और दूधसे मिश्रित उबले हुए चावलों को चरु कहते हैं।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठ सं० २५१)।

५. सत्याषाढ श्रौतसूत्रपर गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ६१९) देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठ सं० २५१)।

उदयनीयेष्टिके लिए प्रायणीयेष्टिसे सम्बन्धित चरु आदिका स्थापन

यागके अन्तमें की जाने वाली उदयनीयेष्टिके लिए चरुस्थालीको तथा मेक्षण को किसी सुरक्षित स्थानपर रख दिया जाता है । इस अवसरपर दो विकल्प आचार्यों ने कहे हैं— यदि चरुस्थालीको धोकर रक्खा जाता है तो मेक्षण और बर्हिको आहवनीयमें डाल देना चाहिये और यदि चरुस्थालीको धोकर नहीं रक्खा जाता अपितु अग्निके संयोगसे थोडा जले हुए चरुके लेप सहित ही प्रायणीयचरु-स्थालीको रक्खा जाता है तो मेक्षणको आहवनीयमें न डालकर उसे धो पोंछकर किसी स्थानपर रख दिया जाना चाहिये ।[१] लेपसे युक्त चरुस्थालीमें उदयनीयके लिए बादमें चरु पकाया जाता है । इस अवसरपर कहा गया है कि अवशिष्ट चरुको उदयनीयके लिए काममें नहीं लाना चाहिये अपितु उस चरुस्थालीमें उदयनीयके लिए चरु पुनः पका लेना चाहिये ।[२]

भारश्रौसू० (१०.१४.१०-११) के अनुसार पके हुए चरुको षड्ढौत्र मन्त्र[३] के साथ वेदीपर अध्वर्युको लाना चाहिये तथा चरुस्थालीमें विधिपूर्वक दो मेक्षण तथा निष्कास[४] का स्थापन करना चाहिये ।

पञ्च प्रयाजाहुतियाँ

ऐब्रा० (१.२.८) में कामनाभेदसे भिन्न-भिन्न दिशाओंमें प्रयाजाहुतियोंका विधान करते हुए कहा गया है कि तेज और ब्रह्मवर्चसकी कामनावालेको पूर्वकी ओर जाकर, अन्नकी कामनावालेको दक्षिणकी ओर जाकर, पशुकी कामनावालेको पश्चिमकी ओर जाकर तथा सोमपानकी कामना वालेको उत्तर दिशाकी ओर जाकर प्रयाज आहुतियोंको देना चाहिये । सब दिशाओंकी प्राप्तिके लिए ऊपरकी ओर प्रयाज आहुतियाँ देनी चाहिये ।

आपश्रौसू० के अनुसार समिधो यजति वसन्तमेवर्तूनामव रुन्धे मन्त्र से पूर्वकी ओर, तनूनपातं यजति ग्रीष्ममेवाव रुन्धे मन्त्रसे दक्षिणकी ओर, इडो यजति

---

१. चर्वालोडनार्थं दर्वी मेक्षणम् (गोपीनाथ, पृष्ठसं० ६२०) । मेक्षणं चरुनिष्पादनार्थं काष्ठम् (शब्रा० ३.२.३.२१ पर सायणभाष्य) ।

२. काश्रौसू० (७.५.१४-१७ पर सरलावृत्ति) ।

३. सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु (तैआ० ६.१.४) ।

४. निष्कासः स्थालीमेक्षणसंलग्नो लेपः (गोपीनाथ, पृष्ठसं० ६२०) ।

वर्षा एवाव रुन्धे मन्त्रसे पश्चिमकी ओर, बर्हिजति शरदमेवाव रुन्धे मन्त्रसे उत्तरकी ओर, स्वाहाकारं यजति हेमन्तमेवाव रुन्धे मन्त्रसे मध्यमें प्रयाज आहुतियाँ देनी चाहिये (२.१७.१-२)। उपर्युक्त प्रयाजाहुतियोंके मन्त्रोंका तैसं० (२.६.१.१) में उल्लेख है।

प्रायणीयेष्टिमें निषिद्ध कृत्य

भारश्रौसू० (१०.१४.११) के अनुसार प्रायणीयेष्टिमें अग्न्यन्वाधान[१] व्रतोपायन,[२] पत्नीसंनहन[३] और अन्वाहार्य[४] क्रियाएँ नहीं करनी चाहिये। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६१०) के अनुसार जागरण तथा अरण्याशन क्रियाएँ भी प्रायणीयेष्टिमें निषिद्ध हैं।

प्रायणीयेष्टि तथा उदयनीयेष्टिके एक ही ऋत्विक्

जो ऋत्विक् प्रायणीयेष्टिके हों, वे ही उदयनीयेष्टिके भी हों। यदि किसी ऋत्विक् की मृत्यु हो जाती है तो उदयनीयेष्टिके लिए अन्य ऋत्विजोंका वरण कर लेना चाहिये (काश्रौसू० ७.५.१५-१९)।

---

१. गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु "ममाग्ने वर्च" इति षट्समिदाधानरूपं कर्म अग्न्यन्वाधानम् (काश्रौसरलावृत्तिकी भूमिका पृष्ठसं० ३४)

२. अग्न्यलंकरणानन्तरं यजमानस्तीर्थेन निर्गत्य अग्रेणाहवनीयं परीत्य पूर्वोक्ते स्वायतने उपविश्य पाणौ साग्रं प्रादेशमात्रमुदगग्रं दर्भद्वयं धृत्वा तेनैव दक्षिणेन पाणिना पयस्वती मन्त्रेण त्रिरप आचामति। तत आहवनीयं तूष्णीं पर्युक्षणवत्सकृत्पर्युक्ष्य चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्रः समिध आहवनीय आधाय पूर्ववत् परिषिंचति तदेतद्यजमानकर्म व्रतग्रहणं व्रतोपायनं इति उच्यते (श्रौतपदार्थनिर्वचनम् ११७२)।

३. पत्नीके बंधनके लिए बनाई गई विशेष प्रकारकी मूंजकी रस्सी पत्नीसंनहन कहलाती है। (वैदिक कोश, पृष्ठसं० ३९४, काश्रौसू० पर विद्याधरकी भूमिका, पृष्ठसं० ३५)।

४. जिससे यज्ञसम्बन्धी दोषका परिहार होता है (अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोषजातं परिहरति अनेन) वह अन्वाहार्य नामका ओदन अन्वाहार्य कहलाता है जो ऋत्विजोंके भोजनके लिए बनाया जाता है (वैदिक कोश, सूर्यकान्त, पृष्ठसं० ३९४, काश्रौसू० की भूमिका पृष्ठसं० ३५, शब्रा० १.२.३.५ परसायणभाष्य)।

होता द्वारा पठनीय याज्या व पुरोनुवाक्या

प्रायणीयेष्टिके अवसरपर होता पथ्यास्वस्तिकी पुरोनुवाक्या[१] याज्या,[२] अग्निकी पुरोनुवाक्या[३] याज्या,[४] सोमकी पुरोनुवाक्या[५] याज्या[६], सविताकी पुरोनुवाक्या[७] याज्या,[८] अदितिकी पुरोनुवाक्या,[९] स्विष्टकृत पुरोनुवाक्या[१०]-याज्या[११] का पाठ करता है (ऐब्रा० १.२.९)।

---

१. स्वस्ति नःपथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन (ऋसं० १०.६३.१५)।

२. स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा (ऋसं० १०.६३.१६)।

३. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम (ऋसं० १.१८९.१)।

४. ऐब्रा० के अनुसार याज्या "आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्रवोळ्हुम् । अग्निर्विद्वान्त्स यजात् सेदु होता सो अध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति (ऋसं० १०.२.३)। शांखाब्रा० (७.५-९) के अनुसार याज्या "अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा । पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः (ऋसं. १.१८९.२)।

५. त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् । तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः (ऋसं० १.९१.१)।

६. या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु । तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन् राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय (ऋसं० १.९१.४)।

७. आ विश्वेदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे । सत्यसवं सवितारम् (ऋसं० ५.८२.७)। शांखायन ब्राह्मणके अनुसार "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् (ऋसं० ३.६२.१०)।

८. य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन । प्र च सुवाति सविता (ऋसं० ५.८२.९)।

९. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये (ऋसं० १०.६३.१०)।

१०. सेदग्निरग्नींरत्यस्त्वन्यान् यत्रवाजी तनयो वीळुपाणिः । सहस्रपाथा अक्षरा समेति ॥ (ऋसं. ७.१.१४)। देखिये-तैब्रा० (२.५.३.३)। शांखायन ब्राह्मणके अनुसार "त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः । शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोडहवे ॥ (ऋसं० १.४५.६)।

११. सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात् (ऋसं० ७.१.१५)। शांखायन

इस अवसरपर ऐब्रा० (१.२.११) में कहा गया है कि दोनों लोकोमें समृद्धि एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिए होताको चाहिये कि वह प्रायणीयेष्टिकी पुरोनुवाक्या को उदयनीयेष्टिकी याज्या करे और जो उदयनीयेष्टिकी पुरोनुवाक्या है उसे इस इष्टिकी याज्या करे । इसीप्रकार का विधान संहिता ग्रन्थ (तैसं० ६.३.५) में भी प्राप्त होता है ।

प्रयाज और अनुयाज दोनोंसे ही युक्त प्रायणीयेष्टि

ऐब्रा० (१.२.११) में कुछ लोगोंके कथनको प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि बिना अनुयाज आहुतियोंके ही प्रायणीयेष्टि करनी चाहिये क्योंकि प्रायणीयेष्टिके अनुयाजमें विलम्ब होनेसे हीनता है । इस पक्षका निषेध करते हुए सिद्धान्त पक्षमें कहा गया है कि प्रायणीयेष्टिमें अनुयाजवर्जित कर्म आदरणीय नहीं है, अत: प्रयाज और अनुयाज दोनोंसे ही युक्त प्रायणीयेष्टि करनी चाहिए । तैसं० (६.१.५.५) में भी यही पक्ष उल्लिखित है ।

पत्नीसंयाज तथा संस्थितयजु: दोनोंके यजनका निषेध

ऐब्रा० (१.२.११) में कहा गया है कि पत्नीसंयाज[1] तथा समिष्टयजु:[2] का प्रायणीयेष्टि में यजन नहीं करना चाहिए। आपश्रौसू० (१०.२१.१४) ने भी पत्नीसंयाजका निषेध किया है ।

शंयुवाकके साथ प्रायणीयेष्टिकी समाप्ति

भारश्रौसू० (१०.१४.१६) तथा शब्रा० (३.२.३.२३) में कहा गया है प्रायणीयेष्टिकी समाप्ति शंयुवाकसे[3] की जानी चाहिये ।

सोमक्रय

द्वितीय दिन प्रात:काल प्रायणीयेष्टि समाप्त करके तत्काल सोम खरीदनेका अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है ।

ब्राह्मणके अनुसार यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो । महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते (ऋसं० ५.२५.७)।

१. पत्न्यनुष्ठेयाश्चत्वारो यागा: पत्नीसंयाजा उच्यन्ते (काश्रौसू० १०.८.१०)।

२. इष्टिसम्पूर्त्तिकारित्वात् समिष्टयजुरित्युच्यते ।

३. तंच्छं योरावृणीमहे मन्त्रको शंयुवाक कहा गया है (वैदिककोश, पृष्ठसं० ३९५)।

सोमक्रय करनेकी आवश्यकता इसलिए है कि बिना सोमका क्रय किये उसका प्रयोग करना एक प्रकारसे अनुपयुक्त द्रव्यसे यज्ञ करना होता है। क्रय करनेपर वह यजमानकी सम्पत्ति हो जाती है और तब यजमान अपनी उस सम्पत्ति (सोम) के द्वारा सोमयाग सम्पन्न करता है।[१]

प्रतिप्रस्थाताके द्वारा सोमस्थापन

प्रतिप्रस्थाता उपरव[२] देशमें बैलके लाल चर्मको फैलाकर उसपर सोमको स्थापित करता है[३]। कतिपय सूत्रोंमें अध्वर्युको ही यह करनेका आदेश दिया गया है[४]। बैलका[५] चर्म इस प्रकार बिछाया जाता है कि उसकी गर्दनका भाग पूर्वकी ओर और बाल वाला अंश ऊपरकी ओर होता है भारश्रौसू० (१०.१३.९)। आपश्रौसू० (१०.२०.१३) के अनुसार सोमविक्रेता ही चर्मपर दक्षिणकी ओर सोम उडेले और स्वयं उत्तरकी ओर जाकर बैठ जाय। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६०८) में कहा गया है कि चर्मके उत्तर भागमें सोम पृथक् किया जाना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि शाखाभेद से चर्म बिछानेका कार्य प्रतिप्रस्थाता तथा अध्वर्यु दोनोंके द्वारा किया जा सकता है तथा इसी प्रकार सोम उडेलनेका कार्य सोमविक्रेता तथा प्रतिप्रस्थाता दोनोंके द्वारा किया जा सकता है।

सोमके अवयवोंका खण्डन

सोमको छाँटनेके लिए भारश्रौसू० (१०.१३.९) में प्रैषका[६] विधान किया गया है। प्रैष किये जानेपर सोमविक्रेता एक बाड़ेमें सोमको छाँटता है। गोपीनाथने

---

१. शब्रा० (३.२.४७)।

२. दक्षिणहविर्धानमण्डपे स्थितस्य दक्षिणहविर्द्धानशकटस्याधस्तादेशः उपरवदेशः (काश्रौसू० ७.६.१ पर सरलावृत्ति)।

३. काश्रौस० (७.६.१)।

४. भारश्रौसू० (१०.१३.९)।

५. यदि बैलका चर्म न प्राप्त हो सके तो कृष्णाजिन काममें लाना चाहिये अथवा कृष्णा जिनके अभाव में कृष्णवर्णरहित चर्म ही ले लेना चाहिये। उसके भी अभाव में रौरव आदि का चर्म लिया जा सकता है। यह चर्म तैलके द्वारा शुद्ध कर लिया जाना चाहिये (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ६०७)।

६. सोमविक्रयि सोमं शोधय इति।

लिखा है कि सोमविक्रेता सोममें मिश्रित तृणादिको अलग कर देता है, यही छाँटनेका अर्थ है (पृष्ठसं० ६०८)। छाँटनेका स्थान चारों ओरसे चटाई आदिसे घिरा हुआ तथा उत्तर-पूर्वकी ओर मुख वाला होना चाहिये (गोपीनाथका भाष्य; पृष्ठसं० ६०७)।

सामान्यत: कुत्स गोत्र वाले व्यक्तियोंसे सोम खरीदेनेका उल्लेख सूत्रग्रन्थोंने किया है।[1] किन्तु आपश्रौसू० (१०.२०.१२) में यह भी कहा गया है कि कुत्स गोत्र वाले ब्राह्मणसे अतिरिक्त अन्य गोत्र वाले ब्राह्मणसे भी सोम खरीदा जा सकता है। गोपीनाथके अनुसार ब्राह्मणके अभावमें शूद्रसे सोम खरीदना चाहिये। शूद्रका यहाँ अर्थ गोप या नाई से है। कात्यायनके अनुसार कौत्स गोत्र वाले ब्राह्मण अथवा शूद्र दोनोंसे सोम खरीदा जा सकता है (काश्रौसू० ७.६.२.)। देवयाज्ञिकने त्रैवर्णिक का उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २५१)।

संहिताग्रन्थोंमें सोमविक्रेताको पापी कहा गया है, साथ ही यह भी कहा गया कि सोम बेचने वाला शिष्टाचारके अनकूल नहीं होता।[2] सम्भवत: उस समय सोमविक्रेताको अच्छी दृष्टिसे नहीं देखा जाता रहा होगा क्योंकि सोम खरीदेनेके अवसरपर मोल भाव करके और उसका मूल्य चुकाकर उसे डण्डोंसे भी पीटा जाता था, मार मार कर उसको भगा दिया जाता था।

सोम छाँटते समय अन्योंको यह आदेश दिया जाता है कि कोई भी यह कृत्य न देखें।[3] सत्याषाढ श्रौतसूत्रके भाष्यकार गोपीनाथने कहा है कि अध्वर्यु, सोम छाँटने वाले का ही कोई व्यक्ति, यजमान, यजमानके पुत्र-पौत्र आदि सम्बन्धी, तथा अन्य किसी को भी सोमकी छटनी नहीं देखनी चाहिये, किन्तु दू.से देखनेके लिए निषेध नहीं है, दूरसे देखने में कोई हानि नहीं अत: दूरसे देखा जा सकता है किन्तु पाससे नहीं (पृष्ठसं० ६०९)।

सोमके समीपमें ब्राह्मणाच्छंसीका उपवेशन

उपरव देशके दक्षिणकी ओर ही ब्राह्मणाच्छंसी सोमविक्रेताके पास बैठता है।[4]

---

१. काश्रौसू० (७.६.२ भाश्रौसू० १०.१३.७)।

२. ऐब्रा० (१.३.१२, तैसं० १.२.७)।

३. भारश्रौसू० (१०.१३.११, मैस० ३.७.४, कासं० २४.२, आपश्रौसू० १०.२०.१८)।

४. काश्रौसू० (७.६.१३)।

सोमके समीप ही जलकुम्भका स्थापन

उपरव देशमें स्थापित सोमके आगे जलका भरा हुआ एक कलश रक्खा जाता है ।[१]

ध्रुवामें बचे हुए घृतसे जुहूमें चार बार ग्रहण

जलका घट रक्खे जानेके पश्चात् अध्वर्यु पहलेसे बन्द शालाके सभी दरवाजोंको खोलकर ध्रुवामें अवशिष्ट आज्यको जुहूमें चार बारमें ग्रहण करता है ।[२]

पहलेसे ग्रहण किये हुए आज्यसे होम

कुशासे सोनेको बाँधकार तब अध्वर्यु ध्रुवासे ग्रहण किये हुए आज्यमें सोनेको डालकर मन्त्रके[३] साथ आहुति देता है ।[४] भारश्रौसू० (१०.१४.१८) में भिन्न मन्त्र[५] दिया है ।

इसके पश्चात् मन्त्रके[६] साथ अध्वर्यु चार बार में आज्य ग्रहण करके आहवनीय अग्निमें आहुति देता है ।[७]

शब्रा० (३.२.४.१३) में हिरण्य सहित आज्यकी आहुतिका निषेध किया है, अत: हिरण्य को जुहूसे निकालकर हाथमें धारण करके तृणको वेदीमें रखकर मन्त्र[८] अध्वर्यु पढता है[९] । अब सूत्रसे हिरण्यको पुन: बाँध लिया जाता है[१०] । देवयाज्ञिक के अनुसार यह कृत्य अध्वर्यु करता है (पृष्ठसं० २५२) ।

---

१. काश्रौसू० (७.६.४)।

२. काश्रौसू० (७.६.५, शब्रा० ३.२.४८)।

३. एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ (वासं० ४.१७)।

४. काश्रौसू० (७.६.६)।

५. इयं ते शुक्र तनूरिदं वर्च:(तैसं० १.२.४.१)।

६. जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे । तस्यास्ते सत्यसवस: प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा (वासं.४.१७-१८)।

७. काश्रौसू० (७.६.७)।

८. शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि (वासं० ४.१८)।

९. काश्रौसू० (७.६.८)।

१०. काश्रौसू० (७.६.८, शब्रा० ३.२.४.१४)।

प्रायणीयेष्टिके सम्पन्न होनेपर प्रायणीयके शेष कृत्य हिरण्य बन्धनके अनन्तर समाप्त हो जाते हैं । यहाँसे सोमक्रय कृत्य प्रारम्भ किया जाता है ।

अध्वर्यु द्वारा प्रैष

चार बारमें आज्यको ग्रहण करके अध्वर्यु यजमानको "यजमान अन्वारभस्व"[१] प्रैष करता है ।[२] देवयाज्ञिकके अनुसार चार बारमें आज्यग्रहण करनेसे पूर्व आज्यको गार्हपत्यमें संस्कृत कर लेना चाहिये (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २५२)।

अध्वर्यु और यजमानका निष्क्रमण

शालाके सब द्वार पहलेसे ही खुले रहते हैं अत: उन खुले हुए द्वारोंसे अध्वर्यु और यजमान दोनों निकलते हैं ।[३] देवयाज्ञिकके अनुसार दोनोंको शालाके पूर्व द्वारसे निकलना चाहिये (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २५२)।

सोमक्रयणी गौका अभिमन्त्रण तथा उसका अनुगमन

शालाके पूर्व द्वारसे दक्षिणकी ओर सोमक्रयणी गौ खड़ी हुई होती है[४] । सभी सूत्रोंमें और ब्राह्मणग्रन्थोंमें सोमक्रयणी गौकी विशेषता विस्तारसे बतायी गई हैं । कात्यायनके अनुसार वह गाय अलक्षिता अर्थात् स्वामी के द्वारा उस गायके शरीरपर ऐसा कोई चिह्न न किया गया हो जिससे वह अलगसे पहचानी जा सके, अनंगरहिता, अप्रवीता अर्थात् वृषभसे अनुपभोग्या, रस्सीसे न बँधी हुई, कपिलवर्णवाली तथा पिंगाक्षी होनी चाहिये (काश्रौसू० ७.६.१२)।

शब्रा० (३.३.२.१५) में कहा गया है कि सोमक्रयके लिए पिंगलवर्ण वाली आँखोंसे युक्त गौ ही मुख्य रूपसे ग्रहण करनी चाहिये किन्तु यदि वह दुर्लभ हो तो अरुणा[५] गाय लेनी चाहिये किन्तु यदि वह भी प्राप्त न हो सके तो उसके अभाव

---

१. अध्वर्योरनुस्पर्शो अन्वारम्भ:(शब्रा० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० ७५)।

२. काश्रौसू० (७.६.१०, शब्रा० ३.२.४.१५)।

३. काश्रौसू० (७.६.११, शब्रा० ३.२.४.१५)।

४. काश्रौसू० (७.६.१२)। गोपीनाथ (पृष्ठसं० ६२४) के अनुसार प्राग्वंशके भीतर ही आहवनीयके आगे पूर्वाभिमुख गायको खड़ा करना चाहिए।

५. अरुणा अव्यक्तरागा (शब्रा० पर सायण भाष्य)। अरुणा कपिशवर्णा (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ६२३)।

में रोहिणी[1] गाय लेनी चाहिये किन्तु श्येताक्षी[2] गाय कभी नहीं लेनी चाहिये। शब्रा० (३.३.२.१६) में कहा गया है कि ऐसी गो नहीं लेनी चाहिये जो अप्रवीता, पूँछसे रहित, सींगसे रहित, कानी, बिना कान वाली, और सप्तशफा हो[3]। ऐसी गाय ही देखनी चाहिये जिसकी आँखें पिंगल वर्णकी तथा रंग बभ्रु हो।

भारश्रौसू० (१०.१४.१९) में कहा गया है कि वह गौ एक या दो वर्ष की होनी चाहिये। सत्याषाढ़श्रौतसू० के भाष्यकार गोपीनाथ के कहा है कि सोमक्रयणी[4] गौ सम्पूर्ण अंगों वाली, माता-पिता, भाई-बहिन वाली, मोटी-ताजी, पृश्निबाला,[5] तथा एक से तीन वर्ष तक की आयु वाली होनी चाहिये (पृष्ठसं० ६२३)। गायके सम्बन्धमें एक और विशेषण दिया गया है कि वह प्रपीना (मांसल) होनी चाहिये किन्तु कोई कोई प्रपीनाका अर्थ ऊँट के रोमके समान न हो, ऐसा अर्थ करते हैं (गोपीनाथका भाष्य पृष्ठसं० ६२३)। आपस्तम्बने श्वेत तथा कृष्ण दो वर्ष वाली गौको ग्राह्य बताया है। पी० वी० काणेने लिखा है कि उस गायका कान या पैर पकड़कर कोई खड़ा न हो, किन्तु आवश्यकता पढ़ने पर उसकी गर्दन पकड़ी जा सकती है।[6]

---

१. रोहिणी केवलरक्तवर्णा (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ६२३)। रोहिणी सत्युपध्वस्ता, उपध्वस्ताऽन्येन वर्णेनाभिभूतो यो वर्णः स उपध्वस्तदवती क्वचित्प्रदेशे केवलरोहिणी क्वचित्प्रदेशे मिश्रितवर्णा एतादृशवर्णद्वयविशिष्टेत्यर्थः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ६२३)।

२. श्येताक्षी कृष्णलोचना (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ८६)।

३. सप्तशफा एकस्मिन्पादे एकेन शफेन हीना, उक्त दोषवर्जिता (शब्रा० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० ८६)।

४. सोमः क्रीयते यया गवा सा सोमक्रयणी सोपक्लृप्ता भवति (गोपीनाथका भाष्य पृष्ठसं० ६२३)।

५. बाला अक्ष्णोर्यस्याः सा पृश्निवाला श्वेतपृषत्कवाला (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ६२३)।

६. धर्मशास्त्रका इतिहास (प्रथम भाग, पृष्ठ सं० ५४७

शालाके भीतर अथवा शालाके पूर्व द्वारके दक्षिण भागमें अवस्थित उक्त लक्षणों वाली सोमक्रमणी का अध्वर्यु अभिमन्त्रण[१] करता है[२] तथा मन्त्र पढता है ।[३] सत्याषाढश्रौतसू० (पृष्ठसं० ६९५) के अनुसार उक्त मन्त्रके द्वारा बैठे हुए ही सोमक्रयणीका संशासन[४] करना चाहिये । आपश्रौसू० (१०.२२.१०) में कहा गया है कि इस अवसरपर अध्वर्युको गौके सामने वाले दाहिने चरणकी ओर देखना चाहिये ।

अभिमन्त्रणके पश्चात् सोमक्रयणी गौका अनुगमन किया जाता है, जिसकी विधि इस प्रकार है कि सोमक्रयके लिए दक्षिण द्वारसे उत्तर देशकी ओर ले जाई जाती हुई उत्तरकी ओर मुखवाली सोमक्रयणी गौ के पीछे अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता तो मन्त्र पढकर चलते हैं और ब्रह्मा-यजमान और उसकी पत्नी चुपचाप ही उस सोमक्रयणी गौका अनुगमन करते हैं ।[५] अनुगमन शब्द की व्याख्या करते हुए सायणने कहा है कि वह सोमक्रयणी जब अपना पहला चरण रक्खे तभी अध्वर्यु भी अपना पहला चरण आगे बढावे । इसी प्रकार जब जब गौ अपने पैरोंको रखती हुई आगे बढती है तभी अध्वर्युको भी अपने चरण आगे रखते हुए बढाने चाहिये-अर्थात् गौके पहले चरण पर अध्वर्यु का पहला चरण, गौके द्वितीय चरणपर अध्वर्युका दूसरा चरण इसी प्रकार गौके छह चरण रक्खे जाने पर अध्वर्यु भी छह चरण रक्खे । सातवें पगपर तो होम किया जाता है अत: यह अनुगमन छह पग तक ही किया जाता है (सायण भाष्य, शब्रा० ३.३.१.१) ।

---

१. अभिमन्त्रण नाम मन्त्रोच्चारण काले तदर्थस्य संस्मरणम् मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् । शेषिण तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् । एतदेवाभिमन्त्रणस्य लक्षणं चेक्षणा धिकम् (आश्वश्रौसू० वृत्ति,१.१.२१ आधानपद्धति,पृष्ठसं० ३) ।

२. शब्रा० (३.२.४.१६-२०,काश्रौसू० ७.६.१३,भारश्रौसू० १०.१५.५,बौश्रौसू० ६.१२) । गिरिधरभाष्यके अनुसार गौकी स्तुति की जाती है (पृष्ठसं० १८१) ।

३. चिदसि मनाऽसि धीरसि से स्तुति की जाती है (पृष्ठसं० १८१) । उभयत: शीर्ष्णी । सा न: सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय । सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वा वर्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि (वासं० ४.१९-२० तैस० १.२.४.१) ।

४. अवेक्षणविशिष्टं मन्त्रोच्चारणं संशासनम् (पृष्ठसं० ६२५,गोपीनाथभाष्य) ।

५. काश्रौसू० (७.६.१४,शब्रा० ३.३.१.२,भारश्रौसू० १०.१५.६,वैखाश्रौसू० १२.१६) ।

गौके सातवें पगपर अध्वर्यु आदिका उपवेशन

सोमक्रयणी गौके छह पग चलनेके पश्चात् जहाँ वह अपना सातवाँ पग रक्खे उसके दक्षिणउत्तरकी ओर जाकर उसके सातवें पैर रखनेके स्थानपर ब्रह्मा-यजमान दक्षिणकी ओर, उसके पीछेकी ओर अध्वर्यु तथा उत्तरकी ओर प्रतिप्रस्थाता बैठ जाते हैं ।[१]

देवयाज्ञिकपद्धतिके अनुसार उत्तरकी ओर प्रतिप्रस्थाता तथा नेष्टा दोनों बैठते हैं तथा दक्षिणकी ओर यजमानकी पत्नी भी बैठती है (पृष्ठसं० २५३) ।

हिरण्यनिधानपूर्वक होम

सोमक्रयणी गौके सातवें पगके स्थानपर हिरण्यको रखकर अध्वर्यु आज्यकी आहुति देता है ।[२] देवयाज्ञिकके अनुसार चार बारमें ग्रहण किये हुए आज्यको हाथमें लेकर उस आज्यकी आहुति अध्वर्युको देनी चाहिये (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २५३) । भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्युको आहुति देने से पूर्व मन्त्र[३] पढ़कर सातवें पगकी मिट्टी उठा लेनी चाहिये ।[४] होमके अन्तमें अन्वारम्भ करनेका भी विधान प्राप्त है ।[५]

स्फ्यसे सातवें पगका परिलेखन

होमके अनन्तर अध्वर्यु गौके सातवें पगकी छापके चारों ओर एक रेखा तो मन्त्र[६] पढकर तथा दो रेखाएँ चुपचाप खींचता है ।[७] देवयाज्ञिकने कहा है कि पहले खींची गई रेखाके ऊपर ही दूसरी तीसरी बार रेखा खींचनी चाहिये (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २५३) । भारश्रौसू० में कहा गया है कि काले हरिणके सींग तथा

---

१. शब्रा० (३.३.१.३, काश्रौसू० ७.६.१५) ।

२. शब्रा० (३.३.१.४, काश्रौसू० ७.६.१६, बौश्रौ० ६.१३, भारश्रौसू० १०.१५.८) ।

३. बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु रुद्रो वसुभिरा चिकेतु (तैस० १.२.५) ।

४. भारश्रौसू० (१०.१५.७) ।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २५३) ।

६. अस्मे रमस्व (वासं० ४.२२) । भारश्रौसू (१०.१५.९) के अनुसार परिलिखितं रक्ष परिलिखिता अरातयः (तैसं० १.२.५) ।

७. भारश्रौसू० (१०.१५.९, काश्रौसू० ७.६.१७, शब्रा० ३.३.१.६) ।

स्फ्यसे केवल उतने स्थानके चारों ओर रेखा खींची जाय जितना स्थान आज्यसे आच्छादित हो ।[१]

पगपांसुका स्थालीमें प्रक्षेप

परिलेखनके अनन्तर हिरण्यको हटाकर सोमक्रयणी गौके सातवें पगकी आज्यसे सनी हुई मिट्टी हाथसे उठाकर अध्वर्यु उसको स्थालीमें रखता है ।[२] इस अवसरपर यह मन्त्र[३] पढा जाता है । देवयाज्ञिकपद्धतिमें कहा गया है कि हिरण्यको हाथमें ग्रहण कर लेना चाहिये (पृष्ठसं० २५३) ।

शब्रा० में कहा गया है कि ग्रहीत स्थान पर अध्वर्युको जल छिड़क देना चाहिये ।[४]

यजमानको मिट्टीका समर्पण

अध्वर्यु मन्त्र[५] पढकर वह मिट्टी यजमानको सौंप देता हैं ।[६]

यजमान द्वारा मिट्टीग्रहण

अध्वर्यु द्वारा मिट्टी दिये जानेपर यजमान उस मिट्टीको मन्त्र[७] पढ़कर ग्रहण कर लेता है ।[८]

---

१. भारश्रौसू० (१०.१५.९-१०)। गोपीनाथने लिखा है कि यदि आज्य सोमक्रयणी के पद सम्बन्धी प्रदेशसे बाहर और अन्दर भी फैल गया हो तो उतने ही प्रदेशमें वज्रसे रेखा अध्वर्युको खींच लेनी चाहिये (पृष्ठसं० ६२८)। साथ ही यह भी लिखा है कि स्फ्य तथा कृष्णविषाण दोनों को मिलाकर दोनोंके अग्रभागसे परिलेखन कर सकता है (पृष्ठसं० ६२८)।

२. शब्रा० (३.३.१.६, काश्रौसू० ७.६.१८, भारश्रौसू० १०.१५.११)। गोपीनाथने लिखा है कि अञ्जलिसे मिट्टीको उठाकर चुपचाप चलना चाहिये (पृष्ठसं० ६२७)।

३. अस्मे ते बन्धुः (वासं० ४.२२)।

४. शब्रा० (३.३.१.७)।

५. त्वे रायः सन्तु (वासं० ४.२२)।

६. शब्रा० (३.३.१.८, काश्रौसू० ७.६.१९)।

७. मे रायः सन्तु (वासं० ४.२२)।

८. शब्रा० (३.३.१.१०, काश्रौसू० ७.६.२०)।

अध्वर्युद्वारा अपने हृदयका स्पर्श करना

यजमान द्वारा पांसु ग्रहण किये जानेपर अध्वर्यु मन्त्र[१] पढ़कर अपने हृदयका स्पर्श करता है ।[२] देवयाज्ञिकके अनुसार इस अवसरपर जलका स्पर्श किया जाता है । (पृष्ठसं० २५३) ।

ग्रहण करके पत्नीको मिट्टीका समर्पण

अध्वर्यु यजमानकी पत्नीको वह पांसु समर्पित करता है[३] तथा पत्नी उसको किसी सुरक्षित स्थानपर रख देती है ।

भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्यु सर्वप्रथम किसी ऐसे पात्रमें मिट्टी रखता है जिसमें घी लगा हुआ होता है, फिर मन्त्र[४] पढता है । इसके पश्चात् वह मन्त्र[५] पढकर वह पात्र यजमान को देता है, जिसे यजमान मन्त्र पढकर अपनी पत्नीको दे देता है ।[६]

काश्रौसू० तथा भारश्रौसू० दोनोंमें कुछ ही विभिन्नता है । कात्यायनके अनुसार पत्नी यजमानसे मिट्टी न लेकर अध्वर्युसे लेती है, जब कि भारद्वाजके अनुसार वह यजमानसे मिट्टी ग्रहण करती है । कात्यायनके अनुसार यजमानसे लेकर अध्वर्यु पत्नीको मिट्टी देता है किन्तु भारश्रौसू० के अनुसार यजमान मिट्टी अध्वर्युको नहीं देता बल्कि स्वयं ही अपनी पत्नीको मिट्टी देता है ।

पत्नीके द्वारा मन्त्रवाचन

पांसु ग्रहण किये हुए पत्नीको मन्त्रके[७] साथ नेष्टा सोमक्रयणी गौ दिखाता

---

१. मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म (वासं० ४.२२)।

२. काश्रौसू० (७.६.२२)।

३. काश्रौसू० (७.६.२१)।

४. अस्मे रायः(तैसं० १.२.५.२)।

५. त्वे रायः(तैसं० १.२.५.२)। गोपीनाथके अनुसार उसे वहीं हाथ धोकर यजमानको वह पात्र समर्पित करना चाहिये (पृष्ठसं० ६२९)।

६. भारश्रौसू० (१०.१५.११-१३)।

७. तोतो रायः सन्तु (वासं० ४.२२)।

है ।[१] इसके पश्चात् नेष्टा इस अवसरपर पत्नीसे[२] मन्त्र कहलाता है जब गौ पत्नीको देख रही होती है ।[३] अनेक पत्नी होनेपर सबसे मन्त्र नेष्टाको कहलाना चाहिये ।[४]

भारश्रौसू० में कहा गया है कि जब अध्वर्यु यह व्यवस्था कर ले कि गौ यजमान की पत्नीको देखे तब वह पत्नीसे मन्त्र[५] कहलाता है । बौश्रौसू० (६.१३) में कहा गया है कि जब पत्नी यजमानको देखे तब वह मन्त्र[६] पढे । आपश्रौसू० (१०.२३.७) के अनुसार उपर्युक्त मन्त्रके द्वारा पत्नीको गौका अभिमन्त्रण करना चाहिये ।

कात्यायन तथा भारद्वाज दोनोंने यद्यपि यह विधान किया है कि जब सोमक्रयणी गौ पत्नीको देखे तब मन्त्र कहा जाना चाहिये किन्तु केवल इतना अन्तर अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायनने मन्त्र नेष्टा से कहलाया है और भारद्वाजने अध्वर्युसे, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि माध्यन्दिन तथा तैत्तिरीय दोनोंमें मन्त्र भिन्न हैं ।

सातवें चरणस्थानपर जल छिड़कना

पत्नी द्वारा मन्त्र वाचन होनेके अनन्तर सोमक्रयणी गौके सातवें चरणचिह्न पर अध्वर्यु मन्त्र[७] पढ़कर एक लोटा जल छिड़क देता है ।[८] यद्यपि यह क्रिया माध्यन्दिन शाखाके अनुसार भी की जाती है किन्तु उस समय की जाती है जब परिलेखन के अनन्तर पदपांसुको स्थालीमें डाल दिया जाता है ।

---

१. काश्रौसू० (७.६.२३, शब्रा० ३.३.१.११) ।
२. समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि (वासं० ४.२३) ।
३. काश्रौसू० (७.६.२४, शब्रा० ३.३.१.१२) ।
४. गिरिधर भाष्य (पृष्ठसं० १८५) ।
५. सं देवि देव्योर्वश्या पश्यस्व (तैसं० १.२.५) ।
६. त्वष्टीमती ते सपेय सुरेता रेतो दधाना वीरं विदेय तव संदृशि (तैसं० १.२.५) ।
७. उन्नम्भय पृथिवीम् (तैसं० २.४.८.२) ।
८. भारश्रौसू० (१०.१५.१६) ।

चरण-धूलिके तीन भाग

आपश्रौसू० (१०.२३.९) के अनुसार चरणधूलिके तीन भाग किये जाते हैं, जिसमेंसे पहला भाग उत्तरकी ओर गार्हपत्यकी शीतल भस्ममें, तथा दूसरा भाग आहवनीयमें डाला जाता है और तीसरा भाग पत्नीको दे दिया जाता है जिसे वह किसी सुरक्षित स्थानमें रख देती है। कात्यायनने केवल इतना ही निर्देश किया है कि यजमानके हाथसे मिट्टी लेकर अध्वर्यु उसकी पत्नीको दे देता है, जिसे वह किसी गोपनीय स्थानपर सुरक्षित रख देती है।[१] शाखाभेदसे पदधूलके दो विभाग भी किये जा सकते हैं। सत्याषाढश्रौसू० (६३० पृष्ठ) में कहा गया है कि आहवनीयमें पदधूलिका प्रक्षेप निषिद्ध है अत: दो ही विभाग किये जाने चाहिये। गोपीनाथ के अनुसार पत्नी प्राग्वंशशाला, पत्नीशाला अथवा बाह्यशाला इन तीनों स्थानोंमें से किसी भी स्थानपर पदधूलि रख सकती है(पृष्ठसं० ६३०)। भारश्रौसू० (१०.१५.२०) ने केवल इतना कहा है कि पत्नीको अपने कक्ष में वह पदधूलि रख लेनी चाहिये।

अनामिकामें हिरण्यबन्धन

हाथ धोकर अध्वर्यु क्रय करनेके लिए ग्रहण किये गये हिरण्यको अपनी अनामिकामें बाँधता है।[२] भारश्रौसू० (१०.१५.२१-२२) में कहा गया है कि इस अवसरपर अध्वर्युको हाथमें सुवर्णखण्ड लेकर आदित्यकी[३] प्रार्थना करनी चाहिये। यद्यपि सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं०-६३०) में भी आदित्यकी प्रार्थना करनेका उल्लेख है किन्तु भारश्रौसू० ने जो मन्त्र कहा है उससे भिन्न मन्त्र सत्याषाढने कहा है, अर्थात् दोनोंमें क्रियाका विधान तो समान है किन्तु मन्त्र भिन्न भिन्न है।

कात्यायनके अनुसार अनामिकामें हिरण्य बाँधा जाता है किन्तु भारद्वाजके अनुसार हिरण्यको हाथमें ग्रहण किया जाता है। यह अन्तर उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है।

---

१. काश्रौसू० (७.६.२२ पर सरलावृत्ति)।

२. शब्रा० (३.३.२.२., काश्रौसू० ७.६.२५)।

३. देव सूर्य सोमं केठयामस्तं ते प्रब्रूम। ऋतून् कल्पय दक्षिणा कल्पय अथर्तु यथादेवतम् (कासं० २६)।

जैसा कि कहा गया है अध्वर्यु अपनी अनामिकामें सोना बाँधता है उसी प्रकार अन्य अनेक कृत्योंमें भी अध्वर्यु सोना बाँधता है। सरलावृत्तिमें कहा गया है कि अध्वर्यु सोमाप्यायन, सोमाभिषव, अशुंग्रहण और अदाभ्यग्रहणके अवसरपर भी सोना बाँधता है।[१]

प्रैष कथन[२]

अध्वर्यु यजमानके प्रति प्रैष करता है कि "सोमोपनहन[३] वस्त्र, सोमपर्याणहन,[४] वस्त्र, तथा उष्णीश[५] ले आओ।"[६]

सोमोपनहन वस्त्रकी विशेषता बताते हुए कहा गया है कि वह अत्यन्त शोभन तथा श्रेष्ठ होना चाहिये।[७] आपश्रौसू० के अनुसार सोमोपनहन वस्त्र रेशमी होना चाहिये (१०.२४.७)। यदि उष्णीश प्राप्त हो सके तो ठीक है, अन्यथा अंगोछेसे ही दो या तीन अंगुल कपडा फाड़कर उसका ही उष्णीष बना लेना चाहिये।[८]

सोमोपनहन आदिका सोमक्रयदेशके प्रति ले जाना

देवयाज्ञिकपद्धतिमें कहा गया है कि अध्वर्यु अथवा यजमानको सोमोपनहन वस्त्र, तथा प्रतिप्रस्थाताको सोमपर्याणहन तथा उष्णीष वस्त्र क्रय देशके प्रति ले जाना जाना चाहिये (पृष्ठसं० २५४)। भारश्रौसू० (१०.१६.३) ने शकट ले जानेका उल्लेख किया है। सत्याषाढश्रौसू० ने शकटकी विशेषता बताते हुए कहा है कि यह शकट सुगन्धित तृणकी चटाइयोंसे आच्छादित तथा नूतन फलकवाला होना चाहिये (पृष्ठसं० ६३१)। आपश्रौसू० (१०.१४.४) के अनुसार यह शकट राजा

---

१. काश्रौसू० (७.६.२६ पर सरलावृत्ति)।

२. सोमोपनहनमाहर, सोमपर्याणहनमाहरोष्णीषमाहरेति (शब्रा० ३.३.२.३)।

३. सोम उपनह्यते यस्मिन तत्सोमोपनहनं वासः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं २६५)।

४. अनसि स्थितस्य वस्त्रबद्धस्य सोमस्योपरि आच्छादनार्थं यत् प्रसार्यते तत् सोमपर्याणहनं वासः (सरलावृत्ति, पृष्ठ सं० २६५)। शकटेन सह सोमस्य परितो बन्धनवासः (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ८८)।

५. उष्णीशं सोमोपनहने स्थापितस्य सोमस्य बन्धनार्थं वासः (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ८८-८९)।

६. काश्रौसू० (७.७.१)।

७. शब्रा० (३.३.२.३, काश्रौसू० ७.७.३)।

८. काश्रौसू० (७.७.४)।

सोमके पश्चिम या उत्तरकी ओर इस प्रकार खड़ा किया गया हो कि उसका बम पूर्व या उत्तरकी ओर हो, उसपर जुआ बँधा हो और उसका आगेका भाग धरतीपर टिका हो। भारश्रौसू० (१०.१६.४) के अनुसार गाड़ीके आगेका तख्ता हटा देना चाहिये। आपश्रौसू० (१०.२४.३) में कहा गया है कि पर्वतपर सोमको सिरपर ही ले जाना चाहिये। इसपर रुद्रदत्तने टिप्पणी की है कि यह स्थिति तब होती है जब यज्ञभूमि पर्वतपर ही हो।

उपरवदेशके प्रति गमन

प्राचीनवंशके पुरोदेशमें निहित उदक्कुम्भके समीपमें जहाँ सोमविक्रेता बैठा है उस सोमक्रय प्रदेशकी ओर मुख करके ब्रह्मा-अध्वर्यु-यजमान और प्रतिप्रस्थाता आदि चलना प्रारम्भ करते हैं। इस अवसरपर अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र[१] कहलाता है।[२]

सोमालम्भ

जानेके पश्चात् सोमक्रयप्रदेशमें स्थित सोमके पीछे अध्वर्यु, उसके उत्तरकी ओर प्रतिप्रस्थाता, दक्षिणकी ओर ब्रह्मा और यजमान और उसके पीछे यजमानकी पत्नी बैठ जाती है। बैठनेके पश्चात् पूर्वकी ओर मुख करके अध्वर्यु सोमका स्पर्श करता है।[३] हरिस्वामीके मतके अनुसार यजमान भी सोमका स्पर्श कर सकता है (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २५४)। स्पर्शके समय यह मन्त्र पढा जाता है।[४] शब्रा० (३.३.२.८) में कहा गया है कि कुछ लोग सोमके साथ तृण-काष्ठ आदिको देखकर उन तृण-काष्ठादिको फेंक देते हैं किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि तृण-काष्ठादिको फेंकना मानों किसी के मुँहमें रक्खे हुए अन्नको निकाल कर फेंक देनेके समान होगा अत: सोमके साथ तृण आदि यदि मिले ही हुए हैं तो उन्हें नहीं फेंका जाना चाहिये।

---

१. एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ॥ एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ॥ छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात् (वासं० ४.२४)।

२. काश्रौसू० (७.७. शब्रा० ३.३.२.६)

३. काश्रौसू० (७.७.७, शब्रा० ३.३.२.७)।

४. अस्माकोसि शक्रस्ते ग्रह्यः विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु (वासं० ४.२४)।

सोमोपनहनका आस्तरण

दुहरा या चौहरा करके तथा वस्त्रके आगेके भागको पूर्व या उत्तरकी ओर करके सोमपनहनवस्त्रको चर्मपर बिछा दिया जाता है ।[१] आपश्रौसू० (१०.२४.७) के अनुसार यह वस्त्र तिहरा होना चाहिये और उसकी झालर (वस्त्राग्र) पूर्वकी ओर ही होनी चाहिये, यदि झालर ऊपर हो तो उसे उलट दिया जाना चाहिये । भारश्रौसू० (१०.१६.६) में कहा गया है कि राजा सोमके उत्तरकी ओर चर्मपर ऊनका दोहरा वस्त्र इस प्रकार बिछाना चाहिये कि उसकी किनारी या झालर पूर्वकी ओर अर्थात् चर्मके गर्दनकी ओर हो अथवा वस्त्रको उलट दिया जाय ।

सोममान

मन्त्र[२] पढकर ग्यारह बार सोमका प्रक्षेप सोमोपनहनवस्त्रपर किया जाता है । कात्यायनने सोमप्रक्षेप का विधान इस प्रकार किया है— पहली बार पाँचों अंगुलियों से, दूसरी बार अंगूठेको छोडकर शेष चारों अंगुलियोंसे, तीसरी बार अंगूठे और तर्जनीको छोकर शेष तीनों अंगुलियोंसे, चौथी बार अंगूठे तर्जनी और मध्यमाको छोडकर शेष अनामिका तथा कनिष्ठिकासे, पाँचवी बार केवल कनि-ष्ठिकासे, छठी बार इसी प्रकार पुनः कनिष्ठिका अंगुलीसे, सातवीं बार अनामिका तथा कनिष्ठिका से, आठवीं बार कनिष्ठिका मध्यमा और अनामिका से, नवीं बार अंगूठेको छोडकर शेष चारों अंगुलियोंसे और दसवीं बार सभी अंगुलियोंसे सोमका प्रक्षेप करता है ।[३] देवयाज्ञिकपद्धतिमें आया है कि दस बार सोमका प्रक्षेप किया जाता है, दसों बार मन्त्रकी आवृत्ति की जाती है । ग्यारहवीं बार अवशिष्ट सोमको चुपचाप अमन्त्रक ही गिरे हुए सोमके ऊपर अंजलिमें भरकर डालता है । (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २५५) । कात्यायनने विकल्पके रूपमें यह विधान किया है कि अंजलिके द्वारा दसवीं बार अथवा ग्यारहवीं बार सोम डाला जा सकता है । ग्यारहवीं बार में अंजलिके द्वारा अवशिष्ट सोमका प्रक्षेप शब्रा० (३.३.२.१९) को

---

१. काश्रौसू० (७.७.९, शब्रा० ३.३.२.९) ।

२. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः (वासं० ४.२५) ।

३. शब्रा० (३.३.२.१३, काश्रौसू० ७.७.११-१६)

मान्य है, किन्तु शब्रा० के इस विधानको कात्यायनने निषेध नहीं किया है, विकल्पके रूपमें यह विधान कात्यायनको मान्य है ।

यद्यपि कात्यायनने दस बार मन्त्र कहनेका विधान किया है किन्तु कतिपय सूत्रोंके अनुसार पाँच बार समन्त्रक तथा पाँच बार अमन्त्रक सोमका प्रक्षेप किये जानेका उल्लेख प्राप्त होता है ।[१] आपश्रौसू० (१०.२४.१२-१३) के अनुसार यह सारी क्रिया दो-तीन या असंख्य बार की जा सकती है । भट्टभास्करके अनुसार सोममान क्रिया अतिच्छन्दर्चासे[२] सम्पन्न की जानी चाहिये ।[३]

सोमोपनहन वस्त्रका उष्णीषके द्वारा बन्धन

मन्त्रके[४] साथ अध्वर्यु गिरे हुए सोमके सहित सोमोपनहनवस्त्रके आगेके किनारोंको पकड़कर हाथमें ग्रहण करके और फिर वस्त्रको इकट्ठा करके उष्णीषसे बाँधता हैं ।[५]

वस्त्रके मध्यमें अंगुलीसे विवर करना

वायुप्रवेशके लिए गठरीमें छेद किया जाता है किन्तु गठरी नहीं खोली जाती ।[६] भारश्रौसू० ने यद्यपि वस्त्र बाँधनेका उल्लेख किया है किन्तु साथ ही गाँठ खोलनेका भी समन्त्रक[७] विधान किया है । तात्पर्य यह है कि कात्यायनके अनुसार वायुप्रवेश के लिए सोमोपनहनवस्त्रके मध्यमें एक छिद्र अंगुलीसे कर दिया जाता है किन्तु भारश्रौसू० के अनुसार छेद न करके उसे शिथिल कर दिया जाता है । जिस प्रकार छेद करने पर वायु का प्रवेश सम्भव है उसी प्रकार भारद्वाजने वायुप्रवेश के लिए छेद न करके गठरीको शिथिल करनेका विधान किया है । गठरी शिथिल

---

१. तैसं० (६.१.९, आपश्रौसू० १०.२४.७-८, बौश्रौसू० ६.१४)।

२. अभित्यं देवं सवितारमूण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवसं रत्नधामभि प्रियं मतिमूर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा सुवः (तैसं० १.२.६)।

३. तैसं० (१.२.६) पर भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठ सं० २८६)।

४. प्रजाभ्यस्त्वा (वासं० ४.२५)। प्राणाय त्वा (तैसं० १.२.६)।

५. शब्रा० (३.२.२.१८, काश्रौसू० ७.७.१८, भारश्रौसू० १०.१६.११)।

६. शब्रा० (३.३.२.१९, काश्रौसू० ७.७.१८)।

७. प्रजास्त्वा अनु प्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि (वासं० ४.२५)।

होनेपर सोमको वायु प्राप्त हो ही सकती है। वायुप्रवेशके लिए एकश्रौतसूत्रने गठरीमें छेद करनेका विधान किया है और इसी उद्देश्य से एक श्रौतसूत्रने गठरीको शिथिल करनेका विधान किया है।

बौश्रौसू० (६.१४) तथा भारश्रौसू (१०.१५.१२) में मन्त्र[1] के साथ यजमान के द्वारा सोम देखनेका विधान प्राप्त है। कात्यायनने इस प्रकारका कोई विधान नहीं किया है। यजमानके द्वारा सोम देखनेका विधान केवल तैत्तिरीय शाखामें प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् छिद्र सहित वस्त्रमें अथवा शिथिल वस्त्रमें बँधे हुए सोमको विक्रेता ग्रहण कर लेता है। भारश्रौसू० (१०.१६.१३) ने यजमानके द्वारा अभिमन्त्रण[2] करने का विधान किया है।

सोम खरीदनेके लिए सोमविक्रेताके साथ व्यवहार

कात्यायंनश्रौसूत्रमें कहा गया है कि कम मूल्यमें सोम खरीदनेके लिए सोमविक्रेतासे पाँच बार प्रार्थना करनी चाहिये। इसके पश्चात् सोम खरीदने लिए सोमविक्रेतासे वार्ता प्रारम्भ होती है—

अध्वर्यु- (सोमविक्रेतासे) क्या सोम राजा बेचना चाहते हो ?

सोमविक्रेता - (अध्वर्युसे) हाँ, बेचना है।

अध्वर्यु - मैं तुमसे सोम मोल लेना चाहता हूँ।

सोमविक्रता - ले लीजिए।

अध्वर्यु - कलासे[3] सोमको खरीदना चाहता हूँ (ऐसी याचना करता है)।

सोमविक्रता - "भूयो वा अतः सोमो राजार्हति" (इसप्रकार कहता है)।

---

१. प्रजास्त्वमनु प्राणिहि प्रजास्त्वामनु प्राणन्तु (तैसं० १.२.६)।
२. एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् (तैसं० ३.१.२.१)।
३. कलया गोरेकदेशेन (शब्रा० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० ९६)। कला तु गोः षोडशो भागः (सरला वृत्ति, पृष्ठसं० २६८)। जंघाया अधोभागः इति रुद्रदत्तः (आपश्रौसू० १०.२५.४)।

अध्वर्यु- "भूय एवात: सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युर्गौर्वै प्रतिधुक्[१] तस्यै[२] शृतं, तस्यै[३] शर, स्तस्यै मस्तु[४] तस्या आतंचनं,[५] तस्यै नवनीतं,[६] तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा,[७] तस्यै[८] वाजिनमिति" ऐसा कहकर शफ[९] से खरीदना चाहता हूँ इस प्रकार सोमविक्रेतासे सोमकी प्रार्थना करता है ।

सोमविक्रेता— (वह पुन:) "भूयो वा अत: सोमो राजार्हति" (कहता है) ।

अध्वर्यु- (जैसे पहले कहा था वैसे ही) भूय: एवात: सोमो राजार्हति (कहकर) [१०]अर्द्धसे खरीदना चाहता हूँ (इस प्रकार कहकर सोमविक्रेताको उत्तर देता है) ।

सोमविक्रेता - (उसने जैसा पहले कहा था, उसी प्रकार अब पुन: कहता है) "भूयो वा अत: सोमो राजार्हति" ।

अध्वर्यु - (जैसे पहले कहा था वैसे ही) "भूय: स्वात: सोमो राजार्हति" कहकर[११] पदसे खरीदना चाहता हूँ । (इस प्रकार चौथी बार सोमविक्रेतासे प्रार्थना करता है ।)

सोमविक्रेता (अबकी बार भी वह पहले जैसा उत्तर देता है) "भूयो वा अत: सोमो राजार्हति ।

अध्वर्यु "भूय: एवात: सोमो राजार्हति (पहले की तरह कहकर) गौसे सोम खरीदना चाहता हूँ (इस प्रकारका कथन पाँचवी बार कहता है) ।

---

१. प्रतिधुक् धारोष्णं पयः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २६८) ।

२. शृतं पक्वं पयः ।

३. शर पक्वं श्रीरस्योपरिसारभूतम् ।

४. दधि भवं सारभूतमुदकं मस्तु ।

५. आतंचनम् दधि ।

६. नवं नीयतेऽनेनेति ।

७. तप्ते पयसि दध्यानयने सति यद् घनीभूतं वस्तु जायते सा आमिक्षा ।

८. द्रव्यात्मकं तत वाजिनम् ।

९. शफः खुरः, पादाग्रस्यार्द्धभागः ।

१०. अर्द्धः गोः अर्द्धांशः ।

११. चतुर्थांशः पत् पादः ।

सोमविक्रेता - ठीक है, सोम बेचा किन्तु यह बताओ कि इससे अतिरिक्त और क्या क्या दोगे ?

अध्वर्यु - यह सोना, यह वस्त्र, यह बकरी, यह गौ, यह बैलकी जोडी और ये तीन गौवें भी मैं तुझे दिये दे रहा हूँ ।[१]

अपर्युक्त विवरण से स्पष्टत: ज्ञात हो जाता है कि क्रमशः कला, शफ, पद, अर्द्ध तथा गौसे पाँच बार मोल किया जाता है और उसके पश्चात् सोना, वस्त्र, बकरी, गौ, बैलकी जोड़ी आदि वस्तुएँ सोमविक्रेताको सोमके मूल्यके रूपमें समर्पित की जाती हैं ।[२]

भारश्रौसू० (१०.१७.८) के अनुसार सोमविक्रेताको दस अथवा अगणित वस्तुएँ समर्पित की जानी चाहिये । आपश्रौसू० (१०.२६.१) का कहना है कि अगणितवस्तुएँ उस यज्ञमें दी जानी चाहिये जिनमें एक सौ बीस गौवें दक्षिणामें दी जाने वाली हों ।

यद्यपि कात्यायनने पाँच वस्तुओंसे मोल चुकानेका विधान किया है किन्तु कतिपय सूत्रोंमें यह संख्या भिन्न भिन्न है । भारश्रौसू० (१०.१७.९) में कहा गया है कि केवल तीन वस्तुओं से सोमक्रय करना चाहिये । सत्याषाढ श्रौतसूत्र (पृष्ठसं० ६३८) में भी पाँच ही वस्तुओंसे मोल करनेका विधान उल्लिखित है किन्तु वहाँ अर्द्धके स्थान पर कुष्ठ का उल्लेख है । वस्तुमें भेद होनेपर क्रम भी भिन्न है । सत्याषाढ के अनुसार पाँच वस्तुओंका क्रम इस प्रकार है—कला, कुष्ठ, शफ, पद, और गौ ।

भारश्रौसू० में कहा गया है कि सोमको खरीदनेके लिए मन्त्र[३] साथ हिरण्यको, मन्त्रके[४] साथ बकरी को समर्पित कर देता है ।[५]

---

१. शब्रा० (३.३.३.१-४, काश्रौसू० ७८.१-१४)

२. शब्रा० (३.३.३.३)।

३. शुक्रं ते शुक्रेण क्रीणामि (तैसं० १.२.७)।

४. तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णस्तस्यास्ते सहस्रपोषं पुष्यन्त्याश्चरमेण पशुना क्रीणामि (तैसं० १.२.७)।

५. भारश्रौसू० (१०.१७.१-४)।

कितनी वस्तुएँ देकर सोम खरीदना चाहिये इस सम्बन्धमें अनेक मतभेद प्राप्त होते हैं । ऐब्रा० (१.५.२७) में कहा गया है कि अप्राप्त यौवना तथा अतिशय बाला गौ को देकर सोम राजा मोल लेना चाहिये । सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६३६) में कहा गया है कि सात गायें तथा इनके अतिरिक्त सोना, कपड़ा और बकरी कुल मिलाकर दस वस्तुएँ समर्पित करनी चाहिये । गोपीनाथके अनुसार सोमक्रयणी, दूसरी धेनु रूप, तीसरी धेनुवत्स रूप, चौथी ऋषभ रूप, पाँचवा शकटको वहन करने वाला बलीवर्दरूप, छठा और सातवाँ मिथुनगौ रूप, ये सात गौवें समर्पित की जानी चाहिये (पृष्ठसं० ६३६) । यज्ञतत्वप्रकाशमें निम्नांकित दस वस्तुएँ गिनाई गई हैं— एक वर्षकी गौ, सुवर्ण, अजा, सवत्सा, धेनु, बैल, सांड, गाडीके बैल, बछड़ा तथा बछिया और वस्त्र ।[1]

कितनी वस्तुओंसे सोम खरीदना चाहिये इस सम्बन्धमें सत्याषाढ श्रौतसूत्रने अनेक मत प्रस्तुत किये हैं— दस गाय और सोना, वस्त्र तथा बकरी इनको मिलाकर कुल तेरह वस्तुएँ देनी चाहिये किन्तु यदि अभाव हो तो केवल चार द्रव्योंसे सोम खरीद लेना चाहिये । एक मत यह भी है कि चार गाय और सोना वस्त्र और अजा ये तीनों इस प्रकार कुल सात वस्तुएँ देकर सोम खरीद लेना चाहिये । यदि दक्षिणा में इक्कीस गौवें दी जाने वाली हों तो केवल एक ही गौ देकर सोम खरीदा जाना चाहिये ।[2] आपश्रौसू० के अनुसार यदि दक्षिणा में सर्वस्व दिया जाने वाला है तो चौबीस वस्तुओं से सोम खरीदना चाहिये । गोपीनाथ के अनुसार चौबीस वस्तुओंमें इक्कीस गौवें तथा हिरण्य, अजा, वस्त्र सम्मिलित हैं (पृष्ठसं० ६३८) ।

आापश्रौसू० (१०.२६.१) में कहा गया है कि जिस यज्ञमें एक सौ बीस गौवें दी जाने वाली हों उसमें तीन ही गौवें दी जानी चाहिये और जिस यज्ञमें अनिर्दिष्ट दक्षिणा हो उस यज्ञमें सोम खरीदनेके लिए अनिर्दिष्ट गौवें दी जानी चाहिये । जिस यज्ञमें साठ गौवें दक्षिणामें दी जाने वाली हो उसमें तीन गौवें दी जानी चाहिये । जिस यज्ञमें एक सहस्त्र गौवें या सर्वस्व दक्षिणामें दिया जाने वाला हो उसमें सत्ताईस गौवें और इसके साथ सोना अजा, वस्त्र भी दिये जाने चाहिये (आपश्रौसू० १०.२६.४-७) ।

---

१. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ६१, शब्रा० ३.३.३.१८) ।

२. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६३६-६३८) ।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि सोम खरीदनेके बदले अनेक वस्तुएँ दी जा सकती हैं। एक बात ध्यान देने योग्य है कि सूत्रकारोंने दक्षिणा और दी जाने वाली वस्तुओंमें सम्बन्ध स्थापित किया है। अधिक दक्षिणा हाने पर सोम विक्रेताको अधिक वस्तुएँ देनेका विधान किया है और यदि दक्षिणा कम दी जाने वाली हों तो यह भी आदेश दिया है कि सोमविक्रेताको कम ही वस्तुएँ ही जानी चाहिये। दक्षिणाके परिमाणपर वस्तुएँ देनेका विधान व्यावहारिक भी प्रतीत होता है क्योंकि कम दक्षिणा देने वाला यजमान सोमविक्रताको अधिक वस्तुएँ देनेका संकल्प कर ही नहीं सकता।

हिरण्यालम्भपूर्वक वाचन

पाँच बार मोल करनेके पश्चात् "चन्द्रं ते, वस्त्रं ते, छागा ते, धेनुस्ते, मिथुनौ ते गावौ, तिस्रस्तेन" कहने पर अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र[१] कहलाकर हिरण्यका स्पर्श करता है।[२]

सोमविक्रेताको लुभाना

एक विचित्र प्रथा यह है कि सोमविक्रेताके हाथमें सोना देते समय उसके द्वारा स्वीकार करनेपर भी अध्वर्यु मन्त्र[३] पूर्वक उसे सुवर्ण न देकर सोमविक्रेताको निराश करके अध्वर्यु[४] मन्त्र पढकर वह सोना यजमानके पास रख देता है।[५] सोना देते हुए भी न देकर सोमविक्रेताको प्रलोभित किया जाता है।

सोमविक्रेताको हिरण्य देना

अध्वर्युसे सुवर्ण प्राप्त करके यजमान "लो यह सोना है" ऐसा कहकर विक्रेताको सोना समर्पित करता है।[६] भारद्वाजने मन्त्रका विधान किया है, जो पहले कहा जा चुका है।

---

१. शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि (वासं० ४.२६)।
२. काश्रौसू० (७८.१५, शब्रा. ३.३.३.६)।
३. सग्मे ते गोः (वासं० ४.२६)।
४. अस्मे ते चन्द्राणि (वासं० ४.२६)।
५. काश्रौसू० (७८.१६ शब्रा० ३.३.३.७, गिरिधरभाष्य, पृष्ठसं० १८८)।
६. काश्रौसू० (७८.१८, शब्रा० ३.३.३.७)।

अजाका स्पर्श करके यजमान द्वारा मन्त्रवाचन

पश्चिमाभिमुखी अजाका स्पर्श करके अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र[१] कहलाता है[२]

बकरी देकर सोम लेनेपर यजमानका वैकल्पिक उत्थापन

स्पर्श करनेके अनन्तर मन्त्र[३] से बकरीको बाएँ हाथसे देकर दाएँ हाथसे सोम लेता है। इस अवसरपर यजमान चाहे तो उठकर खड़ा हो सकता है।[४] भाश्रौसू० (१०.१८.५) के अनुसार यजमान उपर्युक्त मन्त्रसे सोमका अभिमन्त्रण करता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्टत: प्रतीत होता है कि माध्यन्दिन संहिताके केवल दो मन्त्रोंसे हिरण्य और अजाका स्पर्श करके एक ही मन्त्रके द्वारा अजाको देता हुआ सोम खरीदता है अन्य वस्तुएँ संहिताके मन्त्रोंको न कहकर ब्राह्मण वचनके द्वारा देकर सोम खरीदता है। उपर्युक्त प्रक्रिया कात्यायन और शब्रा० के अनुसार है किन्तु अन्य सूत्रोंने भी खरीदनेका विधान किया है। अन्य वस्तुओंके लिए उसने किसी ब्राह्मणवचन का भी आश्रय नहीं लिया है केवल सूत्रोंका उल्लेख कर दिया कि केवल दस वस्तुएँ देकर सोम खरीद लेना चाहिये। सत्याषाढ श्रौतसूत्रने भी यद्यपि दो मन्त्रोंके द्वारा हिरण्य और अजा के बदले सोम खरीदनेका विधान किया है तथापि उसने स्पष्टरूपसे यह विधान किया है कि जो वस्तु यजमान देना चाहे वह वस्तु "सोमं क्रीणामि" कहकर दी जा सकती है। साथ ही विकल्पके रूपमें यह भी कहा है कि सोमं ते क्रीणामि मन्त्र के स्थानपर "सोमं महान्तं बह्वर्धं शोभमानम्" मन्त्र कहकर दी जाने वाली वस्तुओंको यजमान दे सकता है (पृष्ठसं० ६३८)। गोपीनाथ के अनुसार "सोमं ते क्रीणामि ऊर्जस्वन्तं पयस्वन्तं वीर्यानन्तमभिमातिषाहं सोमं महान्तं बह्वर्धं शोभमानम्" इन दोनों मन्त्रोंसे दी जाने वाली वस्तुओं का निर्देश करके सोमविक्रेतासे सोम खरीदा जाना चाहिये (पृष्ठसं० ६३८)।

---

१. तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्ण: परमेण क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् (वासं० ४.२६)।

२. काश्रौसू० (७८.१९, शुब्रा० ३.३.३८)।

३. मित्रो न एहि सुमित्रधः (वासं० ४.२७)। आपश्रौस० (१०.२५८) तथा भारश्रौसू० (१०.१७.४) के अनुसार तपसस्तनूरसि मन्त्रसे बकरीको देकर सोम खरीदा जाता है।

४. शब्रा० (३.३.३९, काश्रौसू० ७८.२०)।

सत्याषाढोक्त यह विधान इसलिए महत्वपूर्ण है कि इससे जिन वस्तुओंको देनेका विधान तो सूत्रकारोंने कर दिया किन्तु मन्त्रोंका उल्लेख नहीं किया उन वस्तुओं को उक्त मन्त्रके द्वारा यजमान उन उन वस्तुओंको देकर सोमविक्रतासे सोम खरीद सकता है। तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओंको देनेका मन्त्र सूत्रकारोंने लिखा है उन वस्तुओंको उक्त मन्त्रके द्वारा यजमान उन उन वस्तुओंको देनेका अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टिसे सत्याषाढ श्रौतसूत्रका उक्त विधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इच्छित वस्तुओंको देनेके अवसरपर यजमान संहितागत मन्त्रके न प्राप्त होनेपर उपर्युक्त तीन मन्त्रोंमें से किसी एक मन्त्रके द्वारा सोमविक्रेतासे उन वस्तुओं देकर सोम खरीद सकता है।

हम देख चुके हैं कि यजमानने "मित्रो न एहि" मन्त्रके द्वारा बाएँ हाथसे बकरीको देकर दाएँ हाथसे सोमविक्रेतासे सोम ग्रहण कर लिया है।

सोमको रखना

यजमानके दक्षिणी जांघपर फैले हुए वस्त्रके ऊपर अध्वर्यु मन्त्र[1] पढ़कर सोमको स्थापित करता है। भारद्वाजने सोमको गोदमें रखनेका विधान किया है (भारश्रौसू० १०.१८.६)।

कात्यायनने सोम खरीदनेके तत्काल ही यजमानकी जांघपर सोम रखनेका विधान किया है किन्तु भारद्वाजने इस अवसरपर अनेक कृत्योंका विधान किया है। सोम खरीदने के पश्चात् अध्वर्यु सोम लेकर मन्त्र[2] पढकर चलता है। आपश्रौसू० (१०.२६.१६) तथा कासं० (२४.६) का कहना है कि यदि सोमविक्रेता कोई बखेड़ा करे, सोम न दे तो उससे बलपूर्वक सोम ले लेना चाहिये। इसके पश्चात् अध्वर्युसे यजमान पूछता है क्या तुम सोम वहन करनेके योग्य हो? अध्वर्यु कहता है हाँ हम योग्य हैं। तब यजमान पूछता है— कैसे योग्य हो? तब अध्वर्यु मन्त्र[3] पाठ करता है। इसके पश्चात् यजमान सोमक्रयणीकी प्रदक्षिणा करके अनुवाकके[4] शेष

---

१. इन्द्रस्योरुमा विश दक्षिणमुशन्नुशन्तं स्योनः स्योनम् (वासं० ४.२७)।

२ स्वजा असि स्वभूरस्यस्मै कर्मणे जात ऋतेन त्वा गृह्णामृतेन नः पाहि (तैसं० ६.१.१०.४)।

३. विष्णुं स्तोममकृण्महि बृहतीछन्दांस्युक्ता यजूंषि वि पर्वता अजिहत सुतरुणा अपो वचारिषम् (तैसं०)

४. रुद्रस्त्वा वर्तयतु (तैसं० १.२.१.२)।

भागका पाठ करता है । अध्वर्यु उस गायको दूसरी गायके बदलेमें मोल लेकर उसे यजमानकी गौशालामें भेजता है ।[१]

यजमानका जप

सोमक्रयणीको देखते हुए यजमान मन्त्र[२] का पाठ करता है ।[३]

उष्णीषापाकरण

यजमान अपने सिरसे उष्णीष उतारता है और उसकी पत्नी अपना सिर खोल लेती हैं ।[४]

सोमविक्रेताकी पीठपर ताडन

इस अवसरपर यह बडा रोचक कृत्य किया जाता है कि सोमविक्रेताके पाससे हाथसे हठात् हिरण्य लेकर चित्रित बाँसके डण्डेसे उसकी पीठका ताडन किया जाता है ।[५] भारश्रौसू० में ऊनकी बुनी हुई रज्जुका उल्लेख है, जिसे सोमविक्रताके ताडनमें प्रयुक्त किया गया है, इस ऊनकी बुनी हुई रज्जुके लिए अध्वर्यु मन्त्रका पाठ करके हिरण्यके बदलेमें एक ऊनकी गुच्छी देता है, जिससे यजमान दशापवित्र और नाभि भी बनाता है तथा उसी ऊनकी गुच्छी से रस्सी भी बनाता है ।[६]

ऊनकी रज्जुके अतिरिक्त सोमविक्रेताको मिट्टीके ढेले अथवा लकडी से पीटनेका भी विधान प्राप्त होता है (भारश्रौसू० १०.१८.१४) । गोपीनाथने चमड़ेकी रज्जुका उल्लेख किया है (सत्याषाढश्रौसू० ७.३) । देवयाज्ञिकके अनुसार

---

१. भारश्रौसू० (१०.१८.१,७,८-१२)।

२. स्वान भ्राजांघारे बम्भारे हस्त सुहस्त कुशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन् (वासं० ४.२७)।

३. शब्रा० (३.३.३.२१,काश्रौसू० ७८.२२)।

४. काश्रौसू० (७८.२३-२४)। भारश्रौसू० (१०.१८.२) ने उत्तरीय वस्त्र उतारनेका उल्लेख किया है। यद्यपि कात्यायन और भारद्वाजने यह क्रिया अमन्त्रक ही कही है किन्तु आपश्रौसू० (१०.२७.१) ने वयः सुपर्णा मन्त्रका उल्लेख किया है। रुद्रदत्तके अनुसार उष्णीश किसी कौत्स गोत्रके ब्राह्मण अथवा किसी अन्य व्यक्तिको दे देनी चाहिये।

५. काश्रौसू० (७८.२५)।

६. भारश्रौसू० (१०.१७.१४-१५,तथा १८)।

विक्रेताको पीटना भी चाहिये अथवा नहीं भी पीटना चाहिये (पृष्ठसं० २५७)। इसी अवसरपर मैत्रावरुणको दण्ड देनेका विधान किया गया है। भारश्रौसू० (१०.१८.३-४) तथा देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २५७) में कहा गया है विकल्पके रूपमें अध्वर्यु मैत्रावरुणको दीक्षित यजमानका दण्ड दे अथवा अग्निषोमीय के समय ही अथवा सोमसवनके पहले दिन ही दण्ड मैत्रावरुणको समर्पित करे।

यजमानके द्वारा सोमकी पोटलीका ग्रहण तथा मन्त्र वाचन

सोमविक्रेताको पीटकर भगा देनेके बाद यजमान सोमकी पोटली हाथसे ग्रहण करके सोमको ग्रहण किये हुए ही मन्त्रका[१] पाठ करता है।[२]

सोमकी पोटली सिरपर धारण करके यजमानका उठना

मन्त्र पाठ करनेके अनन्तर यजमान अपने सिरपर अपना हाथ उलटकर हाथके ऊपर सोमकी पोटली रखकर मन्त्रके[३] साथ उठ खड़ा होता है।[४]

हविर्द्धानशकटके प्रति गमन

सोमक्रयदेशके दक्षिणकी ओर अवस्थित, चारों ओरसे आच्छादित, युग-योक्त्र बैलों आदिसे युक्त, धुले हुए शकटको अभिलक्ष्य करके यजमान मन्त्र[५] का पाठ करके उसके सम्मुख जाता है। इस गाड़ीमें आगे एक विशेष लकडी लगी हुई रहती है, जिसे ईषा कहते हैं, सामान्य बोलचालकी भाषामें यह बम नामसे पुकारा जाता है। जुआ बाँधनेमें उसका प्रयोग होता है। इस ईषाके दोनों ओर दो दो लकडियाँ लगी रहती है, जिसके बीचका भाग प्रउग कहलाता है, इस प्रउग अर्थात् गाड़ीके बीचके भागके ऊपर लकड़ीके दो पटरे बिछे होते हैं।[६] यद्यपि भारद्वाज (१०.१९.२) ने इस क्रियाका विधान किया है किन्तु तैसं० के अनुसार उसने

---

१. परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज (वासं० ४.२८)।

२. काश्रौसू० (७.९.१, शब्रा० ३.३.३.१३)।

३. उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां अनु (वासं० ४.२८)। तैसं० (१.२.८.१)।

४. काश्रौसू० (७.९.३, शब्रा० ३.३.३.१४, भारश्रौसू० १०.१९.१)।

५. प्रतिपन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वसु (वासं० ४.२९) उर्वन्तरिक्षमन्विहि (तैसं० १.२.८.१)।

६. काश्रौसू० (७.९.४, शब्रा० ३.३.३.१५, सरलावृत्ति पृष्ठसं० २७१, भारश्रौसू० १०.१९.२)।

माध्यन्दिन शाखासे भिन्न मन्त्र का विनियोग किया है । केवल मन्त्र भेद है अन्यथा क्रियामें कोई असमानता नहीं है ।

कृष्णाजिनास्तरण

मन्त्रके[१] साथ चारों ओरसे घिरे हुए शकटके नीड (मध्य स्थान) में काले हरिणका चर्म इस प्रकार बिछा दिया जाता है कि चर्मका गर्दन वाला भाग पूर्वकी ओर तथा बाल वाला भाग ऊपरकी ओर हो जाता है ।[२]

सोमकी स्थापना

बिछे हुए उस चर्मपर मन्त्रके[३] द्वारा लाया गया सोम रख दिया जाता है ।[४]

सोमका स्पर्श करके वाचन करना

किसके द्वारा सोम स्पर्श किया जाना चाहिये इस सम्बन्धमें सायण और देवयाज्ञिकने भिन्न भिन्न व्यक्तियोंका उल्लेख किया है । सायणके अनुसार अध्वर्युको तथा देवयाज्ञिक के अनुसार यजमानको सोमका स्पर्श करना चाहिये । पद्धतिकारके अनुसार इस अवसरपर अध्वर्युको यजमानके प्रति "सोममालभस्व"

---

१. अदित्यास्त्वगसि (वासं० ४.३०) । अदित्याः सदोऽसि (तैसं० १.२८.१) ।

२. शब्रा० (३.३.४.१, काश्रौसू० ७.९.५, भारश्रौसू० १०.१९.३, बौश्रौसू० ६.१५, आपश्रौसू० १०.२७.१०) ।

३. अदित्यै सद आसीद (वासं० ४.३०) । भारश्रौसू० (१०.१९.४) ने तथा आपश्रौसू० (१०.२७.१०) ने जो अदित्याः सद आसीदास्तभ्नाद्द्यामृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्या आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि (तैसं० १.२८) मन्त्र का विनियोग सोमके रखनेमें किया है उस मन्त्रके भट्टभास्कर तथा बौश्रौसू० (६.१५) तथा सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६४५) ने दो विभाग कर दिये हैं तथा इस दूसरे अस्तभ्नाद् (तैसं० १.२८) मन्त्रका सोम राजाके अभिमन्त्रणमें विनियोग किया है । विकल्पके रूपमें "अस्तभ्नाद्" मन्त्रका विनियोग सोमके रखनेसे सम्बन्धित कृत्यमें किया गया है साथ ही इस अवसरपर गोपीनाथने यह टिप्पणी भी कि है कोई कोई आचार्य वारुणी ऋचासे भी सोम रखनेका विधान प्रस्तुत करते हैं ।

४. काश्रौसू० (७.९.६, शब्रा० ३.३.४.१, भारश्रौसू० १०.१९.४, आपश्रौसू० १०.१७.१०, बौश्रौसू० ६.१५, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ६४५) ।

कहना चाहिये (पृष्ठसं० २५८)। कात्यायनने इस अवसरपर मन्त्र[1] का विधान किया है (पृष्ठसं० २७१)।

सोमका वेष्टन

यजमानके द्वारा सोमका स्पर्श करनेके अनन्तर तथा अध्वर्यु द्वारा मन्त्र वाचन किये जानेपर मन्त्रसे[2] सोमको पर्याणहन वस्त्रसे भली प्रकार चारों ओरसे आच्छादित करनेके उपरान्त आसनके लिए प्रयुक्त हुए कृष्णाजिनके मध्यमें मन्त्रके[3] द्वारा एक कृष्णाजिनको ध्वजस्थानीय शकटके पूर्वभागमें युगके समीपमें उठे हुए एक डण्डेसे बाँधा जाता है।[4] इस अवसरपर कहा गया है कि यदि एक ही कृष्णाजिन हो तो उसी की ग्रीवा काटकर उस स्थानपर लगा देनी चाहिये।[5]

गाड़ी चलानेकी विधि

सर्वप्रथम मन्त्र[6] के साथ दोनों बैलोंको शकटके समीप लाया जाता है और इसके उपरान्त पहिएकी नाभिको धुरीके साथ स्थिर करनेके लिए धुरीके दोनों किनारों पर लगी हुई कीलका स्पर्श करके गाड़ीके आगेका भाग मन्त्रके[7] द्वारा उठाया जाता है। तदुपरान्त मन्त्र[8] पढकर बाँसकी टेक लगाकर आगेके भागको

---

१. अस्तभ्नाद्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरीमाणं पृथिव्याः। आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि (वासं० ४.३०)। उक्त मन्त्रका विनियोग सत्याषाढ श्रौसू० (पृष्ठसं० ६४५) में सोमके अभिमन्त्रण और सोमके आसादन दोनों कृत्योंमें विकल्पके रूपमें किया गया है।

२. वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु। हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ (वासं० ४.३१)।

३. सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्। यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता (वासं० ४.३२)। तैसं० (१.२.८) के अनुसार उक्त कृत्यमें निम्नांकित मन्त्रका विनियोग भारश्रौसू० ने किया है— उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।

४. काश्रौसू० (७.९.८)।

५. काश्रौसू० (७.९.९)।

६. उस्रावेतं धूर्षाहौ (तैसं० १.२.८.२)। वासं० (४.३३) का यह मन्त्र बैलोंको जोतनेमें विनियुक्त है।

७. वारुणमसि (मैसं० १.२.६, कासं० २.७)।

८. वरुणस्त्वोतभ्नातु।

खड़ा कर दिया जाता है । इसके अनन्तर मन्त्र[१] पढकर दाहिने बैलके गलेमें जुएकी रस्सी डाली जाती है और फिर मन्त्र[२] पढकर जुएका डण्डा बैलके गलेमें डाला जाता है इसके पश्चात् मन्त्र[३] पढकर बैल जोते जाते हैं ।[४] बैल जोतनेके लिए माध्यन्दिन संहितामें भिन्न मन्त्र है[५] जिसका विनियोग उक्त कृत्यके लिए कात्यायनने अपने सूत्रमें किया है[६] साथ ही यह भी कहा गया है कि एक साथ बैल जुतना असम्भव होनेसे पहले दक्षिण बैलको जोतना चाहिये फिर बाएँ बैलको जोतना चाहिये किन्तु दोनों बैलोंको क्रमशः जोतते समय मन्त्रकी आवृत्ति की जाती है अर्थात् उक्त मन्त्र दोनों बैलोके जोतते समय दो बार पढ़ा जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २५८) ।

पलाशशाखासे बैलोंको हाँकना

गाड़ीके बम् पर लगे हुए दो त्रिभुजाकार पटरों (प्रउग) के बीचमें सुब्रह्मण्य पलाशकी टहनी लेकर दो काले बैलोंसे जुती हुई गाडीको हाँकता हैं ।[७] शब्रा० में कहा गया है कि यदि दोनोंमें से एक बैल भीं काला हो तो समझ लेना चाहिये कि वर्षा अच्छी होगी ।[८]

प्रैषकथन

कात्यायनने इस अवसरपर कहा है कि शकटके पीछेके भागमें जाकर शकटके पीछेके भाग (अपालम्ब[९]) को छूकर अध्वर्युको या तो "सोमाय क्रीताय"

---

१. वारुणमसि (मैसं० १.२.६, कासं० २.७) ।

२. वरुणस्य स्कम्भनमसि (तैसं० १.२.८) ।

३. प्रत्यस्तो वरुणस्य पाशः (तैसं० १.२.८) ।

४. भारश्रौसू० (१०.१९.७-१३, आपश्रौसू० १०.२८.१, बौश्रौसू० ६.१५) ।

५. उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ । स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् (वासं० ४.३३) ।

६. काश्रौसू० (७.९.१०, शब्रा० ३.३.४.१२) ।

७. शब्रा० (३.३.४.९-१०, काश्रौसू० ७.९.१२, भारश्रौसू० १०.१९.१५) ।

८. शब्रा० (३.३.४.११) ।

९. अध्वर्युः अनसः पश्चात् भागे आगत्य तत्र पश्चाद्भागे रज्जुरेका बद्धा वर्तते । सा च यदा अनो निम्नदेशेषु शीघ्रं गच्छति तदा तदनो धारयितुमुपयुज्यते । तस्या अपालम्बमिति नाम । अप पश्चाद्भागे आलम्बनमिति तदर्थः (सरलावृत्ति पृष्ठसं० २७२) । अपालम्बशब्देन पश्चादाबद्धा रज्जुरभिधीयते ।ययाऽवतारेऽनः प्रवर्त्यमानं

कहना चाहिये अथवा "पर्युह्यमाणाय" कहना चाहिये (७.९.९३)। शब्रा० (३.३.४.१३) ने भी यही विधान किया है। भारश्रौसू० (१०.१९.१६) में भिन्न प्रैष कहा गया है— "सोमाय राज्ञे क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहि। ब्रह्मन् वाचं यच्छ। सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वय"। ऐब्रा. (९.३.१३) में दोनों प्रैष एक हो गए हैं— सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहीत्याध्वर्युः" अत यहाँ एक ही प्रैष है विकल्पके रूपमें किसी दूसरेका विधान ऐब्रा० ने नहीं किया है।

भारश्रौसू० (१०.१९.१६) में कहे गए प्रैषके अनन्तर होता ऋग्वेदकी ऋचाओंका[1] पाठ करना प्रारम्भ कर देता है (ऐब्रा० १.३.१३)। इस अवसरपर भारश्रौसू० (१०.२०.१-३) में कहा गया है कि ज्यों ही होता तीन बार प्रथम मन्त्र पढ चुके त्यों ही अध्वर्युको पूर्वकी ओर बढकर दाईं ओर घूमकर प्र च्यवस्व भुवस्पते (तैसं० १.२.९.१) मन्त्र पढना चाहिये। आपश्रौसू० (१०.२९.१-३) ने उपर्युक्त मन्त्रके दो विभाग करके कहा है कि (यह द्वितीय) मन्त्र "श्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य नो गृहे देवैः संस्कृतं यजमानस्य स्वस्त्ययन्यस्यसि (तैसं० १.२.९.१)

विधार्यते इति कर्कः। पश्चात् भागेन लम्बमानं काष्ठमपालम्बशब्देनोच्यते। येनोर्ध्वप्रदेशे प्रचलतः शकटस्य पर्यावर्तनं वार्यते इति हरिस्वामिनः (शब्रा० पृष्ठसं० १११ पर टिप्पणी)।

१. भद्रादभिः श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुर एता ते अस्तु। अथे मवस्य वर आ पृथिव्या आरे शत्रून् कृणुहि सर्ववीरः (आश्वश्रौसू० ४.४.२, तैसं० १.२.३.३)। सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे। ताभिर्नो अविता भव॥ इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि। सोम त्वं नो वृधे भव॥ सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः। सुमृडीको न आ विश (ऋसं० १.९१.९-११, आश्वश्रौसू० ४.४.४)। सायणके अनुसार इन तीनों ऋचाओंका पाठ होताको सोम लानेके समय करना चाहिये (ऐब्रा० १.३.१३ पर सायण भाष्य)। सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः। किल्बिषस्पृत पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय (ऋसं० १०.७१.१०)। आगन् देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्। स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु (ऋसं० ४.५३.७)। या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्। गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् (ऋसं० १.९१.१९)। इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि। ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम (ऋसं० ८.४२.३)। ऐब्रा० (१.३.१३) पर सायणने कहा है कि पहली और अन्तिम ऋचाको तीन-तीन बार कहना चाहिये (तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्) इस प्रकार ये ही आठ मन्त्र बारह हो जाते हैं।

पढकर अध्वर्युको सोमका अभिमन्त्रण करना चाहिये । भारद्वाजने प्र च्यवस्व से लेकर स्वस्त्ययन्यस्य तक एक मन्त्र माना है किन्तु आपस्तम्बने उपर्युक्त मन्त्रके दो विभाग किये । पहला मन्त्र प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि मा त्वा परिपरी विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृका अघायवो मा गन्धर्वो विश्वावसुरा दधत् यह और दूसरा मन्त्र श्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य नो गृहे देवैः संस्कृतं यजमानस्य स्वस्त्ययन्यसि यह मन्त्र ।

"प्रच्यवस्व" मन्त्र पढनेके उपरान्त अध्वर्यु और यजमान दोनोंको दक्षिण की ओर से अथवा उत्तरकी ओरसे राजा सोमकी ओर बढ जाना चाहिये, इस अवसरपर मन्त्र[१] पढा जाता है ।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि भारद्वाजके अनुसार प्रैष कथन होनेके अवसरपर ही दो क्रियाएँ की जाती है— पूर्वकी ओर आगे बढकर दाईं ओर घूमना तथा यजमान और अध्वर्युका उत्तरकी ओर बढ जाना । आपस्तम्बके अनुसार-तीन क्रियाएँ की जाती है- दाईं ओर घूमना, सोमका अभिमन्त्रण करना तथा दक्षिणकी ओर से अथवा उत्तरकी ओर से अध्वर्यु और यजमानका सोमकी ओर बढना ।

कात्यायनश्रौतसूत्र (७.९.१६) के अनुसार राजा सोमकी ओर बढते समय अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र[२] कहलाता है ।

सुब्रह्मण्याह्वान

इस अवसरपर अध्वर्यु शालाकी ओर जाते हुए सुब्रह्मण्याका[३] आवाहन[४]

---

१. अपि पन्थामगस्महि स्वस्तिगामनेहसं येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु (तैसं० १.२.९.१)।

२. भद्रो मे असि प्रच्यवस्य भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि । मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृका अघायवो विदन् । श्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम् (वासं० ४.३४)। किञ्चित् पाठभेदके साथ यही मन्त्र तैसं० (१.२.९.१)में भी प्राप्त होता है जिसका विनियोग कात्यायनके अनुसार भारद्वाजने किया है ।

३. ब्रह्म देवानामाह्वानसाधनो मन्त्रः,शोभनं ब्रह्म सुब्रह्म तदर्हतीति सुब्रह्मण्या काचन देवता (शब्रा० ३.३.४.१७)।

४. सुब्रह्मण्योम् सुब्रह्मण्योम् सुब्रह्मण्योम् इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण त्र्यहे

करता है ।[१]

अग्निषोमीय पशुको शकटके समीपमें लाना

सुब्रह्मण्याह्वान के उपरान्त प्रतिप्रस्थाता शालाके पुरोदेशमें अग्निषोमीय पशु लाकर शकटके समीपमें उसके कान पकड़कर खड़ा हो जाता है ।[२] इसके पश्चात् अध्वर्यु यजमानको "अग्निषोमीयं पशुपालभस्व" कहता है,[३] तदुपरान्त यजमान मन्त्रका[४] पाठ करके अग्निषोमीय पशुका स्पर्श करता है ।[५] । कात्यायन श्रौसू० (७.९.२०) में कहा गया है कि यदि अग्निषोमीय पुश वनमें विचरने गया हो तो मन्त्रका पाठ मात्र कर लेना चाहिये, उसका स्पर्श नहीं । भारश्रौसू० (१०.२०.४) तथा सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६४९) के अनुसार यजमान उस अग्निषोमीय पशुका स्पर्श न करके ईक्षण करता है ।

कात्यायनश्रौतसूत्र (७.९.२१) में किन्हीं आचार्योंका यह मत दिया गया है कि जब पशु वनमें न गया हो तब पशुकी सन्निधिमें ही आहवनीयसे उल्मुक लेनेके पश्चात् यजमानको पशुका स्पर्श करके उक्त मन्त्रका वाचन करना चाहिये । सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६४८) में कहा गया है अध्वर्यु अथवा आग्नीध्रको आहवनीयमें बड़ी बड़ी इध्म (यज्ञाग्निमें काम आने वाली लकड़ियों) को फेंकना चाहिये । इस पर गोपीनाथने टिप्पणी की है कि जब तक राजा सोम आसन्दीपर स्थापित नहीं हो जाता है तब तक आहवनीय, सभ्य तथा अवसथ्य अग्नियाँ प्रज्वलित रहनी चाहिये, साथ ही यह भी कहा है यदि अग्नि प्रज्वलित नहीं रहती तो व्यतिक्रम होनेपर प्रायश्चित्त के लिए होम करना चाहिये (पृष्ठसं० ६४८) ।

सुत्यामागच्छ मघवन्देवा ब्रह्माण आगच्छता आगच्छता आगच्छत (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २५९-२६०)। सरलावत्तिमें कहा गया है कि यदि तीन दिन व्यतीत होने पर चौथे दिन सुत्या हो तो चतुरहे सुत्यामागच्छ इति ऐसा कहा जाना चाहिये (पृष्ठसं० २७२)।

१. काश्रौसू० (७.९.१७, शब्रा० ३.३.४.१७)।

२. काश्रौसू० (७.९.१८, शब्रा० ३.३.४.२१)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६०)।

४. नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत। दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत (वासं० ४.३५)।

५. काश्रौसू० (७.९.१९, शब्रा० ३.३.४.२४)।

यद्यपि अग्निषोमीय पशु एवं निरूढपशुके एक ही लक्षण हैं किन्तु प्रसंगतः कुछ लक्षणोंका उल्लेख सूत्रकारोंने इस प्रकार किया है— सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ६४९) में कहा गया है कि वह सम्पूर्ण अंगों से युक्त होना चाहिये, गोपीनाथके अनुसार अग्निषोमीय पशु माता-पिता-भाई-बहिनसे युक्त हो तथा शृंगरहित, श्मश्रुसे युक्त, मांसल, चिक्कण अंगो से युक्त, कृष्णश्वेत अथवा लोहितश्वेत वर्णवाला होना चाहिये। आपस्तम्बने लोहितसारंग अथवा कृष्णसारंग पशुका उल्लेख किया है। शब्रा० (३.३.४.२३) पर सायणने सारंगका अर्थ शबलवर्ण किया है। शब्रा० ने अग्निषोमीय पशुको दो रूपों वाला बताया है (शब्रा० ३.३.४.२३)। कात्यायनश्रौसू० (७.९.१८) के अनुसार यदि कृष्णसारंग प्राप्त न हो तो उसके अभावमें लोहितसारंग लेना चाहिये।

शालाके समीपमें शकटको खड़ा करना

शालाके समीपमें शकटको पूर्व या उत्तरकी ओर स्थापित करके शकटाग्रको उत्तम्भन[1] काष्ठसे रोकता है। इस अवसरपर मन्त्र[2] पढा जाता है। भारद्वाजने कहा है कि टेक लगानेसे पहले अध्वर्युको मन्त्र[3] से गाडीका अग्रभाग उठाकर गाडी (शकट) इस प्रकार खड़ी करनी चाहिये कि प्राचीनवंश उसके उत्तरकी ओर हो (१०.२०.१०-११)। पंडित ज्वालाप्रसादने अपने मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० १५६) में कहा है कि प्राचीनवंशको पूर्वमुख करके खड़ा किया जा सकता है। गिरिधरभाष्यमें शकटको उत्तरकी ओर मुख करके खड़ा करनेका विधान है (पृष्ठसं० १९६)।

शम्याको निकालना

मन्त्रके[4] साथ शम्या ऊपरकी ओर निकाल ली जाती है।[5] इसके अतिरिक्त

---

१. उत्तम्भनकाष्ठम् शकटाग्राधारकाष्ठम् (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ११६)। उतभ्यते शकटमुखाग्रमुन्नतत्वेन स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम् (वासं० ४.३६ पर महीधरभाष्य)।

२. वरुणस्योत्तम्भनमसि (वासं० ४.३६)।

३. काश्रौसू० (७.९.२२., शुब्रा० ३.३.४.२५)।

४. वरुणमसि (मैसं० १.२.६)।

५. शब्रा० (३.३.४.२५, काश्रौसू० ७.९.२३)।

मन्त्रके[१] साथ क्रमशः उसकी जोत ढीली की जाती है, फिर जोतका डण्डा निकाला जाता है और अभिधानी (जुएकी रस्सी) ढीली की जाती है[२]। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ६५०) ने दोनों बैलोंको एक एक करके खोलनेका विधान किया है।

आसन्दीको उठाना

अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा और उन्नेता चारों मिलकर उदुम्बर (गूलर, पिलखन अथवा पीपल) की लकडी से निर्मित, एक हाथ लम्बी-चौडी, मूंजकी रस्सीसे बुनी हुई, नाभितक ऊँचे पादवाली, सोमराजाकी आसन्दी[३] को शकटके समीपमें लाकर उत्तरकी ओर स्थापित करते हैं।[४]

आसन्दीका स्पर्श, उसपर कृष्णाजिनस्तरण तथा सोमनिधान

मन्त्र[५] पढकर अध्वर्यु आसन्दीको हाथसे स्पर्श करता है, फिर मन्त्र[६] पढकर आसन्दीपर पूर्वाभिमुख कृष्णाजिन बिछाता है और तत्पश्चात् मन्त्र[७] पढकर आसन्दीपर बिछे हुए मृगचर्मपर सोम रखता है।[८]

भारद्वाजने आसन्दीपर सोम रक्खे जानेके पश्चात् सोम सहित आसन्दीको उठानेका विधान किया है, जबकि कात्यायनके अनुसार आसन्दीको पहले उठाकर शकटके समीपमें उत्तरकी ओर रक्खा जाता है और फिर उसका स्पर्श, कृष्णाजिनका आस्तरण और फिर सोमको रक्खा जाता है।

---

१. वारुणमसि (मैसं० १.२.६)। वरुणस्य स्कम्भनमसि (तैसं० १.२.९.२)। उन्मुक्तो पाशः (तैसं० १.२.९)।

२. भारश्रौसू० (१०.१९.६-१३)।

३. आसन्दी मञ्च विशेषः (गोपीनाथ, पृष्ठसं० ६५०)।

४. शब्रा० (३.३.४.२६-२८, काश्रौसू० ७.९.२४, भारश्रौसू० १०.२०.८)।

५. वरुणस्य ऋतसदन्यसि (वासं० ४.३६)।

६. वरुणस्य ऋतसदनमसि (वासं० ४.३६)।

७. वरुणस्य ऋतसदनमा सीद (वासं० ४.३६)।

८. काश्रौसू० (७.९.२५.२७, शब्रा० ३.३.४.२९)।

आसन्दीस्थसोमका शालामें प्रवेश

शकटके समीपमें उत्तरकी ओर स्थापित आसन्दीको अब अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा और उन्नेता चारों उठाकर पूर्वद्वारसे शालामें प्रवेश करते हैं ।[१]

यजमानका वाचन

शालामें प्रविष्ट होते समय ही यजमान मन्त्रका[२] वाचन करता है ।[३]

आहवनीयके दक्षिणकी ओर सोमसहित आसन्दीका स्थापन

यजमान द्वारा मन्त्र कहे जानेपर आसन्दीको आहवनीयके दक्षिणकी ओर स्थापित किया जाता है । शाखाभेदसे इस अवसरपर जलसे पूर्ण पात्रको सोमके समीपमें रखनेका विधान भी प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख काश्रौसू० (७.९.३१) तथा शब्रा० (३.३.४.३१) ने किया है किन्तु साथ ही शब्रा० ने उक्त विधानको यह कहकर निषेध किया है कि यह मानुषी विधान है, यज्ञमें मानुषी क्रिया करना ठीक नहीं, अत: जलसे भरा हुआ पात्र सोमके समीपमें नहीं रखना चाहिये ।

आहवनीयके दक्षिणमें सोमासन्दीकी स्थापनाके साथ ही सोमक्रय नामक कृत्य सम्पन्न हो जाता है ।

इसके पश्चात् समीपमें आगत अतिथि रूप सोमके स्वागत सत्कारके लिए आतिथ्येष्टिका विधान किया जाता है ।

आतिथ्येष्टि

वेदमें सोमको ब्राह्मणोंका राजा बताया गया है— "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां हि राजा" । अत: प्राचीनवंशके समीप आए हुए अतिथि रूप राजा सोमका हविके द्वारा स्वागत सत्कार किया जाता है । इसीलिए ऐब्रा० (१.३.१५) पर सायणने कहा

---

१. काश्रौसू० (७.९.२८)।

२. या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् । गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरासोम दुर्यान् (वासं० ४.३७)।

३. काश्रौसू० (७.९.२९, शब्रा० ३.३.४.३०)।

है कि सोम राजाके प्राचीनवंशके समीप आनेपर उसके आतिथ्यके लिए आतिथ्य[१] नामक कर्म सम्बन्धी हविका निर्वपन करना चाहिये।

ऐब्रा० (१.३.१५) में कहा गया है जब सोम राजा खरीदा जाता है तो सभी गायत्री आदि छन्द और (बृहद् रथन्तर आदि साम रूप) पृष्ठ नामक स्तोत्र (के अभिमानी देव अनुचर होकर यजमानके घर) उस सोमके पीछे पीछे आते हैं अतः राजाके साथमें आए हुए उन सभी का आतिथ्य किया जाता है।

आतिथ्येष्टिके अन्तर्गत नौ कपालोंपर बनाया गया विष्णुदेवताक पुरोडाश होता है।[२]

इस अवसरपर देवयाज्ञिकने विधान किया है कि अत्यधिक शीघ्रतासे चतुरासन, ब्रह्मोपवेशन, प्रणीताप्रणयन[३] और केवल आहवनीयका परि-स्तरण[४] किया जाना चाहिये तथा पात्रासादनके[५] अन्तर्गत शूर्प[६]

---

१. तिथिविशेषमनपेक्ष्य भोजनार्थं कस्यचिद्गृहं प्रत्यकस्माद्यः समागतः सोऽतिथिः। सोमोऽपि तथाविधत्वादतिथिरित्युच्यते। तत्संबन्धित्वादातिथ्यमिति नामधेयम् (ऐब्रा० १.३.१५ पर सायणभाष्य)। क्रीतं सोमं शकटे संस्थाप्य प्राचीनवंशं प्रति आनीयमानेऽभिमुखे यामिष्टिं निर्वपति, सेयमातिथ्या (मी० अधि० टी० ४.२.१४)। न विद्यते प्रतिनियता तिथिर्यस्य सोऽतिथिरित्यर्थः। तस्मादतिथये सोमाय हविः निरुप्यत इत्यातिथ्यं नाम सम्पन्नम् (सायणभाष्य, शब्रा० ३.४.१.२)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६१, शब्रा० ३.४.१.१५, काश्रौसू० ८.१.१, ऐब्रा० १.३.१५)।

३. अश्वत्थकाष्ठनिर्मितं चतुरंगुलदण्डं अष्टांगुलबिलं प्रादेशमात्रं प्रणीतानामकं जलं नीयते अनेनेति करणव्युत्पत्या प्रणीताप्रणयनमित्युच्यते (श्रौपनि० ९.५८)।

४. आहवनीयदक्षिणाग्निगार्हपत्यान् क्रमेण दर्भैः परिस्तृणाति। अग्नेः षोडशभिर्दर्भैः प्राच्यादिषु परिस्तृतिरिति वचनात् प्राच्यां प्रथममेखलोपरि चतुर्भिर्दर्भैस्तथैव दक्षिणस्यां प्रतीच्यामुदीच्यां च क्रमेण स्तरणं परिस्तरणपदार्थः (श्रौपनि० १४.१०३) कर्कमतानुयायी पहले आहवनीय फिर गार्हपत्य और फिर दक्षिणाग्निका परिस्तरण करते हैं।

५. गार्हपत्यस्य पुरस्ताद् वेद्यां परिभोजनीयदर्भानास्तीर्य तेषु द्वन्द्वं न्यञ्चि प्रक्षालितानि यज्ञपात्राणि प्राक्संस्थान्युदगग्राणि स्थापयति तदेतत्कर्म पात्रासादनपदार्थः (श्रौपनि० १४.१०४)।

६. वंशनिर्मितं व्रीह्यादीनां पुरोडाशादिसंबन्धिनां निस्तुषकरणोपयोगि शूर्पमित्युच्यते (श्रौपनि० ७.३९)

अग्निहोत्रहवणी,[१] स्फ्य,[२] नौ कपाल, शम्या[३] कृष्णाजिन,[४] उलूखल[५] मुसल,[६] दृष[७] दुपल,[८] पात्रीधान्य, पवित्रा,[९] मिट्टीके दो मदन्तीपात्र,[१०] एक मदन्ती यजमान का तथा दूसरा पात्र उसकी पत्नीके लिए होता है, स्थाली, आज्य, वेद,[११] जल, तृण, अग्नि,

---

१. दैर्घ्ये प्रादेशमात्री अरत्निमात्री बाहुमात्री वा हस्त्योष्ठीत्वपक्षे अष्टांगुलपरिमितबिला हंसमुखीत्वपक्षे वायसपुच्छकात्वपक्षे च पंचागुंलपरिमितबिला चतुरंगुलपरिमितबिला वा बिलावशिष्टभागेन दण्डयुक्ता विककंतकाष्ठेन निर्मिता अग्निहोत्रहोमसाधन त्वादग्निहोत्रं हूयते अनया इति करणव्युत्पत्या अग्निहोत्रहवणीत्युच्यते (श्रौपनि० ७.३८)।

२. खदिरकाष्ठनिर्मितः अरत्निपरिमितो दीर्घश्चतुरंगुलपरिमितविस्तार आकारेण खड्गसदृशः स्फ्य इत्युच्यते (श्रौपनि० ६.३४)

३. खदिरकाष्ठनिर्मिता षट्त्रिंशदंगुलपरिमितायामा अग्रभागे अष्टास्वंगुलिषु कुम्बा (कुम्बो वर्तुलग्रन्थिसदृशाकारः) ष्टकयुता तण्डुलादिपेषणकाले दृषदोऽधस्तात् स्थापनायोपयुज्यमाना आग्नीध्रकर्तृकदृषदुपलादिसमाहननादौ करणभूता शम्यापदवाच्या (श्रौपनि० ८.४१)।

४. कृष्णमृगस्य चर्मव्रीह्याद्यवघातकाले उलूखलस्याधः स्थापनोपयोगि कृष्णाजिनमिति कथ्यते (श्रौपनि० ७.४०)।

५. पलाशकाष्ठनिर्मितं द्वादशाङ्गुलपरिमितोच्छ्रायं उपरितनार्धभागे बिलयुक्तं चरुपुरोडाशसम्बन्धिव्रीह्यादिकण्डनोपयोगि उलूखलमित्युच्यते (श्रौपनि० ८.४२)।

६. उलूखलार्धत्रिगुणायामं खदिरकाष्ठनर्मितं कण्डनोपयोगि मुसलमित्युच्यते (श्रौपनि० ८.४३)।

७. पाषाणमयी पेषणकाले पेषणीयद्रव्याश्रयभूता दृषदित्युच्यते (श्रौपनि० ८.४४)।

८. पाषाणनिर्मिता पेषणसाधनभूता उपला कथिता (श्रौपनि० ८.४५)।

९. अनखिच्छिन्नं साग्रं प्रादेशमात्रं मन्त्रसंस्कारयुक्तं समपरिणाहं प्रोषणादौ प्रायः उपयोगि दर्भद्वयं पवित्रसज्ञं भवति (श्रौपनि० ९.५६)।

१०. मदन्तीनामिका आपो यस्मिन्पात्रे संताप्यन्ते तत्पात्रमपि मदन्तीपदेन व्यवह्रियते (श्रौपनि० १३.९७)।

११. दर्भमुष्टिः प्रदक्षिणमावेष्ट्य द्विगुणः कृतः प्रादेशमात्र उपविष्टवत्सजानुसदृशसंपन्नः समन्त्रकवेदिसंमार्जनादिकर्मोपेयोगी प्रच्छिन्नाग्रो वेद इत्युच्यते (श्रौपनि० १०.६३)।

उन्नीस इध्मकाष्ठ, परिधियाँ,[१] प्रस्तर,[२] विधृती,[३] चार[४] बर्हि, स्रुव,[५] जुहू,[६] उपभृत्[७] ध्रुवा,[८] प्राशित्रहरण,[९] शृतावदानी, पात्री, इडापात्री,[१०] योक्त्र,[११]

---

१. बर्हिः संभरणानन्तरं अध्वर्युरिध्मदेशं गत्वा असिदेन श्वपरशुना वा इध्मं छिनत्ति तूष्णीं तस्मिन्नेकविंशतिसंख्याकानि, काष्ठानि भवन्ति। तत्र त्रितयं काष्ठानामाहवनीयस्य पश्चाद् दक्षिणत उत्तरतश्च प्रथममेखलाया उपरि स्थापनार्थं मेखलापरिमितायामं परित आहवनीयस्य निधानात् पुरस्तात्सूर्यस्य मनसा परिधित्वकल्पनात्परिधिसंज्ञकं भवति (श्रौपनि० १३.९१)।

२. प्रकृतीष्टौ चतस्रो दर्भमुष्टयश्छिद्यन्ते। प्रथमा दर्भमुष्टिर्मन्त्रैः संस्कृता वेद्यां जुहूर्यस्यान्निधीयते विधृतिसंज्ञकयोः उदगग्रयोर्दर्भस्योरुपरि च या प्रागग्रा स्थापिता भवति सा प्रस्तर इत्युच्यते (श्रौपनि० १३८७)।

३. परिभोजनीयेभ्यो मध्यमबर्हिमुष्टेर्वा अन्यतो वा आहृतं सारं दर्भद्वयं विशेषेण धृतिः धारणं प्रस्तरादीनां धारणं यस्मिन् इति व्युत्पत्या विधृतिपदवाच्यम् (श्रौपनि० २०.१६२)।

४. अमन्त्रकसकलक्रियामात्रसाध्याः वेद्यास्तरणार्थाः हविषां पात्राणां स्थापनयोग्या बर्हिः पदवाच्या (श्रौपनि० १३८८)।

५. खदिरकाष्ठनिर्मितः अरत्निमात्रो दीर्घः अग्रभागे अंगुष्ठपर्वमात्रवर्तुलबिलयुक्तः आज्यहोमादौ करणभूतः। स्रवत्याज्यादिद्रव्यमस्मादिति व्युत्पत्या स्रुवपदवाच्यः (श्रौपनि० ८.४८)।

६. पलाशकाष्ठनिर्मिता अग्निहोत्रहवणीसदृशी मुख्यहोमकरणत्वात् हूयते अनया इति व्युत्पत्या जुहूपदवाच्या (श्रौपनि० ८.४६)।

७. अश्वत्थकाष्ठनिर्मिता जुहूतूल्या उप समीपे भ्रियते ध्रियत इति व्युत्पत्या होमकाले अध्वर्युणा सव्यहस्तेन होमार्थधृतदक्षिणहस्तसंबन्धिजुह्वाः समीपे धारणात् उपभृदिति भण्यते (श्रौपनि० ८.४७)।

८. विकंकतवृक्षसंबन्धिकाष्ठेन निर्मिता जुहूसदृशी होमाद्यर्थं स्रुवेण गृह्यमाणस्याज्यस्याधारभूता यागसमाप्तिपर्यन्तं वेद्यां विद्यमानतया स्थिरत्वदर्शनात् ध्रुवति अप्रचलिता भवतीति व्युत्पत्या ध्रुवापदवाच्या (श्रौपनि० ८.४९)।

९. खदिरकाष्ठनिर्मितं प्रादेशपरिमितं गोकर्णाकारं चतुरंगुलपरिमितदण्डयुक्तं प्राशित्रं नाम ब्रह्मणे दीयमानो हुतशेषहविर्भागः स ह्रियते अनेन इति करणव्युत्पत्या प्राशित्रहरण पदवाच्यम् (श्रौपनि० ८.५०)।

१०. अश्वत्थकाष्ठनिर्मितं चतुरंगुलपरिणाहं पदपरिमितायामबिलयुक्तं चतुरंगुलदण्डं इडायाः आधारत्वात् इडापात्रमित्युच्यते (श्रौपनि० ८.५१)।

११. कर्मकाले आग्नीध्रोऽध्वर्युप्रेषितः पत्नीं मन्त्रेण येन गुणेन मुंजमयेन वेष्टनेन त्रिगुणितेन कटिदेशे संनह्यति स गुणो योक्त्रमित्युच्यते (श्रौपनि० १०.६५)।

कुशा,[१] मन्थनचतुष्टय, व्रतपात्र, हिरण्य, दो समिधा आदि पदार्थोंको लाकर रख देना चाहिये (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३६१)।

आतिथ्येष्टिका प्रारम्भ

कात्यायनके अनुसार आहवनीयके दक्षिणकी ओर सोम सहित आसन्दीकी स्थापनाके अनन्तर तत्काल जलपान-मूत्रोत्सर्ग आदि कर्म सम्पन्न करके यजमानको आतिथ्येष्टि प्रारम्भ कर देनी चहिये अथवा शकटमें जुते हुए दोनों बैलोंमें दाहिने वाले बैलको मुक्त करके और बाएँ बैलको जुते हुए ही छोड़कर आतिथ्येष्टि क्रिया प्रारम्भ करनी चाहिये (काश्रौसू० ८.१.२ पर सरलावृत्ति)। भारद्वाजने भी यही विधान किया है (१०.२०.१७)। ऐब्रा० (१.३.१४) में कहा गया है कि क्रयदेशमें सोमको गाडीमें रखकर प्राचीनवंशके समीप लाई जाने वाली गाडीमें बँधे हुए दो बैलोंमेंसे किसी एकको जुता रहने देना चाहिये और किसी एक को खोल देना चाहिये, तब सोम राजाको गाड़ीसे उतारना चाहिये। यदि दोनों बैलोंको खोलकर सोम राजाको उतारते हैं तो वे सोमको पितृदेवताक बनाते हैं अत: यह सोम देव योग्य नहीं रह जाता। यदि वे दोनोंको जुता रखकर ही उतारते हैं तो प्रजामें योग (धनादिकी प्राप्ति) और क्षेम (उसकी रक्षा) का अभाव हो जाता है, प्रजा तितर-बितर हो जाती है। विमुक्त बैल गृहावस्थित पुत्रादि प्रजा रूप है और जो जुता हुआ बैल है वह (लौकिक एवं वैदिक) क्रियाओंका रूप है। वे जो एक बैलको खोलकर और एक को जुता रखकर सोमको उतारते हैं वे क्षेम और योग दोनोंका ही सम्पादन करते हैं।

कतिपय स्थानोंपर दोनों बैलोंके खोले जानेका विधान निर्दिष्ट हुआ है बल्कि शब्रा० ने बाएँ बैलको जुता हुआ छोडनेका निषेध करके स्पष्टत: कहा है कि दोनों बैलोंको खोलने तथा शालामें सोमके आ जानेके पश्चात् सामग्री निकालनी चाहिये (शब्रा० ३.४.१.५)।

सत्याषाढश्रौतसूत्र (पृष्ठसं० ६५०) में कहा गया है कि दक्षिण बैलको स्वतन्त्र करनेके अनन्तर वारुणमसि मन्त्रसे योक्त्रका परिकर्षण वरुणस्य स्कम्भस-र्जनिरसि मन्त्रसे अथवा वरुणस्य स्कम्भसर्जनमसि मन्त्रसे शम्याका उत्पाटन, विचृतो वरुणस्य पाश मन्त्रसे योक्त्रका शिथिलीकरण तथा उन्मुक्तो वरुणस्य पाश मन्त्रसे

---

१. एक प्रकारकी घास जो पवित्र मानी जाती है।

अभिधानी (विषाणबन्धनरज्जू) को खोलकर शकटमें जुते हुए बाएँ बैलको खोल दिया जाना चाहिये ।

देवयाज्ञिकपद्धतिके अनुसार शालाके समीपमें शकट को स्थापित करके किसी एकको नियुक्त करके दूसरे को अविमुक्त किये हुए ही अध्वर्युको शालामें प्रविष्ट होकर शीघ्र ही चतुरासन आदि कृत्य सम्पन्न करके बैलको विमुक्त करके आसन्द्याहरण-अभिमर्शनादि कर्म करने चाहिये ।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि सोम राजा तभी उतारे जाते हैं जब एक बैलको विमुक्त किया जाता है और दूसरे बैलको आतिथ्येष्टिके उपरान्त खोला जाता है ।

ऐब्रा० ने जो दोनों बैलोंको खोलनेका निषेध किया है उसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि शकटमें दूसरा बैल जुता ही रहना चाहिये अपितु यहाँ स्पष्ट रूपसे यह कहा गया है कि उस समय दोनों बैलोंको नहीं खोलना चाहिये जब सोम राजा उतारे जा रहे हों । सोम राजा को तभी उतारना चाहिये जब शकटका केवल एक बैल विमुक्त कर दिया गया हो ।

सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ६५१) में कहा गया है कि एक बैलको विमुक्त कर देनेके अनन्तर दूसरे बैलको जुते हुए आतिथ्येष्टि प्रारम्भ कर देनी चाहिये ।

हविर्ग्रहण

पाँच मन्त्रों[1] के साथ पाँच बार हविको ग्रहण किया जाता है ।[2] तैसं० में भिन्न मन्त्रोंका[3] उल्लेख है जिनके द्वारा हवि ग्रहण की जाती है । इस अवसरपर कहा गया है कि प्रत्येक मन्त्रका पाँच बार पाठ तथा प्रत्येक पाठका एक एक खण्ड

---

१. देवस्य त्वा सवितुःप्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं गृह्णामि। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा जुष्टं गृह्णामि । श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा जुष्टं गृह्णामि ॥ अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा गृह्णामि ॥ (वासं० ५.१)।

२. काश्रौसू० (८.१.२, शब्रा ३.४.१.९, भारश्रौसू० १०.२१.७)।

३. देवस्य सवितुःप्रसव अग्नेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसव सोमस्यातिथ्यमसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसव अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥ देवस्य त्वा सवितुःप्रसव श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥ (तैसं० १.२.१०)।

करना चाहिये, इस प्रकार पच्चीस खण्डोंमें यह पाठ सम्पूर्ण होता है ।[१] भारद्वाजने कहा है कि पाँचों मन्त्रोंमें या तो सावित्र भाग (देवस्य त्वा सवितु: प्रसव) जोड़ा जाय अथवा केवल प्रारम्भके तीन मन्त्रोंमें । इसी प्रकार जुष्टं शब्द या तो पाँचों मन्त्रोंमें जोड़ा जाय अथवा प्रारम्भके तीन मन्त्रोंमें ।[२] सत्याषाढ (७.३) ने प्रारम्भके तीन मन्त्रोंमें सावित्रभाग तथा जुष्टं शब्द जोड़नेका विधान किया है किन्तु बौश्रौसू० (६.१६.१७) ने पाँचों मन्त्रों में सावित्रभाग तथा जुष्टं शब्द जोड़ा है ।

उपसर्जनी तथा मदन्तीका अधिश्रपण

उपसर्जन्यधिश्रपणानन्तर अध्वर्यु यजमानकी मदन्तीको गार्हपत्यमें गरम करता है और यजमानपत्नीके मदन्तीजलको दक्षिणाग्निमें गरम करता है ।[३] इस अवसरपर कहा गया है मुष्टिविसर्गपर्यन्त प्रणीताप्रणयन, प्रोक्षण, उदकस्पर्शन, आचमन आदि जितने भी जलसे सम्बन्धित कृत्य हैं वे सभी मदन्ती जलसे ही सम्पन्न किये जाते हैं ।[४]

अग्निमन्थन

ऐब्रा० (१.३.१५) में कहा गया है कि जिस प्रकार लोकमें मनुष्योंके राजा जब आते हैं, अथवा अन्य महान् पुरुष जब आते हैं तो अतिथि सत्कारके लिए एक वृषभका अथवा गर्भघातक (बांझ) बूढ़ी गायका वध करते हैं उसी प्रकार सोम राजाके आ जानेपर अतिथि रूप सोमके लिए अग्निका मन्थन किया जाता है । अग्निका मन्थन पशुवधके समान है क्योंकि अग्नि देवताओं का पशु है, जैसे बैल हव्यका वहन करता है वैसे ही अग्नि भी हव्यका वहन करता है ।

पहले जुहू-उपभृत्-ध्रुवा नामक पात्रोंमें चार बारमें आज्य ग्रहण करता है फिर मन्त्रसे[५] (अधरारणिके ऊपर रक्खा जाने वाला लकड़ीका एक टुकड़ा) अधिमन्थन शकल लेता है । इसके पश्चात् मन्त्रसे[६] दो कोमल कुशाओंको मिलाकर

---

१. वासं (५.१) पर मिश्रभाष्य ।

२. भारश्रौसू० (१०.२९८) ।

३. काश्रौसू० (८.१८) ।

४. काश्रौसू० (८.१९) ।

५. अग्नेर्जनित्रमसि (वासं० ५.२) ।

६. वृषणौ स्थ: (वासं० ५.२) ।

अग्निमन्थन

उसके नीचे रखता है । फिर मन्त्र[१] पढकर अधरारणि रक्खी जाती है तथा मन्त्र[२] पढकर आज्यविलापनी स्थालीको उत्तरारणीसे छूता है । अब मन्त्रका[३] पाठ करके उसके ऊपर उत्तरारणि रखता है । इसके पश्चात् मन्त्रसे[४] अग्निमन्थन किया जाता है ।[५]

प्रैषकथन

इस अवसरपर अध्वर्यु होताको "अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति" प्रैष करता है ।[६] होता ऋग्वेदके मन्त्रोंका[७]

---

१. उर्वश्यसि (वासं० ५.२)।

२. आयुरसि (वासं० ५.२)।

३. पुरूरवा असि (वासं० ५.२)।

४. गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि (वासं० ५.२)।

५. शब्रा० (३.४.१.२०-२३)।

६. ऐब्रा (१.३.१६, शब्रा० ३.४.१.२३) में दो प्रैष किये गए हैं— "जातायानुब्रूहि" "प्रह्रियमाणाय"।

७. अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् । सदावन् भागमीमहे (ऋसं० १.२४.३)। मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिः (ऋसं० १.२२.१३)। त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः । तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः । पुत्र ईधे अथर्वणः । वृत्रहणं पुरन्दरं । तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनंजयं रणे रणे (ऋसं० ६.१६.१३-१५)। यदि अग्नि उत्पन्न न हो अथवा धूमके दृश्यमान होनेपर भी यदि विलम्ब से उत्पन्न हो तो उस अग्निकी उत्पत्तिके लिए रक्षोहन और गायत्रीछन्दस्क ऋचाका पाठ निम्नांकित नौ ऋचाओंसे करना चाहिये— "अग्ने हंसि न्यत्रिणं दीद्यन्मर्त्येष्वा । स्वे क्षये शुचिव्रत ॥ उत्तिष्ठसि स्वाहुतो घृतानि प्रति मोदसे । यत् त्वा स्रुचः समस्थिरन् ॥ स आहुतो विरोचते अग्निरीडेन्यो गिरा। स्रुचा प्रतीकमज्यते ॥ घृतेनाग्निः समज्यते मधुप्रतीक आहुतः। रोचमानो विभावसुः॥ जरमाणः समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन । तं त्वा हवन्त मर्त्याः ॥ तं मर्ता अमर्त्यं घृतेनाग्निं सपर्यत। अदाभ्यं गृहपतिम् । अदाश्यं गृहपतिम् । अदाभ्येन शोचिषाऽग्ने रक्षस्त्वं दह। गोपा ऋतस्य दीदिहि ॥ स त्वमग्ने प्रतीकेन प्रत्योष यातुधान्यः। ऊरुक्षयेषु दीद्यत् ॥ तं त्वा गीर्भिरुरुक्षया हव्यवाहं समीधिरे। यजिष्ठं मानुषे जने (ऋसं० १०.११८.१-९)। यदि एक ही मन्त्रके पाठ करनेपर वह अग्नि उत्पन्न हो जाता है अथवा दो ऋचाके पाठसे तो निम्नांकित ऋचाका पाठ करना चाहिये—" उत ब्रुवन्तु जन्तव

वाचन करता है।[१]

इन मन्त्रोंकी संख्या तेरह है किन्तु प्रथम और अन्तिम ऋचाका तीन तीन बार पाठ होनेसे इन मन्त्रोंकी संख्या सत्रह हो जाती है।[२]

होता द्वारा पुरोनुवाक्या, याज्या तथा अनुवाक्याका कथन

अग्निमन्थनके पश्चात् होता प्रथम आज्यभागकी पुरोनुवाक्या,[३] द्वितीय आज्यभागकी पुरोनुवाक्या,[४] दो याज्या मन्त्र,[५] प्रधान हविकी पुरोनुवाक्या,[६] प्रधान हविकी चतुष्पदा याज्या[७] स्विष्टकृत् हविकी पुरोनुवाक्या व याज्या[८] का पाठ करता है।[९]

उदग्निर्वृत्रहाजनि। धनंजयो रणेरणे (ऋसं० १.७४.३)। इसके पश्चात् निम्नांकित सातवीं ऋचा का पाठ करना चाहिये-आ यं हस्ते न खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति। विशामग्निं। स्वध्वरम् (ऋसं० ६.१६.४०)। आठवीं ऋचा- प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्। आ स्वे योनौ नि षीदतु (ऋसं० ६.१६.४१)। नवीं ऋचा- आ जातं जातवेदसि प्रियं शिशीतातिथिम्। स्योन आ गृहपतिम् (ऋसं० ६.१६.४२)। दसवीं ऋचा- अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः(ऋसं० १.१२.६)। ग्यारहवीं ऋचा- त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् त्सता। सखा सख्या समिध्यसे (ऋसं० ८.४३.१४)। बारहवी ऋचा-तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु स्वेषु क्षयेषु वाजिनम् (ऋसं० ८.८४.८)। अन्तिम ऋचा-यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋसं० १.१६४.५०)।

१. ऐब्रा० (१.३.१६)।
२. ऐब्रा० (१.३.१६)।
३. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन (ऋसं० ८.४४.१)।
४. आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे (ऋसं० १.९१.१६)।
५. जुषाणोअग्निराज्यस्य वेतु। सोमगीर्भिष्ट्वा वयम्। वर्धद्यामो वचोविदः। सुमृडीको न आविश। जुषाणः सोम आज्यस्य हविषो वेतु (तैब्रा० ३.५.६)।
६. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूह्ळमस्य पांसुरे (ऋसं० १.२२.१७)।
७. होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम्। प्रत्यर्धिं देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्वग्निमतिथिं जनानाम् (ऋसं० १०.१.५)।
८. प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद् भाः। अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ द्युतानो दैव्यो अतिथिः शुशोच (ऋसं० ७.८.४)।
९. ऐब्रा० (१.३.१७)।

आतिथ्येष्टिके अन्तमें इडाका भक्षण

आतिथ्येष्टि इडान्त[१] कही गई है अर्थात् आतिथ्येष्टिके अन्तमें इडाका भक्षण किया जाता है । आतिथ्येष्टिमें प्रयाजाहुति ही दी जाती है अनुयाज नहीं ।[२]

तानूनप्त्र

सर्वप्रथम मन्त्रसे[३] अध्वर्यु स्रुवाके द्वारा अथवा जिस पात्रमें यजमान व्रत ग्रहण करता हो उस पात्रसे ध्रुवास्थ आज्यको एक बार ग्रहण करके फिर स्थालीसे व्रतप्रदानपात्रमें दो मन्त्रोंसे[४] दो बार आज्य ग्रहण करता है । इसी आज्यको स्पर्श करना तानूनप्त्र[५] कहलाता है । भारश्रौसू० (१२.१.१) में कहा गया है कि अध्वर्युको किसी ताम्रपात्रमें ध्रुवासे पाँच स्रुवा लेना चाहिये, आपश्रौसू० (११.१.१) के अनुसार चार स्रुवा आज्य ग्रहण किया जा सकता है । शब्रा० (३.४.२.१०) की "आज्यानि गृह्णाना" श्रुतिका आश्रय लेकर कात्यायनने यह विधान किया है कि वरणक्रमसे ब्रह्मा आदि सभीको आज्यग्रहण मन्त्रपूर्वक ही करना चाहिये ।[६]

तानूनप्त्रका अभिमर्शन

दक्षिण श्रोणीपर आज्य पात्र रखकर सभी ऋत्विक् यजमानके साथ मिलकर हिरण्यसहित इस पात्रको स्पर्श करते हुए मन्त्र[७] पढते हैं ।[८] सरलावृत्तिमें कहा गया है कि सबको एकसाथ ही स्पर्श करना चाहिये, क्रमशः नहीं (पृष्ठसं० १७८), किन्तु

---

१. पुरोडाशसम्बन्धि यदेतदिडाभागभक्षणं तदन्तमेवाऽतिथ्येष्टिरूपं कर्म भवेत् (ऐब्रा० १.३.१७ पर सायण भाष्य)।

२. शब्रा० (३.४.१.२६, काश्रौसू० ८.१.१३, ऐब्रा० १.३.१७)।

३. आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय (वासं० ५.५)।

४. "तनूनप्त्रे शाक्वराय" "शक्वन ओजिष्ठाय" ।

५. आज्यस्पर्शनाख्यं तानूनप्त्रं कर्माभवत् (ऐब्रा० १.४.२४ पर सायण भाष्य)। अध्वर्युप्रभृतिषोडशर्त्विजो यजमानश्च मिथो द्रोहशून्या भवन्त एकमत्या यज्ञकार्यं सम्पादयितुं घृतस्पर्शनपूर्वकं समन्त्रं यत् शपथकरणं तदेव तानूनप्त्र कर्म (ऐब्रा० पृष्ठसं० १४६)।

६. काश्रौसू० (८.१.१८, शब्रा० ३.४.२.१०)।

७. अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमंजसा सत्यमुपगेषं स्विते मा धाः (वासं० ५.५)।

८. काश्रौसू० (८.१.२०, शब्रा० ३.४.२.१४)।

वाचन करता है ।[१]

इन मन्त्रोंकी संख्या तेरह है किन्तु प्रथम और अन्तिम ऋचाका तीन तीन बार पाठ होनेसे इन मन्त्रोंकी संख्या सत्रह हो जाती है ।[२]

होता द्वारा पुरोनुवाक्या, याज्या तथा अनुवाक्याका कथन

अग्निमन्थनके पश्चात् होता प्रथम आज्यभागकी पुरोनुवाक्या,[३] द्वितीय आज्यभागकी पुरोनुवाक्या,[४] दो याज्या मन्त्र,[५] प्रधान हविकी पुरोनुवाक्या,[६] प्रधान हविकी चतुष्पदा याज्या[७] स्विष्टकृत् हविकी पुरोनुवाक्या व याज्या[८] का पाठ करता है ।[९]

उदग्निर्वृत्रहाजनि। धनंजयो रणेरणे (ऋसं० १.७४.३)। इसके पश्चात् निम्नांकित सातवीं ऋचा का पाठ करना चाहिये-आ यं हस्ते न खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति। विशामग्निं। स्वध्वरम् (ऋसं० ६.१६.४०)। आठवीं ऋचा- प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्। आ स्वे योनौ नि षीदतु (ऋसं० ६.१६.४१)। नवीं ऋचा- आ जातं जातवेदसि प्रियं शिशीतातिथिम्। स्योन आ गृहपतिम् (ऋसं० ६.१६.४२)। दसवीं ऋचा- अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः(ऋसं० १.१२.६)। ग्यारहवीं ऋचा- त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् त्सता। सखा सख्या समिध्यसे (ऋसं० ८.४३.१४)। बारहवी ऋचा-तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु स्वेषु क्षयेषु वाजिनम् (ऋसं० ८.८४.८)। अन्तिम ऋचा-यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋसं० १.१६४.५०)।

१. ऐब्रा० (१.३.१६)।

२. ऐब्रा० (१.३.१६)।

३. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन (ऋसं० ८.४४.१)।

४. आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे (ऋसं० १.९१.१६)।

५. जुषाणोअग्निराज्यस्य वेतु। सोमगीर्भिष्ट्वा वयम्। वर्धद्यामो वचोविदः। सुमृडीको न आविश। जुषाणः सोम आज्यस्य हविषो वेतु (तैब्रा० ३.५.६)।

६. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूह्लमस्य पांसुरे (ऋसं० १.२२.१७)।

७. होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम्। प्रत्यर्धिं देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्वग्निमतिथिं जनानाम् (ऋसं० १०.१.५)।

८. प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद् भाः। अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ द्युतानो दैव्यो अतिथिः शुशोच (ऋसं० ७.८.४)।

९. ऐब्रा० (१.३.१७)।

आतिथ्येष्टिके अन्तमें इडाका भक्षण

आतिथ्येष्टि इडान्त[1] कही गई है अर्थात् आतिथ्येष्टिके अन्तमें इडाका भक्षण किया जाता है । आतिथ्येष्टिमें प्रयाजाहुति ही दी जाती है अनुयाज नहीं ।[2]

तानूनप्त्र

सर्वप्रथम मन्त्रसे[3] अध्वर्यु स्रुवाके द्वारा अथवा जिस पात्रमें यजमान व्रत ग्रहण करता हो उस पात्रसे ध्रुवास्थ आज्यको एक बार ग्रहण करके फिर स्थालीसे व्रतप्रदानपात्रमें दो मन्त्रोंसे[4] दो बार आज्य ग्रहण करता है । इसी आज्यको स्पर्श करना तानूनप्त्र[5] कहलाता है । भारश्रौसू० (१२.१.१) में कहा गया है कि अध्वर्युको किसी ताम्रपात्रमें ध्रुवासे पाँच स्रुवा लेना चाहिये, आपश्रौसू० (११.१.१) के अनुसार चार स्रुवा आज्य ग्रहण किया जा सकता है । शब्रा० (३.४.२.१०) की "आज्यानि गृह्णाना" श्रुतिका आश्रय लेकर कात्यायनने यह विधान किया है कि वरणक्रमसे ब्रह्मा आदि सभीको आज्यग्रहण मन्त्रपूर्वक ही करना चाहिये ।[6]

तानूनप्त्रका अभिमर्शन

दक्षिण श्रोणीपर आज्य पात्र रखकर सभी ऋत्विक् यजमानके साथ मिलकर हिरण्यसहित इस पात्रको स्पर्श करते हुए मन्त्र[7] पढते हैं ।[8] सरलावृत्तिमें कहा गया है कि सबको एकसाथ ही स्पर्श करना चाहिये, क्रमशः नहीं (पृष्ठसं० १७८), किन्तु

---

१. पुरोडाशसम्बन्धि यदेतदिडाभागभक्षणं तदन्तमेवाऽतिथ्येष्टिरूपं कर्म भवेत् (ऐब्रा० १.३.१७ पर सायण भाष्य)।

२. शब्रा० (३.४.१.२६, काश्रौसू० ८.१.१३, ऐब्रा० १.३.१७)।

३. आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय (वासं० ५.५)।

४. "तनूनप्त्रे शाक्वराय" "शक्वन ओजिष्ठाय"।

५. आज्यस्पर्शनाख्यं तानूनप्त्रं कर्माभवत् (ऐब्रा० १.४.२४ पर सायण भाष्य)। अध्वर्युप्रभृतिषोडशर्त्विजो यजमानश्च मिथो द्रोहशून्या भवन्त एकमत्या यज्ञकार्यं सम्पादयितुं घृतस्पर्शनपूर्वकं समन्त्रं यत् शपथकरणं तदेव तानूनप्त्र कर्म (ऐब्रा० पृष्ठसं० १४६)।

६. काश्रौसू० (८.१.१८, शब्रा० ३.४.२.१०)।

७. अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमंजसा सत्यमुपगेषं स्विते मा धाः (वासं० ५.५)।

८. काश्रौसू० (८.१.२०, शब्रा० ३.४.२.१४)।

आपश्रौसू० (११.१.४) ने विधान किया है कि सबको एक साथ स्पर्श न करके पहले ऋत्विजोंको तानूनप्त्रका स्पर्श करना चाहिये फिर यजमानको। भारद्वाजने विधान किया है कि यजमान को "अनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यताम्" (तैसं० १.२.१०.२) मन्त्रके साथ स्पर्श तथा "प्रजापतौ त्वा मनसि जुहोमि (तैसं० ३.१.२) मन्त्रके साथ तानूनप्त्रका घ्राण करना चाहिये (भारश्रौसू० १२.१.४)। यह घ्राण तीन बार किया जाता है। बौधायनश्रौसू० (६.१९) वैखानसश्रौसू० (१२.२२.१५३.९) तथा भार-श्रौसू० (१२.१.३) के अनुसार सोलह ऋत्विक् तथा सत्रहवाँ यजमान अथवा केवल चार ऋत्विक् और पाचवाँ यजमान ही आज्यका स्पर्श करे। आपश्रौसू० (११.१.२) में चार ऋत्विजोंवाली बात नहीं कही गई है। आपश्रौसू० (१०.१.९-१०) के अनुसार यह तो अवश्य कहा गया है कि सत्रह ऋत्विज् (सदस्य सहित) तानूनप्त्रका स्पर्श करते हैं।

यजमान, ऋत्विज् तथा अन्य भी यज्ञमें सम्मिलित होने वाले परस्पर यज्ञसमाप्तिपर्यन्त द्रोह न करें इसी उद्देश्यसे तानूनप्त्रका स्पर्श कराया जाता है (काश्रौसू० ८.१.२१)।

तानूनप्त्रका स्थापन

अभिमर्शनान्तर अध्वर्युके द्वारा उस तानूनप्त्र आज्यको चलाकर उसपर किसी मृत्तिकानिर्मित पात्रसे भिन्न पात्रको रखकर सुरक्षित स्थानपर रख दिया जाता है (काश्रौसू० ८.२.१)।

तानूनप्त्र-दान

यद्यपि तानूनप्त्रका स्पर्श सभी (ऋत्विज् और यजमान) करते हैं किन्तु व्रतभक्षणकालमें केवल दीक्षित यजमानको ही तानूनप्त्रके ऊपर व्रतदुग्ध डालकर दिया जाता है। इस अवसरपर कहा गया है कि सत्रमें बहुतसे दीक्षित हों तो केवल गृहपतिको व्रतमें तानूनप्त्र मिलाकर देना चाहिये, अन्योंको नहीं।[1]

यद्यपि सामान्यत: यह विधान है कि यजमानको अपराह्णमें व्रत (दुग्ध) दिया जाय किन्तु कुछ शाखाओंमें यह विधान प्राप्त होता है कि जुहू-उपभृत् का व्यूहन

---

१. काश्रौसू० (८.२.२-३)।

तथा परिधियोंका अंजन करके तानूनप्त्रमें व्रतका मिश्रण करके देना चाहिये अथवा निह्नवके अनन्तर तानूनप्त्रसे मिश्रित व्रत भोज देना चाहिये ।[१]

अवान्तर दीक्षा

दीक्षित यजमान मन्त्र[२] पढकर आहवनीयमें एक समिधा डालकर मदन्तीको स्पर्श करके अपनी शिथिल मेखला और मुष्टीको भलीप्रकार कसता है और इसी प्रकार पत्नी चुपचाप एक समिधा गार्हपत्यमें डालकर मदन्तीको स्पर्श करके मुष्टि और मेखलाको कसती है । यही कृत्य अवान्तर दीक्षा कहलाता है ।[३]

दीक्षा तथा अवान्तर दीक्षा में मुख्य रूपसे यही अन्तर है कि दीक्षामें तो मेखलाकृष्णाजिन आदिका धारण मुख्य होता है और अवान्तर दीक्षा में समिदाधान मुख्य होता है ।[४]

सोमाप्यायन

ब्रह्मा-उद्गाता-होता-अध्वर्यु और आग्नीध्र (अथवा प्रतिप्रस्थाता) और छठा यजमान ये सब मन्त्रके[५] साथ मदन्तीको स्पर्श करके, हाथ में हिरण्यको ग्रहण किये हुए राजा सोमको केवल हाथसे स्पर्श मात्र करते हैं ।[६] यद्यपि सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २७९) में तो आप्यायनका अर्थ केवल हाथसे सोमको स्पर्श करना ही कहा गया है किन्तु सायण ने आप्यायनका अर्थ जलसे प्रोक्षण करना कहा है (ऐब्रा० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० १५५)

---

१. काश्रौसू० (८.२.९)।

२. अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियं सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि । सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु से दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पति (वासं० ५.६, तैसं० १.२.११)।

३. काश्रौसू० (८.२.४-५, शब्रा० ३.४.३.९, भारश्रौसू० १२.२.२, बौश्रौसू० ६.१९)।

४. शब्रा० (४.४.३.८ पर सायण भाष्य)।

५. अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे । आ तुभ्भमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व । आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय (वासं० ५.७, तैसं० १.२.११)।

६. काश्रौसू० (८.२.६, शब्रा० ३.४.३.१८, आपश्रौसू० ११.१.११, भारश्रौसू० १२.१.९, बौश्रौसू० ६.१९, वैखानसश्रौसू० १२.२३.१५३.१६)।

ऐब्रा० (१.४.२६) में कहा गया है कि जो तानूनप्त्र कर्म किया जाता है वह सोमराजाके समीप क्रूरता करनेके समान है, अतः क्रूर कर्मके परिहारके लिए ही सोमराजापर जल छिड़का जाता है।

इस अवसरपर अध्वर्युको यह ध्यान रखना चाहिये कि वह सोमस्पर्शके बाद आज्य स्पर्श अथवा आज्य स्पर्शके बाद सोमस्पर्शकरनेकी इच्छा होनेपर उदकस्पर्श अवश्य करे।[१]

सोम-परिचरण

आहवनीयके दक्षिण दिशामें स्थित सोमका आहवनीयके पूर्वकी ओर जाकर स्पर्श करके फिर उसी मार्गसे लौटकर सभी ब्रह्मा आदि दोनों हाथ उठाकर अथवा दाहिना हाथ उठाकर प्रस्तरपर सोमको स्थापित करते हैं। उसके पश्चात् दाहिना हाथ तो उत्तान किये रखें और बायाँ हाथ प्रस्तरके नीचे रखें।[२] यही क्रिया निह्नव[३] कहलाती है जो मन्त्रके[४] साथ सम्पन्न होती है।

सायणका कहना है कि आतिथ्येष्टिके प्रस्तरको अग्निमें न डालकर उसे वेदीके दक्षिणार्धमें रखना चाहिये और फिर उस प्रस्तरपर सभी ब्रह्मा आदि अपने अपने दक्षिण हाथको उत्तान करके और बाएँ हाथको प्रस्तरके नीचे अपलाप सदृश नमस्कार उपचार करें (तैसं० १.२.११ पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० ३१९)।

आग्नीध्रके प्रति प्रैष

प्रस्तरको ग्रहण करके अध्वर्यु आग्नीध्रके प्रति "अग्नीन्मदन्त्यापा:" प्रैष करता है। इस अवसरपर अध्वर्यु आग्नीध्रसे प्रश्न करता है कि हे आग्नीध्र ! क्या जल खौल गया ? तब आग्नीध्र "मदन्त्याप" कहता है। अब अध्वर्यु "ताभिरेहि" कहता है। इसके पश्चात् वह प्रस्तरको अग्निमें न डालकर अग्निके ऊपर ले जाता

---

१. काश्रौसू० (८.२७)।

२. काश्रौसू० (८.२८, शब्रा० ३.४.३.२१, बौश्रौसू० ६.१९)।

३. प्रस्तरस्योपरि पाणी सम्पुटीकृत्य "एष्टा रायः" (वासं० ५.७) इति मन्त्रजपो निह्नव (शब्रा० ३.४.३.१९ पर सायण भाष्य)।

४. एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् (वासं० ५.७)। तैसं० (१.२.११) में मन्त्रपाठ इस प्रकार है– एष्टा रायः प्रेषे भगायर्तमृतवादिभ्यो नमो दिवे नमः पृथिव्याः।

सुब्रह्मण्याह्वान

है और अध्वर्युके द्वारा दिये हुए प्रस्तरको[1] आग्नीध्र किसी सुरक्षित स्थानपर रख देता है ।[2] ऐब्रा० (१.४.२६) में कहा गया है कि प्रस्तरको वेदीके दक्षिण किनारेपर रख देना चाहिये ।

आतिथ्येष्टिकी समाप्ति

देवयाज्ञिक (पृष्ठ सं० २६४) के अनुसार परिधि तथा विधृतिको किसी सुरक्षित स्थानपर रखनेके साथ ही आतिथ्येष्टि कृत्य सम्पूर्ण हो जाता है । देवयाज्ञिक के अनुसार कुछ अन्य भी क्रियाएँ इस अवसरपर की जाती है—चक्षुष्पा मन्त्रसे अध्वर्यु द्वारा अपनेको छूना, उदकोपस्पर्शनम्, संस्रवाहुति, धुरिनिधान, वेद और योक्त्रका विमोक, प्रणीताविमोक, राक्षसभाग, भागावेक्षण आदि । इन कृत्योंके साथ आतिथ्येष्टि सम्पन्न की जाती है ।[3]

सुब्रह्मण्याप्रैष

आतिथ्येष्टिके अनन्तर अध्यर्यु सुब्रह्मण्यको "सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वय" प्रैष करता है ।[4] सरलावृत्तिके अनुसार तो यह कृत्य आतिथ्येष्टिके उपरान्त ही किया जाता है किन्तु प्राग्वंशकी ओर गाडीमें सोमको ले जाते हुए भी सुब्रह्मण्या कहने का विधान प्राप्त होता है ।[5] प्रैषके अनन्तर सुब्रह्मण्य आदेशानुसार सुब्रह्मण्या[6] मन्त्रका पाठ करता है ।

पीछे जिस अवान्तर दीक्षाका विवरण दिया जा चुका है, वह अवान्तर दीक्षा भारद्वाजने अपने श्रौतसूत्रमें सुब्रह्मण्या मन्त्र पाठ किये जानेके पश्चात् कही है ।

---

१. आतिथ्येष्टौ प्रकृतिवत् कुशमयः प्रस्तरो भवति। उपसदिष्टौ तु आश्ववालः प्रस्तरः (तैसं० ६.२.१ काश्रौसू० ८.१.१३)।

२. काश्रौसू (८.२.१२, शब्रा० ३.४.३.२२, भारश्रौसू० १२.१.६-८)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६४)।

४. काश्रौसू० (८.२.१३, भारश्रौसू० १२.१.११, षड्विंशब्रा० १.१-२)।

५. आपश्रौसू० (१०.२८.४)।

६. सासि सुब्रह्मण्ये तस्यास्ते पृथिवी पादः। सासि सुब्रह्मण्ये तस्यास्तेऽन्तरिक्षं पादः। सासि सुब्रह्मण्ये तस्यास्ते द्यौः पादः। सासि सुब्रह्मण्ये तस्यास्ते दिशः पादः। परोरजास्ते पंचमः पादः। सा न इषमूर्जं धुक्ष्व तेज इन्द्रियं ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यम् (तैब्रा० ३.७.७.१२)।

उपसदिष्टि

वस्तुत: सुब्रह्मण्याप्रैषानन्तर प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाता है । और फिर उपसदिष्टि । किन्तु न तो माध्यन्दिनशाखामें उपसदिष्टिके पूर्व प्रवर्ग्यका वर्णन है और न ही तैत्ति० शाखामें है । तैसं० में तो प्रवर्ग्यका वर्णन है ही नहीं । भारद्वाजने प्रवर्ग्यमें प्रयुक्त होने वाले सभी मन्त्रोंको तैत्तिरीय आरण्यकके चतुर्थ-पंचम प्रश्न से उद्धृत किया है । तैतिरीय ब्राह्मणने भी प्रवर्ग्यके मन्त्रोंका कथन नहीं किया है । मैत्रायण्यादि शाखाओं तथा शतपथब्राह्मणके सोलहवें-तेरहवें काण्डमें यथाक्रम तथा स्वतन्त्र रूपसे प्रवर्ग्यका वर्णन किया गया है साथ ही कात्यायन व सत्याषाढ श्रौतसूत्रमें सम्पूर्ण अग्निष्टोमका वर्णन करनेके पश्चात् अन्यत्र प्रवर्ग्यका स्वतन्त्र ही वर्णन किया है ।

कात्यायनने "प्रवर्ग्योपसदावत:" (८.२.१४) कहकर यद्यपि यह स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि पहले प्रवर्ग्य और उसके उपरान्त उपसदिष्टि कृत्य सम्पन्न किया जाना चाहिये किन्तु प्रवर्ग्यका वर्णन कात्यायनने छब्बीसवें अध्यायमें सबसे अन्तमें किया है और सुब्रह्मण्याप्रैषके अनन्तर प्रवर्ग्यका वर्णन आठवें अध्यायमें न करके सीधे उपसदिष्टिका वर्णन किया है। अत: प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रवर्ग्यका विवेचन परिशिष्टके अन्तर्गत किया जायेगा ।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें वर्णित गाथाओंके आधार पर कहा जा सकता है कि उपसद एक प्रकारका होमका अनुष्ठान है, जिसके द्वारा देवताओंने महान् दुर्गरूप पुरको जीता था ।[१]

ऐब्रा० (१.४.२३) में कहा गया है कि उपसद तीन हैं, जिनका दो-दो बार अनुष्ठान किया जाता है इस तरह ये छह हो जाते हैं । पहली आहुति पूर्वाह्न में और दूसरी आहुति अपराह्न में दी जाती है । (तैसं० ६.२.५.१) में कहा गया है कि साह्न अग्निष्टोमके अन्तर्गत तीन, अहीन यज्ञमें बारह उपसद होते हैं । आश्वश्रौसू० (४.८.१३-१६) में कहा गया है एकाहमें तीन अथवा छह, अहीनमें बारह और संवत्सरमें चौबीस उपसद होते हैं ।

यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ६५) में विस्तारसे यह कहा गया है कि प्रात: प्रवर्ग्यानुष्ठान अनन्तर प्रथम उपसद् होम और सुब्रह्मण्याह्वान करके विराम किया

---

१. तऽएताभिरुपसद्भिरुपासीदंस्तद्यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम (शब्रा० ३.४.४.४)।

जाता है फिर सायंकाल इसी प्रकार प्रवर्ग्यका अनुष्ठान करके दूसरी उपसद आहुति और सुब्रह्मण्याह्वान करके विराम किया जाता है। इसी प्रकार तीन दिन तक प्रातः और सायं प्रवर्ग्य और उपसदका अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रकार अग्निष्टोम में दूसरे-तीसरे-चौथे दिन प्रातः और सायं उपसदकी छह आहुतियाँ दी जाती हैं (आपश्रौसू० ११.३.१३-१४, बौश्रौसू० ६.२१, काश्रौसू० ८.२.१४-३६)।

उपसदिष्टिके अग्नि, सोम और विष्णु प्रधान देवता हैं और सर्वत्र आज्य द्रव्य है। ऐब्रा० (१.४.२५) में कहा गया है कि उपसदमें जो आज्यकी हवि होती है वह ग्रीवा और मुखपर (तृप्ति से युक्त होनेके कारण) आश्रित होती है।

उपसदिष्टिका अर्थ

उपसदका अर्थ है घेरा या मुहासिरा जो एक शत्रु किसी नगरके चारों ओर डालता है (गंगाप्रसाद उपाध्याय, ऐब्रा० पृष्ठसं० ६७)। शब्रा० में कहा गया है कि देवताओंने किलोंको उपसदोंके द्वारा घेरा (उपसीदन्) इसीलिए उपसद नाम पड़ा।

उपसदिष्टिके अन्तर्गत कुछ कृत्योंका विधान

कतिपय सूत्रोंमें यह उल्लेख विशेष रूपसे किया गया है कि आतिथ्येष्टिमें जिन कुश, प्रस्तर और परिधियोंका प्रयोग होता है वे ही उपसदिष्टिमें भी प्रयुक्त होनी चाहये।[१]

आज्यग्रहणके सम्बन्धमें विधान किया गया है कि जुहूमें चार बार और अपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण किया जाना चाहिये किन्तु विकल्पके रूपमें जुहूमें आठ बार और उपभृत् में चार बार आज्य ग्रहण किया जा सकता है।[२]

कुशाओंके आस्तरणके सम्बन्धमें विधान किया गया है कि कुशाओंका तीन बार आस्तरण न करके केवल एक बार ही आस्तरण करना चाहिये।[३]

समिधाओंकी संख्या का उल्लेख भिन्न भिन्न सूत्रकारोंने भिन्न भिन्न किया है। कात्यायनके अनुसार समिधाके लिए नव काष्ठ तथा स्पृश्य-अस्पृश्यके लिए

१. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ६६३, भारश्रौसू० १२.२८, ऐब्रा० १.४.२५ पर सायणभाष्य)।
२. शब्रा० (३.४.४७, काश्रौसू० ८.२.२५-२६)।
३. काश्रौसू० (८.२.२७)।

दो काष्ठ इस प्रकार एकादश काष्ठ ग्रहण करने चाहिये[१] किन्तु अन्य सूत्रोंमें इन समिधाओंका उल्लेख दस अथवा पन्द्रह हैं ।[२]

कात्यायनने ध्रुवाकार्यमें आज्यस्थालीका उपयोग बताया है ।[३]

भारद्वाजके अनुसार इस अवसरपर अध्वर्यु वेद[४] तैयार करता है । अग्निके चारों ओर अर्थात् वेदीके पूर्वकी ओर उत्तराग्र, दक्षिणकी ओर पूर्वाग्र, पश्चिमकी ओर उत्तराग्र, तथा उत्तरकी ओर पूर्वाग्र कुश रखता है । यही क्रिया परिस्तरण नामसे प्रसिद्ध है । परिस्तरण के अनन्तर अध्वर्यु हाथ धोता, बर्तनोंको क्रमसे लगाता, उलप घास बिछाता, पवित्रा तैयार करता, और यजमानसे मौन होनेके लिए कहता है ।[५]

इसके पश्चात् अध्वर्यु मौन होकर पात्रोंको स्पर्श करता, प्रोक्षणीमें जल भरता, ब्रह्माको सम्बोधित करके हाथकी हथेली ऊपर करके पात्रोंपर जल छिड़कता और हवन सामग्री बनाने वालोंको पुकारनेके लिए मौन तोड़ता तथा स्तम्बयजुस् के रूपमें कुशा लेता है ।[६]

इसके पश्चात् स्फ्यको सीधा करके अर्ध्यु आग्नीध्रको प्रैष प्रोक्षणीरासादयेध्ममुपसादय स्रुवं च स्रुचश्च संमृड्ढ्याज्येनोदेहि करता है ।[७]

---

१. काश्रौसू० (८.२.२३)।

२. भारश्रौसू० (१२.२.११, आपश्रौसू० ११.१.१४)।

३. काश्रौसू० (८.२.२८)।

४. दर्भमुष्टिः प्रदिक्षणमावेष्टय द्विगुणः कृतः प्रादेशमात्र उपविष्टवत्सजानुसदृशसम्पन्नः समन्त्रकवेदिसमाजनादिकभौपयोगी प्रच्छिन्नायो-वेद इत्युच्यते । वेदबन्धनप्रकार-एकपंचाशतकुश मध्यभागे मोटेनद्वयकरणेन उपविष्टवत्सजानुसदृशम सम्पाघ वहनीयादित्येकः पक्षेः । तं कुश भुष्टिं वैण्याकारेण वहनीयादिति द्वितीय पक्षः । से कुश मुष्टिः मताकारः कायः । घान्यावा पपात्रं तृणवत्यादिनिमितं मूतः तद्वत् क्रियत इति भूतकायस्तं इति ।

५. भारश्रौसू० (१२.२.१२)।

६. भारश्रौसू० (१२.२.१४)।

७. भारश्रौसू० (१२.२.१५)।

अग्नि-सोम और विष्णुका आवाहन, उनकी स्तुति और उनके लिए आहुति

सर्वप्रथम अध्वर्यु स्रुवासे एक आघार देता है।[१] फिर अध्वर्यु "आश्राव्य" कहकर होता को "सीद होतः" कहता है। होता वेदीके उत्तर श्रोणी "होतृषदन" में बैठकर अध्वर्युको प्रेरणा करता है तब अध्वर्यु जुहूपभृत्में आज्य ग्रहण कर आहवनीयके दक्षिणकी ओर जानेके लिए वेदीको पार करके होता को "अग्नये ऽनुब्रूहि" कहता है। इसके पश्चात् "अग्निं यज" कहता है। इस अवसरपर होता वौषट् कहकर याज्या[२]का पाठ करता है, तदनन्तर आहुति देता है। इस प्रकार अग्निका आवाहन, उसकी स्तुति और उसकी आहुति सम्पन्न होती है। अब अध्वर्यु होताको "सोमायानुब्रूहि" कहकर "सोमं यज" कहता है। तब होता वौषट् कहकर याज्याका[३] पाठ करता है, तदनन्तर आहुति देता है। इस प्रकार सोमका आवाहन, उसकी स्तुति और अनन्तर आहुति सम्पन्न होती है। अब पहले की तरह ही अध्वर्यु होताको "विष्णवे ऽनुब्रूहि" कहकर "विष्णुं यज" कहता है। तब होता वौषट् कहकर याज्या[४] का पाठ करता है, तदनन्तर आहुति देता है। इस प्रकार विष्णुका आवाहन, उसका स्तवन तथा अन्तमें विष्णुकी आहुति सम्पन्न होती है।[५] इस अवसरपर कात्यायनने विधान किया है कि जुहूमें जो आठ भाग आज्य है, उस आठभागके आधेसे अग्निका, दूसरे आधे भागसे सोमका तथा फिर उपभृत्में लिए हुए आज्यको जुहूमें डालकर उस आज्यसे विष्णुका हवन किया जाना चाहिये।[६]

---

१. वह्नेः कंचिद्देशमारभ्य देशान्तरपर्यन्तं समन्त्रकमाज्यधाराया नयनमाहरणमाघारः (काश्रौसू० पृष्ठसं० ३१)। जिस कर्ममें नैर्ऋति दिशासे लेकर ऐशानी दिशापर्यन्त कुण्डमें निरन्तर आज्य डाला जाता है, उस कर्मका नाम आघार है (मीमांसार्य भाष्य, पृष्ठसं० ८७)।

२. य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृंगो न वंसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथ (ऋसं० ६.१६.३९)।

३. गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव (ऋसं० १.९१.१२)।

४. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन् (ऋसं० १.२२.१८)

५. शब्रा० (३.४.४.१२-१३, भारश्रौसू० १२.३.११-१६)।

६. काश्रौसू० (८.२.३१)।

उपसद्धोम

ज्योतिष्टोममें तीन उपसद करनेका विधान हैं।[१] प्रत्येक दिन सायं-प्रात: उपसद-होम किया जाता है। प्रथम दिन सायं प्रात: अध्वर्यु मन्त्र[२] से, द्वितीय दिन सायं प्रात: मन्त्रसे,[३] तथा तीसरे दिन इसी प्रकार सायं और प्रात: मन्त्रसे[४] आहुति देता है।[५] इस प्रकार तीन दिन तक सायं प्रात: आहुति देनेपर छह उपसद सिद्ध होते हैं। गोब्रा० (२.२.२८) में कहा गया है कि ज्योतिष्टोममें बारह उपसद नहीं करने चाहिये। ऐब्रा० में कहा गया है कि ज्योतिष्टोममें तीन दिन, अग्निचयनमें छह दिन तथा अहीनसत्रमें बारह दिन उपसदका अनुष्ठान किया जाना चाहिये।[६] गोब्रा० (२.२.८) में कहा गया है कि प्रधान सुत्या द्वारा एक दिनमें सम्पन्न होने वाले अग्निष्टोममें बारह उपसद नहीं करने चाहिये तथा दो रात्रिसे ग्यारह रात्रि तकके अग्निष्टोममें तीन उपसद नहीं करने चाहिये, अहीन यज्ञमें ही बारह उपसद करने चाहिये।

इस अवसरपर एक आभिचारिक कृत्यका विधान भारद्वाजने किया है— यदि किसी दुर्गके जीतनेके सम्बन्धमें युद्ध चल रहा हो तो अध्वर्यु स्रुवमें एक लोहखण्ड डालकर प्रथम उपसदिष्टि की आहुति देता है, फिर एक चाँदीका टुकड़ा रखकर अगली आहुति देता है और फिर सुवर्णखण्ड रखकर तीसरी अन्तिम आहुति

---

१. काश्रौसू० (८.२.२४ गोब्रा० २.२.२८)।

२. या तेअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोअपावधीत् स्वाहा (वासं० ५८)। तैसं० (१.२.११.२) में यह मन्त्रपाठ है- या ते अग्नेऽयाशया रजाशया।

३. या तेअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोअपावधीत्त्वेषं वचोअपावधीत् स्वाहा (वासं ५८)।

४. या तेअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोअपावधीत्त्वेषं वचोअपावधीत् स्वाहा (वासं ५८)।

५. शब्रा० (३.४.४.२३-२५, भारश्रौसू० १२.३.१७, वौश्रौसू० ६.२१, वैखाश्रौसू० १४.३.१७४.१०-११)।

६. अत्रैकैकस्मिन् दिने द्विर्द्विरनुष्ठेया उपसदो ज्योतिष्टोमे त्रिषु दिनेष्वनुष्ठेया। अग्निचयने षट्सु दिनेषु। अहीनसत्रयोर्द्वादशदिनेषु (ऐब्रा० १.४.२३ पर सायण भाष्य)।

देता है ।[१] कुछ आचार्योंके अनुसार जब कोई युद्ध चल रहा हो तभी ऐसा करना चाहिये ।[२]

इस अवसरपर राजा सोमको थोडी देर फूलने दिया जाता है और उनसे क्षमा माँगी जाती है ।[३]

इसके पश्चात् अध्वर्यु आग्नीध्रको प्रैष "अग्नीद् देवपत्नीर्व्याचक्ष्व सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वय" करता है । तब आग्नीध्र तो अग्निके पीछे बैठकर अनुवाक[४] कहता है और सुबह्मण्य सुब्रह्मण्याका[५] पाठ करता है ।[६]

पूर्वाह्न कृत्यमें तीन सामिधेनियों[७] का तथा अपराह्न उपसद कृत्यमें भी तीन

---

१. भारश्रौसू० (१२.३.१८)।

२. यदि संग्राम युध्येयुरित्येकेक्षाम् (भारश्रौसू० १२.१३.१९)।

३. भारश्रौसू० (१२.३.२०)।

४. सेनेन्द्रस्य। धेना बृहस्पतेः। पथ्या पूष्णः। वाग्वायोः। दीक्षा सोमस्य। पृथिव्यग्नेः। वसूनां गायत्री। रुद्राणां त्रिष्टुप्। आदित्यानां जगती। विष्णोरनुष्टुप् ॥ १ ॥ वरुणस्य विराट्। यज्ञस्य पंक्तिः। प्रजापतेरनुमतिः। मित्रस्य श्रद्धा। सवितुः प्रसूतिः। सूर्यस्य मरीचिः। चन्द्रमसो रोहिणी ऋषीणामरुन्धती। पर्जन्यस्य विद्युत्। चतस्रो दिशः। चतस्रो वान्तरदिशाः। अहश्च रात्रिश्च। कृषिश्च वृष्टिश्च। त्विषिश्चापचितिश्च आपश्चोषधयश्च। ऊर्क्च सूनृता च देवानां पत्न्यः॥ २ ॥ इति। अनुष्टुप् दिशः षट् च ॥ तैआ० (३.९)। गोब्रा० (२.२.९) के अनुसार गार्हपत्यसे पूर्वकी ओर मुख करके बैठा हुआ आग्नीध्र यह मन्त्र पढता है— पृथिव्यग्नेः पत्नी वाग्वातस्य पत्नी सेनेन्द्रस्य पत्नी धेना वृहस्पतेः पत्नी पथ्या पूष्णः पत्नी गायत्री वसूनां पत्नी त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी जगत्यादित्यानां पत्न्यनुष्टुप् मित्रस्य पत्नी विराड् वरुणस्य पत्नी पंक्तिर्विष्णोः पत्नी दीक्षा सोमस्य राज्ञः पत्नी ।

५. श्रौतकोशः, द्वितीयो ग्रन्थः (पृष्ठसं० १३६)।

६. भारश्रौसू० (१२.३.२३-२४)।

७. उपसद्याय मीळ्हुष आस्ये जुहुता हविः। यो नो नेदिष्ठमाप्यम् ॥ यः पंच चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे। कविर्गृहपतिर्युवा। स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान् पात्वंहसः (ऋसं० ७.१५.१-३)।

सामिधेनियों[१] का ही पाठ किया जाता है ।[२] अनुवाक्या में[३] छह ऋचाओंका पाठ किया जाता है । प्रातः कालमें पहली तीन ऋचाएँ याज्या और पिछली तीन ऋचाएँ अनुवाक्या होती हैं । अपराह्न कालमें क्रम उलट जाता है अर्थात् पहली तीन ऋचाएँ अनुवाक्या और पिछली तीन ऋचाएँ याज्या होती है ।

गोदोहन

प्रथम उपसद वाले दिनके व्रतके[४] लिए दुही जाने वाली गौके तीन थनोंसे दूध दुहा जाता है, आगेके दोनों उपसदोमें क्रमशः दूधका दोहन एक एक थन कम कर दिया जाता है अर्थात् द्वितीय उपसद वाले दिनके व्रतके लिए दुही जानेवाली गौके दो थनोंका तथा तृतीय उपसदमें एक ही थनका दूध दूहा जाता है ।[५] जिस यज्ञमें अग्निचयन कृत्य होता है वहाँ क्रम उलट जाता है, अर्थात् प्रथम उपसदमें एक थनका, दूसरे उपसदमें दो थनका और तीसरे उपसदमें तीन थनोंका दूध दूहा जाता है ।[६] ज्योतिष्टोममें तो तीनसे भी अधिक छह अथवा बारह उपसदोंका अनुष्ठान किया जाता है तब यदि छह उपसद हों तो प्रथम दो उपसदमें एक थनका, दूसरे दो उपसदमें दो थनका तथा तीसरे दो उपसदमें तीनों थनोंका दूध दूहा जाता है । इसी प्रकार यदि बारह उपसद या चौबीस उपसद हों तो न्यायतः समान विभाग करके दूध दूह लिया जाता है ।[७]

---

१. इमां मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वनेः । इमा उ षु श्रुधी गिरः । अया ते अग्ने विधेमोर्जो नपादश्वमिष्टे । एना सूक्तेन सुजात । तं त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः । सपर्येम सपर्यवः (ऋसं० २.६.१-३) ।

२. ऐब्रा० (१.४.२५) ।

३. पुरः यागात्पूर्वं देवतामनुकूलयितुं (आह्वातुं) या ऋक् अनूच्यते पुरोनुवाक्या इति उच्यते (काश्रौसू० पृष्ठसं० ४०) । देवतामाह्वानार्थं या ऋक् होत्रा पठ्यते सानुवाक्या (काश्रौसू० पृष्ठसं० ५०) । अनुवाक्यामें हुवे हवामहे आगच्छ इदं बहिः सीद इस प्रकार के शब्द आते हैं । अनुवाक्या वही श्रेष्ठ होती है जिसके पहले पदमें देवताका नाम आता है (शब्रा० का गंगाप्रसाद द्वारा किया हुआ अनुवाद, पृष्ठसं० १४३-१४४) ।

४. व्रतशब्देनात्र पयःपानमुच्यते, सायण भाष्य (ऐब्रा० १.४.२५) ।

५. काश्रौसू० (८.३.१-२, आपश्रौसू० ११.४.१०) ।

६. काश्रौसू० (८.३.३) ।

७. काश्रौसू० (८.३.४, शब्रा० ३.४.४.२६-२७) ।

आधी रातको यजमानके द्वारा अपनी अग्निहोत्री गौके चारों थनोंके दूहे हुए दूध पीनेका विधान भी प्राप्त होता है ।[1]

ऐब्रा० के अनुसार यजमान पहले दिन गायके चार थनोंसे दूध पीनेका कर्म (व्रत) करता है, द्वितीय उपसदके दिन यजमान गायके तीन थनोंसे दूध पीनेका कर्म करता है, दूसरे दिन सायंकाल यजमान गायके दो थनोंसे दूध पीनेका कर्म करता है और तीसरे दिन प्रात:काल यजमान गायके एक थनसे दूध पीनेका कर्म करता है ।[2]

देवयाज्ञिकके अनुसार दीक्षितके लिए दूध गार्हपत्यपर और पत्नीके लिए दक्षिणाग्निपर पकाया जाता है (पृष्ठसं० २७४) ।

उपसंहार

उपसदके विषयमें कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं— उपसद एक इष्टि है । अग्न्यन्वाधान आदि जो बहुतसी क्रियाएँ दर्शपूर्णमासमें अनुष्ठित हैं, वे इस इष्टिमें नही सम्पन्न होती हैं । इसमें अग्नि-विष्णु और सोमके लिए जुहूसे आज्याहुति दी जाती है । आतिथ्येष्टिके उपरान्त किये जाने वाले सब कृत्य (जैसे सोमको बढाना, निह्नव, सुब्रह्मण्याका पाठ) आदि उपसदिष्टिमें प्रात: एवं अपराह्न तीन दिनों या अधिक दिनों तक किये जाते हैं । उपसदमें न तो आज्याभागों, प्रयाजों और अनुयाजोंकी क्रियाएँ की जाती हैं और न स्विष्टकृत् की आहुति ही दी जाती है (आश्वश्रौसू० ४.८.८) । उपसदकी आहुतियाँ स्रुवासे दी जाती है (धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४९) ।

सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २८३) में छहों उपसदोंका नाम इस प्रकार है— प्रातरय: शयोपसदिष्टि (प्रथम दिनके प्रात: कालकी) । सायं रय: शयोपसदिष्टि (प्रथम दिनके सायंकालकी इष्टि) । प्रात: रज: शयोपसदिष्टि (द्वितीय दिनके प्रात: कालकी) । सायं रज: शयोपसदिष्टि (सायंकालके द्वितीय दिनकी) । प्रात: हरिशयोपसदिष्टि (तीसरे दिनके प्रात:कालकी) । सायं हरिशयोपसदिष्टि (तीसरे दिनके सायंकालकी) ।

ऐब्रा० में कहा गया है कि पहली उपसद आहुति पूर्वाह्णमें और दूसरी अपराह्णमें दी जानी चाहिये । ऐसा करनेसे जितना रात और दिनका सन्धिकाल है उतना ही स्थान विशेष विद्वेषियोंके लिए बचा रहता है (पृष्ठसं० १४३) ।

---

१. भारश्रौसू० (१२.४.५) ।

२. ऐब्रा० (१.४.२५) ।

उपसद आहुतियोंको ऐब्रा० ने जितिय (विजयकी हेतु) नाम दिया है, क्योंकि देवताओंने इनके द्वारा शत्रुविहीन विशिष्ट विजयको विशेष रूपसे प्राप्त किया (पृष्ठसं० १४४)।

आतिथ्येष्टिको यज्ञका सिर और उपसदको यज्ञकी ग्रीवा कहा गया है इसीलिए यह विधान बताया गया है कि एक ही कुशपर उसका अनुष्ठान किया जाना चाहिये क्योंकि सिर और गर्दन समान होते हैं (ऐब्रा० १.४.२५)। सायणका कहना है कि आतिथ्येष्टिमें प्रयुक्त होने वाली बर्हिको अग्निमें नहीं डाला जाता क्योंकि आतिथ्येष्टि इडान्त होती है, इसीलिए जो बर्हि आतिथ्येष्टि की है उसीपर उपसदिष्टि करनेका विधान किया गया (आपश्रौसू० १०.३१.१५-१६)।

सामिधेनियोंके विषयमें कहा गया है कि तीन सामिधेनियोंका पाठ पूर्वाह्णमें और तीन सामिधेनियोंका पाठ अपराह्णमें किया जाना चाहिये (ऐब्रा० १.४.२५)। याज्यानुवाक्याके विषयमें यह विधान किया गया है कि उन्हीं ऋचा-ओंका याज्यानुवाक्याके रूपमें पाठ किया जाना चाहिये जिनमें हन् धातुका प्रयोग हुआ हो। याज्यानुवाक्याके क्रमके सम्बन्धमें कहा गया है कि पहली तीन याज्या और पिछली तीन याज्या प्रात: कालमें पढी जानी चाहिये किन्तु अपराह्णमें पहली तीन याज्या अनुवाक्या के रूप में और बादकी तीन याज्याके रूपमें पढी जानी चाहिये। छन्दोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि सभी याज्यानुवाक्या एक ही छन्दमें होनी चाहिये अनेक छन्दोंमें नहीं। यदि होता भिन्न छन्दों वाली ऋचाओंका प्रयोग करे तो वह यजमानकी ग्रीवामें गण्डमाला रोग उत्पन्न करे, इस प्रकार होता रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। उपसदिष्टि प्रयाज और अनुयाजरहित ही की जाती है, क्योंकि प्रयाज और अनुयाज देवताओंके कवच हैं। दूसरेके प्रहारसे बचनेके लिए कवच पहनते हैं, प्रयाज और अनुयाज न होनेसे शत्रुकृत प्रहारसे बचा जाता है (ऐब्रा० १.४.२५-२६)।

दूसरे दिनकी अन्तिम क्रिया उपसदिष्टि ही है जो अग्नि-विष्णु और सोमकी आहुति, उपसद्होम और गोदोहनके साथ सम्पन्न होती है। उपसदिष्टिके अतिरिक्त प्रायणीयेष्टि, सोमक्रय, आतिथ्येष्टि, तानूनप्त्र, प्रवर्ग्य (जिसका विवेचन परिशिष्ट में किया गया है) सम्भरण, प्रथमपौर्वाह्णिकप्रवर्ग्यप्रचार, घर्मयाग, प्रवर्ग्योद्वासन कृत्य भी दूसरे दिन ही सम्पन्न होते हैं।

तृतीय अध्याय

तृतीय दिवसीय कृत्य

तीसरे दिन मुख्य रूपसे महावेदीका ही निर्माण किया जाता है अन्य कुछ भी कृत्य इस दिन नहीं किये जाते हैं।

महावेदी का निर्माण

महावेदीसे भी पहले प्राचीनवंशका निर्माण किया जाता है जो यज्ञभूमिके पश्चिमभागमें बारह या दस अरत्नि लम्बा-चौडा चौकोर, दक्षिणकी ओर द्वार वाला, पाँच हाथ ऊँचा, चार खम्भोंवाला, ऊपरसे आच्छादित, दक्षिणसे उत्तरकी ओर घास और बल्लीसे युक्त, पूर्वकी ओर अग्रभागवाला और मध्यमें ऊँचा होकर स्थित रहता है। इसके पश्चात् विमितके पूर्वके किनारेसे दो अरत्निपर शंकु गाड़ा जाता है, यही आहवनीयका[१] मध्य है। आवहनीयकी लम्बाई चौडाई एक हाथकी होती है। इसके पीछे सात अरत्निके व्यवधानपर शंकु गाड़ा जाता है जो गार्हपत्यका मध्य है, यहीं साढे तेरह अंगुल रस्सीसे चारों ओर एक गोला बनाया जाता है जिसे गार्हपत्य[२] कहते हैं। सरलावृत्ति (पृष्ठसं० १५६) में कहा गया है कि गार्हपत्यागार उदग्वंश या प्राग्वंश तो हो सकता है किन्तु आहवनीयगृह प्राग्वंश ही होना चाहिये। गार्हपत्यमें चार अंगुल चौड़ी और बारह अंगुल ऊँची मेखला बनायी जाती है। आहवनीयके मध्यसे प्रारम्भ करके गार्हपत्यके मध्य तक जितनी भूमि है, उससे सात अरत्नि लम्बी रस्सी लेकर उसके सातवें भागसे एक अरत्निको जोड़कर अर्थात् आठ हाथकी रज्जु बनाकर उसके किनारोंमें पाश (फन्दे) बनाकर उनके बीचमें

---

१. तन्मध्ये स्थापितोऽअग्निः आहूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्या मुख्यः (प्रधान) होमाधारत्वाद् आहवनीयपदवाच्यः (श्रौपनि० ४.२१)।

२. गार्हपत्यायतने स्थापितोऽअग्निर्गार्हपत्यनामको गृहपतिना यजमानेन संयुक्त इति व्युत्पत्या गृहपतिना संयुक्ते ञ्य इति सूत्रेण ञ्य प्रत्ययात् (श्रौपनि० ४.१६)।

तीसरे-तीसरे भागपर चिह्न करके एक फन्दा तो गार्हपत्यके बीचकी खूँटीमें फँसा दिया जाता है और दूसरा फन्दा आहवनीयके बीचकी खूँटीमें फसाया जाता है। इस रज्जुके बीचकी दो चिह्नोंके पश्चिम वाली रज्जुको पकड़कर दक्षिणकी ओर खींचा जाता है, जहाँ वह चिह्न पड़े वहाँ एक चिह्न बनाकर उस स्थानके उत्तरमें साढे नौ अंगुल दूर एक शंकु गाड़ा जाता है उस शंकुको केन्द्र मानकर उन्नीस अंगुल और एक यव लम्बी रस्सी लेकर गोला बनाया जाता है, वृत्तके बीचमें केन्द्रसे लगी हुई परिधिमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर सीधी रेखा खीची जाती है, जिसके उत्तरका भाग छोड दिया जाता है, दक्षिणका आधाभाग अध गोला ही दक्षिणाग्नि है। श्रौपनि० (५.२३-२४) में कहा गया है कि दक्षिणाग्निके आयतनके बाहर गार्हपत्यकुण्डवत् दो मेखला बनाई जाती हैं, यही दक्षिणाग्नि कुण्ड है। कुण्डमें स्थित दक्षिणाग्नि ही अन्वाहार्यपचन नामसे जानी जाती है। ऊपर बताए हुए चिह्नोंके पूर्व चिह्न स्थानमें रस्सी पकडकर उत्तरकी ओर खींचनेपर जहाँ चिह्न बने वहीं उत्करका मध्य होता है। काश्रौसू० (२.६.५) में कहा गया है कि आग्नीध्रको वेदी कुशोंसे ढककर आहवनीयके उत्तरकी ओर मिट्टी आदिके प्रक्षेपके लिए वितृतीय[1] देश में तीन अंगुल गोल और छह अंगुल विस्तृत एक अंगुल गहरा उत्कर बनाना चाहिये। इसके पश्चात् आहवनीयके मध्यमें शंकुके पीछे तीन अरत्नि दूर स्थानमें शंकु गाड़ा जाता है, उसके दक्षिण और उत्तरमें दो अरत्नि दूर शंकु गाड़ा जाता है यही "श्रोणी" है। आहवनीयसे पूर्व शंकुके दक्षिण और उत्तरमें आरम्भ करके दक्षिणकी ओर बत्तीस अंगुलपर शंकु गाडा जाता है, यह "संग्रह" कहलाता है। फिर उन्नीस अंगुलके कर्कट से वेदीके बीचमें अधगोला बनाया जाता है यह भी "संग्रह" ही है। इसी प्रकार उत्तर में भी संग्रह बनाया जाता है, जिसके भीतर गहराई नहीं होती है, वह संग्रह होता है। गार्हपत्य के उत्तरमें थोड़ा स्थान छोडकर गार्हपत्यके ही समान "सभ्य" का निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार आहवनीय के उत्तरमें "अवसथ्य" का निर्माण किया जाता है। इतना ही "प्राकृत वेदी" का प्रमाण बताया गया है।

---

१. वितृतीये इत्यस्यायमर्थः—गार्हपत्याहवनीयान्तरस्य द्वादशपदपरिमितत्वे पक्षे तदन्तरस्य षड्ढस्तात्मकत्वात् षड्ढस्तां रज्जुं तदीयषष्ठभागेन हस्तात्मकेन संयोज्य अर्थात् सप्तहस्तां रज्जुं गृहीत्वा तस्या अन्तयोः पाशौ कृत्वा मध्ये च तृतीये तृतीये भागे चिह्नं कृत्वा एकं पाशं गार्हपत्यमध्यशंकौ आसंज्य द्वितीयपाशमाहवनीयमध्यशंकौ आसंजयेत्। रज्जुमध्यवर्तिनोद्वयोश्चिन्हयोः पूर्वस्थाने रज्जुं गृहीत्वा उत्तरत आकर्षणे यत्र चिह्नं भवति स वितृतीयो देशः, तदुत्करस्थानम्। काशुप० (१.३०) इति।

इसके प्रश्चात् गार्हपत्यके मध्यके शंकुसे उत्तरमें ढाई अरत्निकी दूरीपर शंकु गाड़ा जाता है यही "खर"[१] का मध्य है। इसी खरपर चौबीस अंगुल चौड़ी, दो अंगुल ऊँची चौसर मिट्टी बिछा दी जाती है। इसी प्रकार आहवनीयके उत्तरमें दूसरा "खर" बनाया जाता है। विमितके पीछे उत्तरकी ओर पाँच अरत्नि चौड़े दो परिवृत्त (पत्नीशाला और स्नानका स्थान) बनाए जाते हैं।

सौमिकवेदीकरण[२]

प्राग्वंशके पूर्वभागमें आहवनीय देशमें स्थित पृथुस्तम्भसे तीन प्रक्रमके अन्तरपर जो शंकु गाडा जाता है यही अन्तःपात है (शब्रा० ३.५.१.१)। कात्यायन (८.३.७) ने अन्तःपातके स्थानपर अन्तःपात्य लिखा है। बौश्रौसू० (६.२२) के अनुसार आहवनीयाग्निके सम्मुख पूर्व की ओर छह प्रक्रमकी[३] दूरीपर एक शंकु गाड़ा जाता है जिसे शालाभुखीय कहते हैं। सम्भवतः बौधायनने अंतःपात्यके स्थानपर "शालामुखीय" शब्दका प्रयोग किया है (धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४९)। सायणके अनुसार ऐष्टिक वेदी और महावेदीके बीचका अन्तःपात्य स्थान ही संचरणका स्थान है (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० १५६)। अंतःपात्यसे पन्द्रह प्रक्रम दक्षिणकी ओर जो शंकु गाडता है वह महावेदीकी दक्षिण श्रोणी, और अन्तःपात्य शंकुसे पन्द्रह प्रक्रम की दूरीपर उत्तरकी ओर जो शंकु गाड़ा जाता है वह महावेदीकी उत्तर श्रोणी है (भारश्रौसू० १२.४.१४-१५)। कात्यायन (८.३.१०) ने विकल्पके रूपमें साढे सोलह प्रक्रम उत्तरकी ओर और उतनी ही दूरीपर दक्षिण की

---

१. उत्तरवेद्या दक्षिणतश्चात्वालपुरीषेण हस्तमात्रं चतुरंगुलोन्नतं चतुरस्रमायतनं करोति तत् खर इत्युच्यते श्रौपनि० (१५४.१६७)।

२. दार्शिकीवेदीमध्येऽन्तर्भाव्य प्राचीनवंशो मण्डपोऽवस्थितः। ततः पूर्वस्यां दिशि सदोहविर्धानादिनां पर्याप्तो भूभागविशेषः। तैः सदः प्रभृतिभिः सह सौमिकी वेदिरित्युच्यते जैमिनीयन्यामालाविस्तर (३.७.३, पृष्ठ १९१)।

३. कात्यायनने प्रक्रमको पदद्वयात्मक माना है, अर्थात् दो पग चलनेसे जितनी दूरी प्राप्त हो उतनी दूरी प्रक्रम शब्दसे अभिहित की गई है। किन्तु गोपीनाथने द्विपदस्त्रिपदो वा शुल्वसूत्रात् (पृष्ठसं० ५८१) कहकर स्पष्टकिया है कि एक प्रक्रम दो अथवा तीन पगके बराबर हो सकता है। रुद्रदत्तने भी एक प्रक्रमको दो-या तीन पगों के बराबर माना है। आपश्रौसू० (५.४.३ पर रुद्रदत्तका भाष्य)।

ओर शंकु गाड़नेका विधान किया है । पी०वी०काणेने लिखा है कि महावेदीका पश्चिम भाग जिसे श्रोणी कहते हैं, तीस प्रक्रमोंका होता है (पृष्ठसं० ५४९) ।

अन्त:पात्य शंकुसे पूर्वकी ओर ३६ प्रक्रमकी दूरीपर जो शंकु गाड़ा जाता है, वही पूर्वार्द्ध होता है । गंगाप्रसाद उपाध्यायने शतपथका हिन्दी अनुवाद करते हुए प्रक्रमको एकपदवाची समझ लिया जो उनकी भूल है । पी०वी०काणे लिखते हैं कि अन्त:पात्य शंकुसे छत्तीस प्रक्रम की दूरीपर जो शंकु गाड़ा जाता है, उसे "यूपावटीय" कहते हैं (पृष्ठसं० ५४९) । वास्तवमें पूर्वार्द्ध ही यूपावटीय है (भारश्रौसू० १२.४.१२-१३) ।

पूर्वार्द्धसे बारह प्रक्रम उत्तरकी ओर तथा बारह प्रक्रम दक्षिणकी ओर जो शंकु गाड़े जाते हैं, उन्हें "अंस"[1] कहा जाता है (काश्रौसू० ८.३.११, शब्रा० ३.५.१.५-६) । इस प्रकार महावेदीका पूर्वीभाग जिसे 'अंस' कहा गया है, चौबीस प्रक्रम विस्तृत होता है (धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४९, भारश्रौसू० १२.४.१६-१७) ।

अन्त:पात्य शंकु तथा पूर्वार्द्ध शंकुको जोडने वाली एक सीधी रेखापर खैरसे बने हुए स्फ्यके द्वारा एक अंगुल ऊँची और एक अंगुल चौड़ी मिट्टी डाली जाती है, जिसे पृष्ठ्या कहते हैं (काश्रौसू० ८.३.१२, धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४९) ।

महावेदीका इतना ही प्रमाण कहा गया है[2] जिसे निम्नांकित मन्त्रसे[3] बनाया जाता है ।[4]

इसके पश्चात् अन्त:पात्य शंकुसे पूर्वकी दिशामें (द्वय पदात्मक) डेढ प्रक्रमकी दूरीपर शंकु गाड़ा जाता है, जो सदस् का पश्चिमी प्रान्त है । उसके दक्षिण की ओर उत्तरकी ओर नौ नौ अरत्निकी दूरी पर शंकु गाड़ा जाता है जिन्हें सदस् की

---

१. पुरस्तात्तिर्यङ्मानमंसशब्देनोक्तम् (काशुसू० १९ पर कर्कका भाष्य, पृ० ५) ।

२. पी०वी० काणेने महावेदीकी लम्बाई छत्तीस प्रक्रम लिखी है । तैसं० (६.२.४.५) के अनुसार "त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति षट्त्रिंशत्प्राची चतुर्विंशतिः पुरस्तात्तिरश्ची" प्रमाणवाली महावेदी सिद्ध होती है ।

३. विमिमे त्वा पयस्वतीं देवानां धेनुं सुदुघामनपस्फुरन्तीम् । इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्तु नः (तैब्रा० ३.७.७.१३) ।

४. भारश्रौसू० (१२.४.९) ।

"श्रोणियाँ"[१] कहते हैं। सदस् के पश्चिमी शंकुके आगे नौ नौ अरत्निकी दूरीपर शंकु गाड़ा जाता है जो सदस् का "पूर्वी भाग" सिद्ध होता है। उसके दक्षिण और उत्तर की ओर नौ नौ अरत्निकी दूरी पर शंकु गाड़े जाते हैं जो सदस् के अंग होते हैं। सदस् के पश्चिम और पूर्वमें द्वार बनाए जाते हैं। अन्तःपात्यके पूर्व दिशामें छह प्रक्रमकी दूरीपर शंकु गाड़ते हैं, उससे दक्षिणकी ओर पाँच अरत्निपर जो शंकु गाड़ा जाता है वही "औदुम्बरी स्थान" है। छह प्रक्रमकी दूरीपर लगाए शंकुके पूर्व इक्कीस अंगुलपर एक और शंकु गाड़ा जाता है उसके भी दक्षिणमें एक सौ उन्तीस अंगुलपर शंकु गाड़ा जाता है यही "प्रशातृ धिष्ण्या" का मध्य है। इसी प्रकार पृष्ठ्याके उत्तरमें नौ अंगुलपर जो शंकु गाड़ा जाता है वहीं "होतृधिष्ण्या" का मध्य है। उसके भी उत्तरमें छत्तीस अंगुल के अन्तरपर चार शंकु गाड़े जाते हैं जो क्रमशः ब्राह्मणाच्छंसी-पोता-नेष्टा और अच्छावाक धिष्ण्याके मध्य होते हैं। शंकुओं पर अट्ठारह अंगुल चौरस और चार अंगुल ऊँचा मिट्टीका जो स्थण्डिल बनाया जाता है उसीको धिष्ण्या कहते हैं।

यूपावट देशके पश्चिममें एक पग छोडकर शंकु गाड़ा जाता है, फिर उसके दक्षिण उत्तरमें ढाई-ढाई अरत्निकी दूरीपर शंकु गाड़े जाते हैं, वे ही उत्तरवेदीकी श्रोणियाँ हैं। कात्यायनने उत्तरेवेदीको रथप्रमाणवाली[२] बताया है (काश्रौसू० ५.३.११)। सरलावृत्तिके अनुसार उत्तरवेदी पीछेकी ओर चार सौ अंगुल और पूर्वकी ओर छह सौ अंगुल विस्तृत होती है (पृष्ठसं० १८५)। अथवा पीछेकी ओर चार अरत्नि तथा आगेकी ओर सात अरत्नि अथवा छह अरत्नि विस्तृत उत्तरवेदी होती है (काश्रौसू० ५.३.१२)। उत्तरवेदी चार अंगुल ऊँची अथवा एक हाथ भर ऊँची होती है। उत्तरवेदीके पीछे एक प्रक्रम का अन्तर देकर हविर्द्धानके पूर्वकी ओरके द्वारके बीचमें शंकु गाड़ा जाता है उसके भी पीछे दस प्रक्रमकी दूरीपर पश्चिमी द्वारके मध्यमें शंकु गाड़ा जाता है, इन द्वार शंकुओंके दक्षिण और उत्तरमें पाँच-पाँच प्रक्रम का अन्तर देकर चार शंकु गाड़े जाते हैं, ऐसा करनेपर दस प्रक्रम वाला, चौरस, चार खम्भों वाला हविर्धान मण्डप तैयार हो जाता है। हविर्द्धान मण्डपमें बराबर नाप वाले चार कोष्ठक बनाकर आग्नेय कोष्ठकके बीचमें चौबीस अंगुलके चौरस चारों कोणोंमें एक एक प्रादेश लम्बे एक एक प्रादेश के अन्तरपर हाथभर गहरे गड्ढे खोदे जाते हैं, उनके ऊपर पृथिवीसे लगे हुए वारण काष्ठ रख

---

१. पश्चात्तिर्यमानं श्रोणिशब्देनोच्यते (काशुसू० १८ पर कर्क भाष्य)।

२. अंगुलसंमितायाः प्रमाणम् (आशुसू० २.१)।

दिये जाते हैं, इन्हीं गड्ढोंको "उपरव" कहा जाता है । हविर्द्धानके वायव्यकोणके उत्तरमें द्विपदात्मक चार प्रक्रमके अन्तरपर एक शंकु गाड़ा जाता है यही आग्नीध्रीयका नैर्ऋत्यकोण है । उसके उत्तरमें पाँच अरत्निकी दूरीपर शंकु गाड़ा जाता है, यही "आग्नीध्रीयका वायव्य कोण" है । इन शंकुकी सीधमें आगे पाँच अरत्निकी दूरीपर दो शंकु गाड़े जाते है, यह आग्नीध्रीय पाँच अरत्नि लम्बा-चौडा चौरस बनाया जाता है । इसी प्रकार दक्षिण में पूर्वद्वार छोडकर पीछेके द्वारपर अग्नीध्रीयके समान ही मार्जालीय आगार बनाया जाता है । इन्हीं दोनोंके बीचमें बारह अंगुल लम्बे चौड़े धिष्ण्या बनाये जाते हैं । महावेदीके उत्तरी अंसके उत्तरमें तीस अंगुलपर शंकु गाड़ा जाता है, तत्पश्चात् उसके पीछे की ओर चौंतीस अंगुलका अन्तर देकर शंकु गाड़ा जाता है, वही "चात्वाल"[१] का मध्य है । यह चात्वाल बत्तीस अंगुलका लम्बा चौड़ा होता है । उत्तर अंसके पीछे बारह प्रक्रमपर पृष्ठ्याके उत्तरमें चौदह प्रकमकी दूरीपर उत्करका मध्य होता है । वहाँ छह अंगुलका गोला बनाकर चार अंगुलका गड्ढा बनाया जाता है । भारश्रौसू० (१२.५.५) में कहा गया है कि चात्वालसे पश्चिमकी ओर बारह प्रक्रम और उतना ही उत्तरकी ओरका स्थान उत्कर कहलाता है । आने जानेका स्थान चात्वाल और उत्करके बीचमें ही होता है । कुछ आचार्योंके अनुसार यह चात्वाल और आग्नीध्रका स्थान अग्निस्थानके बीचमें होना चाहिये (भारश्रौसू० १२.५.७) ।

चात्वालके उत्तरमें पूर्वद्वारपर पाँच अरत्नि विस्तृत "शामित्र" होता है । हविर्द्धान मण्डपको तीन चटाइयोंसे तथा सदोमण्डपको नौ चटाइयोंसे उत्तरकी ओर अग्रभाग करके आच्छादित कर देना चाहिये । महावेदीके शेष अंश आच्छादित हो अथवा न हो किन्तु उत्तरवेदी अवश्य आच्छादित रहे । सदोमण्डप और हविर्द्धान मण्डप चारों ओरसे ढके रहने चाहिये । इस प्रकार सौमिक वेदीका निर्माण किया जाता है ।[२]

यज्ञतत्वप्रकाशमें महावेदीका विस्तार इस प्रकार कहा गया है— महावेदी प्राचीनवंश मण्डपसे पूर्वकी ओर छह पद छोड़कर निर्मित की जाती है जो,

---

१. उत्तरवेदीनिचयार्थं यत्र भूप्रदेशे मृदं खनति स प्रदेशश्चात्वाल उच्यते (वासं० ५.९ पर महीधरका भाष्य) ।

२. काश्रौसू० (पृ० २८४-२८६) पर पं० विद्याधर जी द्वारा प्रदत्त टिप्पणी ।

पूर्व-पश्चिमकी ओर ७२ पद तथा दक्षिणसे उत्तर तक ६० पद विस्तृत होती है। श्रोणी व अंस भाग ४८ पद विस्तृत होते हैं (पृष्ठसं० ६६)।

चात्वालका परिलेखन

कात्यायनने इस कृत्यका विवरण नहीं दिया है किन्तु शब्रा० (३.५.१.२७-३२) ने चात्वालका सब ओरसे परिलेखन और तत्सम्बन्धी मन्त्रोंका विधान इस प्रकार किया है— सर्वप्रथम अध्वर्यु दक्षिणश्रोणी रूप वेदीके अन्तसे उत्तरकी ओर शम्या रखकर मन्त्रके[१] द्वारा स्फ्यसे पहली रेखा खींचता है। पुनः वेदीके आगेकी ओर उत्तरको शम्या रखकर मन्त्रके[२] द्वारा दूसरी रेखा खीचता है। पुनः अध्वर्यु वेदीके किनारेपर पूर्वकी ओर (चात्वालकी दक्षिणसीमापर) शम्या रखकर मन्त्रके[३] द्वारा तीसरी रेखा खींचता है। अन्तमें इसीप्रकार उत्तरकी ओर पूर्वमें अध्वर्यु शम्या रखकर मन्त्रके[४] द्वारा स्फ्यसे रेखा खींचता है।[५] इस प्रकार चारों दिशाओंमें चार शम्या गाड़कर स्फ्यके द्वारा चार रेखाएँ चात्वालके सब ओर खींच दी जाती है।[६]

मृत्तिका खनन

मन्त्र[७] पढकर अध्वर्यु स्फ्यसे चात्वालकी मिट्टी खोदता है।[८] गंगाप्रसाद उपाध्यायने शब्रा० (३.५.१.३२) का हिन्दी अनुवाद भिन्न किया है क्योंकि सायणने "प्रहरति" शब्दका अर्थ "खनेत्" किया है जबकि उपाध्यायजीने स्फ्य फेंकना अर्थ किया है। व्यवहार में स्फ्य नहीं फेंका जाता बल्कि चात्वालकी मृत्तिका ही खोदी जाती है और मृत्तिका खनन में ही उक्त मन्त्रका विनियोग किया गया है। वासं० (५.९) पर महीधरने "प्रहरति" का "मृत्तिका खनेदित्यर्थः" ही अर्थ किया है। इसके

---

१. तप्तायनी मेऽसि (वासं० ५.९)।

२. वित्तायनी मेऽसि (वासं० ५.९)।

३. अवतान् मा नाथितात् (वासं० ५.९)।

४. अवतान् मा व्यथितात् (वासं० ५.९)।

५. शब्रा० (३.५.१.२७-३० काश्रौसू० ५.३.२२)।

६. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० १६९)।

७. विवेदग्निर्नभो नामाग्ने अंगिर आयुना नाम्नेहि (वासं० ५.९)।

८. शब्रा० (३.५.१.३२)।

पश्चात् अध्वर्यु मन्त्र[१] पढ़कर ग्रहणकी हुई मृत्तिकाको उत्तरवेदीके पूर्वभागमें फेंकता है। इसी स्थानपर आग्नीध्र आकर बैठता है।[२] मिट्टी फेंकनेसे पूर्व अध्वर्यु खुदी हुई मिट्टीको हाथमें लिए हुए स्फ्यसे ग्रहण करता है, जिसके लिए मन्त्र[३] पढ़ता है।[४]

मिट्टी खोदनेके लिए शब्रा० ने "विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअंगिर आयुना नाम्नेहि" इतना मंत्रांश ग्रहण किया है, जबकि कात्यायनने इस मन्त्रके दो भाग करके विदेदग्निर्नभो नाम मन्त्रका विनियोग चात्वालकी मिट्टीको खोदनेमें और "अग्ने अंगिरआयुना नाम्नेहि" मन्त्रका विनियोग खुदी हुई मिट्टीको स्फ्यसे ग्रहण करनेमें किया है।

इसी प्रकार कात्यायनने "योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्ते नाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे" मन्त्रका विनियोग मृत्तिका प्रक्षेपमें किया है किन्तु ब्राह्मणने उक्त मन्त्रके दो भाग करके "योऽस्यां पृथिव्यामसि" मन्त्रका विनियोग मृत्तिकाको उत्तरवेदीकी ओर ले जानेमें तथा "यत्ते नाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे" मन्त्रका विनियोग उत्तरवेदीमें मृत्तिकास्थापनमें किया है।

मृत्तिकाखनन, मृत्तिकाहरण तथा मृत्तिकास्थापन क्रिया तीन बार की जाती है।[५] चौथी बार मन्त्र[६] पढ़कर उतनी मृत्तिका पात्रमें लेकर वेदीमें फेंकता है, जितनी मिट्टीकी आवश्यकता उत्तरवेदीके लिए पर्याप्त होती है।[७]

इसके पश्चात् मन्त्रके[८] द्वारा अध्वर्यु भूमिसे संलग्न मिट्टीको हाथसे उत्तरवेदीपर सब ओर फैलाकर बराबर करता है।[९]

---

१. यत्ते नाऽधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे (वासं० ५.९)।
२. शब्रा० (३.५.१.३२)।
३. अग्ने अंगिर आयुना नाम्नेहि (वासं० ५.९)।
४. काश्रौसू० (५.३.२४)।
५. शब्रा० (३.५.१.३१, काश्रौसू० ५.३.२७)।
६. अनु त्वा देववीतये (वासं. ५.९)।
७. काश्रौसू० (५.३.२८)।
८. सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व (वासं० ५.१०)।
९. शब्रा० (३.५.१.३३, काश्रौसू० ५.३.२८)।

शब्रा० (३.५.१.३४) में कहा गया है कि उत्तरवेदी या तो युग (८६ अंगुल) के बराबर अथवा दशपद (१२० अंगुल) के बराबर बनायी जाती है। कात्यायन-श्रौसू० (५.३.२९) के अनुसार उत्तरवेदी शम्यामात्र अर्थात् ३२ अंगुल भी बनायी जा सकती है। इसी उत्तरवेदीके मध्यमें व्याघारणकी सिद्धिके लिए एक छोटी नाभि भी बनायी जाती है (शब्रा० ३.५.१.३४)।

इसके पश्चात् अध्वर्यु उत्तरवेदीको जलसे सींचता है तथा यह मन्त्र[1] पढता है। सींचनेके पश्चात् मन्त्र[2] पढकर अध्वर्यु वेदीपर रेत डालता है।[3] इसके पश्चात् यज्ञीयवृक्षकी शाखासे उत्तरवेदीको आच्छादित किया जाता है।[4] आपश्रौसू० (११.५.६) ने प्लक्षकी टहनियोंसे वेदीको ढकनेका विधान किया है।

तृतीय दिवसीय कृत्यकी समाप्ति

तीसरे दिन प्रातःकाल प्रवर्ग्य और उपसदिष्टि सम्पन्न करके महावेदीका निर्माण किया जाता है, तत्पश्चात् यजमानका व्रतकरण (पयःपान) तथा सायंकालको सायंकालीन प्रवर्ग्य और उपसद सम्पन्न करके सुब्रह्मण्याका आवाहन किया जाता है। सुब्रह्मण्यापाठके साथ ही तीसरे दिनका कृत्य सम्पन्न हो जाता है।[5]

चात्वालका परिलेखन, उत्तरवेदीका निर्माण तथा उसके आच्छादनका जो वर्णन किया है वह इसलिए कि अग्निष्टोमके प्रसंगमें ही शब्रा० ने उक्त क्रियाओंका वर्णन किया है जबकि कात्यायनने उक्त क्रियाओंका महावेदीके प्रसंगमें न करके चातुर्मास्यके प्रसंगमें (पाँचवें अध्यायमें) किया है तथापि चातुर्मास्यमें भी उक्त क्रियाएँ उसी प्रकार सम्पन्न की जाती हैं, जिस प्रकार अग्निष्टोममें सम्पन्न की जाती है। अतः शब्रा० में अग्निष्टोमके प्रसंगमें और कात्यायन श्रौतसूत्रमें चातुर्मास्यके प्रसंगमें उक्त क्रियाओंका विधान विद्यमान होने से उन क्रियाओं (चात्वालके सब ओर परिलेखन, चात्वाल-मृत्तिका खनन, मृत्तिकाका आहरण, उसका उत्तरवेदीमें स्थापन, उत्तरवेदीका सिंचन, आच्छादन) का इस तृतीय अध्यायमें विवेचन किया गया है।

---

१. सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व (वासं० ५.१०)।

२. सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व (वासं० ५.१०)।

३. शब्रा० (३.५.१.३६, काश्रौसू० ५.३.३२)।

४. शब्रा० (३.५.१.३६, काश्रौसू० ५.४.१)।

५. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ६५.६६)।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ दिवसीय कृत्य

तीसरे दिन जहाँ केवल महावेदीका ही निर्माण किया जाता है, वहाँ चौथे दिन अनेक कृत्य सम्पन्न होते हैं। यूप तथा पशु सम्बन्धी कृत्य इसी दिन किये जाते हैं।

अग्निप्रणयन

चौथे दिन सबसे पहले अग्निप्रणयन[१] नामक कृत्य सम्पन्न होता है। इस कृत्य में सर्वप्रथम आहवनीय अग्निपर समिधाएँ रक्खी जाती हैं, अग्निके नीचे सिकता (बालू) बिछाई जाती है, व्याघारणार्थ गार्हपत्यपर आज्य गरम किया जाता है, स्रुवा एवं स्रुक् दोनोंको मांजकर साफ किया जाता है, स्रुवाके द्वारा स्रुचिमें पाँच बार आज्य ग्रहण किया जाता है, अग्नि प्रज्वलित होनेपर जलती समिधाको उठाकर उपयमनीपर स्थापित किया जाता है।[२]

प्रैष कथन

इस अवसरपर अध्वर्यु होताको "अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि" प्रैष करता है।[३] कात्यायनने[४] प्रैषका विधान इसप्रकार किया है "अग्निभ्यां प्रह्रियमाणाभ्या-

---

१. प्राचीनवंशगत आहवनीयेऽवस्थितस्याग्नेः सौमिक्यामुत्तरवेद्यां नयनं यदस्ति तदेतदत्राग्निप्रणयनं (ऐब्रा० १.५.२८ पर सायण भाष्य, पृष्ठ सं० १६२)।

२. शब्रा० (३.५.२.१)।

३. शब्रा० (३.५.२.२, ऐब्रा० १.५.२८)।

४. काश्रौसू० (५.४.७)।

मनुब्रूहि"। तब होता ऋग्वेदके कुछ मन्त्रोंका[1] पाठ करता है।[2]

इन मन्त्रोंमें पहला और अन्तिम मन्त्र तीन-तीन बार पढा जाता है।[3] होता द्वारा मन्त्र-पाठ हो चुकनेपर अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाताको "एकस्पयाऽनूदेहि" यह प्रैष

---

१. यदि ब्राह्मण यजमान हो तो होता इस गायत्री-छन्दस्क ऋचाका पाठ करता है— प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्। हव्या नो वक्षदानुषक् (ऋसं १०.१७६.२)। यदि यजमान क्षत्रिय हो तो होता त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचाका पाठ करता है— इमं महे विदथ्याय शूषं शश्वत् कृत्व ईड्याय प्रजभ्रुः। शृणोतु नो दम्येभिरनीकैः शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्रः (ऋसं० ३.५४.१)। ऋग्वेदमें यह मन्त्र निचृत पंक्ति में लिखा मिलता है जबकि ऐब्रा० ने इस मन्त्र को त्रिष्टुप् छन्दस्क बताया है। वैश्य जातिके यजमानका होता जगती-छन्दस्क इस, ऋचाका पाठ करता है- "अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे (ऋसं० ४.७.१)। ऋग्वेदमें यह मन्त्र जगती छन्दस्क न होकर त्रिष्टुप् छन्दस्क है, जबकि ऐब्रा० ने इस मन्त्रको जगती-छन्दस्क लिखा है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तीनों जातिके यजमानका होता निम्नांकित ऋचाका पाठ करता है, जो अनुष्टुभ् छन्दस्क है- अयमुष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते। रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेततित्मना (ऋसं० १०.१७६.३)। सोमक्रयके प्रसंगमें यह विधान किया गया था कि अग्निप्रणयन तक मन्त्रका उपांशु ही पाठ होगा, अतः अग्निप्रणयन कृत्यके अन्तर्गत होता अनुष्टप् छन्दस्क उक्त ऋचाका पाठ उच्च स्वरसे करके उस वाणीका विसर्जन करता है, जिस वाणीको सोमक्रयके प्रसंगमें उपांशु कहनेका विधान किया था- अयमुष्येत्येतस्यामुच्युवांशुरुपांवाचं विसृजेत् (ऐब्रा० १.५.२८ पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० १६५)। अन्य पठनीय ऋचाएँ इस प्रकार हैं— अयमग्निरुरुष्यत्यमृतादिव जन्मनः। सहसश्चित् सहीयान् दे ो जीवातवे कृतः (ऋसं० १०.१७६.४) इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि। जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे (ऋसं० ३.२९.४)। अग्ने विश्वेभिः स्वनीक देवैरूर्णावन्तं प्रथमः सीद योनिम्। कुलायिनमं घृतवन्तं सवित्रे यज्ञं नय यजमानाय साधु (ऋसं० ६.१५.१६) सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान् त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ। देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः (ऋसं० ३.२९.८)। नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः। अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः (ऋसं० २.९.१)। त्वं दूतस्त्वमु नः परस्पास्त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता। अग्ने तोकस्य नस्तने तनूनामप्रयुच्छन् दीद्यद् बोधि गोपाः (ऋसं० २.९.२)।

२. ऐब्रा० (१.५.२८), श्रौतकोशः (पृष्ठ सं० ५५८-५५९)।

३. ऐब्रा० (१.५.२८)।

करता है ।[१] तब प्रतिप्रस्थाता स्फ्यसे भूमिमें रेखा खींचता हुआ चलता है ।[२] शब्रा० (३.५.२.२-३) में कहा गया है कि बीचके शंकुने गार्हपत्यका जितना भाग वेदीसे अलग कर दिया उसको प्रतिप्रस्थाता स्फ्यसे वेदीके निचले भाग तक रेखा खींचकर जोड़ देता है । शब्रा० ने उत्तरवेदीके पीछे पीछे जानेका निषेध किया है । कात्यायनश्रौसू० (५.४.९) में कहा गया है कि प्रतिप्रस्थाता स्फ्यसे आहवनीयसे प्रारम्भ करके वेदीकी दक्षिणश्रोणी पर्यन्त अथवा उत्तरवेदी पर्यन्त रेखा खींचता है ।

उत्तरवेदीका प्रोक्षण

दोनों वेदीके मध्यमें स्थित होकर, उत्तरकी ओर मुँह करके अध्वर्यु उत्तरवेदीका प्रोक्षण आगेकी ओर मन्त्रसे,[३] पीछेकी ओर मन्त्रसे,[४] दक्षिणकी ओर मन्त्रसे[५] तथा उत्तरकी ओर मन्त्रसे[६] करता है ।[७] गिरिधरभाष्यमें कहा गया है कि अध्वर्यु वेदीके भीतर जल रख सकता है (पृष्ठसं० २०९) । अब प्रोक्षणीपात्रमें[८] जो जल बच रहता है उसको दक्षिणअंससे संलग्न वेदीके बाहर (अग्निकोणमें) डालता है ।[९] यदि अध्वर्यु अभिचार करना चाहे तो उसको "इदमहं तप्तं वारमुं बहिर्द्धा यज्ञान्निः सृजामि" मन्त्रका पाठ करना चाहिये ।[१०] अभिचारके लिए अध्वर्युको अमुं के स्थानपर उस व्यक्तिका द्वितीयान्त नाम उच्चारण करना चाहिये जिससे वह द्वेष करता हो[११] यदि अध्वर्यु अभिचार नहीं करता तो यह मन्त्र[१२] पढना चाहिये ।

---

१. काश्रौसू० (५.४.७, शब्रा० ३.५.२.२) ।
२. शब्रा० (३.५.२.२ पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० १७०) ।
३. इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु (वासं० ५.११) ।
४. प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु (वासं० ५.११) ।
५. मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु (वासं० ५.११) ।
६. विश्वकर्मा त्वाऽऽदित्यैरुत्तरतः पातु (वासं० ५ ।११) ।
७. काश्रौसू० (५.४.१०, शुब्रा० ३.५.२.५-७) ।
८. व्रीह्यादिप्रोक्षणार्थं अग्निहोत्रहवण्यां गृहीताः संस्कृता आपः प्रोक्षणीपदवाच्याः (श्रौपनि० १७.१३४) ।
९. शब्रा० (३.५.२.८, काश्रौसू० ५.४.११) ।
१०. शब्रा० (३.५.२.८, काश्रौसू० ५.४.११ पर सरलावृत्ति, पृष्ठसं० १९०) ।
११. अमुमित्यस्य स्थाने अभिचर्यमाणस्य द्वितायान्तं नामाऽऽदिशेत् (काश्रौसू० पर सरलावृत्ति) ।
१२. इदमहं तप्तं वार्बहिर्द्धा यज्ञान्निः सृजामि (वासं० ५.११) ।

नाभि-व्याघारण

अध्वर्यु उत्तरवेदीके उत्तरकी ओर बैठकर प्रथम दक्षिण अंसपर, फिर उत्तर श्रोणी पर, फिर दक्षिण श्रोणीपर, फिर उत्तर अंसपर तथा अन्तमें पाँचवी बार बीचमें हिरण्य रखकर और उसी हिरण्यको देखता हुआ जुहूमें पाँच बार आज्य ग्रहण करके सबसे पहले नाभिके दक्षिण अंसमें मन्त्रसे[१] पहली आहुति, उत्तर श्रोणीमें मन्त्रसे[२] दूसरी आहुति, दक्षिण श्रोणीमें मन्त्रसे[३] तीसरी आहुति, उत्तर अंसमें मन्त्रसे[४] चौथी आहुति और मध्यमें मन्त्रसे[५] पाँचवी आहुति देता है।[६] इसके पश्चात् मन्त्रसे[७] अध्वर्यु होमके लिए नीचे किये हुए स्रुचिको ऊपर उठाता है।[८]

परिधि रखना

आहुति देनेके पश्चात् अध्वर्यु देवदारुसे निर्मित परिधि उत्तरवेदीके मध्य-देश रूप नाभिपर बीचमें मन्त्रसे,[९] दक्षिणकी ओर मन्त्रसे,[१०] उत्तरकी ओर मन्त्रसे[११] तथा सम्भार (गुग्गुल, सुगन्धि, तेजन, भेड़के रोम आदि) को मन्त्रसे[१२]

---

१. सिंह्यसि स्वाहा (वासं० ५.१२) सिंहीरसि सपत्नसाही स्वाहा (तैसं० १.२.१२)।

२. सिंह्यसि ब्रह्मवनिःक्षत्रवनिः स्वाहा (वासं० ५.१२)। सिंहीरसि सुप्रजावनिः स्वाहा (तैसं० १.२.१२)।

३. सिंह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा (वासं० ५.१२)। सिंहीरसि रायस्पोषवनिः स्वाहा (तैसं० १.२.१२)।

४. सिंह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा (वासं० ५.१२)। सिंहीरसि आदित्यवनिः स्वाहा (तैसं० १.२.१२)।

५. सिंह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहा (वासं० ५.१२)। सिंहीरस्यावह देवान् देवयते यजमानाय स्वाहा (तैसं० १.२.१२)।

६. शब्रा० (३.५.२.११-१२, काश्रौसू० ५.४.१२, बौश्रौसू० ४.३)।

७. भूतेभ्यस्त्वा (वासं० ५.१२)। तैसं० (१.२.१२)।

८. शब्रा० (३.५.१२-१३, काश्रौसू० ५.४.१३, आपश्रौसू० ७.५.५)।

९. ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृंह (वासं० ५.१३)। विश्वायुरसि पृथिवीं दृंह (तैसं० १.२.१२)।

१०. ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृंह (वासं० ५.१३)। तैसं० (१.२.१२)।

११. अच्युतक्षिदसि दिवं दृंह (वासं ५.१३)। तैस० (१.२.१२)।

१२. अग्नेः पुरीषमसि (वासं० ५.१३)। तैसं० (१.२.१२) में मन्त्रपाठ इस प्रकार है— अग्नेर्भस्मास्यग्ने पुरीषमसि (तैसं० १.२.१२)।

रखता है ।[१] परिधि रख चुकनेपर अग्निप्रणयन कृत्यकी परिसमाप्ति हो जाती है ।

प्रस्तुत अग्निप्रणयन के सम्बन्धमें यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कात्यायन तथा भारद्वाजने अपने श्रौतसूत्रमें अग्निप्रणयनका वर्णन चातुर्मास्यके प्रसंगमें विस्तारसे किया है, अग्निष्टोमके प्रसंगमें नामोल्लेख मात्र है । संहिताकी दृष्टिसे देखा जाय तो अग्निप्रणयन नामक कृत्यमें पाँचवे अध्यायके नौसे लेकर तेरह संख्यक मन्त्रोंका विनियोग हुआ है, जिसका उल्लेख शब्रा० ने तृतीय काण्डमें ही अग्निष्टोमके प्रसंगमें किया है जबकि कात्यायनने चातुर्मास्यमें इन मन्त्रोंका विनियोग विधिवत् विस्तारपूर्वक किया है । तात्पर्य यह है कि पाँचवें अध्यायके नौसे लेकर तेरह संख्यक मन्त्रोंका विनियोग जहाँ शब्रा० ने अग्निष्टोमके अन्तर्गत किया है, वहीं माध्यन्दिन शाखाके उक्त मन्त्रोंका विनियोग कात्यायनने अपने श्रौत सूत्रमें चातुर्मास्यके प्रसंगमें किया है । तैसं० में यद्यपि महावेदी निर्माणके पश्चात् अग्निप्रणयन कृत्यमें विनियुक्त होने वाले मन्त्रोंका कथन माध्यन्दिन शाखाके-समान ही क्रमशः है किन्तु जहाँ कात्यायन श्रौतसूत्रमें उक्त मन्त्रोंका विनियोग कात्यायनने चातुर्मास्यके प्रसंग में किया है, वहाँ भारद्वाजने चातुर्मास्यमें उक्त मन्त्रोंका विनियोग न करके निरूढपशुबन्धके प्रसंगमें उक्त मन्त्रोंका विनियोग प्रस्तुत किया है, इस प्रकार हम देखते हैं कि यही अग्निप्रणयन जहाँ अग्निष्टोममें सम्पन्न होता है, वहीं यह क्रिया चातुर्मास्य और निरूढपशुबन्ध दोनों यागोंमें की जाती है । बौधायन तथा आपस्तम्ब दोनोंने निरूढपशुबन्ध यागमें ही अग्निप्रणयन कृत्यमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्रोंका कथन किया है ।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि माध्यन्दिन तथा तैत्तिरीय शाखाने यद्यपि मन्त्रोंका उल्लेख अग्निष्टोम यागमें किया है तथापि कात्यायनने चातुर्मास्ययागमें और भारद्वाज ने तथा बौधायन और आपस्तम्बश्रौतसूत्रकारने निरूढपशुबन्ध यागमें उक्त मन्त्रोंका कथन किया है । उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निप्रणयन केवल अग्निष्टोममें ही नहीं किया जाता बल्कि चातुर्मास्य और निरूढपशुबन्धयागमें भी यह कृत्य सम्पन्न होता है ।

---

१. शब्रा० (३.५.२.१४-१५, काश्रौसू० ५.४.१४-१५, बौश्रौसू० ४.३) ।

हविर्धानप्रवर्तन तथा सदोहविर्धाननिर्माणादि

हविर्धानशकट-स्थापना

देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २७९) के अनुसार सबसे पहले उत्करपर हविर्धान शकट धोए जाते हैं, उसके पश्चात् उत्तरवेदीके आगे दोनोंको खड़ा किया जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु महद्धविर्धान शकटको ग्रहण करके वेदीके दक्षिण ओरसे ले जाकर शालाके दक्षिणकी ओर ले जाता है, और प्रतिप्रस्थाता दूसरे छोटे हविर्धानको लेकर वेदीके उत्तरकी ओरसे ले जाकर शालाके उत्तरकी ओर ले जाता है। शालाके पीछे दोनों शकटोंके मुखोंका स्पर्श किया जाता है। तब अध्वर्यु अपने महद्धविर्द्धानको दक्षिणकी ओरसे ही लेकर लौटता है और प्रतिप्रस्थाता उत्तरकी ओरसे लौटकर अपने हविर्द्धानको शालामें लाता है।

इसके पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपने अपने हविर्द्धानको वेदीके मध्यमें शालाके आगे पृष्ठ्याके दोनों ओर पूर्वकी ओर मुखकरके दो अरत्निके अन्तरालपर स्थापित कर देते हैं (काश्रौसू० ८.३.१९)। अध्वर्यु अपने महद्धविर्द्धानको पृष्ठ्याके दक्षिणकी ओर और प्रतिप्रस्थाता पृष्ठ्याके उत्तरकी ओर स्थापित करते है (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २८९)। भारद्वाजने विधान किया है कि जो दोनों हविर्द्धान शकट धुल गए हैं, जिनकी गाठें खुल गई हैं, जिनमें जुआ लगा हो, शम्याएँ जिनमें लगी हुई हों, तथा जिनपर छतरी बनी हुई हो, ऐसे हविर्द्धान शकट प्राग्वंशके दोनों ओरसे महावेदीके पीछे ले जाए जाने चाहिये (१२.६.९)।

दोनों हविर्द्धान शकटके ऊपर छदिरारोपण

हविर्द्धानमण्डपके छादनार्थ उत्तरकी ओर एक चटाई दस अरत्नि लम्बी हविर्द्धानके ऊपर बीचमें डाली जाती है।[1] तृणादिसे निर्मित यदि चटाई न प्राप्त हो सके तो भित्ति[2] का प्रयोग करना चाहिये (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २७९)। कात्यायनने विधान किया है कि जहाँ जहाँ आवरणके लिए चटाईका विधान है, वहाँ वहाँ बाँसके टुकडोंसे निर्मित भित्ति का प्रयोग किया जा सकता है (काश्रौसू० ८.३.२२)। हविर्द्धानके आगे इषीकतृणजन्य शलाका रूप रराटी (रज्जू) को छत

१. काश्रौसू० (८.३.२० पर सरलावृत्ति)।

२. वंशमयः कलंजो भित्तिः (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २७९)।

थामनेके लिए ऊपर स्थित बाँसमें बाँधा जाता है ।[१] देवयाज्ञिकके अनुसार वस्त्रनिर्मित ललाटपट्टिका हविर्द्धान शकटके आगे लगाई जाती है (पृष्ठसं० २७९) । इसके पश्चात् पार्श्वस्थ दो चटाईयोंसे शकटको ढककर शेषदेशके आवरणके लिए पहले से स्थित चटाईसे आगे और पीछे एक और चटाईका स्थापन किया जाता है ।[२] कात्यायनने पार्श्वस्थ चटाईका परिमाण दस अरत्नि (काश्रौसू० ८.३.२४ पर सरलावृत्ति) बताया है किन्तु देवयाज्ञिकपद्धतिमें अट्ठारह अरत्नि परिमाणकी चटाईका उल्लेख किया गया है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २७९) ।

अब अध्वर्यु हविर्धानमण्डपकी निष्पादन सामग्रीको शकटके ऊपर स्थापित करके शालामें आता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २५०) । कात्यायनश्रौतसूत्रकी सरलावृत्तिमें कहा गया है कि यदि पहले ही मण्डप बना लिया जाय तो मण्डपका केवल स्पर्श किया जाना चाहिये, सामग्रीको रखनेकी आवश्यकता नहीं हैं (पृष्ठ सं० २८९) ।

सावित्र होम

ब्रह्मा और यजमान शालाद्वार्यपर दक्षिणकी ओर बैठ जाते हैं (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २८०) । काश्रौसू० (८.३.२६) में कहा गया है यही शालाद्वार्य गार्हपत्य नामसे अभिहित होती है । गार्हपत्यमें सम्पन्न होने वाले सभी कृत्य आगे इसी शालाद्वार्य अग्निमें सम्पन्न होंगे । बौश्रौसू० (६.२४) ने शालाद्वार्यको शालामुखीय कहा है । सत्याषाढने (पृष्ठसं० ६९५) उत्तरवेदीमें आहुति देनेका विधान किया है, जबकि कात्यायनने मन्त्रके[३] साथ पूर्णाहुतिवत् आज्यको संस्कृत करके स्रुचिमें चार बार आज्य ग्रहण करके अध्वर्युके द्वारा शालाद्वार्यमें आहुति देनेका विधान किया है ।

---

१. काश्रौसू० (८.३.२३) ।

२. काश्रौसू० (८.३.२४ पर सरलावृत्ति) ।

३. युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा (वासं० ५.१४) । तैसं० (१.२.१३) में यद्यपि यह मन्त्र दिया हुआ है किन्तु परिष्टुतिः के स्थानपर सवितुः पद है, शेष सम्पूर्ण मन्त्र वासं० से मिलता है ।

शकटके दक्षिणमार्गमें होम

देवयाज्ञिकपद्धतिमें कहा गया है कि शालाद्वार्यमें ही पूर्णाहुतिवत् आज्यसंस्कृत करके पुन: चार बार आज्य ग्रहण करके अध्वर्यु "पत्नि निष्क्रमस्त्वेति" प्रैष करता है, तब ब्रह्मा-यजमान और अध्वर्यु तो पूर्वद्वारसे निकलकर दक्षिणहविर्द्धानके समीपमें आकर बैठ जाते हैं और पत्नी दक्षिण द्वारसे निकलकर वहाँ आती है (पृष्ठसं० २८०)।

इसके पश्चात् अध्वर्यु दक्षिण हविर्द्धानके दक्षिणचक्रके मार्गमें हिरण्य रखकर मन्त्रसे[१] विष्णुके लिए आहुति देता है।[२] मिश्रभाष्यके अनुसार यह होम शालाद्वार्यमें ही किया जाता है (पृष्ठसं० १७५)।

पत्नीके द्वारा अयुगपत् अक्षधुरोरंजन

दक्षिण द्वारसे आई हुई पत्नीके हाथमें अध्वर्यु शेष आज्यको देता है, तब पत्नी उत्तान दक्षिण हस्तसे दक्षिण अक्ष-धुरि[३]पर आज्य लगाती है और फिर सव्य हाथमें स्थित आज्य को दाएँ हाथमें ग्रहण करके उत्तरकी ओरके अक्षकी धुरिमें आज्यको चुपड़ती है।[४] इस अवसरपर मन्त्र[५] पढा जाता है। सत्याषाढ श्रौतसूत्र (पृष्ठसं० ६९५) में कहा गया है कि घरमें स्थापित पदपांसुके तीसरे भागके दो विभाग करके पत्नी दक्षिणहाथसे दक्षिणहविर्द्धानके दक्षिण चक्रको निकालकर नीचे प्रदेशसे लेकर ऊपर प्रदेश तक तीन बार पदपांसु लगाती है। अंजनानन्तर उसके उस चक्रको लगा देती है। यही क्रिया उत्तरी हविर्द्धानमें करके उत्तरी हविर्द्धानके चक्रको लगाती है। दोनों बार "देवश्रुतौ" (तैसं० १.२.१३) मन्त्र पढा जाता है। विकल्पके रूपमें आज्यमें पदपांसु मिलाकर धुरोरञ्जन करनेका विधान है अथवा पहले केवल आज्यसे और फिर केवल पदपांसुसे अथवा दोनोंको मिलाकर धूरिमें अंजन करनेका विधान है। यदि पदपांसुका अभाव हो तो किसी युद्धस्थानसे पांसु

---

१. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा (वासं० ५.१५)। (तैसं० १.२.१३)।

२. काश्रौसू० (८.३.१७, शब्रा० ३.५.३.१३, बौश्रौसू० ६.२४)।

३. अक्षश्चक्रयोर्मध्यतनं तिर्यक्काष्ठं तस्मिन्यत्र चक्रं प्रोतं भवति स प्रदेशो अक्षधुरित्युच्यते (सत्याषाढ श्रौतसूत्रपर गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ६९५)।

४. काश्रौसू० (८.३.२९, शब्रा० ३.५.३.१३)।

५. देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतम् (वासं० ५.१७)।

लाकर आज्यमें मिलाया जा सकता है अथवा लौकिक आज्यसे अन्य पांसुको मिलाकर उससे अंजन करके यह कृत्य किया जा सकता है। पहियेकी धुरीको आज्यसे सिक्त करनेका काम केवल पत्नीकर्तृक ही है, अन्यकर्तृक नहीं[१] (सत्याषाढ श्रौतसूत्रपर गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं ६९५.६९६)।

दक्षिण हविर्द्धानके दक्षिणमार्गमें अध्वर्युके द्वारा हिरण्य रखकर आहुति देने के पश्चात् पत्नीके द्वारा पहियोंके धुरोंपर आज्यसे सेचन करनेके अनन्तर अब अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को स्रुचि और आज्यपात्र देता है और दोनों आहवनीय और गार्हपत्यके पीछेभागसे पत्नीको ले चलते हैं (काश्रौसू० ८.३.३०, शब्रा० ३.५.३.१३)।

इसके प्रश्चात् प्रतिप्रस्थाता उत्तरी हविर्द्धानके दक्षिणमार्गमें हिरण्य रखकर मन्त्र[२] के द्वारा चार बारमें आज्य ग्रहण करके आहुति देता है।[३] जैसे पहले पत्नीको आज्य दिया गया था, उसी प्रकार अब फिर प्रतिप्रस्थाता पत्नीको हुतशेष आज्य देता है और पत्नी चतुर्गृहीतशेषको दक्षिण हाथसे ग्रहण करके उत्तरहविर्द्धानके दोनों पहियोंकी धुरीपर क्रमशः पूर्ववत् आज्य सेचन करती है और प्रत्येक बार "देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्" मन्त्रका पाठ करती है।[४] भारश्रौसू० (१२.७.५) ने यद्यपि उक्त क्रियाका विधान किया है किन्तु इतने अंशमें विभिन्नता है कि कात्यायनने तो उत्तर हविर्द्धानके दक्षिणमार्गमें हिरण्य रखनेका विधान किया है और भारद्वाजने उत्तरह-

---

१. भारद्वाजश्रौसू० (१२.६.१२-१३) में कहा गया है कि यजमान पत्नी आ नो वीरो जायतां कर्मण्यः (तैसं० १.२.१३) मन्त्र पढकर अपने हाथ पूर्वकी ओर आगे बढाकर सोम गौके चरणचिह्नसे इकट्ठी की हुई मिट्टीका तीसरा भाग दक्षिण शकटके दाहिने धुरेमें लगाती है बाएँ में नहीं लगाती, किन्तु विकल्पके रूपमें कुछ आचार्योंने दोनों धुरोमें मिट्टी लगानेका विधान किया है। आपश्रौसू० (११.६.४,५,७,८,९) में कहा गया है मिट्टी दो बार लगानी चाहिये, अथवा आज्य मिलाकर लगानी चाहिये। मिट्टी दोनों धुरों पर लगानी चाहिये, ऐच्छिक रूपसे एक ही बार मिट्टी पहले धुरे में लगायी जानी चाहिये। जिस प्रकार दक्षिणहविर्द्धान की धुरीपर क्रिया की जाय उसी प्रकार उत्तर हविर्द्धानकी धुरीपर क्रिया की जानी चाहिये।

२. इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थं पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा (वासं० ५.१६, तैसं० १.२.१३.२)।

३. काश्रौसू० (८.३.३०, शब्रा० ३.५.३.१४, बौश्रौसू० ६.२४, भारश्रौसू० १२.७.५)।

४. शब्रा० (३.५.३.१४, काश्रौसू० ८.४.३१)।

विर्द्धानके उत्तरमार्गमें हिरण्य रखनेका विधान किया है । इसी अवसर पर भारद्वाजने सामान्य सिद्धान्तका विवरण दिया है कि दक्षिण हविर्द्धानकी सारी क्रियाएँ अध्वर्युको और उत्तरी हविर्द्धानकी सारी क्रियाएँ प्रतिप्रस्थाताको करनी चाहिये ।[१]

प्रैष कथन

इस अवसरपर अध्वर्यु होता को "हविर्द्धानाभ्यां प्रवर्त्यमानाभ्यामनुब्रूहि" प्रैष करता है ।[२] सत्याषाढश्रौतसूत्रने विकल्पके रूपमें केवल इतने "प्रवर्त्यमानाभ्यामनुब्रूहि" प्रैषका विधान किया है ।[३] भारद्वाजने बिल्कुल भिन्न "हविर्धानाभ्यां प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रूहि" प्रैषका विधान किया है ।[४]

प्रैष किये जानेपर होता ऋग्वेदके मन्त्रोंका[५] का पाठ करता है ।[६] ज्यों ही होता पहली ऋचाका तीन बार पाठ करता है त्यों ही अध्वर्यु तथा लोग जुए और

---

१. भारश्रौसू० (१२.७.६)।

२. काश्रौसू० (८.४.१, शब्रा० ३.५.३.१६)।

३. पृष्ठसं० (६९६)।

४. भारश्रौसू० (१२.७.१)।

५. युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः (ऋसं० १०.१३.१)। प्रेतां यज्ञस्य शम्भुवा युवामिदा वृणीमहे । अग्निं च हव्यवाहनम् (ऋसं० २.४१.१९)। द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम् (ऋसं० २.४१.२०)। आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये (ऋसं० २.४१.२१)। यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तः। आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः(ऋसं० १०.१३.२)। अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः। असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते (ऋसं० १.८३.३)। निम्नांकित मन्त्रका पाठ होता उस समय करता है जब वह समझ लेता है कि हविर्धान अपने स्थानपर रखकर सम्यक् रूपसे ढक दिये गए हैं– परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः(ऋसं० १.१०.१२)। होता रराटीको देखते हुए निम्नांकित मन्त्र पढता है— विश्वा रूपाणि प्रति मुंचते कविः। प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे । वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति (ऋसं० ५.८१.२)।

६. ऐब्रा० (१.५.२९)।

बाँसोंके साथ दोनों शकटोंको मन्त्रके[१] साथ उठा लेते हैं, यदि इस अवसरपर धुरा पिचर पिचर शब्द करे तो मन्त्रका[२] पाठ किया जाता है ।[३] कात्यायनश्रौतसूत्रमें कहा गया है कि यदि शकटके प्रवर्तनकालमें ध्वनि उत्पन्न हो, तो ही मन्त्र[४] पढा जाना चाहिये यदि ध्वनि उत्पन्न नहीं होती तो मन्त्र नहीं पढा जाना चाहिये । सरलावृत्ति (पृष्ठसं० २९१) में कहा गया है कि इसी अवसरपर "वरुणाय स्वाहा" से कालाहुति देनी चाहिये और "यज्ञस्य दोह" मन्त्रका वाचन किया जाना चाहिये ।

शकटाभिमन्त्रण

आहवनीय अग्निसे युक्त उत्तरवेदीके पीछे तीन प्रक्रम (छह पद) की दूरीपर अथवा अपनी इच्छानुसार न तो अधिक दूर और न अधिक पास, दोनों शकटोंको स्थापित किया जाता है । गाड़ीमें चक्र होता है, जिसमें तीन फलक होते हैं, उसमें मध्यम फलकको नभ्यस्थ कहते हैं, उसी नभ्यस्थ स्थानपर मन्त्रके[५] द्वारा अभिमन्त्रण किया जाता है ।[६] भारश्रौसू० (१२.७.८) ने पृष्ठ्याके दोनों ओर भी दोनों शकटोंके खड़े होनेका विधान किया है ।

दक्षिणहविर्द्धानशकटका उपस्तम्भन

अभिमन्त्रणके अनन्तर अध्वर्यु मन्त्र[७] पढकर दोनों हविर्द्धानोंकी परिक्रमा करके दक्षिण हविर्द्धानको दक्षिणकी ओर शकटके आगे जहाँ युग बाँधा जाता है, वहाँ उपस्तम्भन[८] काष्ठके ऊपर स्थापित करता है । भाश्रौसू० (१२.१८.१) ने उक्त

---

१. प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम् (वासं० ५.१७, तैसं० १.२.१३)।

२. सुवाग्देव दुर्यां आ वद (तैसं० १.२.१३)। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ६९६) ने अभिमन्त्रण में इस मन्त्रका विनियोग किया है ।

३. काश्रौसू० (८.४.३, भारश्रौसू० १२.७.२-३)।

४. स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टम् (वासं० ५.१७)।

५. अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः (वासं० ५.१७)।

६. काश्रौसू० (८.४.५, शब्रा० ३.५.३.२०)।

७. विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोच यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः (वासं० ५.१८)।

८. दो बैलोंको गाडीसे अलग करते समय जो बाँस के दो डण्डे इस अभिप्रायसे पृथिवीपर टिकाए जाते हैं कि जुआ पृथिवीपर न लगे उसे उपस्तम्भन काष्ठ कहते हैं (मिश्रभाष्य, पृष्ठ सं १४)।

मन्त्रका विनियोग उत्तरी हविधनि शकटके धुरेके उत्तरी बाँसके जोडके डण्डेपर शंकु लगानेमें किया है ।

शकटके दक्षिणपूर्वकोणमें स्थूणानिखनन

शकटके आग्नेयकोणमें ईषाके[1] बन्धनके लिए द्वादश अंगुल शंकु गाड़ा जाता है, गिरिधरभाष्यके अनुसार यह लकड़ीका बना हुआ होता है (पृष्ठसं० २१६)। अध्वर्यु द्वारा दक्षिण हविर्द्धान शकटके आग्नेयकोणमें शंकु गाड़े जा चुकनेपर प्रतिप्रस्थाता मन्त्रके[2] साथ ऐसे काष्ठको स्थापित करता है, जिससे गाड़ी नीचे न गिर सके । इसके पश्चात् मण्डपके उत्तरकी ओर दोनों शकटोंके पश्चिमसे जाकर हविर्द्धानशकटके उत्तरपूर्वकोणमें मन्त्र[3] पढकर एक और शंकु गाड़ता है । विकल्पके रूपमें एक यह भी विधान किया गया है कि दोनों शंकु हविर्द्धानके दाहिनी ओर पूर्वदक्षिण और दक्षिणपश्चिममें गाड़े जाने चाहिये ।[4] इसके पश्चात् अध्वर्यु अपने दक्षिण हविर्धानशकटको और प्रतिप्रस्थाता अपने उत्तर हविर्द्धानशकटको मन्त्र[5] के साथ सम्भाल लेते हैं ।[6]

हविर्द्धान-मण्डपकरण

हविर्द्धानकी रक्षाके निमित्त उसके ऊपर मण्डपका निर्माण किया जाता है । हविर्द्धान मण्डपके निर्माणकी जो सामग्री उन गाड़ियोंपर पहलेसे ही रक्खी हुई होती है, उसी सामग्रीसे चार खम्भोंवाला मण्डप बनाया जाता है, जिसे वस्त्रादिसे ढककर

---

१. शकटके आगे लगी लम्बी लकडीका नाम ईषा है (मीमांसाआर्य भाष्य, पृष्ठ सं० २११)। बम्ब (मीमांसादर्शन, पं० गोकुलचन्द्र, पृष्ठसं० १५४) तथा फड (मिश्रभाष्य, पृष्ठ सं० १४) इसीके दो अन्य नाम हैं ।

२. विष्णवे त्वा उप स्पृशामि (वासं० ५.१८)।

३. दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात् । उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद् (वासं० ५.१९)। भारश्रौसू० (१२.७.१२) में कहा गया है कि अध्वर्युको दक्षिण हविर्द्धान, शकटके धुरेमें दक्षिण के बाँसके जोडपर जुएकी लकडीके पास एक कील उक्त मन्त्र (वासं० ५.१९, तैसं० १.२.१३) के साथ लगा देनी चाहिये ।

४. काश्रौसू० (८.४८,१०, शब्रा० ३.५.३.२२)।

५. विष्णुस्त्वोत्तभ्नातु (मैसं० १.२.९, कासं० २.१०)।

६. भारश्रौसू० (१२.७.१०)।

छा दिया जाता है। हविर्द्धानके अधिपति विष्णु माने गए हैं, अत: हविर्द्धानका एक नाम विष्णु भी है। हविर्द्धानमण्डपके पूर्वद्वारवर्ती स्तम्भके मध्यमें एक कुशोंकी माला गूँथी जाती है, उस मालाको अथवा उसके बन्धनाधार तिरछे बाँसको ललाट कहा गया है।[१] देवयाज्ञिकपद्धतिमें कहा गया है कि मण्डपके पूर्वकी ओर पश्चिम दिशामें दो अरत्नि विस्तृत दो द्वार बनाए जाते हैं। दोनोंके बीचमें पृष्ठ्या की जाती है। पृष्ठ्याके दक्षिणसे अरत्निमात्र स्थूणा दक्षिण द्वारपर गाड़े जाते हैं। इसी प्रकार द्वितीया पृष्ठ्या उत्तरसे अरत्निमात्र की जाती है। मण्डपके ऊपर छाजन करनेके लिए पहले एक छदिको[२] उत्तर-दक्षिण करके हविर्द्धानके ऊपर बीचमें रखकर आगे ललाटपट्टिकाको पूर्वद्वारके ऊपर बाँधा जाता है। तब पूर्वद्वारके दक्षिण भागसे आरम्भ करके दूसरे के दक्षिणद्वारमें हविर्द्धानके दक्षिण पार्श्वमें परिश्रयण (आवरण) किया जाता है। फिर हविर्द्धानके ऊपर पहले छदिके पीछे उदगग्र दूसरी छदि रक्खी जाती है। इसी प्रकार दूसरी छदिके आगे तीसरी छदि उत्तर दक्षिण ही स्थापित की जाती है। इस प्रकार चारों ओरसे आच्छादित करके अध्वर्यु यजमानको "मध्यमं छदिरालभस्व" प्रैष करता है। तब यजमान मध्यम छदिका स्पर्श करता है।[३] इस अवसरपर अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र[४] कहलाता है।[५] भारद्वाज (१२.९.२) ने उक्त मन्त्रका विनियोग यजमानको हविर्द्धान मण्डपके बाहर पूर्वकी ओर निकालनेमें किया है। अन्य दोनों छदिका स्पर्श करनेके पश्चात् भी अध्वर्यु यजमानसे उक्त मन्त्र कहलाता है।[६] देवयाज्ञिकके अनुसार अध्वर्यु यजमानको "रराट्यामालभस्व" प्रैष करता है (पृष्ठसं० २८२)। तब यजमान रराटी[७] का स्पर्श करता है और इस

---

१. काश्रौसू० (८.४.१३, मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० १८१)।

२. हविर्द्धान नामक दो गाडियोंपर सोम रखनेके लिए गृहके आकारका चारों ओरसे घेरा बना रहता है, उसपर जो आच्छादन करते हैं, उसको ही छदि कहते हैं (ऐब्रा० १.५.२९ पर सायण भाष्य, तैसं० ६.२.९.४)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २८२)।

४. प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा (वासं० ५.२०, तैब्रा० २.४.३.४)।

५. काश्रौसू० (८.४.१३, शब्रा० ३.५.३.२३)।

६. काश्रौसू० (८.४.१४)।

७. हविर्द्धानके पूर्व द्वारपर लटकाई गई दर्भकी मालाको रराटी कहते हैं— हविर्द्धान

अवसरपर अध्वर्यु यजमानसे मन्त्रका[१] पाठ कराता है ।[२] हविर्धानके आगे दो टेक लगाकर और उसपर पूर्वकी ओर घूमे हुए सिरे वाले बाँस रखकर ईषीका घास या रराटीसे सामनेका मार्ग खोलनेमें भारद्वाज (१२.८.७) ने उक्त मन्त्रका विनियोग किया है ।

अब अध्वर्यु यजमानको "उच्छ्राय्यावालभस्व" प्रैष करता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २८२) । तब यजमान द्वारके उभयपार्श्ववर्तिनी तृणादिसे निर्मित प्रावरणको स्पर्श करता है । इस अवसरपर यजमानसे मन्त्र[३] कहलाता है ।[४] सामनेके खुले भागके सिरोंको बाँधनेमें भारद्वाज (१२.८.१२) ने उक्त मन्त्रका विनियोग किया है ।

दोनों प्रावरणोंको स्पर्श करनेके अनन्तर सुई (लस्पूजनी) से सम्बद्ध रज्जुसे मन्त्र[५] पढकर द्वारशाखाको दर्भसे आवेष्टित करके सींता है ।[६] सामने खुले मार्गमें एक लकडी कैंचीके रूपमें रखनेमें भारद्वाज (१२.८.८) ने उक्त मन्त्रका विनियोग किया है ।

परिषीवणके प्रारम्भमें रज्जुके मूलमें मन्त्रसे[७] गाँठ लगाता है ।[८] भारद्वाजने उक्त क्रियामें तैसं० (१.२.१३) का "विष्णोर्ध्रुवमसि" मन्त्र कथन किया है (भार-श्रौसू० १२.८.९) । भारद्वाजश्रौसू० (१२.८.१८-२०) में कहा गया है कि दक्षिणी द्वारको अध्वर्यु और उत्तरी द्वारको प्रतिप्रस्थाता सींता है ।

हविर्द्धानमण्डपके सम्बन्धमें एक दो महत्वपूर्ण विधानोंका उल्लेख भारद्वा-जश्रौतसूत्रने इस प्रकार किया है— अध्वर्युको पूर्व और पश्चिमके द्वार खोल देने

मण्डपस्य चिकीर्षितस्य प्राच्यां द्वारि बन्धनीया दर्भमाला रराटी (ऐब्रा० १.५.२९ पर सायण भाष्य) ।

१. विष्णो रराटमसि (वासं० ५.२१) । तैसं० (१.२.१३) ।
२. काश्रौसू० (८.४.१५, शब्रा ३.५.३.२४) ।
३. विष्णोः श्नप्त्रे स्थः (वासं. ५.२१, तैसं. १.२.१३.३) ।
४. काश्रौसू० (८.४.१६, शब्रा० ३.४.३.२४) ।
५. विष्णोः स्यूरसि (वासं० ५.२१) । तैसं० (१.२.१३) ।
६. काश्रौसू० (८.४.१८, शब्रा० ३.५.३.२५) ।
७. विष्णोर्ध्रुवोऽसि (वासं० ५.२१) ।
८. काश्रौसू० (८.४.१९, शब्रा० ३.५.३.२५) ।

चाहिये, जिससे शालामुखीय अग्नि, होताकी अग्नि, तथा उत्तरवेदीकी अग्नि एक साथ दीख पड़े (भारश्रौसू० १२.८.१६-१७)। जब शकटको शंकु तथा बाँसोंसे बाँधा जाए तो बाँसकी पहली गाँठपर कोई चिह्न बना लेना चाहिये, जिससे वह गाँठ उचित समयपर खोली जा सके (भारश्रौसू० १२.८.३-४)। गाडियाँ पीछेकी ओर टेक लगाकर रुकी हुई होनी चाहिये, शम्याएँ ऊपरकी ओर उठी रहनी चाहिये तथा जुएसे ऊपरकी ओर रस्सीसे बँधी हुई होनी चाहिये (भारश्रौसू० १२.८.५-६)।

आपस्तम्बने छतोंके परिमाणके सम्बन्धमें कहा है कि छत तीन अरत्नि चौड़ी, और नौ अरत्नि लम्बी होनी चाहिये (आपश्रौसू० ११.८.१)। आपस्तम्बके अनुसार हविर्द्धान आगेसे उन्नत, पीछेसे झुका हुआ होना चाहिये।[१]

सत्याषाढने द्वारोंके सम्बन्धमें विधान किया है कि मण्डपके पूर्व और पश्चिममें द्वार किये जाने चाहिये (पृष्ठसं० ७०१)। तत्सम्बद्ध सूत्रकी व्याख्या करते हुए गोपीनाथका कहना है कि द्वारोंके साथ साथ गवाक्ष भी बनाये जा सकते हैं तथा पूर्व-पूर्वके द्वारोंको अध्वर्यु बनावे, तथा पश्चिमके द्वारोंको प्रतिस्थाता बनावे (गोपीनाथका भाष्य; पृष्ठसं० ७०१)।

पूर्णतः निष्पन्न होनेपर हविर्द्धानका आलभन

उपर्युक्त विशेषताओंसे युक्त हविर्द्धानके निष्पन्न होनेपर अध्वर्यु मन्त्रके[२] साथ उसका स्पर्श करता है।[३]

हविर्द्धानसे निष्क्रमण

अध्वर्यु और प्रतिस्थाता हविर्द्धान मण्डपसे मन्त्रके[४] साथ पूर्वकी ओर निष्क्रमण करते हैं।[५]

---

१. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठ सं० ७०३)। पुरस्तादुन्नतं पश्चान्निनतं हविर्धानमिति (आपस्तम्ब)

२. वैष्णवमसि विष्णवे त्वा (वासं ५.२१)।

३. काश्रौसू० (८.४.२२, शब्रा. ३.५.३.२५)।

४. प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (तैब्रा० २.४.३.४)।

५. सत्यापाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७०२)।

हविर्द्धानमण्डमें भोजन-भक्षणका निषेध

इडा सोम चमसादिका भक्षण तथा तृप्त्यर्थ भोजनका कात्यायनने निषेध किया है ।[१]

उपरव संस्कार

उपरवखनन

शब्रा० ने उपरव खननके दो प्रयोजनोंका उल्लेख किया है— क्योंकि मनुष्यके सिरमें दो नासिका छिद्र और दो कर्णछिद्र होते हैं उसी प्रकार हविर्द्धान भी यज्ञके सिरके समान है, अतः अध्वर्यु हविर्द्धानके प्रउग (दो ईषाके संयोजन प्रदेश) से सन्निहित अधःप्रदेशमें चार उपरवोंका खनन करता है (शब्रा० ३.५.४.१) । दूसरा प्रयोजन यह है कि यदि शत्रुने जादू-टोना करके कुछ गाड़ दिया हो तो अध्वर्यु उपरव खननके द्वारा उस जादू-टोनेके दुष्प्रभावको समाप्त कर देता है, इस प्रकार उपरव खनन क्रिया द्वारा शत्रुका कोई दुष्प्रभाव यजमानपर नहीं होता (शब्रा० ३.५.४.२) ।

उपरवका अर्थ

इन्हीं गड्ढोंके ऊपर सूक्ष्म बर्हिका आच्छादन करके दो अधिषवण फलक रखकर सोमाभिषव क्रिया की जाती है, इसीलिए इन गर्त विशेषको उपरव कहा गया है ।[२] सरलावृत्तिमें कहा गया है कि जिनके ऊपर पत्थरोंका शब्द हो वे गर्तविशेष उपरव कहलाते हैं ।[३] सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७०३) ने इन गड्ढोंकी विशेषताओंका उल्लेख इस प्रकार किया है— ये दक्षिणहविर्द्धानके अक्षके आगे आग्नेय-ईशान-नैर्ऋत्य-वायव्यकोणमें बनाए जाते हैं, जो बाहुमात्र, सम्यक् रूपसे एकीभूत, नीचेसे सब एक किन्तु ऊपरसे पृथक् पृथक् तथा जिनके मुख प्रादेश भर तथा जिनका अन्तराल भी प्रादेश भर ही होता है ।

कात्यायनके अनुसार इन उपरवोंकी संख्या चार होती है, जो क्रमशः दक्षिणसे पूर्व (आग्नेय), उत्तरसे पश्चिम (वायव्य), दक्षिणसे पश्चिम (नैर्ऋत्य) तथा उत्तरसे पूर्व (ईशान) बनाए जाते हैं, अथवा इसके विपरीत उत्तरसे पश्चिम (वायव्य),

---

१. काश्रौसू० (८.४.२३) ।

२. तुर्ये प्राङ् मध्यरेखायां मध्यतश्चतुरस्रके । द्विप्रादेशमिते क्षेत्रे कोणेषूपरवान् विदुः ।

३. उप उपरि ग्राव्णां शब्दो यत्र ते उपरवाः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २९४) ।

दक्षिणसे पूर्व (आग्नेय), दक्षिण से पश्चिम (नैर्ऋत्य) तथा उत्तरसे पूर्व (ईशान) कोण में बनाए जाते हैं, अथवा एक पक्ष यह भी है सीधे सीधे मार्गसे प्रदक्षिण क्रमके अनुसार आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान कोणमें उपरव बनाये जाय, किन्तु ईशान कोणमें अन्तिम उपरव बनाना चाहिये ।[१]

यद्यपि भारद्वाजने पहले सदोमण्डपके निर्माणका विधान किया है, बादमें उपरवसे सम्बन्धित क्रियाओंका विधान किया है किन्तु विकल्पके रूपमें उसने भी एक सूत्रके द्वारा यह संकेत अवश्य दे दिया है कि सदोमण्डप-निर्माण से पूर्व उपरव सम्बन्धी संस्कार किये जा सकते हैं ।[२] कात्यायनश्रौतसूत्रमें पहले उपरवसे सम्बन्धित क्रियाओंका उल्लेख है बादमें सदस् से सम्बन्धित क्रियाओंका उल्लेख ।

खननके लिए अभ्रि उठाना

मन्त्र[३] पढकर अध्वर्यु उपरव खननके लिए अभ्रि हाथमें लेता है ।[४]

परिलेखन

देवयाज्ञिकपद्धतिके अनुसार प्रथम बार मन्त्रसे[५] अध्वर्यु केद्वारा दक्षिणपूर्व अथवा उत्तरपरिचम रेखा खींचनी चाहिये, द्वितीय बार मन्त्रसे[६] उत्तरपश्चिम अथवा दक्षिणपूर्व अथवा दक्षिणपश्चिम रेखा खींचनी चाहिये, तीसरी बार दक्षिणपश्चिम, अथवा उत्तरपश्चिम रेखा खींचनी चाहिये । तीसरी बारके परिलेखनमें मन्त्र[७] तथा चौथी बारके परिलेखनमें मन्त्र[८] अध्वर्यु पढता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २८४) ।

---

१. काश्रौसू० (८.५.३-५) ।

२. उपरवान् व्याख्यास्यामः (भारश्रौसू० १२.११.१) पर सी० जी० काशीकरकी आंग्लभाषा में टिप्पणी, आपश्रौसू० (११.१०.१९) ।

३. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्यसि (वासं ५.२२) ।

४. शब्रा० (३.५.४.४, बौश्रौसू० ६.२५-२६) ।

५. इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि (वासं० ५.२२) ।

६. पूर्ववत् ।

७. पूर्ववत् ।

८. पूर्ववत् ।

भारद्वाजश्रौसूत्रने (१२.११.३) उक्त कृत्यके लिए भिन्न मन्त्रका[१] विधान किया है।

समन्त्रक खनन क्रिया

जिस क्रमसे परिलेखन किया गया है उसी क्रमसे अध्वर्यु मन्त्र[२] पढकर गड्ढा खोदता है।[३] इसके पश्चात् जिस क्रमसे खनन क्रिया की गई है उसी क्रमसे अध्वर्यु मन्त्र[४] पढकर पहले गड्ढेकी, मन्त्र[५] पढकर दूसरेकी, मन्त्र[६] पढकर तीसरेकी तथा मन्त्र[७] पढकर चौथे गड्ढेकी मिट्टी बाहर फेंकता हैं।[८] कतिपय सूत्रोंमें कहा गया है कि हाथभर गहरा गड्ढा खोद लेनेपर मन्त्रके[९] साथ अध्वर्युको अभ्रिपर चोट करनी चाहिये और मन्त्रकी आवृत्ति नहीं होनी चाहिये केवल एक बार मन्त्र पढा जाना चाहिये। भारश्रौसू० (१२.११.१६) के अंग्रेजी अनुवादपर सी० जी० काशीकर ने टिप्पणी दी है कि पहले गड्ढेपर पहली चोटके साथ ही धीमे स्वरसे मन्त्र पढना चाहिये, अन्य गड्ढोंमें चोट मारते समय नहीं। आपस्तम्बश्रौसू० (११.११.७-१०) का कहना है कि सभी गड्ढोंपर मन्त्र पढा जाना चाहिये और उन मन्त्रोंको एकवचनवाची बना लेना चाहिये। भारश्रौसू० (१२.११.७) ने विधान किया है कि मिट्टी निकालनेसे पहले विराडसि सपत्नहा (तैसं० १.३.२.१) मन्त्र पढा जाना चाहिये और गड्ढेमें हाथ डालना चाहिये।

देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २८४) में कहा गया है कि उपर्युक्त मन्त्रके साथ मिट्टी निकालनेके बाद पुनः बार बार चुपचाप ही मिट्टी निकालनी चाहिये। जब

---

१. परिलिखितं रक्षः परिलिखिता अरातयः (तैसं० १.३.१)।

२. बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद। रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीम् (वासं० ५.२२-२३)।

३. काश्रौसू० (८.५.७, शब्रा० ३.५.४८)।

४. इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान (वासं० ५.२३)।

५. इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखान (वासं० ५.२३)।

६. इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखान (वासं० ५.२३)।

७. इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखान (वासं० ५.२३)।

८. शब्रा० (३.५.४.१०-१३, काश्रौसू० ८.५.८, भारश्रौसू० १२.११.७, बौश्रौसू० ६.२८)।

९. रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् खनामि (तैसं० १.३.२.१)।

हाथभर गहरा गड्ढा हो जाय तब मन्त्रसे[१] सभी गड्ढोंकी मिट्टी उत्तर अथवा पूर्व दिशा में उसी क्रमसे फेंक दी जाय, जिसक्रमसे उपरव-खनन किया गया था।[२] गोपीनाथका कहना है कि यद्यपि हाथ भर गहरे गड्ढे खोदनेका विधान है, तथापि अधिक ही गहरा गड्ढा खोदना चाहिये (पृष्ठसं० ७०४)।

ऊपरसे चारों उपरव पृथक् पृथक् ही होते हैं किन्तु नीचेसे एक होते हैं अतः इन गड्ढों को तिरछे रूपसे खोदकर भीतर भीतर आड़े मार्गोंसे मिलानेके लिए आग्नेयको वायव्य से और नैर्ऋत्यको ईशानसे मिला दिया जाता है, अथवा यदि ऐसा सम्भव न हो तो सीधे सीधे आग्नेयको नैर्ऋत्यसे, नैर्ऋत्यको वायव्यसे, वायव्यको ईशानसे, ईशानको आग्नेयसे मिला दिया जाता है, इस प्रकार चारों उपरव ऊपरसे पृथक् पृथक् होनेपर भी नीचे से एक हो जाते हैं (काश्रौसू० ८.५.११)।

उपरव-स्पर्श

इस अवसरपर अध्वर्यु यजमानको "उपरवानवमृशस्व" प्रैष करता है, तब यजमान जिस क्रमसे उपरव खनन किया गया था, उसी क्रमसे पहले उपरवको मन्त्रसे[३] दूसरे उपरवको मन्त्रसे,[४] तीसरे उपरवको मन्त्रसे[५] तथा चौथे उपरवको मन्त्रसे[६] स्पर्श करता है।[७]

उपरव सम्मर्श

यजमानके द्वारा चारों उपरवोंका स्पर्श हो चुकनेपर अध्वर्यु तो आग्नेय उपरवमें और यजमान वायव्य उपरवमें हाथ डालते हैं तथा दोनों हाथ मिलाते हैं। इस अवसरपर अध्वर्यु यजमानसे पूछता है— "किमत्र विद्यत"। तब यजमान "भद्रम्" कहता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु उपांशुस्वरसे "तन्नौ सह" कहता है।

---

१. उत्कृत्यां किरामि (वासं० ५.२३)।

२. काश्रौसू० (८.५.९, शब्रा० ३.५.४.१३)।

३. स्वराडसि सपलहा (वासं० ५.२४)। विराडसि सपलहा (तैसं० १.३.२.१)।

४. सत्रराडस्यभिमातिहा (वासं० ५.२४)।

५. जनराडसि रक्षोहा (वासं० ५.२४)।

६. सर्वराडस्यमित्रहा (वासं० ५.२४)।

७. काश्रौसू० (८.५.१२, शब्रा० ३.५.४.१५)।

भारश्रौसू० (१२.१२.४) ने किमत्र विद्यत के स्थान पर "अध्वर्यो किमत्र"का विधान किया है। जिस प्रकार पहले दोनोंने हाथ डाले थे उसी प्रकार पुनः नैर्ऋत्य उपरवमें अध्वर्यु और ईशान उपरवमें यजमान हाथ डालकर परस्पर स्पर्श करते हुए इस प्रकार वार्तालाप करते हैं— यजमान पूछता है अध्वर्यो किमत्र, तब अध्वर्यु कहता है— भद्रम् इसके पश्चात् यजमान "तन्मे"कहता है।[१]

यद्यपि कात्यायन और भारद्वाजने उक्त क्रियाका विधान किया है और दोनोंने ही दो बार हाथ मिलानेकी क्रियाका उल्लेख किया है किन्तु एक अन्तर अवश्य है। पहली बार जहाँ कात्यायनके अनुसार अध्वर्यु पहले प्रश्न करता है, वहाँ भारद्वाजने यजमानके द्वारा प्रश्न करनेका विधान किया है। पहली बार हाथ मिलानेके अवसरपर अध्वर्यु प्रश्न पूछता है और दूसरी बार हाथ मिलानेके अवसरपर यजमान प्रश्न पूछता है, ऐसा कात्यायनने विधान किया है, किन्तु भारद्वाजके अनुसार दोनों बार हाथ मिलानेके अवसरपर पहली बार यजमान ही प्रश्न पूछता है। दोनों बार अध्वर्यु ही यजमानके प्रश्नका उत्तर देता है।

उपरव प्रोक्षण, अवनयन तथा अवस्तरण

अग्निकोणस्थ उपरवसे प्रारम्भ करके प्रदक्षिण क्रमके अनुसार सभी उपरवोंपर मन्त्र[२] पढकर अध्वर्यु जल छिड़कता है।[३] एक साथ सभी उपरवोंपर जल का प्रोक्षण करना असंभव होनेसे चार बार प्रोक्षण करनेपर चार बार ही मन्त्रकी आवृत्ति की जाती (काश्रौसू० ८.५.१०) है। यवसे मिश्रित जलसे तीन बार प्रोक्षण करनेका सत्याषाढने विधान किया है।[४] प्रोक्षणके अनन्तर बचे हुए जलसे प्रदक्षिणक्रमसे अथवा जिस क्रमसे उपरवोंका खनन किया गया उसी क्रमसे सभी गड्ढोंपर आसेचन (अवनयन) मन्त्रके[५] साथ अध्वर्यु करता है।[६]

---

१. काश्रौसू० (८.५.१३-१७, शब्रा० ३.५.४.१६-१७, भारश्रौसू० १२.१२.१-१२, आपश्रौसू० ११.१२.३-४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७०६)।

२. रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् (वासं० ५.२५)।

३. काश्रौसू० (८.५.१९, शब्रा० ३.५.४.१८)।

४. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७०७)।

५. रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् (वासं ५.२५, तैसं० १.३.२.२)।

६. भारश्रौसू० (१२.१२.१५, काश्रौसू० ८.५.२१, शब्रा० ३.५.४.१९-२०)।

आसेचनानन्तर सभी गड्ढोंके ऊपर खननक्रमके अनुसार मन्त्रके[१] साथ सूक्ष्म कुशोंका आच्छादन किया जाता है।[२] भारद्वाजने विधान किया है कि इस अवसरपर प्रत्येक उपरवमें यवका एक-एक दाना मन्त्र[३] पढकर डाला जाना चाहिये।[४] शब्रा० ने कहा है कि कुछ कुशाओंकी नोक पूर्वकी ओर तथा कुछ कुशाओंकी नोक उत्तरकी ओर होनी चाहिये।[५] सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७०८) ने पूर्वाग्र कुशास्तरणका विधान किया है।

सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७०८) ने आस्तरण क्रियाके पश्चात् होमका विधान किया है जो इस प्रकार है— क्रमश: सभी उपरवोंपर मध्यमें हिरण्य रखकर तथा उसीको अभिलक्ष्य करके रक्षोहणो बलगहनोऽभिजुहोति वैष्णवान् मन्त्रसे स्रुवके द्वारा आज्यकी आहुति। कात्यायनने इस क्रियाका उल्लेख नहीं किया है, सम्भवत: माध्यन्दिन शाखामें यह कृत्य सम्मिलित नहीं किया गया और हिरण्यकेशीय शाखामें उक्त कृत्य अनुष्ठित होनेसे सत्याषाढश्रौसू० ने उक्त क्रियाका विधान किया।

उपधान क्रिया

सत्याषाढने "रक्षोहणो वलगहनो प्रोक्षामि वैष्णवे" मन्त्रके[६] साथ दोनों अधिषवण फलकोंको प्रोक्षित करनेका विधान किया है।[७] कात्यायनके अनुसार मन्त्र[८] पढकर अध्वर्यु दो अधिषवण फलक उन गड्ढों पर स्थापित करता है तथा मन्त्र[९] पढ़कर चारों ओर मिट्टीसे फलकोंको दृढ करता है।[१०] उपधान क्रियाके

---

१. रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् (वासं० ५.२५, तैसं० १.३.२.२)।

२. काश्रौसू० (८.५.२१, भारश्रौसू० १२.१२.१७, शब्रा० ३.५.४.२१)।

३. यवोऽसि यवयास्मद्द्वेष:(तैसं० १.३.२.२)।

४. भारश्रौसू० (१२.१२.१६)।

५. शब्रा० (३.५.४.२०)।

६. रक्षोहरणो वलगहनां प्रोक्षामि वैष्णवीकेचित्पठन्ति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ७०८)।

७. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७०८)।

८. रक्षोहणौ वां वलगहना उप दधामि (वासं० ५.२५, तैसं० १.३.२)।

९. रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी (वासं. ५.२५, तैसं. १.३.२)।

१०. शब्रा० (३.५.४.२२, काश्रौसू० ८.५.२२, भारश्रौसू० १२.१३.३-४, बौश्रौसू० ६.२८)।

सम्बन्धमें मिश्रभाष्यमें कहा गया है कि उदुम्बर, पलाश, कार्ष्मर्य, अथवा विकंकत की लकडीके अभिषवण फलक सर्वप्रथम सूचीवत् तीक्ष्णाग्र किये जाते हैं, फिर उनके ऊपर दो अंगुलके अन्तरसे अरत्नि प्रमाण दीर्घकुशा बिछा दी जाती है, अधिषवण फलक सहित ग्रन्थिबन्धन किया जाता है, इस प्रकार दो अधिषवण फलक बनाकर एक आग्नेयकोणसे वायव्यकोण तक तथा दूसरा उसके ऊपर ईशानसे नैर्ऋत्यकोण तक इसको गर्तसमूहसे प्रोथित किया जाता है, अर्थात् एकका एक अग्रभाग और दूसरेका अग्रभाग वायव्यकोणके गर्तके भीतर रहता है, दूसरेका एक अग्रभाग ईशान कोणके गर्तके भीतर और अपरका अग्रभाग इस प्रथम फलकके मध्यभागके ऊपर होकर नैर्ऋत्यकोण के गर्तके भीतर रहता है। इन दोनों फलकोंके दोनों मुख गर्तके मध्य बाहुप्रमाण तक प्रविष्ट होते हैं और अपरमध्य अंश सम्पूर्ण भू भागके ऊपर मृत्तिकाके सहित संलग्न रहता है।[१]

सत्याषाढश्रौतसूत्रने अधिषवणफलककी[२] विशेषता बताते हुए कहा है कि यह उदुम्बर, कर्ष्मर्य (श्रीपर्णी), अथवा विकंकत, पलाशका बना हुआ होना चाहिये। सब ओरसे कपाटके समान, प्रधिमुख धनुके आकारके फलकके मुखवाला, संश्लिष्ट, सम, समापिकर्त,[३] संतृण्ण (कीलसे संयोजित), अथवा असंतृण्ण (संतर्दनरहित)[४] होना चाहिए।

कात्यायनश्रौसू० (८.५.२२) ने प्रादेशमात्र मोटे, अरत्निमात्र लम्बे, परस्पर दो अंगुल अन्तराल वाले, जलसे शोधित, कीलसे संयोजित अधिषवण फलक का उल्लेख किया है, साथ ही यह भी कहा है कि अग्निष्टोममें असंतृण्ण अधिषवण-फलक ग्रहण करने चाहिए। गोपीनाथने कहा है कि मन्त्रका एक ही बार पाठ करके

---

१. मिश्रभाष्य (पृष्ठ सं० १८७-१८८)।

२. ययोरधि उपरि सोमः सूयते कण्ड्यते ते अधिषवणे, अधिषवणे च ते फलके चाधिषवणफलके (सत्याषाढश्रौसू० पर गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७०८)।

३. अपिकर्तं श्लैक्ष्ण्यविशिष्टं छेदनं ययोस्ते समापिकर्ते (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७०८)।

४. संतर्दनं संश्लेषणं तद्विविशिष्टे संतृण्णे द्वयोः समीभूतयोर्दृढसंश्लेषार्थं संश्लेषणप्रदेशो तक्षणेन तनूकृत्यैकस्योपर्यपरं संश्लेषयेदित्येतत्संतर्दनम्। दक्षिणफलकस्योत्तरप्रान्त उत्तरफलकस्य दक्षिणप्रान्ते साम्येन च्छिद्रे कृत्वा दक्षिणफलकोत्तरप्रान्तस्थच्छिद्रे दारुमयं कीलकं दत्त्वा तं कीलकं उत्तरफलकदक्षिणप्रान्तस्थच्छिद्रे प्रवेशयेदित्येवं संतर्दनं तद्विशिष्टे इति केचिदाहुः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७०९)।

दोनों हाथों से एक साथ दो उपरवोंपर दक्षिणसे और दो उपरवोंपर उत्तर से आच्छादन करना चाहिए (पृष्ठसं० ७१०)।

परिस्तरण, अभिमन्त्रण तथा प्रोक्षण

मन्त्रके[१] साथ अध्वर्यु अधिषवणफलद्वयके सब ओर दर्भसे आच्छादन करता है, फिर मन्त्रके[२] साथ अध्वर्यु अधिषवणफलद्वयका अभिमन्त्रण और अन्तमें मन्त्रके[३] साथ अधिषवणचर्मका[४] प्रोक्षण करता है।[५] उक्त क्रियाएँ भारद्वाजश्रौसू० तथा सत्याषाढश्रौतसूत्रमें उल्लिखित हैं, कात्यायनने इन क्रियाओंका उल्लेख नहीं किया है।

अधिषवणफलकपर अधिषवणचर्मका निधान

सब ओरसे लाल, चारों ओरसे काटकर बराबर किया हुआ, तथा जिसकी ग्रीवा आगेकी ओर तथा रोम ऊपरकी ओर हों, ऐसा अधिषवणचर्म मन्त्रके[६] साथ अधिषवणफलकपर स्थापित किया जाता है।[७] भारद्वाजश्रौसू० (१२.१३.८) ने भिन्न मन्त्रका[८] उल्लेख किया है।

चर्मके ऊपर पाषाण-स्थापन

अधिषवण फलकपर अधिषवण चर्म स्थापित होनेके पश्चात् अध्वर्यु द्वारा मन्त्रके[९] साथ सोम निचोडनेके लिए पाँच पत्थर अविषवण चर्मके ऊपर रक्खे जाते हैं।[१०] आपस्तम्बने चार प्रस्तर खण्डोंका उल्लेख किया है (आपश्रौसू० १२.२.४)।

---

१. रक्षोहणौ वलगहनौ परिस्तृणामि (तैसं० १.३.२.२)।

२. रक्षोहणौ वलगहनौ वैष्णवी (तैसं० १.३.२.२)।

३. रक्षोहणं त्वा वलगहनं वैष्णवं प्रोक्षामि (मैसं० १.२.११)।

४. अधि उपरि सोमः सूयते कण्ड्यते यस्मिंस्तच्चर्म (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ७११)। आनुडुहमधिषवणं चर्म (सरलावृत्ति पृष्ठ सं० २९७)।

५. भारश्रौसू० (१२.१३.५,६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ७१०-७११)।

६. वैष्णवमसि (वासं० ५.२५)।

७. काश्रौसू० (८.५.२३, शब्रा० ३.५.४.२३)।

८. रक्षोहा त्वा वलगहा वैष्णवमास्तृणाति (कासं० २.११)।

९. वैष्णवा स्थ (वासं० ५.२५)।

१०. काश्रौसू० (८.५.२४, शब्रा० ३.५.४.२४, भारश्रौसू० १२.१३.९)।

किन्तु पाँचवे प्रस्तर खण्डको उपर[1] कहा है जो पर्याप्त चौडा होता है तथा जिसपर सोमके डण्ठल कूटे जाते हैं। इसके चारों ओर ग्रावा नामक चार खण्ड रक्खे रहते हैं जो एक एक बित्ता लम्बे तथा इस प्रकार बने होते हैं कि सोमके डण्ठल ठीक रीतिसे कूटे जा सकें (आपश्रौसू० १२.२.१५)। भारश्रौसू० (१२.१३.९) ने विधान किया है कि चर्मके चारों ओर चार प्रस्तर खण्ड रक्खे तथा बीचमें चौड़ी पाटीका बट्टा रक्खे तथा प्रत्येक के साथ मन्त्रका[2] पाठ किया जाय।

उपरपर प्रस्तर[3] खण्डोंको अभिमुख करके मन्त्रके[4] साथ प्रोक्षण करनेका सत्याषाढने विधान किया है (पृष्ठसं० ७१२)।

उपरवोंके पूर्वकी ओर खरका निर्माण

उपरवोंके पूर्वकी ओर ४५ अंगुलके अन्तरपर वज्रसे रेखा खींचकर, जलसे छींटे देकर तथा उसके ऊपर बालू बिछाकर चौकोर, एक हाथ लम्बा, एक अंगुल ऊँचा अथवा चार अंगुल ऊँचे खरका निर्माण किया जाता है, जिसपर सोमसम्बन्धि पात्र, चमस इत्यादि रक्खे जाते हैं।[5]

कतिपय सूत्रोंमें कहा गया है कि उपरवसे निकली हुई मिट्टीसे दक्षिण हविर्द्धान शकटकी टेकके सामने खरका निर्माण किया जाना चाहिये (भारश्रौसू० १२.१३.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७१३)। गोपीनाथने विकल्पके रूपमें यह उल्लेख किया है कि सभी उपरवोंकी मिट्टीका खरके निर्माणमें उपयोग किया जाना चाहिये (पृष्ठसं० ७१३)।

---

१. कण्डनाधिकरणीभूतः पाषाणः उपरः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७१२)।

२. बृहन्नसि बृहद्ग्रावा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद (तैसं० १.३.२.२)।

३. गोपीनाथने अपने भाष्यमें पाषाण खण्डोंका लक्षण इस प्रकार किया है— सार्धप्रादेश मात्रः स्याद्दृढपाषाणनिर्मितः। वर्तुलः सूक्ष्म एकत्र स्थूल एकत्र वै भवेत्॥ षडंगुलपरीणाहो मुखं तु स्थौल्यमीरितम्। अग्रं सूक्ष्मप्रदेशः स्याद् ग्राव्ण एतद्धि लक्षणम् (पृष्ठसं० ७१२)।

४. रक्षोघ्नो वो वलगघ्नः प्रोक्षामि वैष्णवान् (सत्याषाश्रौसू० पृष्ठसं० ७१२)।

५. काश्रौसू० (८.५.२५)।

सदः सम्बन्धिसंस्कार

हविर्द्धानमण्डपके पश्चात् सदोमण्डपका निर्माण किया जाता है, जिसके लिए बीचमें एक गड्ढा खोदकर उसमें उदुम्बरकी लकड़ी गाड़ी जाती है। उपर्युक्त शीर्षकके अन्तर्गत इसी कृत्यका विवेचन किया जाता है।

औदुम्बरीमान

सर्वप्रथम अध्वर्यु मन्त्रके[१] द्वारा अभ्रि लेकर मन्त्रके[२] साथ अन्त:पात्य शंकुसे छह प्रक्रमकी दूरीपर पूर्वकी ओर जाकर वहाँ शंकु गाड़कर उससे (पाँच अरत्नि प्रमाण, अथवा त्रिपदप्रक्रमात्मक अथवा साढ़े चार अरत्नि प्रमाण अथवा एक सौ आठ अंगुल प्रमाण वाले) सातवें प्रक्रमकी दूरीपर दक्षिणकी ओर गड्ढेका चिह्न करता है।[३] इसके पश्चात् अध्वर्यु अथवा परिकर्मियोंके द्वारा गड्ढा खोदा जाता है, तब खुदी हुई मिट्टी पूर्वकी ओर डाल दी जाती है, यजमानके कदके बराबर औदुम्बरकी लकड़ीको नापकर शेष लकड़ी काट दी जाती है, इसके पश्चात् उदुम्बरकी लकड़ी गड्ढेके आगे इस प्रकार रक्खी जाती है कि उसका अग्रभाग पूर्वकी ओर रहता है, इसके पश्चात् उदुम्बरकी लकड़ीके ऊपर कुशमुष्टि रक्खी जाती है।[४] मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० १८९) में कहा गया है कि गड्ढा खोदे जानेसे पहले औदुम्बर शाखा मण्डपके किसी एक स्थानमें पड़ी रहती है।

कुशासे आच्छादन हो चुकने पर अध्वर्यु गड्ढेमें मन्त्रके[५] द्वारा जौं डालता है।[६] इसके पश्चात् मन्त्रके[७] साथ औदुम्बरीका प्रोक्षण किया जाता है।[८] भार-

---

१. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोबाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि (वासं ५.२६)। अभ्रि लेने के लिए सावित्र मन्त्रका उल्लेख भी प्राप्त होता है (भारश्रौसू० १२.९.१५)।

२. इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि (वासं० ५.२६)। परिलिखितं रक्षः परिलिखिता अरातय:(तैसं० १.३.१.१)।

३. शब्रा० (३.६.१.४-५ तथा भारश्रौसू० १२.९.१५)।

४. शब्रा० (३.६.१.६)।

५. यवो असि यवयास्मद्द्वेषो यवयाराती:(वासं० ५.२६)। तैसं० (१.३.१)।

६. शब्रा० (३.६.१.११, बौश्रौसू० ६.२७)।

७. दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा (वासं० ५.२६)।

८. शब्रा० (३.६.१.१२)।

श्रौसू० (१२.९.१६) के अनुसार शाखाके अग्रभागका सिंचन मन्त्रके[१] द्वारा, तथा शाखाके मूलभागका सेचन मन्त्रके[२] द्वारा किया जाना चाहिए। अब प्रोक्षणीमें बचे हुए जलको अध्वर्यु मन्त्रके[३] द्वारा उसी गड्ढेमें डाल देता है।[४]

प्रोक्षणी शेष जलको डालने के पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रसे[५] गर्तके चारों ओर इस प्रकार कुशा बिछाता है कि कुशोंके अग्रभाग पूर्वकी ओर तथा उत्तरकी ओर रहते हैं।[६]

इसके पश्चात् मन्त्रके[७] द्वारा अध्वर्यु औदुम्बरीको खड़ा करता है[८] तथा मन्त्र[९] पूर्वक औदुम्बरीको गर्तमें गाड़ देता है।[१०] सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७१७) में कहा गया है कि क्षुद्रशाखामूल(कर्ण) का अग्रभाग जिस प्रकार पूर्वकी ओर रहे उसी प्रकार औदुम्बरीका उच्छ्रयण किया जाना चाहिये। गोपीनाथभाष्यमें उच्छ्रयण कृत्य उद्गाताके द्वारा बताया गया है (पृष्ठसं० ७१७)। देवयाज्ञिकने अध्वर्युके साथ उद्गाताके द्वारा उच्छ्रयणका विधान किया है (पृष्ठसं० २८७)। देवयाज्ञिकने औदुम्बरीके गाड़नेके सम्बन्धमें विधान किया है कि शाखाका मूल पाँच भाग ही गाड़ा जाना चाहिये। इसीलिए यह भी विधान किया है कि जितनी लम्बी उदुम्बरकी लकड़ी हो उसका पाँचवाँ भाग जितना गहरा गड्ढा ही खोदना चाहिये (पृष्ठसं० २८६-२८७)।

---

१. दिवे त्वा (तैसं० १.३.१.१)।

२. पृथिव्यै त्वा (तैसं० १.३.१.१)।

३. शुन्धतां लोकाः पितृषदनाः (वासं० ५.२६)। तैसं० (१.३.१)।

४. शब्रा० (३.६.१.१३, बौश्रौसू० ६.२७, वैखाश्रौसू० १०.८.१०७.१५)।

५. पितृषदनमसि (वासं० ५.२६)।

६. शब्रा० (३.६.१.१४, बौश्रौसू० ६.२७)।

७. उद्दिवं स्तभानान्तरिक्षं पृण दृं हस्व पृथिव्याम् (वासं ५.२७)। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७१७) ने विकल्पके रूपमें निम्नोक्त मन्त्रका भी उल्लेख किया है—"उच्छ्रयस्व वनस्पते सजूर्देवेन बर्हिषा" इति।

८. शब्रा० (३.६.१.१५, काश्रौसू० ८.५.२९, भारश्रौसू० १२.१०.१)।

९. द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा (वासं० ५.२७)। तैसं० (१.३.१)।

१०. शब्रा० (३.६.१.१६, काश्रौसू० ८.५.३०, भारश्रौसू० १२.१०.२, बौश्रौसू० ६.२७)।

प्राग्वंश शालाके पूर्व और उदग्वंशशालाकी शेष सीमामें हविर्द्धान मण्ड-पके पश्चिम अर्थात् उदग्वंश शालाके आदिभागके मध्यमें गाड़ी गई औदुम्बरी शाखाके ही ऊपर अतिबृहत् आच्छादनमण्डप निर्मित किया जाता है, जिसे सदोमण्डप कहते हैं, यही सदोमण्डप सभामण्डपके नामसे भी जाना जाता है।[१]

गड्ढेमें शाखाके गाड़े जा चुकनेपर अध्वर्यु मन्त्र[२] पूर्वक पर्यूहण (औदुम्बरी वाले गर्तमें चारों ओर मिट्टी डालनेकी) क्रिया करता है।[३]

इसके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[४] के द्वारा गड्ढेको चारों ओर से दृढ़ करता है।[५] मिश्रभाष्यके अनुसार गर्त्तके भीतर मिट्टी मित्रावरुण दण्डके द्वारा डाली जाती है तथा कूटी जाती है (मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० १९०)। मिट्टी को इतना दबाया जाता है कि गर्तकी मिट्टी पासकी भूमिके बराबर हो जाती है अथवा गड्ढेकी भूमिके पास की भूमिसे कुछ ऊँची ही रहती है (शब्रा० ३.६.१.१८)।

मिट्टी दृढ़ करनेके पश्चात् मृत्परमाणुओंको संश्लेष करनेके लिए मिट्टीपर जल छिड़कता है (शब्रा० ३.६.१.१९)।

प्रैष कथन

अब अध्वर्यु यजमानको "औदुम्बरीं आलभस्व" प्रैष करता है (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २८७)। तब यजमान औदुम्बरीका स्पर्श करता है। इस अवसरपर यजमानको छूकर अध्वर्यु उससे मन्त्रका[६] पाठ कराता है।[७] सरलावृत्तिकारने विधान किया है कि उपर्युक्त मन्त्रमें प्रजया भूयादिति अथवा पशुभिर्भूयादिति जैसे किसी एकका उच्चारण यजमानसे कराना चाहिये, दोनोंका नहीं (पृष्ठसं० २९८)

---

१. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० १८८)।

२. ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि (वासं० ५.२७, तैसं० १.३.१)।

३. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० १९०, शब्रा० ३.६.१.१७. बौश्रौसू० ६.२७)।

४. ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंहप्रजां दृंह (वासं० ५.२७), तैसं० (१.३.१)।

५. शब्रा० (३.६.१.१८, भारश्रौसू० १२.१०.३, बौश्रौसू० ६.२७)।

६. ध्रुवाऽसि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् (वासं० ५.२८)। घृतेन द्यावापृथिवी आ प्रणेथाम् (तैसं० १.३.१) का विनियोग भारद्वाजश्रौसू० (१२.१०.४, आपश्रौसू० ११.१०.४) ने किया है।

७. शब्रा० (३.६.१.२०, काश्रौसू० ८.५.३१)।

द्यावापृथिवीके लिए आहुति

औदुम्बरीके ऊपर आगे कर्ण प्रदेशके अन्तरालपर हिरण्य रखकर स्रुवासे आज्य ग्रहण करके मन्त्रके द्वारा आहुति दी जाती है, होमस्थानसे घृतके भूमिपर प्राप्त हो जाने पर "स्वाहा" कहा जाता है। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७१८) ने हिरण्य रखनेके लिए दो स्थानों का उल्लेख किया है-कर्ण और विशाख[1]। गोपीनाथने कहा है कि जिस प्रदेशमें महती शाखा हो उसी प्रदेशमें हिरण्यकी स्थापना करके आहुति दी जा सकती है (पृष्ठसं० ७१८)।

यह जो विधान किया गया है कि जब आज्य भूमिको प्राप्त करे तब स्वाहा कहा जाना चाहिये, इससे प्रतीत होता है कि मन्त्रका उच्चारण धीमी गति से किया जाता होगा।

सदोनिर्माण

गड्ढेमें औदुम्बरी गाड़नेके पश्चात् सदस् नामका एक मण्डप बनाया जाता है, जिसमें उद्गाता लोग सामगान करते हैं, होमाविशिष्ट सोमका भक्षण करते हैं तथा धिष्ण्या करते हैं (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २९९)।

हविर्द्धान और सदस् में किंचित् अन्तर है—हविर्द्धानमें न तो भक्षण किया जा सकता और न पुरोडाश आदि ग्रहण किये जा सकते किन्तु सदोमण्डपमें सोमका भक्षण किया जा सकता है तथा उद्गाता लोग सामगान करते हैं और धिष्ण्या करते हैं। हविर्द्धान केवल देवताओं का होता है किन्तु सदोमण्डप (स्तोत्रशस्त्र आदिके पाठ किये जाने से) दैव और (भक्षण सम्भव होने से) मानुष दोनों होता है।[2]

ऐब्रा० (२.५.३६) में कहा गया है कि किसी समय देवों और असुरोंने लोकके विषयमें संग्राम किया कि हम लोग ही इन लोकोंमें रहेंगे, आप नहीं, तब उन देवोंने सौमिकवेदीपर प्राग्वंशके पूर्वकी ओर सदस् नामक शालाको ही अपना निवास स्थान बनाया।

---

१. कर्णः क्षुद्रशाखामूलम्। विशाख इत्यौदुम्बर्यवयवविशेषविशेषणम्। विगता शाखा यस्मात् अवयवात्। एतादृशोऽग्रात्मकोऽवयवः (सत्याश्रौसू० पर गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७१८)। भट्टभास्करने विशाख अथवा विशाखाग्रके मध्यमें हिरण्य रखनेका विधान किया है (तैसं० १.३.१ पर भाष्य)।

२. शब्रा० (३.६.१.२३ पर सायण भाष्य)।

सदोमण्डपको नाभिप्रमाणवाला, अथवा इच्छित ऊँचाई वाला किन्तु मध्यमें स्थित औदुम्बरी शाखाकी अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचा बताया गया है (काश्रौसू० पर सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २९९)। भारश्रौसू० (१२.९.६,१३ तथा १२.१०.६) के अनुसार सदस् यजमानकी लम्बाईके बराबर अथवा उससे कुछ छोटा, तिरछा, उत्तरकी ओर फैला हुआ, ९ अरत्नि चौड़ा तथा २७ अरत्नि लम्बा दक्षिणसे उत्तरकी ओर होना चाहिये। आपस्तम्बश्रौसू० (११.९.७) ने यथेच्छ विस्तार वाले सदस् का विधान किया है किन्तु रुद्रदत्तने अपने भाष्यमें सदस् की लम्बाई १८ अरत्नि लिखी है। कुछ आचार्यों का मत है कि सदस् इतना बड़ा बनाना चाहिये कि उसमें सभी ऋत्विक्, धिष्ण्या, प्रसर्पक (आगन्तुक) आ सकें (भारश्रौसू० १२.९.१४)। कात्यायन (८.६.६) ने १८ अरत्नि अथवा २१ अरत्नि लम्बे सदस् का उल्लेख किया है किन्तु साथ ही यह भी विधान किया है कि यदि सदस् १८ अरत्नि लम्बा बनाना हो तो ९ अरत्नि तिरछा, यदि २१ अरत्नि लम्बा बनाना हो तो १०.५ अरत्नि लम्बा तिरछा और यदि २४ अरत्नि लम्बा बनाना हो तो १२ अरत्नि तिरछा बनाना चाहिये (काश्रौसू० ८.६.४ पर सरलावृत्ति)।

सदस् के मध्यमें आधी पृष्ठ्या दक्षिणकी ओर, आधी पृष्ठ्या उत्तरकी ओर की जाती, बीचकी बल्ली उत्तरसे दक्षिणकी ओर डाली जाती, पूर्व दिशा में तथा पश्चिम दिशामें पृष्ठ्याके दोनों ओर हविर्द्धानवत् द्वार बनाये जाते, तथा कोनोंपर बल्लियाँ गाड़ी जाती हैं (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठ सं० २८८)।

सर्वप्रथम बाँसकी बल्लियोंको बाँधकर मण्डपके ऊपर ९ चटाइयाँ डाली जाती हैं।९ चटाई डालने का विधान केवल अग्निष्टोममें ही है, अन्य यज्ञोंमें संख्या भिन्न भिन्न है, जैसे उक्थ्यमें १५, षोडशीमें १६, वाजपेयमें १७ और सत्र एवं अहीने यागों में २१ (आपश्रौसू० ११.१०.१२)।

कात्यायनने सम्पूर्ण छदिरस्थापनके लिए एक ही मन्त्र[1] का विधान किया है, जबकि अन्य श्रौतसूत्रोंने तीन मन्त्रोंके द्वारा उक्त कृत्यका विधान इस प्रकार किया है—ऐन्द्रमसि (तैसं० १.३.१) मन्त्रके द्वारा बीचमें तीन चटाई, इन्द्रस्य सदोऽसि (तैसं० १.३.१) मन्त्र के द्वारा दक्षिणकी ओर की चटाई और विश्वजनस्य छाया (तैसं० १.३.१) मन्त्रके द्वारा उत्तरकी ओर तीन चटाई डाली जाती है (सत्याषाढ-

१. इन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया (वासं० ५.२८)।

श्रौसू० पृष्ठसं० ७२०, भारश्रौसू० १२.१०.८-१०) । आपस्तम्ब (११.१०.८-९) ने "विश्वजनस्य छाया" मन्त्रसे दक्षिणकी ओर तथा "इन्द्रस्य सदोऽसि मन्त्रसे उत्तरकी ओर चटाई डालनेका विधान किया है, इस प्रवार आपस्तम्बने भारद्वाज और सत्याषाढसे भिन्न मन्त्रोंके विनियोगके क्रमका विधान किया है ।

देवयाज्ञिकने ९ चटाईयोंके डालनेका विधान करते हुए कहा है कि सर्वप्रथम दक्षिण प्रदेशमें बीचमें एक चटाई डाले और उसके आगे एक तथा उसके पीछे एक इस प्रकार दक्षिण प्रदेशमें तीन चटाई डाले । इसी प्रकार मध्य प्रदेशमें एक चटाई डालकर उसके आगे और पीछे एक एक चटाई डाले तथा इसी प्रकार उत्तर प्रदेशमें बीचमें एक चटाई डालकर उसके आगे पीछे एक एक चटाई डाले इस प्रकार तीन दिशाओं में ९ चटाई डाली जाती है ।

यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो दिशाओंका क्रम सभी सूत्रोंमें एक समान नहीं है । कात्यायन (८.६.७) के अनुसार दिशाओं का क्रम इस प्रकार है—पहले दक्षिण फिर मध्य और अन्तमें उत्तर । किन्तु अन्य सूत्रोंमें पहले मध्यप्रदेशमें तथा अन्तमें उत्तर प्रदेशमें चटाई डालने का विधान किया गया है (आपश्रौसू० ११.२०.८-९,सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७२०, भारश्रौसू० १२ । १०.८-१०) ।

कामना विशेषसे चटाई डालनेका विधान भी प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए तैसं० (६.२.१०) ने विधान किया है कि तेजकी कामना वालेको ९ चटाई, इन्द्रियोंकी कामना वालेको ११ चटाई, भ्रातृव्य (भतीजा) की कामना वालेको १५ चटाई, प्रजाकी इच्छा वालेको १७ चटाई, प्रतिष्ठाकी कामना वालेको २१ छदिरसे युक्त सदस् का निर्माण करना चाहिये । इस अवसर पर गोपीनाथका कहना है कि यदि ग्यारह छदिर वाले सदस् का निर्माण किया जाय तो बीचमें ५ छदिर और दक्षिण-उत्तर में तीन-तीन चटाई डाली जाय, पन्द्रह चटाई वाले सदस् में सर्वत्र पाँच पाँच चटाई तथा इक्कीस चटाई वाले सदस् में सर्वत्र सात सात चटाई डाली जाय (पृष्ठसं० ७२१) ।

तैसं० (६.२.१०.७) ने विधान किया है कि दक्षिणकी चटाई अन्य चटाइयों से ऊँची रहे । भारद्वाज (१२.१०.१२) का कहना है कि इन चटाइयोंका मुख उदुम्बरकी थूनीकी ओर होना चाहिये ।

वर्षासे सम्बन्ध जोड़ते हुए सदस् के विषयमें कहा गया है कि यदि वर्षा की इच्छा हो तो सद्स को कम ऊँचाई वाला और यदि वर्षा की इच्छा न हो तो सदस्

को अधिक ऊँचाई वाला बनाना चाहिये (भारश्रौसू० १२.१०.६-७)। सत्याषाढने विकल्पके रूपमें इसके विपरीत भी विधान किया है अर्थात् वर्षा की इच्छा हो तो अधिक ऊँचाई वाला और वर्षा की इच्छा न हो तो कम ऊँचाई वाला सदस् बनाना चाहिए।

केवल अध्वर्युके गमनागमनके सम्बन्धमें कहा गया है कि अध्वर्यु को पश्चिमकी ओर सदस् के बाहर और पूर्वकी ओर हविर्द्धानशकटके आगे नहीं जाना चाहिये, यदि अध्वर्यु ऐसा करता है तो इन्द्रके मन्त्रके साथ पश्चिमकी ओर तथा विष्णुके मन्त्रके साथ पूर्वकी ओर जाना चाहिए (भारश्रौसू० १२.९.८-१०)। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७२२) ने पूर्व द्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करके अपर द्वार से निष्क्रमण करनेपर "विष्णुर्विचक्रमे" मन्त्रका तथा सदस् में प्रवेश करके पूर्वसे निष्क्रमण करनेपर "ओजसा सह" मन्त्रके जपका विधान किया है। उक्त क्रिया का विधान अवभृथपर्यन्त ही किया जाता है।

सदोमण्डपमें ऋत्विजोंके प्रवेशसे सम्बन्धित विधानका उल्लेख ऐब्रा० में प्राप्त होता है, वहाँ कहा गया है कि सदोमण्डपमें अच्छावाकको बादमें प्रवेश करना चाहिये, पहले नहीं। वस्तुतः इसके पीछे एक आख्यायिका यह है कि सदस्में प्रवेशके लिए आने वाले और विजय पाये हुए होताओंके शरीरमें से अच्छावाकका शरीर हीन हो गया (अर्थात् सदस् में प्रवेश न पा सका)। इसीलिए यह कहा गया है अन्य प्रशास्ता आदि होता सदोमण्डपमें पहले प्रवेश करें और अच्छावाक बाद में उनका अनुगमन करे (ऐब्रा० २.५.३६)।

समन्त्रक परिश्रयण-क्रिया

मन्त्रके[1] साथ सदस् का परिश्रयण (दिवारकी तरह आवरण) किया जाता है।[2] देवयाज्ञिकने परिवारकों (अनुचरों) के द्वारा छह बारमें परिवारणका विधान किया है अर्थात् ईशानकोणसे आरम्भकरके पूर्वद्वारोत्तर स्थूणा तक पूर्वपार्श्वमें प्रथम, पूर्वद्वारदक्षिणस्थूणसे आरम्भ करके आग्नेयकोण पर्यन्त पूर्वपार्श्वमें द्वितीय,

१. परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः (वासं० ५.२९, तैसं० १.३.१)।

२. शब्रा० (३.६.१.२४, काश्रौसू० ८.६.९, बौश्रौसू० ६.२७)।

आग्नेयकोणसे प्रारम्भ करके दक्षिण पार्श्वमें नैर्ऋत्य कोणतक तृतीय, नैर्ऋत्यकोणसे आरम्भ करके अपरदक्षिणस्थूणापर्यन्त पश्चिम पार्श्वमें चतुर्थ, अपर द्वारमें स्थूणासे आरम्भ करके वायव्यकोणान्त पश्चिमपार्श्वमें पंचम । वायव्यकोणसे प्रारम्भ करके ईशानकोणान्त उत्तरपार्श्वमें षष्ठ । इस प्रकार प्रत्येक परिवारण क्रियामें मन्त्रकी आवृत्ति भी साथ साथ की जाती है । भारद्वाजने हविर्द्धानके परिश्रयणका तो उल्लेख किया है किन्तु सदोमण्डपके परिश्रयणका उल्लेख नहीं किया । तैसं० (१.३.१.२) के मन्त्रका विनियोग भट्टभास्करने सदस् के परिश्रयणमें ही किया है, हविर्द्धानके परिश्रयण में नहीं । इसी प्रकार बौश्रौसू० (६.२७) ने भी सदस् के परिश्रयणका विधान किया है ।

सदोमण्डपका परिषीवण, ग्रन्थिकरण तथा अभिमर्शन

जिस प्रकार हविर्द्धान मण्डप सिया गया, ग्रन्थिसे युक्त किया गया तथा स्पर्श किया गया उसी प्रकार सदोमण्डप मन्त्रके[1] द्वारा परिवारक (अनुचरों) के द्वारा सिया जाता, मन्त्रके[2] द्वारा उसमें गाँठ लगाई जाती तथा मन्त्रके[3] द्वारा उसका स्पर्श किया जाता है ।[4] इस प्रकार सदोमण्डप निष्पन्न होता है ।

आग्नीध्रशालाका निर्माण

हविर्द्धान मण्डपके अपरपार्श्व वायुकोणमें और सदोमण्डपके किंचित् बाहर उत्तर भागमें आग्नीध्रीय नामक अग्निस्थान बनाया जाता है । जैसे सदोमण्डपके मध्यमें होता आदि सब ऋत्विजोंका अग्निकुण्ड पृथक् पृथक् निर्दिष्ट होता है उसी प्रकार आग्नीध्र नामक ऋत्विक् का भी एक अग्नि कुण्ड होता है (मिश्रभाष्य, पृष्ठ सं० १९३) । उपवसथके दिन यजमान इसी आग्नीध्रशालाके समीप बैठता है (ऐब्रा० २.५.३६ पर सायण भाष्य) ।

आग्नीध्रमण्डपके सम्बन्ध में तीन पक्ष हैं—प्रथम पक्ष यह है कि मण्डपका आधा भाग सौमिक वेदीके बाहर हो और आधा सौमिक वेदीके अन्दर । दूसरा पक्ष

---

१. इन्द्रस्य स्यूरसि (वासं० ५.३०, तैसं० १.३.१) ।

२. इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि (वासं० ५.३०, तैसं० १.३.१) ।

३. ऐन्द्रमसि (वासं० ५.३०) । ऐन्द्रमसि इन्द्राय त्वा (तैसं० १.३.१) ।

४. शब्रा० (३.६.१.२५, काश्रौसू० ८.६.९, बौश्रौसू० ६.२७) ।

यह है कि मण्डपका आधेसे अधिकका भाग सौमिक वेदीके अन्दर और मण्डपका शेष भाग सौमिक वेदीके बाहर, तीसरा पक्ष यह है कि सम्पूर्ण आग्नीध्रशाला सौमिक वेदीके भीतर ही हो (शब्रा० ३.६.१.२६)।

आपश्रौसू० (११.९.४) के अनुसार आग्नीध्रशालाके बाँसोंके सिरे पूर्वकी ओर होने चाहिये तथा उसमें चार थूनियाँ होनी चाहिये और चारों ओरसे बन्द होने चाहिये। यह आग्नीध्र मण्डप पाँच अरत्नि प्रमाण वाला होता है (सरलावृत्ति, पृष्ठ सं० ३००)।

आग्नीध्रशालाका स्पर्श

आग्नीध्रशालाके निष्पन्न हो जाने पर मन्त्रके[१] द्वारा अध्वर्यु स्पर्श करता है।[२]

आग्नीध्रसे सदस् की अग्निका स्थापन

ऐब्रा० (२.५.३६) में आख्यायिका दी हुई है, जिसमें कहा गया है कि जब असुरोंने जलप्रोक्षणके द्वारा देवोंके सदस् की अग्निको बुझा दिया तो उन देवोंने आग्नीध्र अग्निसे ही सदस् की अग्निको स्थापित कर लिया। उसी प्रकार यजमानको भी उस आग्नीध्र अग्निसे ही सदस् की अग्निका स्थापन करना चाहिये।

आग्नीध्रकी व्युत्पत्ति

एक बार असुरोंने सदस् को जीतकर उन देवोंको सदस् से बाहर निकाल दिया। तब देवताओं ने आग्नीध्र नामक शालाको निवासके लिए प्राप्त किया। वहाँपर वे पराजित न हो सके, क्योंकि आग्नीध्रशालामें उन्होंने आधार ग्रहण किया इसलिए आग्नीध्र नाम हुआ अर्थात् अग्निके समीप अपनेको धारण किया (ऐब्रा० २.५.३६)।

---

१. वैश्वदेवमसि (वासं० ५.३०)।

२. शब्रा० (३.६.१.२६, काश्रौसू० ८.६.११)।

धिष्ण्या प्रकरण

धिष्ण्याका अर्थ

अग्निष्टोममें धिष्ण्या नामकी एक विशेष स्वल्प वेदी बनाई जाती है, जिसपर अग्नि की स्थापना करके होता आदि अपने अपने शस्त्रोंका पाठ करते हैं ।[१]

आग्नीध्र, मैत्रावरुण, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और अच्छावाक इन सातों की पृथक्, पृथक् सात धिष्ण्याएँ होती हैं, जो सदोमण्डपके बीचमें बनाई जाती हैं । इनमेंसे आग्नीध्र धिष्ण्याके दो नाम अग्निविभु और प्रवाहण भी तैत्तिरीय संहितामें दिए गए हैं । आग्नीध्र नामक ऋत्विज् का प्रधान कर्मस्थल यही धिष्ण्या है ।[२]

धिष्ण्याका निर्माण

धिष्ण्या बनानेके लिए सर्वप्रथम अध्वर्यु चात्वालसे मृत्तिका निकालता है ।[३] इस अवसरपर गोपीनाथने लिखा है कि मृत्तिका प्राप्तिके लिए पहले चात्वालको खोदना चाहिये फिर मृत्तिका निकालकर धिष्ण्यास्थानपर वह मृत्तिका डालनी चाहिये (पृष्ठसं० ७२३) । सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७२३) ने धिष्ण्याके "चतुरश्र" तथा परिमण्डल ये दो विशेषण दिये हैं । देवयाज्ञिकने सभी धिष्ण्या अट्ठारह अंगुल प्रमाणवाली तथा उतनी ही अन्तराल वाली कहा है (पृष्ठसं० २९०) ।

सर्वप्रथम उत्तरकी ओर मुख करके "पंच भूसंस्कार" करता है, तत्पश्चात् चात्वालसे लाई हुई मिट्टीको शुद्ध की हुई भूमिपर अध्वर्यु मन्त्रके[४] साथ डालता है । इसके पश्चात् मन्त्रके[५] साथ धिष्ण्यापर सिकता (बालू) बिछाता है, तब अध्वर्यु अट्ठारह अंगुल चौकोर आग्नीध्रीय धिष्ण्या आग्नीध्रीयागारमें बनाता है (देवयाज्ञिक

---

१. धिष्ण्यः स्थण्डिलविशेषो यत्राग्निं संस्थाप्य होत्रादयः स्वानि शस्त्राणि शंसन्ति (काश्रौसू० पर सरलावृत्ति-पृष्ठसं० ३०१), अग्नीनामाश्रयभूता मृदा निर्मिताः स्वल्पवेदिका धिष्ण्यान्युच्यन्ते (वासं० ५.३१) पर महीधरका भाष्य ।

२. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० १९४) ।

३. भारश्रौसू० (१२.१४.१) ।

४. विभूरसि प्रवाहणो (वासं० ५.३१) । तैसं० (१.३.३.१) ।

५. रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट (वासं० ५.३४) ।

पद्धति, पृष्ठसं० २८९)। सरलावृत्तिकार ने पूर्वकी ओर मुख करके अध्वर्युके द्वारा पंच भूसंस्कार करनेका विधान किया है (पृष्ठसं० ३०१)।

इस धिष्ण्याके उत्तरकी ओर आने-जानेके लिए मार्ग छोड़ दिया जाता है।[१] आग्नीध्रीय धिष्ण्या बन चुकने पर अध्वर्यु सदस् के पूर्वी द्वारके पीछे एक प्रक्रम की दूरी छोड़कर पृष्ठ्याके उत्तरकी ओर समीपमें ही मन्त्रके[२] साथ पश्चिमाभिमुखी होकर सप्त संस्कार करके चात्वालसे लाई हुई मिट्टी डालकर मन्त्रके[३] द्वारा होताकी धिष्ण्यापर बालू फैलाता है।[४] इस प्रकार होताकी धिष्ण्या तैयार हो जाती है।

होताकी धिष्ण्याके पश्चात् औदुम्बरीके आग्नेयकोणमें अध्वर्यु आग्नीध्रीय धिष्ण्याके समान ही उत्तरकी ओर मुखकरके मन्त्रके[५] साथ मित्रावरुण (प्रशास्ता) की धिष्ण्या पर चात्वालसे लाई हुई मिट्टी डालता है तथा मन्त्रके[६] साथ सिकता (बालू) बिछाता है।[७]

इसी प्रकार होतृधिष्ण्याके उत्तरकी ओर मन्त्रसे[८] ब्राह्मणाच्छंसीकी[९] धिष्ण्यापर, ब्राह्मणाच्छंसीकी धिष्ण्याकेउत्तरमें नेष्टाकी[१०] धिष्ण्यापर मन्त्रसे[११] नेष्टा की धिष्ण्याके उत्तरमें पोताकी[१२] धिष्ण्याके ऊपर मन्त्रसे, पोता की धिष्ण्याके उत्तरमें

---

१. भारश्रौसू० (१२.१४.२) के अंग्रेजी अनुवादपर काशीकरकी टिप्पणी।

२. वह्निरसि हव्यवाहनः (वासं० ५.३१, तैसं० १.३.३)।

३. रौद्रेणानीकेन पाहिमाऽअग्ने पिपृहि माऽग्ने गोपाय मा नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः (वासं० ५.३१)।

४. भारश्रौसू० (१२.१४.४, बौश्रौसू० ६.२९, मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० १९३, सत्याषाढश्रौसू० पृ० सं० ७२४)।

५. श्वात्रोऽसि प्रचेताः (वासं० ५.३१. तैसं० १.३.३)।

६. देखिये, पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ व ५

७. भारश्रौसू० (१२.१४.५, सत्याषाढश्रौसू० ७२४, काश्रौसू० ८.६.१८)।

८. तुथोऽसि विश्ववेदाः (वासं० ५.३१, तैसं० १.३.३)।

९. ब्राह्मणे विहितानि शस्त्राण्युपचाराद् ब्राह्मणानि तानि शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विक् विशेषः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७२६)।

१०. पत्नेजनीग्रहणप्रदेशं प्रति पत्नीं नयति इति नेष्टा (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७२६)।

११. अंघारिरसि बम्भारी (वासं० ५.३२, तैसं० १.३.३)।

१२. पाति यजमानमाशासनद्वारेति, पोता ऋत्विग्विशेषः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७२६)

अच्छावाककी[१] धिष्ण्यापर मन्त्रसे,[२] चात्वालसे लाई हुई मिट्टी डालता है और प्रत्येक मन्त्रके साथ मन्त्र[३] कहकर बालू बिछाता है।[४]

मार्जालीयका निर्माण

धिष्ण्याके अनन्तर सदसके बाहर वेदीके दक्षिणार्द्धमें तथा आग्नीध्रीयके दक्षिण में मार्जालीय[५] धिष्ण्याके लिए अध्वर्यु सप्त संस्कार करके दक्षिणाभिमुख होकर मन्त्रके[६] द्वारा मार्जालीयपर चात्वालसे लाई हुई मृत्तिका उडेलता है तथा मन्त्रके[७] द्वारा बालू बिछाता है।[८]

सभी धिष्ण्याओं पर अन्वारम्भ, पुरीषनिवाप किया जाना चाहिए अथवा सभीपर सप्त संस्कार तथा पूर्वमुख होकर अध्वर्युके द्वारा सिकतानिवाप कृत्य किया जाना चाहिए (देवयाज्ञिकपद्धति पृष्ठसं० २९०)।

आहवनीयादिका मन्त्रपूर्वक आलोकन

धिष्ण्यानिवपनके अनन्तर अध्वर्यु सदोमण्डपके पूर्व द्वारके सामने खड़ा होकर आहवनीय, बहिष्पवमानदेश, चात्वाल, शामित्र,[९] औदुम्बरी, ब्रह्मासन, शाला-द्वारीय, प्राजहित[१०] इन सबको मन्त्रों के साथ आलोकन करता है।[११]

---

१. अच्छशब्देनाच्छशब्दादिसूक्तं लक्ष्यतेऽच्छा वो अग्निमवस। तत्, आ, अत्यन्तं समीचीनं वक्तीत्यच्छावाक् ऋत्विग्विशेषः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७२६)।

२. अवस्यूरसि दुवस्वान् (वासं० ५.३२, तैसं० १.३.३)।

३. देखिये पृष्ठसं. १७० की टिप्पणी संख्या, २ व ५

४. भारश्रौसू० (१२.१४.७,८,९,१०, काश्रौसू० ८.६.१९, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७२६)।

५. मृज्यन्ते शुद्धानि क्रियन्ते पात्राणि यत्र तन्मार्जालीयम् (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७२६)।

६. शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः (वासं० ५.३२, तैसं० १.३.३)।

७. देखिये पृष्ठ १७० की टिप्पणी संख्या २

८. भारश्रौसू० (१२.१४.११, काश्रौसू० ८.६.२०)।

९. प्रदक्षिणमेनं तक्वन्ति निर्गच्छन्ति ऋत्विजः स शामित्रदेशः (उव्वट)। शामित्रं पशुविशसनप्रदेशः शामित्रशब्देनोच्यते (महीधर, वासं० ५.३२)।

१०. पत्नीशालापश्चिमभागवर्ती पुरातनो गार्हपत्योग्निः प्राजहित उच्यते (वासं० ५.३३ पर महीधरभाष्य)। प्राजहितः पुरातनो गार्हपत्यः (काश्रौसू० ८.६.२१ पर सरलावृत्ति)।

११. काश्रौसू० (८.६.२१)।

सर्वप्रथम मन्त्रके[१] साथ आहवनीयको देखता है, इसके पश्चात् मंत्र[२] से (उस) बहिष्पवमान देशको (जहाँ सामगायक बहिष्वमान सामका गायन करते हैं), मन्त्रसे[३] चात्वालको, मन्त्रसे[४] शामित्रको, मन्त्रसे[५] सदस के द्वारपर स्थित उदुम्बरकी शाखाको, तथा मन्त्रके[६] द्वारा ब्रह्मासन[७]को देखता है ।[८]

भारद्वाजने कुछ अन्य स्थलोंके अवलोकनका विधान किया है उदाहरण के लिए मन्त्रसे[९] ब्रह्माके पीढेको, मन्त्रसे[१०] शालामुखीय[११] अग्निको, मन्त्रसे[१२] प्राजहितको, मन्त्रसे[१३] (अन्वाहार्यपचन) दक्षिणाग्निको, तथा मन्त्रके[१४] साथ उत्कर को देखता है ।[१५]

---

१. सम्राडसि कृशानुः(वासं० ५.३२ तैसं० १.३.३)।

२. परिषद्योऽसि पवमानो (वासं० ५.३२)। परिषद्योऽसि पवमानः (तैसं० १.३.३) मन्त्र का विनियोग भट्टभास्करने आस्ताव देखनेके लिए किया है ।

३. नभोऽसि प्रतक्वा (वासं० ५.३२)। प्रतक्वासि नभस्वान् (तैसं० १.३.३)।

४. मृष्टोसि हव्यसदनः (वासं० ५.३२)। असंमृष्टोऽसि हव्यसूद (तैसं० १.३.३) मन्त्रका विनियोग भट्टभास्करने पशुश्रपणके अवलोकनके लिए किया है ।

५. ऋतधामाऽसि स्वर्ज्योति (वासं० ५.३२)। ऋतधामासि सुवर्ज्योतिर् (तैसं० १.३.३)।

६. समुद्रोऽसि विश्वव्यचा (वासं० ५.३३,मैसं० १.२.१२,कासं० २.१३)।

७. सदोमण्डपके मध्य अग्निकोणप्रान्तमें उत्तर दक्षिणको फैली हुई स्वल्प आठ वेदियाँ ही ब्रह्मासन कहलाती हैं (मिश्रभाष्य,पृष्ठसं० १९८)।

८. भारश्रौसू० (१२.१५.२.३.४.५.६. काश्रौसू० ८.६.२१, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९०-९१)।

९. ब्रह्मज्योतिरसि सुवर्धाम (तैसं० १.३.३)।

१०. अजोऽस्येकपाद् (वासं० ५.३३)। तैसं० (१.३.३) में भी यही मन्त्र है किन्तु भट्टभास्कर ने गार्हपत्यका उल्लेख किया है,न कि शालामुखीय अग्निका ।

११. प्राकृत आहवनीयः शालामुखीय इत्युच्यते (श्रौपनि० १३३८६)।

१२. अहिरसि बुध्न्यो (वासं० ५.३३,तैसं० १.३.३)।

१३. कव्योऽसि कव्यवाहनः(मैसं० १.२.१२)।

१४. समूह्योऽसि विश्ववेदा ऊनातिरिक्तस्य प्रतिष्ठा (काण्वसं० ५.८.५)।

१५. भारश्रौसू० १२.१५.७,१०,११,काश्रौसू० ८.६.२२

इस अवसरपर कुछ आचार्योंने प्रैष "स्तृणीत बर्हिः प्र व्रतं यच्छत समपिव्रतान् ह्वयध्वम्" पूर्वक महावेदीपर बर्हिका परिस्तरण कहा है किन्तु साथ साथ उक्त कृत्यका निषेध भी प्राप्त होता है ।[१]

धिष्ण्यानिवपन तथा आहवनीयादिके अवलोकन कृत्य सम्पन्न हो चुकने पर अध्वर्यु अग्निहोत्री गौके एक स्तनसे दूहा हुआ व्रत यजमानको देता है ।[२]

यजमानको व्रत देनेके साथ ही धिष्ण्यासे सम्बन्धित सभी कृत्य सम्पन्न हो जाते हैं ।

अग्निषोमप्रणयन

चौथा दिन सबसे महत्वपूर्ण कृत्य अग्निषोमीयपशुसे सम्बन्धित है, जिसका उपक्रम किया जाता है ।

सर्वप्रथम द्विरासन, ब्रह्मा-यजमानका उत्तरवेदीके दक्षिण की ओर उपवेशन,[३] समन्त्रक ब्रह्माका आसन-संस्कार, अध्वर्यु द्वारा दिया गया यजमानके प्रति "यजमान वाचं यच्छ" प्रैष, प्राजहित (पुरातन गार्हपत्याग्नि) को छोड़कर शेषका परिस्तरण[४] तथा शालाद्वार्यके पीछेकी ओर अथवा उत्तरकी ओर पात्रासादन[५] आदि कृत्य किये जाते हैं । पात्रासादनके अन्तर्गत अग्निहोत्रहवणी,[६] वज्र,

---

१. भारश्रौसू० (१२.१५.१२,१४)।

२. भारश्रौसू० (१२.१५.१५)।

३. मन्त्रेण होता स्वस्थाने उपविशति दक्षिणोत्तरिणोपस्थेन उपविश्यतेनेनेति करणव्युत्पत्या स मन्त्र उपवेशन इत्युच्यते (श्रौपनि० २७.२२२)।

४. आहवनीयदक्षिणाग्निगार्हपत्यान् क्रमेण दर्भैः परिस्तृणाति। अग्नेः षोडशभिर्दर्भैः प्राच्यादिषु परिस्तृतिरिति वचनात् प्राच्यां प्रथममेखलोपरि चतुर्भिदर्भैस्तथैव दक्षिणस्यां प्रतीच्यामुदीच्यां च क्रमेण स्तरणं परिस्तरणपदार्थः (श्रौपनि० १४.१०३)।

५. गार्हपत्यस्य पुरस्ताद् वेद्यां परिभोजनीयदर्भानास्तीर्य तेषु द्वन्द्वं न्यंचि प्रक्षालितानि यज्ञपात्राणि प्राक्संस्थान्युदगपवर्गाणिस्थापयति। तदेतत्कर्म पात्रासादनपदार्थः (श्रौपनि० १४.१०४)।

६. दैर्घ्ये प्रादेशमात्री अरत्निमात्री बाहुमात्री वा हस्त्योष्ठीत्वपक्षे अष्टांगुलपरिमितबिला हंसमुखीत्वपक्षे वायसपुच्छकात्वपक्षे च पंचांगुलपरिमितबिला चतुरंगुलपरिमितबिला वा बिलावशिष्टभागेन दण्डयुक्ता विकंकतकाष्ठेन निर्मिता अग्निहोत्रहोमसाधनत्वादग्निहोत्रं हूयतेऽनयेति करणव्युत्पत्याऽग्निहोत्रहवणीत्युच्यते (श्रौपनि० ७.३८)।

शम्या,[१] दृषदुपल,[२] पवित्रा,[३] स्थाली, आज्य, वेद,[४] अभ्रि, इध्मचतुष्टय, मन्थनचतुष्टय, स्रुक्[५] पंचक, पान्नेजनीसप्तक,[६] यूपाष्टक, उखापंचक, आतिथ्यसंबन्धि बर्हि, स्रुव[७]प्राशित्रहरण,[८] पात्री, षडवत्त,[९] योक्त्र,[१०] कुशा, अन्तर्द्धानकट,[११] सब सोमपात्र, ग्रावाण, अधिषवणफलक आदि सभी वस्तुएँ रक्खी जाती हैं (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९१)। सरलावृत्तिकारने प्रैष "प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरपसादय" का

---

१. खदिरकाष्ठनिर्मिता षट्त्रिंशदंगुलपरिमितायामा अग्रभागे अष्टास्वंगुलिषु कुम्बाष्टकयुता तण्डुलादिपेषणकाले दृषदोऽधस्तात् स्थापनायोपयुज्यमाना आग्नीध्रकर्तृकदृषदुपलादिसमाहननादौ करणभूता शम्यापदवाच्या (श्रौपनि० ७.४१)।

२. पाषाणमयी पेषणकाले पेषणीयद्रव्याश्रयभूता दृषदित्युच्यते। पाषाणनिर्मिता पेषणसाधनभूता उपला कथिता (श्रौपनि० ८.४४-४५)।

३. अनखच्छिन्नम् साग्रं प्रादेशमात्रं मन्त्रसंस्कारयुक्तं समपरिणाहं प्रोक्षणादौ प्रायः उपयोगि दर्भद्वयं पवित्रसंज्ञं भवति (श्रौपनि० ९.५६)।

४. दर्भमुष्टिः प्रदक्षिणमावेष्ट्य द्विगुणः कृतः प्रादेशमात्र उपविष्टवत्सजानुसदृशसम्पन्नः समन्त्रकवेदिसंमार्जनादिकर्मोपयोगी प्रच्छिन्नाग्रो वेद इत्युच्यते (श्रौपनि० १०.६३)।

५. ध्रुवोपभृज्जुहूर्ना तु स्रुवो भेदाः स्रुचः स्त्रियामिति श्रौतव्यवहारमूलककोशाद् ध्रुवोपभृज्जुहूस्रुवाणां चतुर्णां वाचकः स्रुक् शब्दः (श्रौपनि० १०.६२)।

६. गृहीता आपः पादप्रक्षालनार्थत्वात्पादयोर्नेजन्य इति समासे पन्नेजनीपदवाच्याः (श्रौपनि० २६४.२५८)।

७. खदिरकाष्ठनिर्मितः अरत्निमात्रो दीर्घः अग्रभागे अंगुष्ठपर्वमात्रवर्तुलबिलयुक्तः आज्यहोमादौ करणभूतः। स्रवत्याज्यादिद्रव्यमस्मादिति व्युत्पत्या स्रुवपदवाच्यः (श्रौपनि० ८.४८)।

८. खदिरकाष्ठनिर्मितं प्रादेशपरिमितं गोकर्णाकारं चतुरंगुलपरिमितदण्डयुक्तं प्राशित्रं नाम ब्रह्मणे दीयमानो हुतशेषहविर्भागः स ह्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्या प्राशित्रहरणपदवाच्यम् (श्रौपनि० ८.५०)।

९. उपहूतायामिडायां अध्वर्युराग्नीध्रस्य हस्ते उपस्तीर्य प्रथमं इडायाः कंचिदंशं दत्वा अभिघार्य पुनरुपस्तीर्य द्वितीयं दत्वा अभिघारयति। तदेतत् षडवत्तमित्युच्यते (श्रौपनि० ३३.२७७)।

१०. कर्मकाले आग्नीध्रो अध्वर्युप्रेषितः पत्नीं मन्त्रेण येन गुणेन मुंजमयेन वेष्टनेन त्रिगुणितेन कटिदेशं संनह्यति स गुणो योक्त्रमित्युच्यते (श्रौपनि० १०.६५)।

११. यदा गार्हपत्ये अध्वर्युः पत्नीसंयाजः प्रचरति तदा देवानां पत्नीयागकाले स्वीयहवीर्भाग-ग्रहणार्थमागतानां देवानां पत्नीनां स्त्रीत्वाल्लज्जया तिरोधानाय अश्वत्थकाष्ठनिर्मितं तिरोधानकरणयोग्यं कटाकारत्वात् अन्तर्धानकटमित्युच्यते (श्रौपनि० १४.१००)।

तथा द्रोणकलश[1] वपाश्रपणी,[2] रशना,[3] प्रोक्षणीके[4] आसादनका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० ३०२)। पात्रासादनके अनन्तर अन्तःपात्यदेशमें इध्म, महावेदी तथा कुशाका अध्वर्युके द्वारा प्रोक्षण किया जाता है (काश्रौसू० ८.६.२६)। देवयाज्ञिकने वेदीके प्रोक्षणके लिए "वेदिरसि" मन्त्रका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २९२)। आतिथ्येष्टिमें प्रयोग की हुई कुशाओंके साथ पलाशकी टहनी बाँधी जाती है (भारश्रौसू० १२.१६.२)। अन्तःपात्य देशमें इध्म (लकड़ियों) का स्थापन किया जाता है (काश्रौसू० ८.६.२७)। ये कुल तेईस लकड़ियाँ होती हैं, जिनमें उन लकड़ियोंको बाँधा जाता है, जो आतिथ्येष्टिमें चारों ओर लगाई गई थी (भारश्रौसू०१२.१६.३)।

तीसरे पहर महावेदीपर तृणकी तीन मुष्टियोंसे आच्छादन करता है (काश्रौसू० ८.६.२७)। देवयाज्ञिकके अनुसार उक्त कृत्यके पहले वेदीमें बिखरे हुए तृण आदिको उत्करमें डाल दिया जाता है तब उत्तरवेदी-खर-उपरव और धिष्ण्याको छोड़कर शेष वेदीमें कुशमुष्टिसे आच्छादन किया जाता है (पृष्ठसं० २९२)। इस अवसर पर बर्हिर्विस्रंसन कृत्य तो किया जाता है किन्तु जैसा कि दर्शपूर्णमासमें प्रस्तर ग्रहण किया जाता है, वैसे यहाँ प्रस्तरग्रहणका निषेध बताया गया है (काश्रौसू० पर सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३०३)।

अब व्रतका आधा भाग यजमान और उसकी पत्नीको अध्वर्यु देता, शालामें प्रवेश करके आग्नीध्रीयाग्निके प्रणयनके लिए शालाद्वार्यमें इध्माधान किया जाता, ब्रह्मा अपने आसनसे उठकर उत्तरवेदीके पूर्वकी ओर, आग्नीध्रीयके उत्तरकी ओर, शालाद्वार्यके पूर्वकी ओर आकर शालाद्वार्यके दक्षिणकी ओर बैठता, इध्मका अधिश्रयण[5] किया जाता तथा उपयमनीका उपकल्पन (बालू डालकर नीचेकी तह बनाना) आदि कृत्य किये जाते हैं (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९२)।

शब्रा० (३.६.३.४) ने स्रुच् को कुशासे झाड़नेका उल्लेख किया है। देवयाज्ञिकने सम्मार्जनका अर्थ यत्नपूर्वक रक्षण किया है (पृष्ठसं० २९२)।

---

१. जुहूसदृशे महापुष्करे द्वे पात्रे ते द्रोणकलशपदवाच्ये (श्रौपनि० १५२.१५९)।

२. वपा श्रप्यते यस्यां सा वपाश्रपणीत्युच्यते (श्रौपनि० १२१.१९)।

३. पशुबन्धनार्था रज्जुः पशुरशनेत्युच्यते (श्रौपनि० १२१.१८)

४. व्रीह्यादिप्रोक्षणार्थं अग्निहोत्रहवण्यां गृहीताः संस्कृता आपः प्रोक्षणीपदवाच्या (श्रौपनि० १७.१३४)।

५. अधिश्रयणं नाम वह्नौ स्थापयित्वा संतापनम् (श्रौपनि० १६.१२५)।

अब आग्नीध्र ही शालाद्वार्यमें आज्यका अधिश्रयण, पर्यग्निकरण तथा उदकालम्भकृत्य सम्पन्न करता है तथा उसके पश्चात् चरु लेकर अन्तःपात्यमें जाकर "स्रुचः समृद्धि पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहि" प्रैषका प्रयोग करता है, इसके पश्चात् शालाद्वार्यमें पात्रसम्मार्ग, पत्नीसन्नहन, आज्योद्वासन, अवेक्षण आदि कृत्य करके आज्यको लेकर अन्तःपात्यमें प्रोक्षणीका आसादन करता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९२-२९३)।

अपनी गोदमें सोमको लेकर यजमानका उपवेशन

अब यजमान अपनी गोदमें सोमको लेकर शालाद्वार्यके अपरभागमें बैठ जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९३)।

सोमक्रयणी-पदपांसुका प्रक्षेप

सोमक्रयके प्रसंगमें सोमक्रयणी गौकी जो धूलि संग्रह करके सुरक्षित रक्खी गई थी, उसे नूतनगार्हपत्यके पीछे दूरतक चारों ओर फेंकी जाती है (का०श्रौसू० ८.६.३०)। सायणने प्राचीनवंशगत आहवनीयके पश्चात् भागमें धूलि फेंकनेका उल्लेख किया है (शब्रा० ३.६.३.४ पर सायण भाष्य)। देवयाज्ञिकके अनुसार अध्वर्यु धूलिके चार भाग करता है तथा पहला भाग आहवनीयप्रणयनकाल में उपयमनीके लिए, द्वितीय भाग अक्षधुरिके लिए (सरलावृत्तिके अनुसार, तृतीयभाग, पृष्ठसं० ३०३), तृतीय भाग आग्नीध्रीयकी उपयमनीके लिए (सरलावृत्तिके अनुसार द्वितीयभाग, पृष्ठ सं० ३०३), चतुर्थ भाग शालाद्वार्यके लिए प्रयोग किया जाना चाहिये (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९३) किन्तु शब्रा० (३.६.३.६) ने उक्त विधान का निषेध करते हुए कहा है क़ि पदपांसुके चार विभाग न करके सम्पूर्ण पदपांसु शालाद्वार्य (गार्हपत्य) में ही फेंकनी चाहिये। का०श्रौसू० (८.६.३१) ने विकल्प प्रस्तुत किया है।

वैसर्जन आहुतियाँ

आहुतियाँ देनेके उपरान्त मेखला-कृष्णाजिन आदि सबका विसर्जन यजमान करता है इसलिए वैसर्जन आहुतियाँ दी जाती हैं।[1] पहले ग्रहण किये गए व्रतों

---

१. विसर्जनसाधनत्वाद् वैसर्जनानीति नाम सम्पनन्नम् (शब्रा० ३.६.३.२ पर सायण भाष्य)।

का परित्याग असम्भव होनेसे होमके अनन्तर उन ग्रहण किये गए व्रतोंका परिहार सम्भव होता है, इसीलिए वैसर्जन आहुतियाँ दी जाती हैं।[1]

वैसर्जन आहुतिसे पहले कुछ कृत्योंका देवयाज्ञिकने उल्लेख किया है-जैसे कि अन्त: पात्य देशमें आज्योत्पवन, प्रोक्षण्युत्पवन, आज्यावेक्षण, पृषदाज्यसंयोजन, पशुवत् आज्यग्रहण, आज्योंका धारण आदि कृत्य।[2]

इस वैसर्जन आहुतिसे पूर्व एक और कृत्य किया जाता है, जिसका कात्यायन तथा सत्याषाढने उल्लेख किया है। सर्वप्रथम "समपिव्रतान्ह्वयध्वमिति" सम्प्रैष किया जाता है, तब अध्वर्युको यजमान, यजमानको उसकी पत्नी और पत्नीको यजमानके भाई, पुत्र और उनकी पत्नी स्पर्श करती हैं (सत्याषाढश्रौसू०, पृष्ठसं० ७३८)। गोपीनाथका कहना है कि यदि यजमानकी बहुत सी पत्नियाँ हो तो सभीको यजमानका स्पर्श करना चाहिये (पृष्ठसं० ७३९)। कात्यायनने केवल अपिव्रतोंके[3] द्वारा ही यजमानके स्पर्शका विधान किया है।[4] इसके पश्चात् यजमानसहित गोत्रजोंका अध्वर्यु अहतवस्त्रसे सिर ढकता है (काश्रौसू० ८.६.३५)। गोपीनाथके अनुसार गोत्रजों अथवा यजमानका सिर ढका जाना चाहिए, अर्थात् गोपीनाथने विकल्पके रूपमें यह विधान किया है कि या तो केवल यजमानका सिर ढका जाय अथवा गोत्रजोंका सिर ढका जाय (पृष्ठसं० ७३९)। देवयाज्ञिकने भी यजमानसहित गोत्रजोंके सिर ढकनेका विधान किया है साथ ही ढकनेके लिए केवल एकवस्त्रका उल्लेख किया है अर्थात् सबको सिर ढकनेके लिए अध्वर्यु के द्वारा एक एक वस्त्र दिया जाता है (पृष्ठसं० २९३)। इधर-उधर भ्रमणपर गए हुए गोत्रजोंके लिए कात्यायनने स्पर्श करनेका निषेध किया है (काश्रौसू० ८.६.३६)।

---

१. पूर्वं व्रतपरित्यागासम्भवात् होमानन्तरं व्रतपरित्यागः (शब्रा० ३.६.३.१ पर सायण)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २९३)।

३. अपीति संसर्गे। व्रतमिति कर्मनाम। संसृष्टं साधारणं कर्म येषां ते अपिव्रताः यजमानस्य गोत्रजा उच्यन्ते (काश्रौसू० ८.६.३४ पर सरलावृत्ति)। अपि समुच्चितं सपिण्डसहकृतं व्रतम् एकपात्रभोजनं येषां ते अपिव्रता इति गोपीनाथः (सत्याषाढश्रौसू० ७.६)।

४. काश्रौसू० (८.६.३४)।

अग्निषोमके लिए मन्त्रके[१] द्वारा जुहू और उपभृतमें चार स्रुवा आज्य और पाँच स्रुवा पृषदाज्यका ग्रहण किया जाता है ।[२]

इसके पश्चात् जब ईन्धन प्रदीप्त होता है तो स्रुचीको रख दिया जाता है ।[३]

इतनी क्रिया करनेके पश्चात् समन्त्रक वैसर्जन होम किया जाता है। शालाद्वार्यमें स्थित जलती हुई समिधाके ऊपर मन्त्रके[४] द्वारा प्रचरणीसे एकबारमें आज्य ग्रहण करके आहुति दी जाती है और दूसरी आहुति मन्त्रके[५] द्वारा एक बारमें आज्यको ग्रहण करके प्रचरणीसे[६] दी जाती है ।[७] इन दोनों आहुतियोंमें अध्वर्यु आधा आज्य डाल देता है (आपश्रौसू० ११.१६.१६)। इस अवसरपर भारद्वाज (१२.१७.१) ने दूसरी आहुति देनेके पश्चात् शालामुखीय[८] अग्निपर एक लकड़ी (समिधा) का गट्ठा जलानेका विधान किया है ।

प्रैषकथन

यद्यपि कात्यायन (८.७.३-४) तथा शब्रा० (३.६.३.९) ने "अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि" तथा "सोमाय प्रणीयमानायेति" इन दो प्रैष मन्त्रोंका उल्लेख किया है किन्तु सिद्धान्तपक्षमें शब्रा० ने "अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि" प्रैष ही मान्य ठहराया है। कात्यायनने तो दोनोंका विकल्पके रूपमें उल्लेख किया है, चाहे किसीका भी प्रयोग किया जा सकता है। आपश्रौसू० (११.१७.२) तथा ऐब्रा० (१.५.३०) ने भिन्न "अग्निषोमाभ्यां प्रणीयमानाभ्यामनुब्रूहि" प्रैषका उल्लेख किया है। सायणके अनुसार उक्त प्रैष अग्निषोमप्रणयनके[९] के लिए ही किया जाता है

---

१. ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् (वासं० ५.३५)।

२. शब्रा० (३.६.३.६)।

३. शब्रा० (३.६.३.६)।

४. त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यउरु यन्तासि वरूथं स्वाहा (वासं० ५.३५, तैसं० १.३.४)।

५. जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा (वासं० ५.३५)।

६. अन्यासु व्यापृतासु तया प्रचर्यत इति प्रचरणी नाम पलाशी स्रुक् जुहूरेव। अग्निहोत्र हवणीति कर्कः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३०४)।

७. काश्रौसू० (८.७.१,२, शब्रा० ३.६.३.७,८, भारश्रौसू० १२.१६.१४,१५)।

८. शालाया मुखं शालामुखं प्राग्वंशस्य पूर्वो भागः। तत्र भवः शालामुखीयो गृहपतिर्यजमानस्तेन संयुक्तोऽग्निर्गार्हपत्यः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७३६)।

९. योऽयमग्निः प्राचीनवंशाख्याः शालाया मुखे द्वारभागे पूर्वसिद्धाहवनीयरूपेणावतिष्ठते

(ऐब्रा० १.५.३० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० १८०)। अध्वर्यु द्वारा प्रैष किये जाने पर होता ऋग्वेदके[1] मन्त्रोंका उच्चारण करता है (ऐब्रा० १.५.३०)।

शालामुखीयसमीपेऽवस्थितस्तेनाग्निना सहाऽऽनीतः सन् पुनरपि हविर्द्धानमण्डपे नेतव्यः। तदिदमग्नीषोमप्रणयनम् (ऐब्रा० १.५.३० पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० १८०)।

१. उत्तरवेदीमें पहले अग्नि और बाद में सोमको ले जाये जानेके समय "सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै। अथास्मभ्यं सवितर्वायाणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः (आश्वश्रौसू० ४.१०.१, शांखाश्रौसू० ५.१४८, अथर्वसं० ७.१४.३) मन्त्र होता पढ़ता है। प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः (ऋसं० १.४०.३)। होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया। विदथानि प्रचोदयन्। वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते। विप्रो यज्ञस्य साधनः। धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना (ऋसं० ३.२७.७-९)। उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि। राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे॥ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये (ऋसं० १.१.७-९)। उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्। अगन्म बिभ्रतो नमः (ऋसं० ९.६७.२९)। आग्नीध्रीयमें आहुति देने के समय "अग्ने जुषस्व प्रति हर्य तद्वचो मन्द्र स्वधाव ऋतजात सुक्रतो। यो विश्वतः प्रत्यङ्ङसि दर्शतो रण्वः संदृष्टौ पितुमाँ इव क्षयः (ऋसं० १.१४४.७) मन्त्र पढ़ता है। जिस समय होता की पीठ आग्नीध्रकी ओर होती है और आग्नीध्र आगे बढ़ता है, उस समय राजा सोमको उत्तरवेदीपर ले जाय जाते समय "सोमो जिगाति गातुविद् देवानामेति निष्कृतम्। ऋतस्य योनिमासदम्। सोमो अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्करत्। अस्माकमायुर्वर्धयन्नभिमातीःसहमानः। सोमः सधस्थमासदत् (ऋसं० ३.६२.१३-१५) मन्त्र पढ़ता है। फिर यह मन्त्र पढ़ता है—तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। दाधार दक्षमुत्तमहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते (ऋसं० १.१५६.४)। हविर्द्धानके सन्निकट सोमके होने पर होता अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य। इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणःश्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः (ऋसं० ८.४८.२) मन्त्र पढ़ता है। होता फिर यह मन्त्र पढ़ता है—"श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतं हिरण्ययमासदं देव एषति। ए रिणन्ति बर्हिषि प्रियं गिराश्वो न देवाँ अप्येति यज्ञियः (ऋसं० ९.७१.६)। अन्तमें होता" अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः। आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि (ऋसं० ८.४२.१)। यदि अन्य लोग उस यजमान का आश्रय प्राप्त करना चाहें अथवा वैरियोंसे भयभीत होकर वे लोग यजमानके समीपमें अभय की इच्छा करें तब यह ऋचा होता को कहनी चाहिये—"एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम्। स नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसत् पातं नो द्यावापृथिवी उपस्थे (ऋसं० ८.४२.२)। पहला मन्त्र और अन्तिम मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं इस प्रकार मन्त्रों का संख्या इक्कीस होती है, जिससे होता यजमानकी समृद्धि करता है (ऐब्रा० १.५.३० आश्व श्रौसू० ४.१०.१-१३, आपश्रौसू० ११.१७.१-१०, तैसं० १.५.३, ६.३.२, काश्रौसू० ८.७.३,४, शब्रा० ३.६.३.९)।

ग्रावादिकोंको लेकर आहवनीयके प्रति गमन

ब्रह्मा-यजमान-अध्वर्यु आदि पाँच (सोम कूटनेमें काम आने वाले) पत्थर, द्रोणकलश, वायु देवताके सोमपात्र, कार्श्मर्य लकड़ी की परिधि, इध्म, बर्हि, दो वपाश्रपणी, (यूप और पशुके लिए) दो रशना (रस्सी), दो अरणी, अधिमन्थनशकल, दो वृषण, अश्ववालके प्रस्तर (तृणमुष्टि), ईखकी विधृति, मन्थनचतुष्टय इन सब वस्तुओंको लेकर आहवनीयकी ओर चलते हैं ।[१] उक्त पात्रादि लेकर ब्रह्मा-यजमान और अध्वर्यु शालाके पूर्व द्वारसे निष्क्रमण करते हैं, जिसके लिए भट्टभास्करने मन्त्रका[२] उल्लेख किया है ।[३] सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७४०) ने उक्त मन्त्रको तीन बार कहनेका विधान करके यह कहा है कि पूर्वकी ओर मुख करके अध्वर्यु-ब्रह्मा और यजमान पहले अग्नि और फिर सोम ले चलें अथवा पहले सोम और फिर अग्नि ले चलें । गोपीनाथने पत्नीका भी उल्लेख किया है कि उसे भी आहवनीय पर्यन्त साथमें चलना चाहिए (पृष्ठसं० ७४१) । सत्याषाढने प्रयोजन-क्रमसे वस्तुओंको क्रमशः ले जाने का विधान इस प्रकार किया है—सर्वप्रथम परिकर्मियोंके द्वारा ग्रावाण, फिर आतिथ्यबर्हि, फिर इध्म, फिर आज्य को आहवनीय पर्यन्त ले जाना चाहिये (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७४१) । इस अवसरपर अध्वर्यु यजमानसे मन्त्र[४] कहलाता है ।[५]

आग्नीध्रीय धिष्ण्यामें अग्निस्थापन

सौमिकवेदीके उत्तरमार्गसे आकर आग्नीध्रगृहके मध्य आग्नीध्रीय धिष्ण्यामें अग्निकी स्थापना करते हैं ।[६] गोपीनाथने इस अवसरपर इस सार्वभौमिक नियमका उल्लेख किया है कि अग्निस्थापनसे पहले अग्न्यायतनको गोमयसे लीप लेना चाहिये (पृष्ठसं० ७४२) ।

---

१. शब्रा० (३.६.३.१०, काश्रौसू० ८.७.५, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २९४) ।

२. अयं नो अग्निर्वरिवः कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् । अयं शत्रूंजयतु जर्हृषाणोऽयं वाजं जयतु वाजसातौ (तैसं० १.३.४) ।

३. तैसं० (१.३.४ पर भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठसं० ४०५) ।

४. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराण मेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम स्वाहा (वासं० ५.३६, तैसं० १.१.१४) ।

५. काश्रौसू० (८.७.६, शब्रा० ३.६.३.११, आपश्रौसू० ११.१७.४) ।

६. काश्रौसू० (८.७.७, शब्रा० ३.६.३.१२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७४२) ।

आग्नीध्रीयमें ग्रावादिका स्थापन

अग्निकी स्थापना करनेके उपरान्त सोम कूटनेमें काम आने वाले पाँचों पत्थर, द्रोणकलश और सोमपात्र आग्नीध्रीय धिष्ण्यामें रख देते हैं ।[१] सरलावृत्ति-कारने आसन्दीको आग्नेयकोणमें रखनेका विधान किया है (पृष्ठसं० ३०५)। कात्यायनने होमसे पहले पात्रोंके रखनेका विधान किया है किन्तु देवयाज्ञिकने होमके अनन्तर पात्रोंके रखनेका विधान किया है । देवयाज्ञिकने विधान किया है कि होमके अनन्तर ग्रावा-द्रोणकलश-सोमपात्र ग्रहण करके उनको आग्नीध्रीयके मध्यमें, शेष इध्म आदि लेकर आग्नीध्रीयके उत्तरकी ओर जाकर पूर्व द्वारसे निकलकर आज्य तथा सोमको छोड़कर शेष सब वस्तुओंको आहवनीयके उत्तरमें स्थापित करे । ब्रह्मा पूर्वसे आहवनीय जाकर दक्षिणकी ओर वेदीके बाहर बैठ जाय (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २९४) । मानवश्रौसू० ने सोमासन्दीको भी आग्नीध्री-यमें ही रखनेका विधान किया है । शाखाभेदसे यहीं अग्निषोमीय पशुको भी बाँधनेका विधान प्राप्त होता है (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३०५) । गोपीनाथने इन सब वस्तुओंके अतिरिक्त सोमस्थाली, पूतभृत् आधवनीय, परिप्लवा, एकधनकलश, पन्नेजनीकलश, वसतीवरी कलश, दशापवित्र का भी विधान किया है कि ये वस्तुएँ भी आग्नीध्रीयमें रक्खी जानी चाहिए (पृष्ठसं० ७४२) ।

आग्नीध्रीय धिष्ण्यामें होम

अध्वर्यु प्रचरणीसे एक बारमें आज्य ग्रहण करके मन्त्रसे[२] आग्नीध्रीय अग्निमें आहुति देता है ।[३] देवयाज्ञिकने आज्यस्थालीसे आज्य लेनेका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २९४) । आहुति देनेसे पूर्व अध्वर्यु आग्नीध्रीय अग्निमें जलता हुआ एक लकड़ीका गट्ठा लाकर डालता है । तब आहुति पूर्व आहुतिसे बचे हुए आज्यसे दी जाती है (भारश्रौसू० १२.१७.४) । इसके पश्चात् आग्नीध्रकी उत्तरकी ओरसे परिक्रमा करके इध्मादिको लेकर आहवनीयकी ओर जाकर उसके उत्तरमें आज्य और सोमको छोड़कर शेष सब वस्तुएँ रख दी जाती हैं (सरलावृत्ति, पृष्ठसं०

---

१. काश्रौसू० (८.७.८)।

२. अयन्नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् । अयं वाजांजयतु वाजसाता वयं शत्रूंजयतु जुर्हषाणः स्वाहा (वासं० ५.३०)।

३. काश्रौसू० (८.७.९, शब्रा० ३.६.३.१२)।

३०५)। आपश्रौसू० (११.१७.४) ने होमके लिए भिन्न मन्त्रका[१] विनियोग किया है। इस अवसरपर कात्यायनने एक विशेष विधानका विवरण दिया है कि अध्वर्युको धिष्ण्याके मध्य आना-जाना नहीं चाहिये (काश्रौसू० ८.७.११)। इसके पश्चात् प्रोक्षणी लेकर समिधापर जल छिड़कता, खरके उत्तरभागमें आतिथ्यबर्हिसे एकबार आस्तरण करता है, अथवा उत्तरवेदीके पीछे एक बार आस्तरण करता है (काश्रौसू० ८.७.१२-१३, शब्रा० ३.६.३.१४)। देवयाज्ञिकके अनुसार प्रोक्षणी आहवनीयके उत्तरकी ओर रखनी चाहिये (पृष्ठसं० २९४)।

भारद्वाजने इस अवसरपर सोमको आगे करके पूर्वकी ओर चलनेके लिए कहा है (१२.१७.६), किन्तु आपश्रौसू० (११.१७.६) ने उत्तरकी ओर चलनेका विधान किया है। सत्याषाढश्रौसू०का कहना है कि अमात्य (यजमानके भाई, व उनकी पत्नी) जिस मार्गसे गए हों उसी मार्गसे उन्हें वापिस लौट चलना चाहिए (पृष्ठसं० ७४३)। इस अवसरपर गोपीनाथने टिप्पणी दी है कि आज्य-बर्हि-इध्म आदिके देने वालोंको उत्तरवेदीके समीप ही रुकना चाहिये (पृष्ठसं० ७४३)

आहवनीयाग्निमें होम

एकबारमें आज्यको ग्रहण करके प्रचरणीसे आहवनीय अग्निमें अध्वर्यु मन्त्रसे[२] आहुति देता है। इस अवसरपर विकल्पके रूपमें आहवनीयको देखते हुए मन्त्रका[३] विधान किया गया है (काश्रौसू० ८.७.१४-१५)। कात्यायनके अनुसार यह कृत्य होमके पूर्व भी किया जा सकता है, पश्चात् भी किन्तु देवयाज्ञिकने होमके पश्चात् ही यह क्रिया बतलाई है (पृष्ठसं० २९५)। भारद्वाजने कहा है कि इस अवसर पर समस्त घीकी आहुति दी जानी चाहिये तथा यजमानके सम्बन्धियोंको दाईं ओर घूमकर चला जाना चाहिये और यजमानको पूर्वी द्वारसे निकल जाना चाहिये (भारश्रौसू० १२.१७.८, आपश्रौसू० ११.१७.६-७)।

---

१. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराण मेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम (तैसं० १.१.१४)। सायणने यह मन्त्र पुरोनुवाक्या कहा है।

२. उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्रयज्ञपतिं तिर स्वाहा (वासं० ५.३८, तैसं० १.३.४)।

३. सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै (वासं० २.५)।

सोमराजाको लेकर ब्रह्मा द्वारा पूर्वी द्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश

मन्त्रके[१] साथ ब्रह्मा सोम राजाको लेकर पूर्वी द्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करता है ।[२] यजमानके गतश्री होने पर ही पूर्वी द्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करनेका विधान सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७४३) ने किया है, यदि यजमान गतश्री[३] नहीं है तो उस स्थितिमें पूर्वाक्त विधान स्वीकार नहीं किया गया है कि ब्रह्माको पूर्वी द्वारसे प्रवेश करना चाहिये अपितु यह विधान किया गया कि उसे पश्चिमीद्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करना चाहिये । भट्टभास्कर (पृष्ठसं० ४०८) तथा आपश्रौसू० ११.१७.९) ने बौधायनका ही अनुसरण किया है ।

शब्रा० (३.६.३.१७) के अनुसार उत्तरवेदी के पश्चाद्देशमें बर्हिपर स्रुचा रखकर, जलका स्पर्श करके राजा सोमको हविर्द्धानमें प्रवेश कराया जाता है ।

कृष्णाजिनपर सोम रखना

सबसे पहले अध्वर्यु दक्षिण हविर्द्धानके मध्यप्रदेशमें कृष्णाजिन इस प्रकार बिछाता है कि काले हरिणकी खालका ऊपर वाला भाग ऊपरकी ओर तथा गर्दन पूर्वकी ओर रहती है, इस अवसरपर यह मन्त्र[४] पढ़ा जाता है ।[५] अब मन्त्रके[६] द्वारा दक्षिण हविर्द्धानमें फैले हुए कृष्णाजिनचर्मपर सोम रक्खा जाता है ।[७] अब बँधे हुए सोमको खोलकर उसका उपस्थान मन्त्रसे[८] किया जाता है ।[९]

---

१. सोमो जिगाति गातुवित् (तैसं० १.३.४.१)।

२. बौश्रौसू० (६.३१)।

३. गता प्राप्ता श्रीर्यं तस्य गतश्रियः। "त्रयो वै गतश्रियः शुश्रुवान्ग्रामणी राजन्यः" इति श्रुत्युक्ता ग्राह्याः। शश्रुवान्वेदत्रयाध्यायी। ग्रामणीर्ग्रामाधिकारीति यावत्। अभिषिक्तः क्षत्रियो राजन्यः। एतेषां त्रयाणां पूर्वेण द्वारेण प्रपादनम् (गोपीनाथका भाष्य, पृ. ७४३-४४)।

४. अदित्याःसदोऽसि (तैसं० १.३.४.२)।

५. भारश्रौसू० (१२.१७.१०, बौश्रौसू० ६.३१)।

६. देव सवितरेष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् (वासं० ५.३९)। अदित्याः सद आ सदिष (तैसं० १.३.४)

७. काश्रौसू० (८.७.१६, शब्रा० ३.६.३.१८, भारश्रौसू० १२.१७.११)।

८. एतत् त्वं देव सोम देवो देवाँ उपागाइदमहम्मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण (वासं० ५.३९) एष वो देव सवितः सोमस्तं रक्षध्वं मा वो दभदेतत्वं सोम देवो देवानुपागाः(तैसं० १.३.४)।

९. काश्रौसू० (८.७.१७, शब्रा० ३.६.३.१८, भारश्रौसू० १२.१८.१, बौश्रौसू० ६.३१)।

हविर्द्धानसे निष्क्रमण

बँधे हुए सोमको हाथसे ढीला कर देनेपर यजमान मन्त्रके[१] द्वारा हविर्द्धानसे निकलता है।[२]

आहवनीयपर समिधाका आधान

मन्त्रके[३] द्वारा यजमान हविर्द्धानसे निकलकर आहवनीय अग्निपर समिधा रखता है।[४]

अंगुली विसर्जन

यजमान और उसकी पत्नी अंगुली खोलें, इससे पूर्व भारद्वाजने बहुतसी क्रियाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है— सर्वप्रथम अध्वर्यु मन्त्रके[५] द्वारा दाएँ घूमता, मन्त्रके[६]द्वारा पूर्वकी ओर हाथ जोड़ता, मन्त्रसे[७] दक्षिणकी ओर हाथ जोड़ता, मन्त्र[८] पढ़कर सभी अग्नियोंको देखता और अन्तमें दक्षिणकी ओर खड़ा होकर आहवनीयको मन्त्र[९] द्वारा अभिमन्त्रित करता है।[१०] अब मन्त्र[११] पढ़कर दो

---

१. स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान् मुच्ये (वासं० ५.३९)। इदमहं निर्वरुणस्य पाशात् (तैसं० १.३.४.२)।
२. भारश्रौसू० (१२.१८.५,काश्रौसू० ८.७.१८,शब्रा० ३.६.२.२०)।
३. अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियं सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमं स्तानु तपस्तपस्पतिः(वासं० ५.४०)
४. काश्रौसू० (८.७.१८,शब्रा० ३.६.३.२१,गिरिधर भाष्य पृष्ठसं० २३४)।
५. इदमहं मनुष्यो मनुष्यान् सह प्रजया सह रायस्पोषेण (तैसं. १.३.४.१)।
६. नमो देवेभ्यः(तैसं. १.३.४.२)।
७. स्वधा पितृभ्यः(तैसं. १.३.४.२)।
८. सुवरभि विख्येषं वैश्वानरं ज्योतिः(तैसं. १.३.४.२)।
९. अग्ने व्रतपते त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि या मम तनूस्त्वय्यभूदियं सा मयि या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यथायथं नौ व्रतपते व्रतिनोर्व्रतानि (तैसं० १.३.४)।
१०. भारश्रौसू० (१२.१८.८) केवल भारद्वाजने ही आहवनीयके अभिमन्त्रणमें विनियोग किया है किन्तु बौश्रौसू० (६.३१) तथा उक्त मन्त्रके भाष्यकार भट्टभास्करने भी अवान्तरदीक्षाके विसर्जन में उक्त मन्त्रका विनियोग कहा है।
११. स्वाहा यज्ञं मनसा (तैसं० १.२.२.३)।

अंगुलियाँ, बिना मन्त्र ही इससे पूर्व मेखला ढीली करे, तब मन्त्रके[१] द्वारा दो अंगुलियाँ, चुपचाप मुट्ठी शिथिल करे, मन्त्रसे[२] दो अंगुलियाँ, तथा मन्त्रसे दो[३] अंगुलियाँ, मन्त्रसे[४] मौन तोड़ता है ।[५] इस प्रकार चुपचाप दो क्रियाएँ की जातीं हैं, एक तो मेखलाको ढीली करना और एक मुट्ठीको खोलना और शेष अंगुली खोलनेकी तथा मौन तोड़नेकी क्रिया समन्त्रक की जाती है । कात्यायनने मदन्तीका स्पर्श करके यजमानके द्वारा अंगुली ढीली करनेका तथा गार्हपत्यमें समिधा रखकर मदन्तीका स्पर्श करके यजमानको पत्नीके द्वारा अमन्त्रक ही अंगुली ढीली करनेका विधान किया है (काश्रौसू० ८.७.१८-१९) । देवयाज्ञिकने इस अवसर पर मदन्ती जलको चात्वालमें फेंकनेका विधान किया है (पृष्ठसं० २९५) ।

चात्वालमें मदन्ती डालनेके साथ ही यजमानने दीक्षासे सम्बन्धित जिन नियमोंको ग्रहण किया था, उनकी समाप्ति करता है ।[६] दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर अब तक न तो कोई यजमानका नाम लेता था, न यजमान ही व्रत (दुग्ध) के अतिरिक्त कुछ और ग्रहण करता था, किन्तु इस समय सभी यजमानका नाम भी ले सकते हैं और यजमान इच्छानुसार भोजन भी कर सकता है विशेषकर हविःशेषका भक्षण करता है ।[७]

भारद्वाजने इस अवसर पर बर्हि और समिधाके लट्ठोंपर जल छिड़कने तथा महावेदीपर बर्हि बिछानेका विधान किया है । आपश्रौसू० (११.९.२) ने महावेदीके स्थानपर उत्तरवेदीके पीछेकी ओर परिस्तरण का विधान किया है ।

अग्निषोमप्रणयनकृत्यके अन्तर्गत तीन कृत्य प्रमुख हैं—आग्नीध्रीयमें प्रणीत अग्निका स्थापन, वैसर्जनहोम तथा हविर्द्धानमें सोम लेकर जाना, जिनका विवेचन यहाँ किया गया ।

---

१. स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम् (तैसं० १.२.२.३)।

२. स्वाहोरोरन्तरिक्षात् (तैसं० १.२.२.३)।

३. स्वाहा यज्ञं वातादा रभे (तैसं० १.२.२.३)।

४. स्वाहा वाचि वातो विसृजे (कासं० ३.१)।

५. भारश्रौसू० (१२.१८.१०,११)।

६. भारश्रौसू० (१२.१८.१२)।

७. काश्रौसू० (८.७.२१-२२)।

यूपप्रकरण

यूप शब्दकी व्युत्पत्ति

इस सम्बन्धमें ब्राह्मणग्रन्थोंमें एक व्याख्यान दिया गया है कि किसी समय यज्ञके द्वारा ही देवताओंने ऊपरके स्वर्गलोकको प्राप्त किया। अब देवता यह सोचकर डर गए कि कहीं हमारे इस यज्ञको देखकर (वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्त) मनुष्य और (तपश्चर्यामें लगे हुए) ऋषिगण (भी स्वयं अनुष्ठान करके स्वर्गको प्राप्त करके) हमारे समान न हो जाए। तब उन देवताओं ने उस (स्वकीय यूप) को यूपके द्वारा ही (उन लोगोंको भ्रमित करने के लिए) मिला दिया अर्थात् उनको रोक दिया। वहाँ जो उनको यूपके कारण रोका, वही यूपके नामका कारण है[1] (अर्थात् यूपका अर्थ है वह खम्भा जिससे रोका जाय)।

षड्विंशब्राह्मण (४.४.११) में यूपके यूपत्वके सम्बन्धमें कहा गया है कि किसी समय देवताओं ने प्रजापतिकी शरण लेकर उनकी आज्ञासे उसे फेंककर मारा, उठाया और उससे युद्ध किया, यही यूपका यूपत्व है। शत्रुको मारनेके काममें आनेके कारण यूपको वज्रका पर्याय माना गया है (षड्विंशब्रा० ४.४.२)।

यूपकी निर्माण सामग्री

सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ३९७) ने खदिर, पलाश, बिल्व और रोहितक[2] इन चार वृक्षोंके बने हुए यूपका विधान किया है। कामना विशेषसे भिन्न भिन्न वृक्षोंके यूप बनानेका उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थोंके अन्तर्गत प्राप्त होता है। ऐब्रा० (२.१.१) में कहा गया है कि स्वर्गकी कामना वालेको खदिरका, अन्न और पुष्टि की कामनावालेको बिल्वका, तेजकी[3] कामना तथा ब्रह्मवर्चस्[4]की कामनावालेको पलाशका यूप बनाना चाहिए। षड्विंशब्राह्मण (४.४.६) ने बहुतसे वृक्षोंका उल्लेख किया है-पुष्टिकी इच्छावालेको पलाशका, ब्रह्मवर्चस् की इच्छावालेको बिल्वका,

---

१. यस्मात्कारणात् यूपेनैव तं यज्ञमयोपयन्नन्यथा कृतवन्तस्तस्माद्योपनसाधनत्वाद्यूपनाम सम्पन्नम् (ऐब्रा० २.१.१ पर सायणभाष्य)। योपनसाधनत्वाद्यूपस्य यूप नाम सम्पन्नम् (शब्रा० १.५.१.१ पर सायणभाष्य)।

२. रोहितको वटसदृशः किंचित्सूक्ष्मपर्णः (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ३९७)।

३. तेजः शरीरकान्तिः (ऐब्रा० २.१.१ पर सायणभाष्य)।

४. ब्रह्मवर्चसं श्रुताध्ययनसंपत्ति (ऐब्रा० २.१.१ पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ११५)।

भोजनकी कामना वालेको उदुम्बरका, बलकी इच्छा वालेको खदिरकाष्ठका, शत्रु-दमनके लिए यज्ञके अनुरूप काष्ठका यूप बनाना चाहिए। सामान्यत: तेज और ब्रह्मवर्चस् की कामनाका सम्बन्ध पलाशसे जोड़ा गया है किन्तु षड्विंशब्राह्मणने ही ऐसा कहा है कि पुष्टिकी इच्छावालेको पलाशका यूप बनाना चाहिए। उसने तेज और ब्रह्मवर्चस् का सम्बन्ध बिल्वसे जोड़ा है जबकि इसके लिए सामान्यत: पुष्टि और अन्नका सम्बन्ध जोड़ा गया है। पलाशका अन्नसे सम्बन्ध सत्याषाढने भी जोड़ा है (पृष्ठ सं० ३९७)। ऐसा नहीं है कि केवल षड्विंशने ही बिल्वके साथ ब्रह्मवर्चस् का सम्बन्ध जोड़ा हो अपितु सत्याषाढने ऐसी ही व्याख्या की है (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ३९७)। सत्याषाढ एवं ऐब्रा० ने जिस खदिरकाष्ठका सम्बन्ध स्वर्गप्राप्तिसे जोडा है उसका सम्बन्ध षड्विंशने बलके साथ जोड़ा है सत्याषाढने एक और वृक्ष रोहितकका सम्बन्ध प्रजा (सन्तान) की प्राप्तिके साथ जोड़ा है, जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं प्राप्त होता है। श्रुतिके द्वारा उक्त विधान प्राप्त होनेपर यजमान अपनी इच्छापूर्तिके लिए उन उन यूपोंका निर्माण करवा सकता है।

निषिद्ध यूप

सायणने दो विभाग किए हैं—एक तो वे वृक्ष जिनके यूप बनाए जा सकते हैं, जैसे पलाश, खदिरादि। दूसरे वे वृक्ष जिनके यूप नहीं बनाए जा सकते। पहले प्रकारके वृक्ष यूप्य और दूसरे प्रकारके वृक्ष अयूप्य कहे गए हैं।[1] षड्विंशब्राह्मणने ऐसे वृक्षोंके यूप बनानेका निषेध किया है—जो गाँठदार, फटे हुए, बाएँ को घूमे हुए, कटे हुए, घूमे हुए, लोचदार, नोकदार, जलेहुए, सूखे, पोले और भुने हुए हों।[2]

श्रेष्ठ यूप

षड्विंशब्राह्मणने दाई ओरको घूमे हुए, सीधे, चिकने, मोटी जड़ वाले, दूधिया वृक्षको श्रेष्ठ यूप बताया है।[3] यह कहना आवश्यक है कि जिन यूप्य वृक्षोंके अन्तर्गत खदिर, बिल्व, उदुम्बर, पलाश, विभीतक, सुपारी, पीपल, रोहितक वृक्षोंका

---

१. वृक्षा द्विविधा यूप्या अयूप्याश्च। पलाशखदिरादयो यूप्याः। निम्बजम्बीरादयस्त्व यूप्याः (तैसं० १.३.५ पर सायणयाष्य)।

२. षड्विंशब्रा० (४.४.७)।

३. षड्विंशब्रा० (४.४.१८)।

उल्लेख ऊपर किया है, उनमें ही उपर्युक्त विशेषण होने आवश्यक हैं क्योंकि जिन वृक्षोंको यूपके योग्य ही सिद्ध नहीं किया उनमें यदि उपर्युक्त विशेषताएँ भी होगी तब भी वह ग्राह्य नहीं कहलाया जा सकता । अत: यूप्य वृक्षों के अन्तर्गत ही उक्त विशेषताएँ समझनी चाहिए ।

यूपच्छेदन

पशुयागमें यूप सम्बन्धी क्रियाओंको करनेके लिए सर्वप्रथम वनमें यूप्य वृक्षकी खोज की जाती है, जिसका छेदन किया जाता है ।

यूपाहुति

अध्वर्यु यूपके छेदनके लिए वनमें गमन करते हुए स्रुच् या स्रुवासे चार बारमें आज्य ग्रहण करके आहवनीयमें मन्त्रके[१] साथ आहुति देता है ।[२] वस्तुत: यह क्रिया निरूढपशुबन्धके अन्तर्गत यूपच्छेदनके प्रसंगमें कही गई है किन्तु अग्निष्टोम यागमें भी यह क्रिया सम्पन्न की जाती है, अत: यहाँ उक्त क्रियाका विवेचन करना आवश्यक ही है । पशुबन्धयागमें ही मुख्यत: अंग रूपमें उक्त क्रिया सम्पन्न होनेके कारण कात्यायन सत्याषाढ एवं भारद्वाज आदि ने उक्त क्रियाका विधान निरूढपशुबन्धयागमें किया है । इतना अन्तर अवश्यक है कि कात्यायनने भिन्न मन्त्रका उल्लेख किया और सत्याषाढ एवं भारद्वाजने भिन्न मन्त्रका[३] विधान किया है ।[४]

यूपच्छेदनके लिए प्रस्थान

परशु लेकर तथा शेष आज्यको लेकर उस स्थानकी ओर प्रस्थान किया जाता है, जहाँ अंकुरोंसे युक्त शाखावाले, बहुतसे पर्णोंसे युक्त, आर्द्रतासे युक्त अग्रभागवाला यूप्य वृक्ष स्थित होता है ।[५] गोपीनाथने ब्रह्मा और यजमानके गमनका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० ३९७) ।

---

१. उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा (वासं० ५.४१) ।

२. काश्रौसू० (६.१.४, शब्रा० ३.६.४.३, मिश्रभाष्य पृष्ठसं० २०६) ।

३. तैसं० (१.३.४.१) में यह मन्त्र वैसर्जनहोमके प्रसंगमें उल्लिखित हुआ है, न कि निरूढपशुबन्धमें ।

४. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ३९७, भारश्रौसू० ७.१.२, बौश्रौसू० ६.३०) ।

५. काश्रौ० (६.१.५, शब्रा० ३.६.४.४) ।

यूपका स्पर्श तथा अवलोकन

कात्यायनने यूपके स्पर्श करनेके तथा अवलोकनके सम्बन्धमें विकल्पके रूपमें दोनोंका विधान किया है अर्थात् मन्त्र पढ़कर यूपका स्पर्श करे अथवा यूपवृक्षके पीछे पूर्वाभिमुख होकर खड़े हुए यूपका अवलोकन करे।[1] भट्टभास्करने न तो स्पर्श करनेका ही उल्लेख किया और न अवलोकन करने का ही। उसने केवल इतना आदेश दिया है कि यूपके पास पहुँचनेपर मन्त्रका[2] पाठ करे।[3] आपश्रौसू० (७.१.१९-७.२.२) ने उक्त मन्त्रके दो खण्ड करके पहले मन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रणका और शेष दूसरे मन्त्रके द्वारा स्पर्श करनेका विधान किया है। बौधायनने भट्टभास्करके समान ही विनियोग किया है, किन्तु इतना उल्लेख अवश्य किया है कि पूर्वी द्वारसे निकलकर यूप्य वृक्षके पास जाना चाहिये (४.१)।

यूपके मूलमें आज्य चुपड़ना

कात्यायनने उक्त क्रियाका उल्लेख न तो अग्निष्टोमके प्रसंगमें और न पशुबन्धके प्रसंगमें किया है किन्तु अन्य श्रौतसूत्रोंमें इस क्रियाका विधान किया गया है। अध्वर्यु मन्त्रके[4] के द्वारा स्रुवासे आज्य लेकर यूपमें आज्य चुपड़ता है।[5] आपस्तम्बने[6] यूपके मूलमें और सत्याषाढने[7] गुल्फ (पादग्रन्थि) अथवा (जंघाके सन्धिस्थल) जानु प्रदेशमें स्रुवासे आज्य लगानेका विधान किया है।

---

१. काश्रौसू० (६.१.५,२ शब्रा० ३.६.४.४)।

२. अत्यन्याँऽअगां नान्याँ २ऽउपागामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्ताम् (वासं० ५.४२)। किंचित् भिन्नताके साथ तैसं० (१.३.५) में मन्त्र इस प्रकार दिया गया है—अत्यन्यानगां नान्यानुपागामर्वाक् त्वा परैरविदं परोऽवरैस्तं त्वा जुषे वैष्णवं देवयज्यायै।

३. तैसं० (१.३.५ पर भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठ सं० ४१३)।

४. देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु (तैसं० १.३.५)।

५. भारश्रौसू० (७.१.१२)।

६. आपश्रौसू० (७.२.३.४)।

७. सत्याषौढश्रौसू० (पृष्ठसं० ३८९)।

कुशान्तर्धान

अन्य स्थानपर कुठाराघात न हो इसलिए उस स्थानपर कुशाबन्धन किया जाता है जिस स्थानपर वृक्षके दो खण्ड करने होते हैं । आपस्तम्ब (७.२.३-४) ने दर्भद्वय तथा कात्यायन (६.१.१२) ने एककुशपत्र रखनेका मन्त्रके[१] द्वारा विधान किया है ।

परशुसे प्रहार

जिस स्थानपर कुशा रक्खी गई हैं उस स्थानपर मन्त्रसे[२] प्रहार किया जाता है ।[३] प्रहारके पश्चात् कटकर गिरे हुए प्रथम शकलको यूपावटके मध्य फेंकनेके लिए किसी सुरक्षित स्थानमें रख दिया जाता है । अन्य भी टुकड़े शुक्रामन्थिग्रहके प्रचारके लिए इसी प्रकार सुरक्षित स्थानमें रख लिए जाते हैं ।[४]

गिरते हुए यूपको देखकर मन्त्रपाठ

नीचे गिरते हुए यूपको देखकर मन्त्रका[५] पाठ करना चाहिये । यूपके गिरने की दिशाके सम्बन्धमें सत्याषाढने विधान किया है कि यूपको पूर्व या उत्तरको गिराया जाना चाहिए । शब्रा० (३.६.४.१२) ने पश्चिम दिशामें भी यूपको गिरानेका विधान किया है किन्तु दक्षिण दिशामें यूपको गिरानेका सत्याषाढ और शतपथ दोनोंने निषेध किया है । सावधानी पूर्वक यूपको गिरानेके सम्बन्धमें एक और निर्देश सूत्रकारोंने यह दिया है कि कुठाराघातकरनेके पश्चात् वृक्षको इस प्रकार अलग करे कि वृक्षका कोई भी हिस्सा शकटकी धुरिसे न टकराए । साथ साथ यूपको इतने नीचेसे काटा जाय कि गाड़ी उस ठूठके ऊपर से गुजर जाय और गाड़ीका धुरा न अटके ।[६]

---

१. ओषधे त्रायस्व (वासं० ५.४२)। ओषधे त्रायस्वैनम् (तैसं० १.३.५)।

२. स्वधिते मैनं हिंसीः(वासं० ५.४२,तैसं० १.३.५)।

३. काश्रौसू० (६.१.१२,आपश्रौसू० ७.२.३-४,भारश्रौसू० ७.१.१४,शब्रा० ३.६.४.१०)।

४. काश्रौसू० (६.१.१३ पर सरलावृत्ति,पृष्ठसं० २१३)।

५. दिवमग्रेण मा इति (तैसं० १.३.५,भारश्रौसू० ७.२.१)।

६. शब्रा० (३.६.४.११-१२)।

यूप्य वृक्षके पत्रादिकोंका शोधन

मन्त्रके[१] साथ अध्वर्यु यूप्य वृक्षके पत्रों तथा उसकी छोटी छोटी शाखाओं का शोधन करता है ।[२] गिरिधरभाष्यमें कहा गया है कि उक्त कृत्य मौन होकर भी किया जा सकता है ।[३] शब्रा० ने इस मन्त्रका अन्तर्भाव "द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं" मन्त्रके[४] अन्तर्गत ही किया है, जिसका विनियोग यूपके अभिमन्त्रणमें हो चुका है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि कात्यायनने मन्त्रके दो भाग करके पहले मन्त्रसे यूपके अभिमन्त्रणका तथा दूसरे मन्त्रसे यूपके पत्रादिकोंके शोधनका विधान किया है और शब्रा० ने सम्पूर्ण मन्त्रका यूपके अभिमन्त्रणमें ही विधान किया है ।

स्थाणुपर आहुति

मन्त्रसे[५] स्थाणुपर स्रुवाके द्वारा आहुति दी जाती है ।[६] भट्टभास्कर तथा बौधायनने आव्रश्चन (स्थाणु) पर हिरण्य रखनेका भी निर्देश दिया है ।[७]यद्यपि गिरिधरभाष्यने यूपपर आहुति देनेका निर्देश दिया है[८] किन्तु सिद्धान्तपक्षके अनुसार कात्यायनने यूपपर आहुति देनेका निषेध करके स्थाणुपर ही आहुति देनेका उल्लेख किया है ।[९]

अपनेको स्पर्श करना तथा उपशाखाओंको काटना

ये क्रियाएँ कात्यायनसे भिन्न अन्य सूत्रोंमें प्राप्त होती हैं । मन्त्रके[१०] द्वारा परशुसे अनुलोमक्रमसे अर्थात् नीचेसे ऊपरको उपशाखाओंका छेदन किया जाता

---

१. अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय (वासं० ५.४३)।

२. काश्रौसू० (६.१.१८)।

३. पृष्ठसं० (२३७)।

४. वासं० (५.४३)। तैसं० (१.३.५) में मन्त्र इस प्रकार है—दिवमग्रेण मा लेखीरन्तरिक्षं मध्येन मा हिंसीः पृथिव्या सं भव ।

५. अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम (वासं० ५.४३)।

६. भारश्रौसू० (७.२२, काश्रौसू० ६.१.२०, शब्रा० ३.६.४.१६)।

७. तैसं० (१.३.५ पर भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठसं० ४१५, बौश्रौसू० ४.१)।

८. पृष्ठसं० (२३७)।

९. काश्रौसू० (६.१.२२)।

१०. यं त्वाऽयं स्वधितिः (तैसं० १.३.५)।

है। इससे पूर्व मन्त्रसे[१] अपनेको स्पर्श करता है।[२]

मन्त्रसे[३] यूपका चार अंगुल आगेका भाग चषालके[४] लिए काटा जाता है।[५] कात्यायनने कहा है कि अपेक्षित परिमाणमें यूपका छेदन करके फिर अधिक अग्रभागका छेदन नहीं करना चाहिए (काश्रौसू० ६.१.२३)।

यूपका परिमाण

किसी भी ग्रन्थमें यूपकी लम्बाईके सम्बन्धमें एक मत नहीं दिया गया है। शब्रा० (३.६.४.१८-२५) ने पाँच, छह, आठ, नौ, ग्यारह, बारह, तेरह, पन्द्रह अरत्नि लम्बे यूपका वर्णन किया है। कात्यायन (६.१.२९) ने सात, दश तथा चौदह अरत्नि लम्बे यूप का निषेध किया है। सरलावृत्तिकारने अपरिमित प्रमाणवाले अथवा सोलह अरत्नि लम्बे यूपका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २१५)। लम्बाईके अनुसार यूपकी स्थूलता ग्रहण करनी चाहिये अथवा यूप जितना स्थूल हो उतनेसे ही कार्य कर लेना चाहिये। यूपके अग्रभाग जितनी कृशता सम्पूर्ण यूपकी नहीं होनी चाहिए (काश्रौसू० ६.१.३२)।

उपसंहार

यद्यपि यूपच्छेदन तथा यूपसे सम्बन्धित सभी आवश्यक कृत्योंका विवेचन किया जा चुका है तथापि कुछ एक दो बातें प्रस्तुत यूपच्छेदनके प्रसंगमें कहनी आवश्यक हैं।

अग्निष्टोममें तीन प्रकारके पशुओंका उल्लेख है, जिन्हें अग्निषोमीय, सवनीय तथा अनुबन्ध्या कहा गया है, अतः तीनोंके लिए अलग अलग यूपोंका

---

१. सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम (तैसं० १.३.५)।

२. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ३९८-३९९, बौश्रौसू० ४.१, भारश्रौसू० ७.२.३-४)।

३. अच्छिन्नो रायः सुवीरः (तैसं० १.३.५)।

४. यूप निर्माणके उपरान्त वृक्षके बचे हुए ऊपरी अंशसे कलाईसे अंगुलीके पोर तक लम्बा शिरस्त्र बनाया जाता है। यह शिरस्त्र भी अठकोना और बीचमें ऊखलकी भाँति होता है। इसी भागको चषाल कहा जाता है, जो यूपपर पगड़ीकी भाँति रखा जाता है (धर्मशास्त्रका इतिहास, पृष्ठसं० ५४२ प्रथम भाग)।

५. आपश्रौसू० (७.२.१०)।

प्रयोग किया जाता है । इस सम्बन्धमें जैन्या० (११.३.३) में विस्तारसे विचार किया गया है ।

यूपैकादशिनी पक्षमें यूपाहुति प्रत्येक यूपपर दी जाती है, जिसका विधान मैसं० (३.९.२) में किया गया है—"यूपस्यान्तिके अग्निं मथित्वा यूपाहुतिं जुहोति ।"

परशुकी धार तेज करनेके सम्बन्धमें कहा गया है कि यूपके प्राप्त होनेपर ही परशुकी धार तेज करनी चाहिए, जब तक यूप्य वृक्षकी प्राप्ति न हो तब तक परशुकी धार तेज नहीं करनी चाहिए (जैन्या० ६.३.१८) ।

यूपकी विशेषताओंके सम्बन्धमें कहा गया है कि यूपको तक्षणके द्वारा कोनोंसे युक्त कर लेना चाहिये, जिनकी संख्या आठ बतायी गई है, इसके अतिरिक्त गोपुच्छके[१] समान, पृथुमात्र[२] मध्यमें सन्नत (झुके हुए) यूपका सत्याषाढ (पृष्ठसं० ३९९, ४००) ने उल्लेख किया है । देवयाज्ञिक ने कहा है कि मूलमें यूपके पंचमांशका त्याग करके तब यूपको आठ कोनोंवाला बनाना चाहिये (पृष्ठसं० २०६) ।

अग्निष्टोमके अतिरिक्त अन्य यागोंमें यूपका परिमाण भिन्न बताया गया है, जिसका उल्लेख अग्निष्टोमके प्रसंगमें ही सूत्रकारोंने किया है । उदाहरणके लिए वाजपेयमें सप्तदश अरत्नि प्रमाणवाले तथा अश्वमेधमें इक्कीस अरत्निवाले यूप का विधान कात्यायन (६.१.३०-३१) ने किया है ।

तैसं० (६.३.३) ने कामना विशेषसे यूपके परिमाणका उल्लेख करते हुए कहा है कि पाँच अरत्निवाले यूप यज्ञ करनेवालेको, प्रतिष्ठा चाहनेवालेको छह अरत्नि वाले यूप, पशुकी इच्छावालेको सप्त अरत्नि परिमाणके यूप, तेज चाहने वालेको नव अरत्नि वाले यूप, इन्द्रियकी इच्छा रखने वालेको एकादश अरत्नि लम्बे यूप, भ्रातृव्यकी इच्छावालेको पंचदश अरत्निके यूप, प्रजा (सन्तति) की इच्छावाले

---

१. उपरादूर्ध्वं यावदग्रं किंचित्किंचिदणुपरिणाहं गोपुच्छसदृशं वोपरादूर्ध्वं किंचिन्न्यूनं ततः किंचित्स्थूलं ततः किंचित्किंचिदणुपरिणाहं तथैव गोपुच्छम् (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ३९९)।

२. पृथुराकुंचितांगुलिकरस्य मणिबन्धमारभ्यांगुल्यग्रपर्यन्तं पृथुः। पृथुरूर्ध्वो दशांगुल इति बौधायन (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ४००)।

को सप्तदश अरत्नि प्रमाणका यूप, तथा प्रतिष्ठाकी इच्छावालेको इक्कीस अरत्नि लम्बे यूप ग्रहण करने चाहिए। अरत्निसे तात्पर्य यहाँ चौबीस अंगुलसे हैं। उपर्युक्त विवरणसे ज्ञात होता है कि संहिताग्रन्थने प्रतिष्ठाकी इच्छावालेको छह अरत्नि तथा इक्कीस अरत्नि वाले यूपको ग्रहण करनेका आदेश दिया है। सत्याषाढ (पृष्ठ सं० ३९९) के भाष्यकार गोपीनाथ ने लिखा है कि एक अरत्नि लम्बे यूपके द्वारा यजमान लोकपर विजय प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त कृत्योंका जिस यूपच्छेदनके प्रसंगमें विवेचन किया गया है, वे सभी निरूढपशुबन्धके अन्तर्गत किये जाते हैं। कात्यायन, भारद्वाज तथा सत्याषाढ तथा बौधायन सभीने अग्निष्टोममें उक्त कृत्योंका विधान न करके पशुबन्धमें ही विधान किया है।

इस अवसरपर निरूढपशुबन्धके सम्बन्धमें बहुत ही संक्षेपमें कुछ मुख्य बातें बतानी आवश्यक हैं। पशुबन्ध एक स्वतन्त्र यज्ञ है और सोमयज्ञोंमें इसका सम्पादन उनका एक अभिन्न अंग माना गया है।[१] स्वतन्त्र पशुको निरूढपशुबन्ध (आँत निकाले हुए पशुकी आहुति) कहा जाता है और अन्य सोमयागोंमें प्रयुक्त पशुबलिकी सौमिक (आश्व० ३.८.३-४) संज्ञा है। जैसा कि जैमिनि (८.१.१३) का उद्घोष है, निरूढपशु सोमयागमें प्रयुक्त पशुबलि (अग्नीषोमीय पशु) का परिमार्जन मात्र है, किन्तु कतिपय सूत्रोंके निरूढपशु नामक परिच्छेदमें दोनों विधिका पूर्ण विवेचन हुआ है (काश्रौसू० ६.१०.३२ एवं ६.१.३२ की टीका)। सवनीय पशु एवं अनुबन्ध्यपशुके अतिरिक्त सभी पशुयज्ञोंका आदर्श रूप (प्रकृति) वास्तवमें निरूढपशुबन्ध ही है। प्रत्येक आहिताग्निको जीवनभर प्रति छह मास उपरान्त या प्रतिवर्ष स्वतन्त्र रूपसे पशुयज्ञ करना पड़ता था। मनु (४.२६) ने भी अयनों के प्रारम्भ में पशुयज्ञकी व्यवस्था कही है। इसी प्रकार आपश्रौसू० (७.८.२-३) एवं बौधायन (४.१) ने पशुबन्धमें प्रयुक्त सामग्रियों एवं यज्ञपात्रोंका वर्णन किया है।

प्रतिवर्ष किये जाने पर वर्षा ऋतुमें अर्थात् श्रावण या भाद्रपदकी अमावास्या या पूर्णिमाके दिन या प्रति छह मास पर किये जानेपर दक्षिणायन एवं उत्तरायनके प्रारम्भमें यह किया जाता था। तब यह किसी भी दिन सम्पादित हो सकता था और उसके लिए अमावास्या या पूर्णिमाका दिन आवश्यक नहीं माना जाता था। इस

---

१. पशुवधोऽग्निष्टोमे (सांख्यकारिकापर माठरवृत्ति ७.२३)

यज्ञके अन्तर्गत क्रम से ब्रह्मा, होता अध्वर्यु, मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्रका वरण करके यथासम्भव उनका आदर सत्कार किया जाता था। इसके पश्चात् यूपच्छेदन, यूपोच्छ्रयण, परिव्ययण, पशुपाकरण, पशुसंज्ञपन, पशुपुरोडाश, पशुके मांसकी आहुति आदि कृत्य किये जाते हैं।[१]

यूपच्छेदनका वर्णन कर चुकनेपर युपोच्छ्रयणसे सम्बन्धित कर्मकाण्डका विस्तारसे विधान किया जाता है।

यूपोच्छ्रयण, यूपप्रोक्षण, यूपाञ्जन तथा यूपपरिव्ययण

यूपावटका निर्माण

सर्वप्रथम मन्त्रके[२] द्वारा अध्वर्यु अभ्रि ग्रहण करता है।[३] इसके पश्चात् मन्त्रके[४] द्वारा आहवनीयके सामने एक गोल घेरा खींचा जाता है, जिसमें गड्ढा खोदकर यूप गाड़ा जाता है।[५] कतिपय सूत्रोंमें कहा गया है कि यह गड्ढा आधा वेदीके भीतर और आधा वेदी के बाहर होना चाहिए।[६] गोपीनाथने तीन बार परिलेखनका विधान किया है।[७]

यूपावटका प्रक्षालन

यूपके नीचेके भागके नापके अनुसार गड्ढा खोदकर मन्त्रके[८] साथ यूपावटका प्रक्षालन किया जाता है।[९] शब्रा० (३.७.१.२) के अनुसार यूपके लिए गड्ढा खोदनेपर

---

१. धर्मशास्त्रका इतिहास (प्रथम भाग, पृष्ठसं० ५४१, देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २०४)।

२. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे (वासं० ६.१)।

३. शब्रा० (३.७.१.१, काश्रौसू० ६.२८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४११)।

४. इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि (वासं० ६.१)। इस क्रियाके लिए तैसं० (३.१.१) का मन्त्र इस प्रकार है—परिलिखितं रक्षः परिलिखिता अरातयः।

५. शब्रा० (३.७.१.२, भारश्रौसू० ७.७.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४११)।

६. भारश्रौसू० (७.७.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४११, काश्रौसू० ६.२८ पर सरलावृत्ति)।

७. एक बार परिलेखन समन्त्रक तथा दो बार अमन्त्रक (पृष्ठसं० ४११)।

८. यत् ते शिक्वः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या। आपस्तत् सर्वं जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् (आपश्रौसू० ७.९.९)।

९. भारश्रौसू० (७.७.११)।

निकली हुई मिट्टी को पूर्वकी ओर फेंका जाना चाहिये तथा अवट इतना ही गहरा बनाया जाना चाहिए कि यूपके नीचेका भाग भली प्रकार समा सके (शब्रा० ३.७.१.२)।

यूपका प्रोक्षण

सर्वप्रथम अध्वर्यु मन्त्रसे[१] यूपके अग्रभागको सींचता है। भारद्वाज (७.७.१२) ने मन्त्रके[२] द्वारा यूपके मूल भागके सेचनका विधान किया है। इसके पश्चात् मन्त्रके[३] द्वारा यूपके मध्य भागका प्रोक्षण करता है। भारश्रौसू० (७.७.१२) ने भी दूसरी बारमें यूपके मध्य भागका प्रोक्षण करने का विधान किया है। अब अध्वर्यु मन्त्र[४] के द्वारा यूपके नीचेका भाग सेचन करता है।[५] भारश्रौसू० ने तीसरी बारमें यूपके ऊपरके भागके सेचनका विधान किया है, तथा भिन्न मन्त्रका[६] विधान किया है।

कात्यायनने प्रोक्षणसे पहले यह निर्देश दिया है कि मन्त्रके[७] द्वारा किसी पात्रके लौकिक जलमें यव प्रक्षेप कर लिये जाने चाहिये।[८]

तैसं० (१.३.६) का भाष्य करते हुए सायणका कहना है कि यूपका प्रोक्षण नीचेसे ऊपर किया जाना चाहिए, जिसप्रकार औदुम्बरीका ऊपरसे नीचे प्रोक्षण किया गया, उस प्रकार ऊपरसे नीचे प्रोक्षण नहीं किया जाना चाहिए, अपितु नीचेसे ऊपर ही प्रोक्षण किया जाना चाहिए। यह सत्य है कि भारद्वाज तथा सत्याषाढ (पृष्ठ सं० ४११) ने सायणके अनुसार ही यूपके मूलसे प्रारम्भ करके ऊपर तक प्रोक्षण करनेका विधान किया है, किन्तु कात्यायनने इस प्रकारका विधान नहीं किया अपितु उसके

---

१. दिवे त्वा (वासं० ६.१)।
२. पृथिव्यै त्वा (तैसं० १.३.६)।
३. अन्तरिक्षाय त्वा (वासं० ६.१)।
४. पृथिव्यै त्वा (वासं० ६.१)
५. काश्रौसू० (६.२.१५, शब्रा० ३.७.१.१५)।
६. दिवे त्वा (तैसं० १.३.६)।
७. यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः (वासं० ६.१)।
८. काश्रौसू० (६.२.१५)।

विपरीत यह विधान किया है कि पहले यूपके अग्रभागका, फिर मध्यभागका और अन्तमें मूलका प्रोक्षण किया जाय ।

एक विशेष बात यह है कि यद्यपि प्रोक्षण-क्रममें अन्तर हैं किन्तु मन्त्रोंमें समानता है "पृथिव्यै त्वा" मन्त्रका विनियोग भारद्वाज और कात्यायन दोनोंने यूपके मूलके प्रोक्षणमें ही किया है, इसी प्रकार "अन्तरिक्षाय त्वा" मन्त्र दोनों ने यूपके मध्यभागके, "दिवे त्वा" मन्त्रका विनियोग यूपके अग्रभागके प्रोक्षणमें किया है ।

प्रोक्षणके अनन्तर बचे हुए जलको मन्त्र[1] पढ़कर गड्ढेमें डाल दिया जाता है ।[2] इस अवसरपर भारद्वाज (७.७.१४) ने यव डालनेका भी विधान किया है । यव डालनेकेलिए मन्त्रका[3] विधान किया गया है । उक्त क्रिया कात्यायनने भी कही है, किन्तु उसके अनुसार यह क्रिया प्रोक्षणसे पहले की जाती है तथा यव गड्ढेमें न डालकर जलमें डाले जाते हैं, भारद्वाजने यह क्रिया प्रोक्षणके बाद कही है, तथा यवों को गड्ढोंमें डालनेका निर्देश किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्र समान हैं किन्तु क्रियामें भेद हैं ।

कुशास्तरण

प्रोक्षणके अनन्तर यवमिश्रित जलको गड्ढेमें डाल चुकनेके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[4] साथ कुशाके सिरे पूर्व और उत्तरकी ओर करके गर्तके ऊपर रखता है ।[5] सरलावृत्तिकारने कहा है कि असंस्कृत कुशा ही ग्रहण करनी चाहिये (पृष्ठसं० २१८) । सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४१२) ने उत्तरकी ओर कुशाके सिरे करनेका विधान न करके केवल इतना ही कहा है कि कुशाके सिरे पूर्वकी ओर किये जाने चाहिये ।

---

१. शुन्धताँल्लोकाः पितृषदनाः (वासं० ६.१, तैसं० १.३.६) ।

२. काश्रौसू० (६.२.१७) ।

३. यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः (तैसं० १.३.६) ।

४. पितृषदनमसि (वासं० ६.१) । पितृणाँ सदनमसि (तैसं० १.३.६) ।

५. काश्रौसू० (६.२.१८, शब्रा० ३.७.१.७, बौश्रौसू० ४.४, भारश्रौसू० ७.७.१५) ।

यूपगर्तमें प्रथम यूपशकलका प्रक्षेप

गड्ढेमें यूपशकल डालने का विधान भारद्वाज तथा कात्यायन दोनों ने किया है किन्तु दोनों के अनुसार मन्त्र[१] भिन्न है ।[२]

यूपावटके मध्यमें आहुति

कात्यायनके अनुसार यह क्रिया अमन्त्रक है, अर्थात् स्रुवाके द्वारा आज्य-स्थालीसे आज्य ग्रहण करके गड्ढेके बीचमें चुपचाप आहुति दी जाती है (६.२.२०), किन्तु कतिपय सूत्रकारोंने इस क्रियाका उल्लेख समन्त्रक[३] किया है ।[४] सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४१२) ने शकलपर हिरण्य रखनेका भी विधान किया है ।

यूपाञ्जन तथा उसके लिए होताको प्रैष

आहुति दिये जानेके पश्चात् अध्वर्यु उठकर आगेकी ओर यूपकी परिक्रमा करके, यूपके दक्षिणकी ओर उत्तरकी ओर मुँह करके मन्त्रके[५] द्वारा उपरको[६] छोड़कर शेषभागपर आज्य चुपड़ता है । भारद्वाज (७.८.२) ने उक्त मन्त्रके द्वारा यूपके अग्रभागपर ही आज्य लगानेका निर्देश दिया है ।

उपरको छोड़कर यूपके शेष भागपर अथवा यूपके अग्रभागपर घी चुपड़नेके पश्चात् चषालके सब ओर (अन्दर और बाहर) घी चुपड़ता है ।[७] कात्यायनने इस क्रियाके लिए वही मन्त्र प्रयुक्त किया है, जो यूपाञ्जनके लिए प्रयुक्त किया गया है किन्तु भारद्वाज तथा सत्याषाढने स्वतन्त्र मन्त्रका[८] विधान किया है ।[९]

---

१. अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति (वासं० ६.२)। स्वावेशोऽस्यग्रेगा नेतृणां वनस्पतिरधि त्वा स्थास्यति तस्य वित्ताद् (तैसं० १.३.६)।

२. शब्रा० (३.७.१.९, काश्रौसू० ६.२.१९, भारश्रौसू० ७.७.१६, बौश्रौसू० ४.४., सत्याषाढ श्रौसू० पृष्ठसं० ४१२)।

३. घृतेन द्यावापृथिवी आ पृणेथां स्वाहा (तैसं० १.३.१.२)।

४. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४१२, भारश्रौसू० ७.७.१६)।

५. देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु (वासं० ६.२, तैसं० १.३.५.१, ६.१, तैआ० ४.५.१)।

६. अवटे क्षिप्यमाणो मूलभागं उपरम् । मूलतोऽतष्टमुपरमिति (तैसं० १.३६ पर सायण)।

७. काश्रौसू० (६.३.३, भारश्रौसू० ७.८.३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१२)।

८. ऐन्द्रमसि (तैसं० १.३.१.२)।

९. भारश्रौसू० (७.८.३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१२)।

भारद्वाज (७.८.४) ने यूप शकलके द्वारा घी चुपड़नेका कार्य यजमानको सौंपा है। अध्वर्यु तो केवल यूपकी परिक्रमा करता है, घी नहीं चुपड़ता।

इस अवसरपर अध्वर्यु होता को "यूपायाज्यभागायानुब्रूहि" प्रैष[1] करता है।[2] तब होता ऋग्वेदके कुछ मन्त्रोंका[3] पाठ करता है।[4]

---

१. ऐब्रा० (२.१.२) ने प्रैषका उल्लेख इस प्रकार किया है—"अञ्मो यूपमनुब्रूहि" इति।

२. काश्रौसू० (६.३.१ शब्रा० ३.७.१.१०, भारश्रौसू० ७.८.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१२)।

३. अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन। यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे (ऋसं० ३.८.१) मन्त्रका पाठ ऐब्रा० (२.१.२) ने अंजन के समय करने का विधान किया है। समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्ताद् ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्। आरे अस्मदमतिं बाधमान उच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि। सुमिती मीयमानो वर्चोधा यज्ञवाहसे (ऋसं० ३.८.२-३)॥ मन्त्रका विधान ऐब्रा० (२.१.२) ने यूपको उठाते समय होता द्वारा पढ़ने के लिए किया है। ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह। कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः(ऋसं० १.३६.१४)। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता। ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे (ऋसं० १.३६.१३)। जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः। पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम् (ऋसं० ३.८.५)। युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः(ऋसं० ३.८.४)। ऐब्रा० (२.१.२) में कहा गया है कि होता द्वारा कहे जाने वाले इन मन्त्रों में पहला और अन्तिम मन्त्र तीन बार पढ़ना चाहिये। श्रौतकोशकारने इन यूपविषयक ऋचाओंका उल्लेख निरूढपशुबन्धके अन्तर्गत किया है। वस्तुतः निरूढपशुबन्धमें भी होता इन ऋचाओंका पाठ करता है, क्योंकि अग्निष्टोमके अन्तर्गत भी यूप से सम्बन्धि अनेक प्रकरण हैं, अतः जिस प्रकार यूपाञ्जनके अन्तर्गत कृत्य के होने से कात्यायन आदि सभी सूत्रकारोंने प्रैषका उल्लेख किया और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इन ऋचाओंके पाठ करनेका विधान किया गया। उसी प्रकार इन मन्त्रोंका उल्लेख तैत्तिरीयब्राह्मण (३.६.१) ने भी किया है।

४. ऐब्रा० (२.१.२, तैब्रा० ३.६.१)।

चषाल-स्थापन

मन्त्रके[१] के साथ आज्यसे लिप्त चषालको यूपके अग्रभागपर स्थापित किया जाता है ।[२] इस अवसरपर कहा गया है कि यजमानको उस यूपके अग्रभागपर उसी यूपके बक्कलसे लेप करना चाहिए । यह अग्रभाग आहवनीयके सम्मुख रहता है । इसके पश्चात् अध्वर्यु यूपके उस स्थानपर स्पर्श करता है, जहाँ पशु बाँधनेके काममें आने वाली रज्जु (रशना) बाँधी जाने वाली होती है । सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४१३) ने यूपके मध्यमें भी स्पर्श करनेका विकल्पके रूपमें निर्देश दिया है । इस अवसरपर कहा गया है कि यजमान लेप करनेके समयसे लेकर तब तक उस यूपका स्पर्श किये रक्खे, जब तक उसके चारों ओर रज्जु न बाँध दी जाय (भारश्रौसू० ७.८.४-६) ।

यूपोच्छ्रयणके लिए प्रैष

यूपको ऊपर उठानेके लिए अध्वर्यु इस अवसरपर प्रैष "यूपायोच्छ्रीयमाणायानुब्रूहि" अथवा "उच्छ्रीयमाणायानुब्रूहि" करता है ।[३]

होताको प्रैष किये जाने पर वह ऋग्वेदके "उच्छ्रयस्व" (ऋसं० ३.८.३), "समिद्धस्य श्रयमाण:" (ऋसं० ३.८.२), "ऊर्ध्व ऊ षु ण' (ऋसं० १.३६.१३), 'ऊर्ध्वो न: पाहि (ऋसं० १.३६.१४) ये चार मन्त्र पढ़ता है ।

यूपोच्छ्रयण

प्रैष किये जानेके बाद मन्त्रके[४]द्वारा अध्वर्यु यूप उठाता है ।[५] भारद्वाजने भिन्न मन्त्रका[६] विधान किया है ।[७] इसके पश्चात् मन्त्रके[८] साथ यूपको गड्ढेमें डालता

१. सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्य: (वासं० ६.२, तैसं० १.३.६) ।
२. काश्रौसू० (६.३.४, शब्रा० ३.७.१.१२, भारश्रौसू० ७.८.३, बौश्रौसू० ४.४) ।
३. शब्रा० (३.७.१.१३, काश्रौसू० ६.३.६, भारश्रौसू० ७.८.७, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१३) ।
४. द्यामग्रेणास्पृक्षआन्तरिक्षं मध्येनाप्रा: पृथिवीमुपरेणादृंही: (वासं० ६.२) ।
५. काश्रौसू० (६.३.७, शब्रा० ३.७.१.१४) ।
६. उद्दिवं स्तभानान्तरिक्षं पृण पृथिवीमुपरेण दृंह (तैसं० १.३.६) ।
७. भारश्रौसू० (७.८.८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१३, बौश्रौसू० ४.४) ।
८. या ते धामानि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगाअयास: । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णो:

है ।[१] कतिपय सूत्रोंमें भिन्न मन्त्र[२] प्राप्त होता है ।[३] इसके पश्चात् दो मन्त्रोंसे[४] उसको स्थिर करते हैं । यूपका ऊपरका भाग आहवनीयकी ओर झुका रहता है तथा पूर्वकी ओर सीधा रहता है । इस अवसरपर कहा गया है कि अध्वर्युको यूप इस प्रकार स्थिर करना चाहिये कि यूपके नीचेका भाग न दिखाई पड़े ।[५]

सरलावृत्तिकारने निर्देश दिया है कि यूपके पंचम भागको गड्ढेमें डालकर उपर सहित यूपके जिस कोणका लेप किया गया था, उस कोणको आहवनीयके अभिमुख कर देना चाहिए ।[६] इसके पश्चात् मन्त्रके[७] द्वारा यूपावटको मिट्टीसे पाट दिया जाता है ।[८] अवटखनन मृत्तिकासे गड्ढा पाट दिये जानेपर मित्रावरुण दण्डके द्वारा मन्त्रके[९] साथ मिट्टीको पक्का कर दिया जाता है ।[१०] पक्का करनेसे यहाँ यह अर्थ है कि दण्ड द्वारा मिट्टीको नीचे धकेला जाता है, जिससे यूप मजबूतीसे खड़ा हो सके ।[११] समान भूमि हो जाने पर मन्त्रसे[१२] जल छिड़का जाता है, उसके पश्चात्

परमं पदमवभारि भूरि (वासं० ६.३)।

१. काश्रौसू० (६.३.८, शब्रा० ३.७.१.१५)।

२. ते ते धामान्युश्मसी गमध्ये गावो यत्र भूरिशृंगा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भाति भूरेः (तैसं० १.३.६.२)।

३. भारश्रौसू० (७.८.९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२३, बौश्रौसू० ४.४)।

४. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा (तैसं० १.३.६)।

५. भारश्रौसू० (७.८.१०-१२)।

६. काश्रौसू० (६.३.८ पर सरलावृत्ति)।

७. ब्रह्मवनित्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि (वासं० ६.३)। ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं सुप्रजावनिं रायस्पोषवनिं पर्यूहामि (तैसं० १.३.६.२)।

८. बौश्रौसू० (४.४, भारश्रौसू० ७.८.१३, काश्रौसू० ६.३.९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१४)।

९. ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृं ह प्रजां दृंह (वासं० ६.३)। ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंह प्रजां दृंह रायस्पोषं दृंह (तैसं० १.३.६)।

१०. काश्रौसू० (६.३.१०, शब्रा० ३.७.१.१६, भारश्रौसू० ७.८.१४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ४१४)।

११. पुरीषं दण्डमूलेनाधस्तादगमयति द्रढयतीति यावत्पोषम् (गोपीनाथ, पृष्ठसं० ४१४)।

१२. उन्नम्भय पृथिवीम् (तैसं० २.४.८.२, १०.३,३.५.५.२)।

मन्त्रसे[१] रशना सहित उस यूपको हाथसे स्वच्छ किया जाता है ।[२] गोपीनाथ के अनुसार मन्त्रसे एकबार, और चुपचाप दो बार स्वच्छ किया जाना चाहिए ।[३]

यजमान् द्वारा मन्त्रपाठ

इस अवसरपर देवयाज्ञिकने प्रैष "यूपमन्वारभस्व" का उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २१३) । प्रैष हो जानेपर अध्वर्यु यूपको स्पर्श किये हुए ही यजमानको मन्त्र कहनेके लिए आदेश देता है । तब यजमान मन्त्रका[४] सस्वर पाठ करता है ।[५] भारद्वाजने इस क्रियाका उल्लेख तो नहीं किया वैसे उक्त मन्त्रका उल्लेख अवश्य किया है किन्तु इस क्रियाके लिए नहीं, अपितु यूपको स्थिर करनेके लिए । इसके पश्चात् चषालको देखते हुए यजमानसे मन्त्रपाठ करनेके लिए अध्वर्यु कहता है, तब अध्वर्युके द्वारा कहे जाने पर यजमान मन्त्रका[६] सस्वर पाठ करता है ।[७] भारद्वाज आदि सूत्रकारोंने यूपके अग्रभाग देखनेके लिए उक्त मन्त्रका विधान किया है(७.८.१६) ।

प्रैष कथन

यूपको गड्ढेमें डालने, गड्ढेको मिट्टीसे पाटने, मित्रावरुण दण्डसे मिट्टीको पक्का करने, भूमिको समतल करने, जलका सेचन करने तथा यजमान द्वारा मन्त्र पाठ किये जानके पश्चात् यूपपर रस्सी लपेटनेके लिए अध्वर्यु होतासे प्रैष "परिवीयमाणायानुब्रूहि" करता है ।[८]

---

१. इदं विष्णुर्विचक्रम (तैसं० १.२.१३.१) ।

२. भाश्रौसू० (७८.१५, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं०४१४, काश्रौसू० ६.३.११, शब्रा० ३.७.१.१७) ।

३. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ४१४) ।

४. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा (वासं० ६.४) ।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृ. २१३) ।

६. "तद्विष्णोः" (वासं. ६.५) ।

७. काश्रौसू. (६.३.१२) ।

८. काश्रौसू० (६.३.१३, भाश्रौसू० ७.९.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१४) ।

इस अवसरपर सायणने होताके द्वारा पढ़े जाने वाले मन्त्रका[१] उल्लेख किया है ।[२]

यूपका परिव्ययण

नाभिप्रमाण वाले यूपके चारों ओर व्यामत्रय[३] प्रमाणवाली कुशाकी रस्सियोंके तीन लपेटे अध्वर्यु मन्त्र[४] पढ़कर लगाता है ।[५] भारद्वाज (७.९.२) ने कहा है कि तीन कुशाओंसे गुँथी हुई रस्सी प्रदक्षिण क्रमसे यूपके मध्यमें अथवा नाभिप्रमाण वाले यूपके चारों ओर लपेट दें ।

उक्त क्रिया प्रारम्भ करनेसे पूर्व ही जब रस्सी ग्रहण की जाती है, तब "देवस्य त्वा" मन्त्र पढ़नेका विधान केवल सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४१४) ने ही किया है । भारद्वाज अथवा कात्यायन ने इस क्रियाका उल्लेख नहीं किया ।

प्रदक्षिण क्रमसे तीन लपेटे देनेके पश्चात् अन्तमें रस्सीके दोनों सिरोंको घुमाकर उनको ऊपर उलझा दिया जाता है तब दोनों सिरोंको मिलाकर बड़े सिरेको छोटे सिरेमें मन्त्रसे[६] मिलाया जाता है ।[७]

---

१. युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः । तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः (ऋसं० ३.८.४) ।

२. ऐब्रा० (पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २०४) ।

३. जब दोनों हाथ पूर्ण रूपसे दोनों ओर फैलाए हों तो हाथोंकी अंगुलियोंके कोरों के बीच की दूरी व्याम कहलाती है (काश्रौसू० ६.३.१३ पर सरलावृत्ति) ।

४. परिवीरसि परि त्वा देवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम् (वास० ६.६) । परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं रायस्पोषो यजमानं मनुष्या (तैसं० १.३.६) ।

५. काश्रौसू० (६.३.१३, शब्रा० ३.७.१.२१, भारश्रौसू० ७.९.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१४) ।

६. दिवः सूनुरसि (वासं० ६.६) । तैसं० में यह मन्त्र नहीं है, भारद्वाजने वासं० का ही मन्त्र प्रयुक्त किया है ।

७. काश्रौसू० (६.३.१५, भारश्रौसू० ७.९.५) ।

स्वरुका अवगूहन

यूपका जो भाग (कोण) अग्निके समीप है, उस (अग्निष्ठा) के उत्तरभागमें लिपटी हुई रस्सीके बीचमें यूपशकल नामक स्वरु को मन्त्रसे[१] अध्वर्यु छिपाता है ।[२] इस अवसरपर कहा गया है कि यूपैकादशिनी पक्षमें यह ध्यान रक्खा जाना चाहिए कि जिस यूपका जो यूपशकल है, वह उसी यूपके साथ लगाया जाय ।[३] शब्रा० का कहना है कि जो इस प्रकार न करके गड़बड़ी करता है, उसकी सन्तान मूर्ख और अननुव्रता (व्रत न पालन करने वाली) होती है (शब्रा० ३.७.१.२२) । भारद्वाज (७.९.६) के अनुसार यह स्वरु[४] लिपटी हुई रस्सीके बीचमें, ऊपरकी ओर अथवा सभी लपेटोंमें लगाया जा सकता है ।

यूप और स्वरुके सम्बन्धमें ब्रह्मवादियोंके विचार

यूपके मध्यमें दर्भमयी रज्जुके लपेटके साथ ही यूपसे सम्बन्धित सभी कृत्य सम्पन्न हो जाते हैं ।

अन्तमें एक महत्वपूर्ण विषयके सम्बन्धमें ऐब्रा० का मत प्रस्तुत किया जाता है । कर्मकी समाप्तिके बाद यूप अपने स्थानमें स्थित रहे अथवा अग्निमें डाल दिया जाय, यह प्रश्न किया गया है । उपर्युक्त प्रश्न किये जानेपर ब्रह्मवादियोंका कहना है कि पशुकी कामना करने वाले यजमानको यूपस्स्थानमें यूप रखना चाहिए । और स्वर्गकी कामना वाले यजमानको कर्मकी समाप्तिके पश्चात् यूप अग्निमें डाल देना चाहिए क्योंकि पहले स्वर्गकी कामना वाले यजमान कर्म समाप्तिके बाद ही उस यूपको अग्निमें फेंक दिया करते थे । स्वरुके सम्बन्ध में कहा गया है कि यूपके प्रक्षेपके समय ही स्वरुका भी प्रक्षेप किया जाना चाहिये (ऐब्रा० २.१.३) ।

यूपैकादशिनी

यद्यपि ज्योतिष्टोममें सवनीय नामका स्तोमायन संज्ञक क्रतुपशु एक ही होता है, तथापि विकल्पके रूप में ग्यारह पशुओंका भी विधान किया गया है । एक पशुके

---

१. अन्तरिक्षस्य त्वा सानावव गूहामि (तैसं० १.३.६.२) ।

२. भारश्रौसू० (७.९.६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१५, आपश्रौसू० ७.११.९) ।

३. काश्रौसू० (६.३.१६) ।

४. स्वरु नामकं स्वल्पं काष्ठखण्डम् (ऐब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २०७) ।

लिए एक यूप पर्याप्त नहीं होनेसे ग्यारह यूपोंका भी विधान किया गया किन्तु यदि ग्यारह यूपोंकी व्यवस्था न हो तो एक ही यूपसे भी काम चलाया जाता है, सूत्रकारोंने ग्यारह पशु होनेपर भी एक यूपमें उनको बाँधनेका विधान किया है।

यूपोच्छ्रयणक्रमसे एक ही तृणके द्वारा सब पशुओंको स्पर्श करके आग्नेयादि सभी सवनीय एकादश पशुओंका संज्ञपन किया जाता है, इसीलिए इस कृत्यका नाम पश्वैकादशिनि है। ग्यारह यूपोंमें आग्नेयादि ग्यारह पशुओंका नियोजन किया जाता है और फिर सभी का आलभन किया जाता है (काश्रौसू० ८.८.२५)।

ग्यारह यूपोंके अतिरिक्त एक अन्य बारहवाँ वितष्ट नामका यूप भी होता है, जो छिला-छिलाया अलग पड़ा रहता है। यह वितष्ट नामका यूप ऋचाके[१] द्वारा वेदीके दक्षिणकी ओर स्थापित किया जाता है।[२]

एकादश यूपोंका परस्पर अन्तराल

यदि ग्यारह यूपोंकी स्थापना की जानी हो तो सूत्रकारोंके अनुसार उन यूपोंकी परस्पर दूरी रथाक्ष (एक सौ चार अंगुल) मात्र होनी चाहिये। प्रत्येक यूपको गाड़नेके लिए गड्ढा खोदना भी आवश्यक है, अत: उनकी दूरी के लिए कहा गया है कि प्रत्येक यूपावटकी दूरी बारह अंगुल होनी चाहिए। इस प्रकार यूप और उनके गड्ढोंके लिए कुल बीस अंगुल और अड़तालीस अरत्नि भूमिकी आवश्यकता होती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ये सब यूप वेदीके अन्तर्गत ही बनाना चाहिए अथवा यूपके अनुसार वेदीको बढ़ा लेना चाहिए। इस सम्बन्धमें दोनों ही पक्ष मान्य हैं। यूपके अनुसार वेदी को बढ़ाया भी जा सकता है अथवा जितनी वेदी बनी हुई है, उसीमें समान दूरीसे यूप बनाये जा सकते हैं (काश्रौसू० ८.८.६-७)।

यूपाहुति आदि कृत्य एक ही बार

यूपैकादशिनी पक्षमें यूपाहुति, अभ्यादान, यवावपन कृत्य एक ही बार किये जाते हैं, किन्तु परिलेखनसे लेकर अवटहोम तक सभी कृत्य प्रत्येक अवटमें

---

१. एष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशु:(वासं० ६.६)।

२. शब्रा० (३.७.२.३)।

अलग-अलग किये जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक यूपमें अलग-अलग परिव्ययण किया जाता है (काश्रौसू० ८.८.९-१०)।

यूपावटपरिलेखनमें क्रम

दो रीतिसे यूपावटका निर्माण किया जाता है, एक पक्ष यह है वेदीके पूर्वार्द्धके शंकु स्थानमें पहले बीचमें यूपावट बनाया जाय, फिर उसके उत्तरमें यूपावट और फिर उसके उत्तरमें यूपावट इस प्रकार उत्तर-उत्तर यूपावटका निर्माण किया जाय अर्थात् मध्यमें यूपावटका निर्माण करके उसके उत्तरमें दूसरा यूपावट, मध्यके दक्षिण में तीसरा यूपावट; द्वितीय यूपावटके उत्तरमें चौथा यूपावट, तीसरेके दक्षिण में पाँचवाँ यूपावट, चौथेके उत्तरमें छठा यूपावट, आठवेंके उत्तरमें दसवाँ यूपावट और नौवेके दक्षिणमें ग्यारहवाँ यूपावट बनाया जाना चाहिए। दूसरा पक्ष यह है कि बीच में यूपावटका निर्माण करके उसके दक्षिण में दूसरा यूपावट, बीचके उत्तरमें तीसरा यूपावट, दूसरेके दक्षिण में चौथा यूपावट, तीसरेके उत्तरमें पाँचवाँ यूपावट, चौथेके दक्षिण में छठा यूपावट, पाँचवेंके उत्तरमें सातवाँ यूपावट, छठेके दक्षिणमें आठवाँ यूपावट, सातवेंके उत्तरमें नौवाँ यूपावट, आठवेंके दक्षिणमें दसवाँ यूपावट और नौवेके उत्तरमें ग्यारहवाँ यूपावट बना लेना चाहिये। दोनों ही रीतियोंसे यूपावटका निर्माण किया जा सकता है (काश्रौसू० ८.८.११)।

पदार्थानुसमय तथा काण्डानुसमयके अनुसार कुछ कृत्य

कात्यायनने निर्देश दिया है कि परिलेखनसे लेकर यूपावट होम पर्यन्त सभी कृत्य पदार्थानुसमयके[1] अनुसार तथा एक एक यूपके अंजनादिसे लेकर चषाल-ईक्षण पर्यन्त सभी कृत्य काण्डानुसमयके[2] अनुसार किये जाने चाहिये (काश्रौसू० ८.८.१२-१३)।

यूपोंके मध्य दक्षिण वाला यूप सबसे ऊँचा

यूपैकादशिनी पक्षमें ग्यारहों यूप एक समान ऊँचाई वाले नहीं होते, सबकी भिन्न भिन्न ऊँचाई होती है, अतः सबसे ऊँचे वाला यूप किस स्थानपर स्थापित

---

१. अनेकप्रधानोद्देशेन एकैकेन पदार्थेन आवृत्तेन अनुसमय अनुष्ठानं पदार्थानुसमयः (सरलावृत्ति पृष्ठसं० २२)।

२. एकं प्रधानमुद्दिश्य तत्तत्सम्बन्धिना यावत्पदार्थकाण्डेन अनुसमयः अनुष्ठानं काण्डानुसमयः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २२)।

किया जाय, यह प्रश्न होता है। इस सम्बन्धमें कहा गया है कि सबसे दक्षिण वाला यूप सबसे ऊँचा होना चाहिये और उसके उत्तर उससे छोटा, और सबसे उत्तरमें सबसे छोटा यूप खड़ा किया जाना चाहिए।

किस यूपकी कितनी ऊँचाई हो इस सम्बन्ध में कहा गया है कि सोमयाग में यूपैकादशिनी पक्षमें पाँच अरत्निसे लेकर पन्द्रह अरत्नि पर्यन्त ऊँचे यूप खड़े किये जाने चाहिये (काश्रौसू० ६.१.२९)। कहीं कहीं अपरिमित ऊँचाईके यूप होने चाहिये, ऐसा भी विधान मिलता है किन्तु सरलावृत्तिकारके अनुसार सबसे ऊँचा यूप छब्बीस अरत्नि ऊँचा और सबसे छोटा यूप सोलह अरत्नि ऊँचा होता है (पृष्ठ सं० ३११)।

यूपके खड़े करनेके क्रमके साथ साथ उनकी ऊँचाईका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इस सम्बन्धमें दो पक्ष हैं। पहले पक्षके अनुसार बीचका यूप इक्कीस अरत्नि, उससे उत्तराका यूप बीस अरत्नि, मध्यसे दक्षिणवाला यूप बाईस अरत्नि, चौथा यूप उन्नीस अरत्नि, पाचवाँ यूप तेईस अरत्नि, छठा यूप अट्ठारह अरत्नि, सातवाँ यूप चौबीस अरत्नि, आठवाँ यूप सत्रह अरत्नि, नौवाँ यूप पच्चीस अरत्नि, दसवाँ यूप सौलह अरत्नि और ग्यारहवाँ यूप छब्बीस अरत्नि होना चाहिए, दूसरे पक्षके अनुसार बीचका यूप इक्कीस अरत्नि, मध्यमसे दक्षिण वाला यूप बाईस अरत्नि, मध्यमसे उत्तरवाला यूप बीस अरत्नि, चौथा तेईस अरत्नि, पाचवाँ उन्नीस अरत्नि, छठा चौबीस अरत्नि, सातवाँ अट्ठारह अरत्नि, आठवाँ पच्चीस अरत्नि, नौवाँ सत्रह अरत्नि, दसवाँ छब्बीस अरत्नि और ग्यारहवाँ यूप सोलह अरत्नि होना चहिये। इस प्रकार दो रीतियोंका उल्लेख कात्यायनने अपने श्रौतसूत्र (८.८.१९) में किया है।

इन ग्यारह यूपोंके अतिरिक्त उपशय[१] नामका एक बारहवाँ यूप होता है, जिसे यूपोंके दक्षिण देशमें भूमिमें गड्ढा खोदकर चुपचाप गाड़ा जाता है, इसके अतिरिक्त पत्नियोंके लिए भी यूप गाड़े जाते हैं, इसके लिए त्वष्टाका पशु पकड़ा जाता है, यह अण्डकोश वाला नहीं होता, यदि यह पशु अण्डकोश वाला हो तो उसकी बलि देनेका निषेध किया गया है और यह कहा गया है कि उसे अग्निके चारों ओर फिराकर ही छोड़ देना चाहिये (शब्रा० ३.७.२.८)।

---

१. यूपानां समीपे शते इत्युपशयोऽन्यो यूपः (तैसं० ६.६.४ पर सायण भाष्य)।

यूपोंकी स्थापनाका क्रम

यूपोंकी स्थापनाके दो क्रम हैं, एक के अनुसार सभी यूप एक साथ गाड़ दिये जाने चाहिये, दूसरे क्रमके अनुसार पहले एक यूपको गाड़ना चाहिये फिर अगले दिन प्रात: अन्य सभी यूपोंको गाड़ना चाहिये । शब्रा० (३.७.२.४) ने दूसरे क्रमको स्वीकार किया है । अर्थात् पहले दिन उत्तरवेदीके पुरोदेशमें स्थित अग्नि-षोमीय पशुके लिए केवल एक ही यूपका उच्छ्रयण करे और अगले दिन अन्य यूपोंका उच्छ्रयण करे । पहले दिन उच्छ्रयण किये गए यूपके सम्बन्धमें कहा गया है कि अध्वर्युको चाहिये कि परिव्ययण पर्यन्त उसे हाथसे स्पर्श किये रक्खे, परित्याग न करे (शब्रा० ३.७.२.४) ।

ग्यारह पशुओंके ग्यारह देवता

जिन ग्यारह पशुओंका एक तृणसे स्पर्श करके आलभन किया जाता है, उन ग्यारह पशुओंके देवता क्रमश: ये हैं—अग्नि, सरस्वती, सोम, पूषा बृहस्पति, विश्वेदेव, इन्द्र, मरुत, इन्द्राग्नि, सावित्र और वरुण ।

एक यूपपक्ष में ग्यारह पशुओंके नियोजनका क्रम

यदि केवल एक ही यूप हो और ग्यारह पशु हों तो उस अवस्थामें सबसे पहले अग्निके पशु बाँधा जाता है, उसके उत्तरमें अग्निके पशुके गलेमें सरस्वतीके पशु को बाँधा जाता है, इस प्रकार उत्तर-उत्तर क्रमश: गलगलिकाके द्वारा अन्य देवाताओंके पशुओंको बाँधा जाता है (काश्रौसू० ८.८.२६) ।

मनोता होम तथा वसाहोम प्रत्येक पशुका अलग-अलग

कात्यायनने विधान किया है कि मनोताहोम तथा वसाहोम प्रत्येक पशुका अलग अलग होना चाहिये क्योंकि उन सब पशुओंका होमकाल भिन्न भिन्न होता है (काश्रौसू० ८.८.३६) ।

यूपैकादशिनि पक्षसे सम्बन्धित सभी आवश्यक विधियोंकी चर्चा हो चुकने पर पशुसे सम्बन्धित अन्य आवश्यक कृत्योंपर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है ।

पशूपाकरण

तृणसे पशुका स्पर्श करते हुए देवतार्थ संकल्प करना ही इसमें प्रमुख कृत्य हैं। इस अवसरपर तैसं० में बहुत से कृत्य उल्लिखित हैं, जिनका उल्लेख शब्रा० में नहीं प्राप्त होता। वस्तुत: यह भी निरूढपशुबन्धका ही अंग है किन्तु अग्निष्टोममें भी यह कृत्य सम्पन्न होता है, अत: अग्निष्टोमके प्रसंगमें दोनों मध्यन्दिन तथा तैत्तिरीय संहिताओंने जिन कृत्योंका वर्णन किया है, उन्हीं कृत्योंपर यहाँ विचार किया जाता है, कुछ कृत्य जो निरूढपशुबन्धमें तो सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु अग्निष्टोममें उनको छोड़ दिया है, उनपर विचार करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता, फिर भी उसका नामोल्लेख यथा प्रसंग किया ही जाना चाहिए, इसलिए उन कृत्योंको विवेचनाका विषय नहीं बनाया जायेगा।

पशुको स्नान कराना

सर्वप्रथम पशुको नहलाया जाता है।[१] इस अवसरपर पशुकी विशेषता बताते हुए कहा गया है कि वह पशु टेढ़े सींगवाला अथवा टूटे हुए सींगवाला न हो, कर्णसे विकल न हो, एक आँखवाला न हो, दुर्बल पैरवाला न हो, दन्तसे हीन न हो, नपुंसक न हो, घृष्ट (गत्वर, अर्थात् गतिशील) न हो, बहरा न हो, दो खुरोंसे हीन न हो, माता-पिता-भाई-सखासे युक्त, यूथसे युक्त, तथा ऐसा पशु (बकरा) ग्रहण करना चाहिये, जिसके जन्मके दाँत तो गिर चुके हों और बाद वाले दाँत आ गए हों (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१५-४१६)। कात्यायनने बकरेको ग्रहण करनेका विधान किया है (काश्रौसू० ६.३.१८)।

कात्यायनने तथा शब्रा० ने पशुको नहलानेकी विधि नहीं लिखी है। भारद्वाज तथा सत्याषाढने ही ऐसा विधान किया है, गोपीनाथके अनुसार पशुका प्रक्षालन किया जाता है (पृष्ठसं० ४१६)।

तृण ग्रहण करना

कुछ सूत्रोंने मन्त्रके[२] द्वारा दो दर्भ तथा मन्त्रके[३] द्वारा प्लक्ष शाखा लेने का

---

१. भारश्रौसू० (७.९.७)।

२. इषे त्वा (तैसं० १.३.७)।

३. उपवीरसि (तैसं० १.३.७)। भट्टभास्करने यह मन्त्र उपाकरणमें ही प्रयुक्त किया है (पृष्ठसं० ४३०)।

विधान किया है[१] किन्तु कात्यायनने पन्नेजनीमें रक्खे हुए तृणको ग्रहण करनेका विधान किया है,[२] जिसके लिए मन्त्र[३] पढ़ा जाता है । यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस मन्त्रसे भारद्वाज तथा सत्याषाढने प्लक्षशाखा ग्रहण करनेका विधान किया, उसी मन्त्रका विनियोग कात्यायनने तृणग्रहणके लिए विधान किया है, जो पन्नेजनीमें रक्खा हुआ होता है । बौधायन(४.५)ने प्लक्षशाखा ग्रहण करनेका उल्लेख नहीं किया जबकि आपस्तम्बने ऐसा उल्लेख किया (७.१२.५-८) है ।

तृणके द्वारा पशुको स्पर्श करना

यही उपाकरण क्रिया कहलाती है, जिसमें तृणके द्वारा पशुका उपस्पर्शन किया जाता है ।[४] कात्यायनने उपाकरण क्रियाके लिए केवल एक मन्त्रका[५] उल्लेख किया है,[६] जबकि भारद्वाजने भिन्न भिन्न दो मन्त्रोंका[७] उल्लेख किया है[८] और सत्याषाढने केवल एक मन्त्रका[९] तो उल्लेख किया[१०] किन्तु वह न तो भारद्वाजने प्रयुक्त किया और न कात्यायनने । बौधायनने उस मन्त्रको सम्मिलित कर लिया जिसका विनियोग भारद्वाज तथा सत्याषाढने प्लक्षशाखा ग्रहण करनेके लिए किया है अर्थात् बौधायनने प्लक्षशाखा ग्रहण करनेमें उस मन्त्रका विनियोग न करके उपाकरण क्रियाके लिए ही उस मन्त्रका विनियोग किया है ।[११] जो दूसरा मन्त्र

---

१. भारद्वाजश्रौसू० (७.९.८-९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१६) ।

२. काश्रौसू० (६.३.१७, शब्रा० ३.७.३.९) ।

३. उपवीरसि (वासं० ६.७) ।

४. तृणेन पशोरुपस्पर्शनमुपाकरणम् (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २२०) ।

५. उप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् (वासं० ६.७) । रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि (वासं० ६.८) ।

६. काश्रौसू० (६.३.१७) ।

७. प्रजापतेर्जायमानाः (तैसं० ३.१.४.१) । उपो देवान् दैवीर्विशः प्रागुर्वह्नीरुशिजो बृहस्पते धारया वसूनि हव्या ते स्वदन्तां देव त्वष्टर्वसु रण्व रेवती रमध्वम् (तैसं० १.३.७) ।

८. भारश्रौसू० (७.९.११) ।

९. इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टमुपाकरोम्युपो देवान्देवीर्विशः प्रजापतेर्जायमाना इमं पशुपते । (द्र० आपश्रौसू.७.१२८)

१०. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४१६) ।

११. बौश्रौसू० (४.५) ।

भारद्वाजने उपाकरणके लिए विनियुक्त किया है, उसी मन्त्रका उल्लेख आपस्तम्ब ने किया है,[१] अर्थात् जहाँ भारद्वाजने दर्भद्वय तथा प्लक्षशाखा ग्रहणके लिए दो मन्त्रोंका विनियोग करके उपाकरणके लिए अन्य दो मन्त्रोंका विनियोग किया वहाँ आपस्तम्बने भारद्वाजके अनुसार दर्भद्वय तथा प्लक्षशाखाके ग्रहण के लिए दो मन्त्रोंका विनियोग तो किया किन्तु उपाकरण के लिए केवल एक मन्त्रका विनियोग किया है, जो भारद्वाजकी दृष्टिसे दूसरा मन्त्र है ।

पशुको स्पर्श करने करनेके लिए जहाँ कात्यायनने तृणमात्रका उल्लेख किया वहाँ भारद्वाजने तथा सत्याषाढने दो दर्भपत्र और प्लक्षशाखाका उल्लेख किया है, बौधायनने प्लक्ष शाखाका उल्लेख नहीं किया । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारद्वाज, सत्याषाढ और आपस्तम्बके अनुसार पशुको दोनों दर्भके पत्रों तथा प्लक्षशाखा से स्पर्श किया जाता है, बौधायनके अनुसार केवल दर्भके दो पत्तोंसे और कात्यायनके अनुसार केवल तृणसे स्पर्श किया जाता है ।

पाँच आहुतियाँ

उपाकरण क्रियाके पश्चात् पाँच मन्त्रोंसे[२] पाँच आहुतियाँ देनेका विधान केवल सत्याषाढ ने किया है,[३] अन्य किसी सूत्रकारने इस अवसरपर आहुति देनेका विधान नही किया ।

अग्निमन्थन

वैश्वदेवपर्व नामक यागके अन्तर्गत जिन मन्त्रोंसे शकल लेना प्रारम्भ करके होम तक जितनी क्रियाएँ की जाती है, उन्हीं मन्त्रोंसे इस अवसरपर भी वे सब क्रियाएँ की जाती हैं (काश्रौसू० ६.३.२२) ।

सर्वप्रथम मन्त्रसे[४] अधिमन्थन शकल लेकर चुपचाप वेदीपर उत्तरकी ओर सिरा करके उसको रखा जाता है ।[५] सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४१७) ने आहवनीयपर

---

१. आपश्रौसू० (७.१२.५-८) ।

२. "प्रजानन्त" "ये षामीशे" "ये बध्यमान""य आरण्याः" "प्रमुंचमाना" ये पाँच मन्त्र हैं, जिनका उल्लेख गोपीनाथने अपने भाष्यमें किया है (पृष्ठसं० ४१६) ।

३. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ४१६) ।

४. "अग्नेर्जनित्रम्" (वासं० ५.२, तैसं० १.३.७.१) ।

५. काश्रौसू० (५.१.२२, भारश्रौसू० ७.९.१२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१७) ।

बर्हि बिछानेका भी निर्देश किया है। इसके पश्चात् मन्त्रसे[१] शकलके ऊपर पूर्वकी ओर सिरा करके कुशा बिछाई जाती है।[२] इसके पश्चात् मन्त्रके[३] साथ अधरारणि लेकर बिछाए हुए उन दो कुशतरणोंके ऊपर उत्तरकी ओर सिरा करके उस अधरारणिको स्थापित किया जाता है[४] तथा मन्त्रके[५] साथ अरणीके द्वारा आज्यस्थालीस्थ आज्यका स्पर्श करके मन्त्रके[६] द्वारा अधरारणिपर उत्तरारणि रखी जाती है।[७]

इसके पश्चात् अध्वर्यु होता को "अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि अथवा मथ्यमानायानुब्रूहि" प्रैष करता है।[८]

प्रैष किये जाने पर होता मन्त्रका[९] पाठ करता है।[१०] इसके पश्चात् तीन मन्त्रोंके[११] द्वारा अरणिसे मन्थन प्रारम्भ किया जाता है।[१२]

इस अवसरपर अध्वर्यु होताको "जातायानुब्रूहि" प्रैष करता है।[१३] प्रैष किये जाने पर होता ऋचाका[१४] पाठ करता है। जब अग्नि प्रकट हो जाती है तब उस

---

१. वृषणौ (वासं० ५.२, तैसं० १.३.७.१)।
२. काश्रौसू० (५.१.२३, भारश्रौसू० ७.९.१२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१७)।
३. उर्वश्यसि (वासं० ५.२, तैसं० १.३.७.१)।
४. काश्रौसू० (५.१.२४, भारश्रौसू० ७.९.१३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१७)।
५. आयुरसि (वासं० ५.२ तैसं० १.३.७.१)।
६. पुरूरवा (वासं० ५.२, तैसं० १.३.७१)।
७. काश्रौसू० (५.१.२५, भारश्रौसू० ७.९.१३, आपश्रौसू० ७.१२.३)।
८. तैसं० (६.३.५, काश्रौसू० ५.२.१, भारश्रौसू० ७.१०.१)।
९. अभित्वा देव सवितः (तैसं० ३.५.११)।
१०. तैसं० (१.३.७ पर सायणका भाष्य, पृष्ठसं० ४३५)।
११. गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥ जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि (वासं० ५.२)। तैसं० (१.३.७) में उक्त क्रियाके लिए इन तीन मन्त्रोंका उल्लेख सूत्रकारोंने किया है—" गायत्रं छन्दो नु प्र जायस्व॥ त्रैष्टुभं॥ जागतं छन्दो नु प्र जायस्व॥
१२. बौश्रौसू० (४.५, आपश्रौसू० ७.१३.१-३, भारश्रौसू० ७.१०.२, काश्रौसू० ५.२.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१७)।
१३. काश्रौसू० (५.२.३, भारश्रौसू० ७.१०.३, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४१७)।
१४. उत ब्रुवन्त जन्तवः (तैसं० ३.५.११)। काश्रौसू० के वृत्तिकार पं० विद्याधरजीने "आयं हस्तेन" मन्त्रका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० १८१)।

प्रकट हुई अग्निको आहवनीयाग्निमें डालते हुए अध्वर्यु होता को फिर "अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि" प्रैष करता है[१]। तब होता प्रैषके पश्चात् ऋचाका[२] पाठ करता है।[३] आहवनीयमें मथित अग्निको डालते समय अध्वर्यु ऋचाका[४] पाठ करता है।[५] इसके पश्चात् ऋचाका[६] पाठ करके स्रुवाके द्वारा आहुति दी जाती है।[७] भारद्वाजका कहना है कि यदि अग्नि उत्पन्न न हो तो आहवनीय अग्निमें हिरण्य शकल ही डालकर आहुति दे दी जानी चाहिये।

अग्निमन्थनके अन्तर्गत उक्त सभी क्रियाओंका उल्लेख शब्रा० ने आतिथ्येष्टिके अन्तर्गत किया है।

पशु-उपाकरणके अन्तर्गत पशुको स्नान कराने, तृण ग्रहण करने, फिर उस तृणके द्वारा पशुको स्पर्श करने, सत्याषाढके अनुसार पाँच आहुतियाँ देने, अग्नि-मन्थन करनेकी क्रियाओंका विस्तारपूर्वक विचार करनेके पश्चात् पशुके बाँधने, उसे आलभन करनेसे सम्बन्धित क्रियाओंके सम्बन्धमें विस्तृत कर्मकाण्ड लिखा जाता है।

पशुसंज्ञपन

ऐब्रा० (२.१.३) में कहा गया है कि जो यजमान सोमयागमें दीक्षा प्राप्त करता है वह सभी देवताओंके लिए अपने को ही पशुरूपमें आलम्भनके लिए समर्पित करता है। यहाँ अग्निष्टोममें अग्नि और सोम सर्वदेवतात्मक हैं, अतः जो यजमान अग्नि और सोमके लिए पशुका आलम्भन करता है वस्तुतः इस प्रकार वह

---

१. काश्रौसू० (५.२.४, भारश्रौसू० ७.१०.४, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४१७, तैसं० ६.३.५)।

२. प्र देवं देववीतये (ऋसं० ६.१६.४१, तैसं० ३.५.११.४)।

३. शांब्रा० (८.१-२)।

४. भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः (वासं० ५.३ तैसं० १.३.७)।

५. काश्रौसू० (५.२.५, भारश्रौसू० ७.१०.५, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४१८)।

६. अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यं सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा (वासं० ५.४)। अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः। स्वाहाकृत्य ब्रह्मणा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्भागधेयम् (तैसं० १.३.७)।

७. काश्रौसू० (५.२.६, भारश्रौसू० ७.१०.६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१८)।

सभी देवताओंसे अपनेको अर्पण करनेसे मुक्त कर लेता है, इसीलिए अग्निषोमीय पशुका आलम्भन किया जाता है।

अग्निषोमीय पशुके सम्बन्धमें दो पक्ष प्राप्त होते हैं, पूर्वपक्षके अनुसार अग्नि और सोमके पशुको दो रूप (शुक्ल और कृष्ण) वाला होना चाहिये। किन्तु यह मत मान्य नहीं हुआ। उत्तरपक्षके अनुसार मोटे पशुके आलम्भनका विधान किया गया।[1]

इसीप्रकार अग्निषोमीय पशुके मांसके भक्षणके सम्बन्धमें दो पक्ष प्राप्त होता है। एक पक्षके अनुसार अग्निषोमीय पशुका मांस नहीं भक्षण करना चाहिये क्योंकि जो अग्नि और सोमके पशुके मांसका भक्षण करता है, वह पुरुषके मांसका ही भक्षण करता है क्योंकि यजमान इस पशुसे ही तो अपने आपको छुड़ाता है किन्तु इसके विरुद्ध यह कहा गया है कि यह जो अग्नि और सोमका पशु है वह वृत्रघ्न (इन्द्र) के लिए हवि है। इस सम्बन्धमें एक गाथा कही गई है कि किसी समय अग्नि और सोमके द्वारा इन्द्रने वृत्रको मारा था। तब अग्नि और सोमने इन्द्रसे कहा कि तुमने हमारे द्वारा वृत्रको मारा है अतः हम दोनों तुमसे वर मांगते हैं। तब इन्द्रने कहा—"माँगो"। अतः इन्द्रसे उन दोनोंने सोमाभिषवके पहले दिनके पशुरूप वरका वरण किया। क्योंकि इन दोनोंके द्वारा यह वर प्राप्त किया गया था अतः यह पशु इन दोनोंके लिए अवश्य कर्तव्य है। इसलिए प्रशस्त होनेसे उस पशुके मांसका सर्वदा भक्षण ही नहीं करना चाहिए अपितु आदरसे अधिक लेनेकी लिप्सा करना चाहिए। इस प्रकार ऐब्रा० ने उपर्युक्त व्याख्यानके द्वारा अग्निषोमीय पशुके मांसके भक्षणका विधान किया है।[2] तैसं० (६.१.१६.६) ने भी ऐब्रा० के अनुसार ही अग्निषोमीय पशुके मांसके भक्षणका विधान किया है।

अब पशुके संज्ञपनसे सम्बन्धित कर्मकाण्डको विस्तारपूर्वक लिखा जा रहा है। इस कृत्यमें सबसे पहले पशु बाँधनेकी रस्सी लेकर उससे पशुको बाँधा जाता है, फिर उसका प्रोक्षण आदि कृत्य किये जाते हैं।

---

१. ऐब्रा० (२.१.३, पृष्ठसं० २०९)।

२. ऐब्रा० (पृष्ठसं० २११)।

पशु-बन्धन

पशु बाँधनेके लिए सर्वप्रथम मन्त्रसे[१] दो व्याम प्रमाण वाली कुशाकी द्विगुणित रस्सी ग्रहण की जाती है (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१८)।

इसके पश्चात् दो लड़ी वाली, दो व्याम लम्बी कुशाकी रस्सी पशुके दक्षिण सींगमें अभिमुख करके दोनों सींगोंके बीचमें बाँधता है।[२] इस अवसरपर यह मन्त्र[३] पाठ किया जाता है। सत्याषाढका कहना है कि सकण्ठदक्षिणके आधे सिरसे युक्त सींगमें रस्सी बाँधी जानी चाहिये (पृष्ठसं० ४१८)। अब रज्जुसे बन्धे हुए पशुको मन्त्रसे यूपमें[४] नियोजित करता है।[५] गोपीनाथके अनुसार बँधा हुआ यह पशु यूपके सामने पूर्व या उत्तरकी ओर मुख किये होना चाहिए।[६]

पशुका प्रोक्षण

इस अवसरपर देवयाज्ञिकने "ब्रह्मन् हविः प्रोक्षिष्यम्" प्रैष का उल्लेख किया है, जिस पर ब्रह्मा "प्रोक्ष यज्ञम्" मन्त्रका पाठ करता है।[७] अब मन्त्रके[८] द्वारा पशु का प्रोक्षणीके जलसे प्रोक्षण किया जाता है।[९]

---

१. "देवस्य त्वा" इति।

२. शब्रा० (३.७.४.१-२)। काश्रौसू० (६.३.२४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१८, भारश्रौसू० ७.१०.७, आपश्रौसू० ७.१३.८)।

३. ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि धर्षा मानुषः (वासं० ६.८)। ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेनाऽऽरभे (तैसं० १.३.८)।

४. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि (वासं० ६.९)। तैसं० (१.३.८) में यह मन्त्र इस प्रकार है—"धर्षा मानुषान्" किन्तु भारद्वाजने मन्त्र इस प्रकार दिया है—"धर्षा मानुषानिन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं नियुनज्मि"।

५. काश्रौसू० (६.३.२५, भारश्रौसू० ७.१०.८, आपश्रौसू० ७.१३.८-९)।

६. पृष्ठसं० (४१८)।

७. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २१४)।

८. अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः अनु त्वा माता मन्यतामनु पिता अनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा स सयूथ्यः अग्निषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि (वासं० ६.९)। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामि (तैसं० १.३.८)। भारद्वाजने "इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" मन्त्र बढ़ाया है।

९. आपश्रौसू० (७.१३.१०, भारश्रौसू० ७.१०.१०, काश्रौसू० ६.३.२७, शब्रा० ३.७.४.४-५, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४१८)।

प्रोक्षणके अनन्तर पशुको मन्त्रके[१] द्वारा जल पिलाया जाता है ।[२] गोपीनाथ का कहना है कि यदि पशु जल पीवे तो मन्त्रका पाठ किया जाना चाहिये, यदि पशु पानी नहीं पीता, तो मन्त्रपाठ नहीं किया जाना चाहिए ।[३] मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २२१) ने उक्त मन्त्रका विनियोग जलसहित तृणको पशुके मुखमें देनेके लिए किया है ।

जल पिलानेके पश्चात् मन्त्रके[४] द्वारा पशुके उदर-हृदयका प्रोक्षण किया जाता है ।[५]

मन्त्रपूर्वक प्रोक्षण करनेसे शुद्धि होती है,प्रत्येक वस्तु जो यज्ञकार्यमें उपयोगी हो, उसका प्रोक्षण अवश्य करना चाहिए (मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० २२०) ।

सामिधेन्यर्थ प्रैष

शब्रा० (३.७.४.७) ने इस अवसरपर अध्वर्युके द्वारा होताको निम्नांकित "समिध्यमानायानुब्रूहि" प्रैष कहलाया है । तैसं० (६.३.७) ने भिन्न प्रैषका उल्लेख किया है, जिसे सायणने (तैसं० १.३.८ का) भाष्य करते हुए उल्लिखित किया है—"अग्निना वै होत्रा देवा असुरानभ्यभवन्नग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि इति आह भ्रातृव्याभिभूत्यै ।" उक्त प्रैषके अतिरिक्त देवयाज्ञिकने एक और "सन्तन्वन्निति" प्रैषका भी उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २१४-२१५) । सामिधेनी मन्त्रोंका पाठ होता करता है जो ऋग्वेद[६] तथा तैब्रा०[७]में प्राप्त होते हैं । ये कुल ग्यारह मन्त्र हैं,

---

१. अपां पेरुरसि (वासं० ६.१० तैसं० १.३.८)।

२. भारश्रौसू० (७.१०.११, काश्रौसू० ६.३.२८, शब्रा० ३.७.४.६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ४१८)।

३. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ४१८)।

४. आपो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित् सद् देवहविः (वासं० ६.१०)। स्वात्तं चित् सदेवं हव्यमापो देवीः स्वदतैनम् (तैसं० १.३.८)।

५. काश्रौसू० (६.३.२९, शब्रा० ३.७.४.६) । भारद्वाज (७.१०.१२), सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४१८)तथा आपश्रौसू० (७.१०.१०-१२) इन तीनोंने किसी अंगका नाम न लेकर यही निर्देश किया है कि पशुके शरीरपर ऊपर से नीचे सब ओर प्रोक्षण किया जाय।

६. ऋग्वेदके मन्त्रोंके सन्दर्भ इस प्रकार है—ऋसं० ६.१६.१०, ६.१६.१२, ३.२७.१३, ३.२७.१४, ३.२७.१५, १.१२.१, ३.२७.४, ५.२८.५, तथा ५.२८.६ । देखिये शब्रा० का हिन्दी विज्ञान भाष्य (पृष्ठसं० ११६४)।

७. कुछ सामिधेनी मन्त्र तैब्रा० ३ का.५ प्र० में भी प्राप्त होते हैं।

जिनमें केवल तीसरा मन्त्र वासं० (३.३) में प्राप्त होता है, अन्य मन्त्र वाजसेनेयि संहितामें प्राप्त नहीं होते ।

पशुके अंगोंपर आज्य लगाना

उत्तराधार आहुति देनेके पश्चात् स्रुचिको बिना स्पर्श किए हुए पशुके समीप आकर तथा बैठकर जुहूके द्वारा मन्त्रसे[१] पशुके ललाटपर घी लगाया जाता है ।[२] इसके पश्चात् मन्त्रके[३] साथ दक्षिण कन्धेपर तथा उक्त मन्त्रकी पुन: आवृत्ति करके उत्तर कन्धेपर घी लगाया जाता है ।[४] कन्धोंपर घी लगानेके लिए जहाँ भारद्वाज (७.११.३) तथा आपश्रौसू० (७.१४.१-२) ने "सं यजत्रैरंगानि" (तैसं० १.३.८) मन्त्रका उल्लेख किया है, वहाँ भट्टभास्करने उक्त मन्त्रका विनियोग दक्षिण श्रोणी पर घी लगाने के लिए किया (पृष्ठसं० ४४२) है । सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४१९) ने भी उक्त मन्त्रका विनियोग कन्धोंपर घी लगाने के लिए किया है ।

कन्धोंपर घी लगाने के पश्चात् दक्षिण श्रोणीपर मन्त्रसे[५] घी लगाया जाता है, उत्तरी श्रोणीपर घी लगानेके लिए उक्त मन्त्रकी आवृत्ति कर ली जाती है ।[६] भट्ट भास्करने उक्त मन्त्रका भी विनियोग दक्षिण श्रोणीपर घी लगानेके लिए किया है, जबकि सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४१९) ने पशुके पिछले भागपर (भसद्) और आपस्तम्ब (७.१४.१-२) ने श्रोणी पर घी लगाने का विधान किया है । भारद्वाज (७.११.३) ने भी दोनों श्रोणियों पर घी चुपड़ने के लिए उक्त मन्त्रका ही विधान किया है ।

इस प्रकार पशुके सिर (ललाट), दोनों कन्धों तथा दोनों श्रोणियों पर समन्त्रक घी लगाया जाता है ।

ऋत्विजोंका वरण

अग्निष्टोमके प्रसंगमें शतपथब्राह्मणने दो ऋत्विजों (होता और मैत्रावरुण) के वरणका उल्लेख किया है । कात्यायनने पशुबन्ध-निरूपण के अन्तर्गत उक्त

---

१. सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् (वासं० ६.१०)। सं ते प्राणो वायुना गच्छतां (तैसं० १.३)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २१५, काश्रौसू० ६.४.२, शब्रा० ३.७.४.८)।

३. समंगानि यजत्रैः (वासं० ६.१०)। सं यजत्रैः अंगानि (तैसं० १.३.८)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २१५, काश्रौसू० ६.४.२, शब्रा० ३.७.४.८)।

५. सं यज्ञपतिराशिषा (वासं० ६.१०)। तैसं० (१.३.८)।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २१५, काश्रौसू० ६.४.२, शब्रा० ३.७.४.८)।

क्रिया का उल्लेख किया है । जहाँ कात्यायन और शतपथ ने दो ऋत्विजोंके वरणका उल्लेख किया है, वहाँ तैसं० (१.३.८) का भाष्य करते हुए सायणने सात ऋत्विजों (होता, आग्नीध्र, अध्वर्यु, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी पोता और नेष्टा के वरण) का उल्लेख किया है । भारद्वाज (१२.१९.१६) ने सात ऋत्विजों के अतिरिक्त आठवें यजमानको भी वरण करनेका उल्लेख किया है, यहाँ पर विशेष बात यह है कि जिस मन्त्रसे यजमानका वरण भारद्वाजके अनुसार किया जाता है, उस मन्त्रका विधान कात्यायन तथा शतपथब्राह्मणने होता तथा मैत्रावरुणके वरणके निमित्त किया है ।

देवयाज्ञिकके अनुसार सर्वप्रथम स्रुक् के समीप आकर "संज्योतिषा" मन्त्रसे ध्रुवासमज्जन कृत्य करके स्रुचोंको रखकर श्रौषट् करके होताका वरण अग्निर्ह दैवीनां विशां पुर एतायं यजमानो मनुष्याणां सुन्वन्निति सुत्ये, तयोरस्थूरि गार्हपत्यं दीदयच्छतं हिमाद्वायू राधां सीत्सम्पृंचानावसम्पृंचानौ तन्व" मन्त्रके साथ करके मैत्रावरुणके लिए पुनः श्रौषट् करके फिर उपर्युक्त मन्त्रको कहता है ।[1] इस प्रकार (कात्यायन ६.४.३) तथा (शब्रा० ३.७.४.९-११ के अनुसार) होता और मैत्रावरुणका चयन कर लिया जाता है ।

भारद्वाजके अनुसार अध्वर्यु होताका नाम अपने मनमें लेकर होताका चयन करता है जिसके लिए अध्वर्यु "इन्द्रं होत्रादसौ मानुषः" मन्त्र कहता है । तत्पश्चात् "अग्निमाग्नीध्रादसौ मानुषः" कहकर आग्नीध्रका, "अश्विनाध्वर्यू आध्वर्यवादहं चासौ च मानुषौ" कहकर अपना तथा प्रतिप्रस्थाताका, "मित्रावरुणौ प्रशास्तारौ प्रशास्त्रादसौ मानुषः" कहकर मैत्रावरुणका, "इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणादसौ मानुषः" कहकर ब्राह्मणाच्छंसीका, "मरुतः पोत्रादसौ मानुषः" कहकर पोताका, "ग्नावो नेष्ट्रादसौ मानुषः" कहकर नेष्टाका, अग्निर्दैवीनां विशां पुरएतायं सुन्वन् यजमानो मनुष्याणां तयोर्नावस्थूरि गार्हपत्यानि सन्तु शतं हिमाद्वा यू राधांसीत्संपृंचानावसं-पृंचानौ तन्वः" कहकर यजमानका वरण करता है (१२.१९.९-१६) ।

भारद्वाज तथा कात्यायनके निर्देशानुसार ऋत्विजोंका वरण हो चुकनेपर होता वेदीकी उत्तरी श्रोणी (होतृषदन) में आकर बैठता है । इस अवसर पर अध्वर्यु होताके द्वारा "अग्निर्होता" मन्त्र पढ़े जाने पर दो स्रुचा लेता है (शब्रा० ३.८.१.१) ।

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २१५) ।

होता द्वारा आप्री संज्ञक प्रयाज मन्त्रोंका पाठ

शब्रा० (३.८.१.१) ने आप्रीसूक्तका पाठ करनेका कारण बताते हुए कहा है कि यजमान दीक्षा लेनेपर मनसे और आत्मासे यज्ञकी सम्पूर्ण तैयारी करता है, इसलिए उसका मन और आत्मा खाली सा हो जाता है, इन आप्रिमन्त्रोंके पाठसे आत्मामें प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है, इसलिए आप्रिसूक्तका पाठ होता द्वारा किया जाता है। सायणके अनुसार प्रीतिमें हेतु होनेके कारण आप्री शब्द कहा गया है, इसलिए देवताकी प्रीतिके लिए आप्री संज्ञक याज्या मन्त्रोंका पाठ किया जाता है (ऐब्रा० ६.१.४ पर सायणभाष्य)।

ये एकादश प्रयाज मन्त्र हैं, जिनका विधान बौधायनने अपने श्रौसू० (४.५) में किया है। सर्वप्रथम अध्वर्यु मैत्रावरुणको "समिद्भ्यः प्रैष्य" यह प्रैष करता है, तब मैत्रावरुण प्रैषसूक्तके प्रथम मन्त्रसे[1] होता को प्रैष करता है, तब होता आप्रिसूक्तकी प्रथम याज्याका[2] पाठ करता है (ऐब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठ सं० २१३)।

इसके पश्चात् मैत्रावरुण प्रैषसूक्तगत मन्त्रसे[3] होता को प्रैष करता है, तब होता दूसरी याज्याका[4] पाठ करता है (आपश्रौसू० ७.१४.७)। ऐब्रा० (२.१.४) ने याज्यान्तरका विधान करते हुए कहा है कि अध्वर्युसे प्रेषित मैत्रावरुण होता को मन्त्रसे[5] प्रैष करता है, तब होता "नाराशंस्य" इस ऋचाका पाठ करता है। आपश्रौसू० (४.११.६) ने दूसरी याज्या इसीको माना है। इसके पश्चात् मन्त्रोंके[6] के द्वारा प्रेषित

---

१. होता यक्षदग्निं समिधा सुषमिधा समिद्धं नाभा पृथिव्याः संगथे वामस्य। वर्ष्मन्दिव इडस्पदे वेत्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२, पृष्ठसं० ९९३)।

२. समिद्धो अद्य राजसि देवो देवैः सहस्रजित्। दूतो हव्या कविर्वह (ऋसं० १.१८८.१)।

३. होता यक्षत्तनूनपातमदितेर्गर्भं भुवनस्य गोपाम्। मध्वाद्य देवो देवेभ्यो देवयानान्पथो अनक्तु वेत्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

४. तनूनपादृतं यते मध्वा यज्ञः समज्यते। दधत् सहस्रिणीरिषः (ऋसं० १.१८८.२)।

५. होता यक्षन्नराशंसं नृशस्तं नृःप्रणेत्रम्। गोभिर्वपावान्त्स्याद्वीरैः शक्तीवान्रथैः प्रथमयावा हिरण्यैश्चन्द्री वेत्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

६. होता यक्षद् वनिनो वन्त वार्यं बृहस्पतिर्यजति वेन उक्षभिः पुरुवारेभिरुक्षभिः जगृभ्मा दूरआदिशं श्लोकमद्रेरध त्मना। अधारयदररिन्दानि सुक्रतुः पुरू सद्मानि सुक्रतुः (ऋसं० १.१३९.१०)। अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् (ऋसं० १.१.१)।

होता याज्याका[१] पाठ करता है ।

चौथी प्रयाजयाज्याके सम्बन्धमें कहा गया है कि मन्त्रके[२] द्वारा प्रेषित होता याज्याका[३] पाठ करता है । पाँचवे प्रयाजके लिए मन्त्रके[४] द्वारा प्रैष प्राप्त करके होता याज्याका[५] पाठ करता है । छठे प्रयाजके लिए प्रैष[५क] मन्त्रके द्वारा प्रेषित होता याज्याका[५ख] पाठ करता है ।सातवें प्रयाज के लिए मन्त्रसे[६] प्रैषित होता याज्याका[७] पाठ करता है । आठवें प्रयाज के लिए मैत्रावरुणके द्वारा प्रैष मन्त्र[८] होताके प्रति कहे जाने पर होता याज्याका[९] पाठ करता है । नवें प्रयाजके लिए मैत्रावरुणके द्वारा प्रैष

---

१. आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चाऽऽयाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः। त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् (ऋसं० १०.११०.३,तैब्रा० ३.६.३)।

२. होता यक्षद्बर्हिः सुष्टरीमोर्णम्रदा अस्मिन्यज्ञे वि च प्र च प्रथतां स्वासस्थं देवेभ्यः। एमेनदद्य वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु प्रियमिन्द्रस्यास्तु वेत्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

३. प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्ने अह्नाम् । व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् (ऋसं० १०.११०.४)।

४. होता यक्षद् दुर ऋष्वाः कवष्योऽकोषधावनीरुदाताभिर्जिहतां वि पक्षोभिः श्रयन्ताम् । सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधो वियन्त्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

५. व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः। देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः (ऋसं० १०.११०.५)।
५क. होता यक्षदुषासानक्ता (तैब्रा० ३.६.२)।
५ख. आ सुष्वयन्ती यजते (ऋसं० १०.११०.६)।

६. होता यक्षद्दैव्या होतारा मन्द्रा पोतारा कवी प्रचेतसा। स्विष्टमद्यान्यः करदिषा स्वभिगूर्तस्य ऊर्जा सतवसेमं यज्ञं दिवि देवेषु धत्तां वीतामाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)

७. दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै । प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता (ऋसं० १०.११०.७)।

८. होता यक्षत्तिस्रो देवीरपसामपस्तमा अच्छिद्रमद्येदमपस्तन्वताम् । देवेभ्यो देवीर्देवमपो वियन्त्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

९. आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विला मनुष्वदिह चेतयन्ती । तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु (ऋसं० १०.११०.८)।

मन्त्र[1] कहे जानेपर होता मन्त्रका[2] पाठ करता है। दसवें प्रयाजके लिए मैत्रावरुणके द्वारा प्रैष मन्त्र[3] होताके प्रति पढ़े जाने पर होता याज्याका[4] पाठ करता है। ग्यारहवें प्रयाजके लिए इसी प्रकार मैत्रावरुणके द्वारा प्रैष मन्त्र[5] पढ़े जानेपर होता याज्याका[6] पाठ करता है।

इस अवसरपर ऐब्रा० (२.१.४) में कहा गया है यद्यपि और भी बहुतसे आप्री सूक्त हैं किन्तु ऋषियोंके आनुवंशिक क्रमानुसार ही उन मन्त्रोंके द्वारा यजन करना चाहिये, इससे यजमानका ऋषियोंसे सम्बन्ध बना रहता है ।

शब्रा० (३.८.१.४) में कहा गया है कि जब होता द्वारा दसवाँ याज्या मन्त्र कहा जा चुके तब अध्वर्युको "शासमाहर" प्रैष करना चाहिये। शाससे यहाँ उस तेज हथियार को ग्रहण किया जाना चाहिये जिसमें दोनों किनारे तीक्ष्ण हों, इसीको असि या कट्टारिका कहा गया है, हरिस्वामीने खड्गका निषेध किया है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २१५, सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २२२)।

स्वरु और असिसे पशुके ललाटका स्पर्श

शमिता (विशसित) से शास लेकर और स्वयं यूप स्वरु लेकर फिर उन दोनोंको जुहूके अग्रभागके घीसे गीला करके मन्त्रके[7] द्वारा अध्वर्यु उन स्वरु और

---

१. होता यक्षत्वष्टारमचिष्टुमपाकं रेतोधां विश्रवसं यशोधाम्। पुरुरूपमकामकर्शनं सुपोषः पोषैः स्यात्सुवीरो वीरैर्वेत्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

२. य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् (ऋसं० १०.११०.९)।

३. होता यक्षद्वनस्पतिमुपावस्रक्षद्धियो जोष्टारं शशमन्नरः। स्वदात्स्वधितिर्ऋतुथाऽद्य देवो देवेभ्यो हव्याऽवाड्वेत्वाज्यस्य होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

४. उपावसृज त्मन्या समंजन देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि। वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन (ऋसं० १०.११०.१०)।

५. होता यक्षदग्निं स्वाहाऽऽज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवां आज्यपान्स्वाहाऽग्निं हात्राज्जुषाणा अग्न आज्यस्य वियन्तु होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

६. सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः। अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः (ऋसं० १०.११०.११)।

७. घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाम् (वासं० ६.११)। घृतेनाक्तौ पशुं त्रायथाम् (तैसं० १.३.८)।

असिसे पशुके ललाटका स्पर्श करता है[१] । भारद्वाज (७.११.१३) तथा सत्याषाढ-श्रौसू० (पृष्ठसं० ४२०) ने कहा है कि दो बार स्वरुको अथवा तीन बार स्वरुको घृतसे आर्द्र किया जाय और एक बार स्वधिति (कुल्हाड़ी) को घीसे लिप्त किया जाय। भारद्वाजने दो बार स्वरुको घृतसे आर्द्र करनेके स्थानपर तीन बार लिप्त करनेका और सत्याषाढने स्वरुको दो बार घृतसे लिप्त करनेका विधान किया है। कात्यायनने इस प्रकारका विधान न करके सीधा सीधा कह दिया कि जुहूके घृतसे स्वरुको आर्द्र कर दिया जाय।

जैसा कि कात्यायनने जुहूके घृत लिप्त शास और स्वरुसे पशुके ललाटका स्पर्श करना कहा है, उसके विपरीत भारद्वाज, सत्याषाढ और आपस्तम्बने उन दोनोंके द्वारा पशुके ललाट का स्पर्श करना नहीं कहा अपितु उनसे घृत लगानेका विधान किया है। अर्थात् भारद्वाजके अनुसार तथा सत्याषाढके अनुसार पशुके शरीरपर जुहूके घृतसे लिप्त स्वरु और स्वधितिसे पशुके शरीरपर घी चुपड़ा जाता है। आपश्रौसू० (७.१४.१०) ने केवल स्वधितिके द्वारा पशुके शरीर पर घी चुपड़नेका विधान किया है। भरद्वाज तथा सत्याषाढ और आपस्तम्बने शासके स्थान पर स्वधितिका प्रयोग किया है। सम्भवत: शासको ही यहाँ स्वधिति कहा गया है। संस्कृतमें स्वधिति कुल्हाड़ीका वाचक है।

तैसं० (६.३.७) में स्वरु-स्वधिति और घृतका उपयोग बताते हुए कहा गया है कि इन तीनोंके द्वारा पशु वशमें हो जाता है, इस प्रकार उसको वशमें करके फिर उसका आलभन किया जाता है।

यूपमें यथास्थान स्वरुको छिपाना तथा घातकको असि देना

सर्वप्रथम स्वरुको यूपमें ही पुन: किसी स्थानपर छिपाया जाता है, फिर शमिताको असि देते हुए "एषा ते प्रज्ञाताश्रिरस्तु" कहा जाता है (कात्यायनश्रौसू० ६.४.११)। भारद्वाजके अनुसार "एषा तेऽश्रि: प्रज्ञातासत्" कहा जाता है।[२] देवयाज्ञिकने रशना और यूपके बीचमें स्वरु छिपानेका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २१५)। केवल सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२१) ने ही शमिताको असि दिये जानेके पश्चात्

१. काश्रौसू० (६.४.१०, शब्रा० ३.८.१.५, आपश्रौसू० ७.१४.१०-११ भारश्रौसू० ७.११.१४ सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४२१)।
२. भारश्रौसू० (७.१२.२, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४२१)।

स्वरुके अवगूहनका निर्देश किया है, जबकि अन्य भारद्वाज, कात्यायन तथा शतपथ-ब्राह्मणने शमिता को स्वरु देनेसे पहले ही स्वरुके अवगूहनका विधान किया है।

शमिताको असि (स्वधिति) देनेके पश्चात् अध्वर्यु दो स्रुचा रखता है। इस अवसरपर चात्वालके उत्तरकी ओर शामित्र(अग्नि) के लिए पंचभूसंस्कार करके उल्लेखन कृत्य किया जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २१६)।

पर्यग्निकरणके लिए प्रैष

पशुके चारों ओर अग्नि घुमानेके लिए मन्त्र पाठ करने के लिए अध्वर्यु "पर्यग्नये क्रियमाणायानुब्रूहि" अथवा "पर्यग्नयेऽनुब्रूहि" प्रैष करता जाता है[१]। यह प्रैष मैत्रावरुणको किया है,[२] अत: तीन ऋचाएँ[३] मैत्रावरुण इस अवसर पर कहता है[४]।

पर्यग्निकरण

अब आग्नीध्र आहवनीयसे उल्मुक ग्रहण करके प्रदक्षिणक्रमसे इन छह (पशु, आज्य, शामित्रदेश, यूप, चात्वाल और आहवनीय) के चारों ओर तीन बार अग्निको घुमाता है, विकल्पके रूपमें आज्य, पशु और यूप इन तीनके चारों ओर प्रदक्षिण क्रमसे अग्निको घुमानेका विधान कात्यायन (६.५.२-३) ने किया है। आपश्रौसू० (७.१२.५) तथा सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२१) ने इन पाँच (पशु, शामित्रदेश, चात्वाल, यूप और आहवनीय) के तथा विकल्पके रूपमें छठे आज्यके चारों ओर प्रदक्षिण क्रमसे तीन बार अग्नि घुमानेका विधान किया है। भारश्रौसू० (७.१२.४-५) ने इन छह (पशु, शामित्रदेश, चात्वाल, यूप, आहवनीय और आज्य) का तथा विकल्पके रूपमें केवल पशुका विधान किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकारोंने पर्यग्निकरण कृत्यका विधान तो किया किन्तु सबने अपनी दृष्टिसे स्वतन्त्र विधान किया है, केवल आपस्तम्ब और सत्याषाढने समान रूपसे विधान किया है।

---

१. सत्याश्रौसू० (पृष्ठ सं० ४२१)।

२. सरलावृत्ति,(पृष्ठसं० २२३, आश्वश्रौसू० ३.२.९)। ऐब्रा (२.१.५ पर सायण भाष्य)।

३. अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन् परिणीयते। देवो देवेषु यज्ञियः(ऋसं० ४.१५.१)। परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव। आ देवेषु प्रयो दधत् (ऋसं० ४.१५.२)। परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद् रत्नानि दाशुषे (ऋसं० ४.१५.३)।

४. ऐब्रा० (२.१.५, श्रौतकोश, पृष्ठ २००)।

केवल सत्याषाढश्रौसू० ने ही इस कृत्यके लिए "परि वाजपतिः कविः" (तैसं० ४.१.२.५) मन्त्रका उल्लेख किया जिसका उल्लेख भारद्वाज (१.२६.५) ने दर्शपूर्णमासके प्रसंगमें किया है ।

आहवनीयसे जो उल्मुक ग्रहण किया गया था, वह आहवनीयमें डालकर आग्नीध्रके द्वारा पुनः तीन बार प्रत्येकका परिगमन किया जाता है, इसके पश्चात् आग्नीध्र डाले हुए उस उल्मुकको आहवनीयसे पुनः ले लेता है (काश्रौसू० ६.५.४-६) । शब्रा० (३.८.१.७) में उल्मुकको आहवनीयमें डालनेका स्पष्ट रूपसे निषेध किया गया है और यह कहा गया है कि उसी उल्मुकसे अंगारोंको लेकर उसपर ही पशुका मांस पकाया जाना चाहिये, आहवनीयमें उल्मुक डालकर उस आहवनीयपर पशुके मांसको पकानेका निषेध किया गया ।

अब आग्नीध्र उत्तरकी ओर मुँह करके शामित्रदेशके[१] प्रति जाना प्रारम्भ करता है, इसके पीछे पीछे शमिता पशुकी रस्सीको गलेमें पिरोकर चलता है (काश्रौसू० ६.५.६) । आग्नीध्रके अतिरिक्त प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु और यजमान ये तीनों भी साथमें चलते हैं ।

परस्पर अन्वारम्भ क्रिया

ले जाते हुए पशुको प्रतिप्रस्थाता, प्रतिप्रस्थाताको अध्वर्यु, अध्वर्युको यजमान वपाश्रपणी[२] से स्पर्श करता है (काश्रौसू० ६.५.७-८) । कतिपय सूत्रोंमें अध्वर्यु और यजमानके द्वारा मन्त्रसे[३] पशुको स्पर्श करनेका विधान किया गया है ।[४] सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४२२) ने वपाश्रपणीके साथ साथ अन्य दो वस्तुओंका भी उल्लेख किया जिसके द्वारा पशुको स्पर्श किया जाता है, वे वस्तुएँ बर्हि और

---

१. शामित्रः पशुश्रपणोऽग्निरुच्यते (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २२३)। अभिपर्यग्निकृते देश उल्मुकं निदधाति स शामित्रः(आपश्रौसू० ७.१६.२-३)।

२. याभ्यां दारुमयीभ्यां वपा पच्यते ते वपाश्रपण्यौ (तैसं० १.३.८ पर सायण भाष्य)। काश्रौसू० (६.५.७ पर सरलावृत्ति)। वपाश्रप्यते यस्यां सा वपाश्रपणीत्युच्यते (श्रौपनि० १२१.१९)।

३. रेवतीर्यज्ञपतिं प्रियधा विशतोरो (तैसं० १.३.८)।

४. सत्याश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२२,आपश्रौसू० ७.१५.७)। भारश्रौसू० (७.१२.८)ने अमन्त्रक कृत्यका विधान किया है।

प्लक्षशाखा हैं। तैसं० (६.३.९) के अनुसार दोषद्वय[१] की निवृत्तिके लिए ही वपाश्रपणीसे अन्वारम्भ क्रियाकी जाती है।

कात्यायन (६.५.१०) ने इस अवसरपर उक्त मन्त्रका वाचन यजमानके द्वारा कराया है। माध्यन्दिन शाखामें यह मन्त्र[२] कुछ भिन्न है। कतिपय सूत्रकारोंने भिन्न मन्त्रका[३] उल्लेख किया है[४]।

आपश्रौसू० (७.१५.७-१०) ने जो अन्वारम्भके लिए "रेवती" तथा शमिता द्वारा पशु ले जानेके लिए "उरो अन्तरिक्ष" मन्त्रका उल्लेख किया उन दोनों मन्त्रोंको भट्टभास्करने एक मन्त्र बना दिया, जिसका एक ही कार्य के लिए विनियोग किया न कि अन्वारम्भ क्रियाके लिए (पृष्ठसं० ४४३)।

चात्वाल और उत्करमें से निष्क्रमण

यह पहले कहा ही जा चुका है कि अध्वर्यु प्रभृति शामित्र देशके प्रति गमन करते हैं और इसी बीच अन्वारम्भ क्रिया करते हैं। इस अवसरपर सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२२) ने निम्नांकित "उरो अन्तरिक्ष" (तैसं० १.३.८) मन्त्र के द्वारा आग्नीध्र और अध्वर्यु तथा यजमानके द्वारा चात्वाल और उत्करके मध्यसे या उत्तरकी ओरसे निष्क्रमण करनेका विधान किया है। काश्रौसू० (६.५.११) का कहना है कि पशुके पीछे पीछे चलते हुए अध्वर्युको शामित्रका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये अपितु वहीं शामित्रके समीप बैठ जाना चाहिये।

मैत्रावरुणके प्रति प्रैष

आस्तृत वेदीमें से दो तृण निकालकर अध्वर्यु मैत्रावरुणको "उपप्रैष्य होतर्हव्या देवेभ्यः" प्रैष करता है।

---

१. मृत्यवे वा एष नीयते यत् पशुस्तं यदन्वारभेत प्रमायुको यजमानः स्यात्। अथो खल्वाहुः सुवर्गाय वा एष लोकाय नीयते यत् पशुरिति यन्नान्वारभेत सुवर्गाल्लोकाद्यजमानो हीयेत (तैसं० ६.३.८)।

२. रेवति यजमाने प्रियं धा आ विश उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव (वासं० ६.११)।

३. नाना प्राणो यजमानस्य पशुना (तैसं० ३.१.४.३)।

४. सत्याश्रौसू० (पृष्ठ सं० ४२२, भारश्रौसू० ७.१२.१२)।

यहाँ मैत्रावरुण उपप्रैषका प्रतिपादन किया गया है[१] । उपप्रैष इसलिए है क्योंकि होताके समीपमें रहने वाले मैत्रावरुणके प्रति प्रैष है ।

प्रैष हो चुकनेपर मैत्रावरण ऋचाका[२] पाठ करता है[३] ।

शामित्र देशमें अग्निका स्थापन

अब अध्वर्यु उस उल्मुकको शामित्रमें रखता है, जिसे आग्नीध्र ग्रहण किये रहता है[४] । सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४२२) के अनुसार आग्नीध्रको शामित्र देशमें उल्मुक रखकर उत्तरकी ओरसे शामित्रका अतिक्रमण कर जाना चाहिये । देवयाज्ञिकने शाखाभेदसे अग्निको मथकर उसके स्थापनका विधान किया है (पृष्ठ सं० २१६) । भारद्वाज (६.१२.१५) ने विकल्पके रूपमें दोनों मत दिये हैं—अग्नि मथी भी जा सकती है अथवा गार्हपत्यसे अग्नि लाकर उसका स्थापन शामित्र अग्निमें किया जा सकता है । कात्यायनका कहना है कि यदि प्रकृत विधानका परित्याग करके मथित अग्निका प्रयोग किया जाय तो इस पक्षमें उल्मुकाहरण कृत्य करना आवश्यक नहीं (काश्रौसू० ६.५.१३) है ।

शामित्रके पीछे उत्करमें एक तृणका प्रक्षेप

अब मन्त्रके[५] साथ शामित्रके पीछे उत्तरमें ग्रहण किये गए दो तृणोंमें एक तृण पूर्वकी ओर सिरा करके फेंक दिया जाता है[६] ।

पशुविशसन

उस फेंके गए तृण पर पशुका पश्चिमकी ओर सिर किया जाता है तथा उत्तर की ओर पैर किये जाते हैं । पशुके मुखको दृढतासे पकड़कर उसके श्वासको रोककर आलभन किया जाता है अथवा गलेमें फन्दा डालकर या गला घोटकर

---

१. ऐब्रा० (२.१.५ पर सायणभाष्य) ।

२. अजैदग्निः असनद्वाजं नि देवो देवेभ्यो हव्यवाट् प्रांजोभिर्हिन्वानः धेनाभिः कल्पमानः यज्ञस्यायुः प्रतिरन् उपप्रैष्य होतः हव्या देवेभ्यः (तैब्रा० ३.६.५.१) ।

३. ऐब्रा० (२.१.५) ।

४. काश्रौसू० (६.५.१२) ।

५. वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः (वासं० ६.११) ।

६. काश्रौसू० (६.५.१४, ऐब्रा० २.१.६, शब्रा० ३.८.१.१४) ।

उसका संज्ञपन किया जाता है, किसी भी उपायसे पशुके रोनेके शब्दको रोका जाता है। इसके लिए दो ही उपाय काममें लाये जाते हैं, या तो दृढतापूर्वक उसके मुखको पकड़ लिया जाता है अथवा गला घोट दिया जाता है। सत्याषाढने उस स्थितिमें प्रायश्चित्तके रूपमें मन्त्रका[१] विधानकरके पशुको अभिमन्त्रित करनेको कहा है, जब पशु रोता हो, अर्थात् यदि पशु रोवे तो अध्वर्युको उक्त मन्त्रके द्वारा पशुका अभिमन्त्रण करना चाहिए।[२]

इस अवसरपर अध्वर्यु-यजमान-प्रतिप्रस्थाता-आग्नीध्र आहवनीयके समीप आ जाते हैं।[३] ऐसा इसलिए किया जाता है कि जिससे पशु न दीख पड़े। शब्रा० (३.८.१.१५) में पशुको दो रीतिसे आलभन करने का निषेध किया गया है-अर्थात् न तो पशुके सींग को ग्रहण करके आलभन किया जाए और न ही कानके पीछे अथवा आगेके भागको पकड़कर आलभन किया जाए।

अब शमिताको "संज्ञपयान्वगन्निति" कहा जाता है (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २१६)।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें पशुके संज्ञपनसे सम्बन्धित अनेक बातें कही गई हैं। सर्वप्रथम होता द्वारा अध्रिगुको[४] प्रैष "दैव्याः शमितारं आरभध्वमुत मनुष्या। उपनयत मेध्या दुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधम्" करने का विधान किया गया है। इसके पश्चात् कहा गया है कि यदि एक देवताके लिए पशु हो तो "मेधपतये" दो देवताओंके लिए पशु हो तो "मेधपतिभ्याम्" और यदि बहुतसे देवोंके लिए पशु हो तो मेधपतिभ्यः कहना चाहिए। शामित्र देशके प्रति पशु ले जानेके सम्बन्धमें कहा गया है कि जब पशुको शामित्र देश ले जाया जा रहा हो तो पहले अग्नि ले जाई जानी चाहिए। शमिताको कुश बिछानेके लिए कहा जाता है। फिर संज्ञपनीय पशुकी माता, उसके पिता, भ्राता और उसके समूहके मित्रों से अनुज्ञा ली जाती है। अनुज्ञा लेकर ही आलम्भन करनेका विधान किया गया है। पशुके पैरोंको उत्तरकी ओर करके मन्त्रोंके द्वारा प्रार्थना की जाती है कि पशु देवताओंके लोकमें जाय, पशुके

---

१. इन्द्रस्य भागः सुविते दधातनेमं यज्ञं यजमानं च सूरौ। यो नो द्वेष्ट्यनु तं रभस्वानागसो यजमानस्य वीरा (आपश्रौसू.७७२.२)

२. सत्याढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२३)।

३. काश्रौसू० (६.५.१९)।

४. अध्रिगुः कश्चिद्देवः पशुविशसनस्य कर्त्ता (ऐब्रा० २.१.६ पर सायणभाष्य)।

चक्षु सूर्य देवताको प्राप्त हों, प्राण वायुदेवताको, जीव अन्तरिक्षके लिए, कान दिशाओंके लिए और शरीर पृथिवीके लिए हो । सम्पूर्ण त्वचाको (विच्छेदरहित) चारों ओर से उचाड़ ली जाती है, नाभि काटनेसे पूर्व ही वपा (अतड़ियाँ) निकाल ली जाती है, साँसको भीतर ही रोक लिया जाता है । पशुके संज्ञपन हो जानेपर उसके वक्षको श्येन(बाज) पक्षीकी आकृतिका, दोनों भुजाओं को प्रशस (कुल्हाड़ी)की आकृतिका, उसके प्रकोष्ठों (पीछेके दोनों पैरों) को भालेकी नोकके आकार का, कन्धोंको कच्छपोंकी आकृतिका, श्रोणी (कूल्हों) को छिद्ररहित, जांघोंको (कवच) ढालके आकारका, दोनों घुटनोंको स्रेक वृक्ष (कनेर या करवीर) के पत्तोंके आकारका कर दिया जाता है, इसके पश्चात् पशुकी छब्बीस पसलियोंको अनुक्रमसे निकाल लिया जाता है । इस सम्बन्धमें कहा गया है कि पशुके अंग इस प्रकार निकाले जाने चाहिए कि वे परिपूर्ण रहें । इसके पश्चात् होता द्वारा मन्त्र पढ़ने का विधान किया गया है, जिसके सम्बन्धमें दो पक्ष रक्खे गए हैं—कुछ याज्ञिकोंका कहना है कि यह मन्त्र नहीं पढ़ा जाना चाहिये क्योंकि इसमें राक्षस नाम है, किन्तु सिद्धान्त पक्षके रूपमें यह समाधान किया गया है कि यद्यपि उसमें "राक्षस" नाम है तथापि उस मन्त्रभागको पढ़ना चाहिए । अभिज्ञ जनोंका भी मत दिया गया है कि द्वेषपरिहारके लिए इस मन्त्रका उपांशु ही जप किया जाना चाहिए । इसके पश्चात् कहा गया है कि पशुकी अंतड़ियोंको उल्लू पक्षी समझते हुए (उसके आकारका) नहीं काटना चाहिये । अर्थात् वनिष्ठु (वपाके पासके मांस खंड) को जो उल्लूके आकारका है, उसी तरह निकाल लेना चाहिए जैसा वह है, उसे बीचसे नहीं काटना चाहिये । इसके पश्चात् तीन बार 'अधिगो शमीध्वम्' और तीन बार 'अपाप'[१] कहलानेका विधान किया गया है । इसके पश्चात् होता पूर्णायु प्राप्त करनेके लिए तथा यजमानको भी पूर्णायु दिलानेके लिए मन्त्रका पाठ करता है । पाठ करनेके पश्चात् होता दक्षिणावृत हो जाता है[२] ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थोंमें पशुसंज्ञपनसे सम्बन्धित अनेक नियम प्राप्त होते हैं, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं ।

---

१. यश्च ध्यानादिना निग्रभीता निग्रहकार्त्ता सोऽयमपापः (ऐब्रा० पर सायणभाष्य पृष्ठसं० २३४)।

२. ऐब्रा० (२.१.५-७, तैब्रा० ३.६.६)।

संज्ञपनसे पूर्व और पश्चात् आहुति

सर्वप्रथम अध्वर्यु "शेतां न मुहूर्त्तम्" कहता है, तब वसाहोमहवनीमें स्थालीसे एक बारमें आज्य ग्रहण करके समिधाके बिना ही "देवेभ्य स्वाहा" (वासं० ६.११) कहकर आहुति दे दी जाती है, यह आहुति उस समय दी जाती है, जब शमिता 'संज्ञप्तः पशुः' कहता है।

इसके पूर्व उस समय आहुति दी जाती है, जब अध्वर्यु शमिताको 'संज्ञपयान्वगन्निति' कहता है, इस आहुतिके लिए भी वसाहोमहवनीमें एक बारमें आज्य ग्रहण करके समिधापूर्वक आहवनीयमें आहुति दी जाती है। इस समय 'स्वाहा देवेभ्यः' (वासं० ६.११) मन्त्र पढ़ा जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २१७, काश्रौसू० ६.५.२१-२३)।

शब्रा० (३.८.१.१६) का कहना है कि परिपशव्य[१] नामक दोनों आहुतियोंकी इच्छा हो तो दे और इच्छा न हो तो न दे।

इन परिपशव्य आहुतियोंके साथ 'पशुसंज्ञपन' कृत्य समाप्त हो जाता है। प्रस्तुत परिच्छेदके अन्तर्गत पशुके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि सोमयागमें चौथे दिनके अन्तर्गत यह सबसे महत्वपूर्ण कृत्य है, विशेषकर पशुसंज्ञपन विषयपर सदासे यह वाद विवाद भी चला आ रहा है कि पशुहिंसा की जानी चाहिए अथवा पशुहिंसा नहीं की जानी चाहिये।

हम यहाँ बहुत विस्तारमें न जाकर वैदिक वाङ्मयके आधारपर पशुसे सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण विषयोंपर गम्भीर विचार करते हैं।

पश्वालम्भन-विज्ञान

गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो सारा वैदिक वाङ्मय वैदिक पशुवादसे ओतप्रोत है। समस्त वैदिक विश्वदर्शनका मूल शिलान्यास छान्दस पशुओंकी कल्पना से किया गया है। छन्द प्रायः चार पाद वाला होता है, अतः पशु कहलाता है, जो छन्द जितने पादों का है, उसे उतने पादका पशु कहा गया है। जैसे "चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादाः" मन्त्रका त्रिपादी वृषभ, गायत्रीके तीन पादों का पशु है।

---

१. द्वे आहुती परित आज्यं तयोः पशोर्हितं यतः, अतः 'परिपशव्ये' इति नामधेये (शब्रा० ३.८.१.१६ पर सायणका भाष्य)।

छन्दोंको देवताओंके यज्ञका ढोनेवाला पशु बतलाया गया है[1] क्योंकि ये प्राय: चतुष्पाद और कभी कभी त्रिपाद, द्विपाद या एकपाद होते हैं, इसी प्रकार पशु भी होते हैं। वेदोंमें जिस हारियोजन इन्द्रका वर्णन आता है वह भी छान्दस इन्द्र है।

छन्दोंपर वैदिक दर्शनका ढाँचा आधारित है, जिसके द्वारा सब यज्ञ विधान प्रचालित होते हैं। छन्दोंमें सात छन्द मुख्य और अति प्राचीन माने गए हैं। शब्रा० (१०.३.१) में छन्दोमय पुरुषका वर्णन किया गया है। अन्य छन्दोंके विवेचनमें वायव्यपशुरूपका वर्णन ब्राह्मणने अन्यत्र (८.२.३) किया है। इसके अतिरिक्त शतपथब्रा० ने छान्दस ग्राम्य पशुओंका वर्णन किया है। ऋग्वेदके एक मन्त्रका[2] भाष्य करते हुए शब्रा० (३.६.५.१६) ने वायव्य, आरण्य, ग्राम्यपशुओं का उल्लेख किया जो छान्दस पशु हैं, सात सात पशु हैं, वायव्य मरुतोंके सात सात सप्तकमें ४९ पशु हैं। सात आरण्य या आग्नेय पशु हैं, सात ग्राम्य या सप्तकीय पशु हैं।

छान्दस पशुओंपर विचार करनेके पश्चात् देवपशुओंकी चर्चा की जाती है। यदि गम्भीर रूपसे समस्त वैदिक वाङ्मयका परिदर्शन किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि देवताओंके जिस समाजकी अलौकिकता वर्णित की गई है, वह पशुवादके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वैदिकोंने प्रत्येक देवताका जो वर्णन सामाजिक प्राणी या व्यक्तिके रूपमें किया है, वहाँ उनकी सामाजिकता यथार्थवादिता नहीं है। हम देखते हैं कि तत्वरूप देवताओंका व्यवहार मानुषिक समाजसे बाहर हुआ अथवा पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र रूपमें वर्णित करने पर जब काम न चला तो तत्वरूप देवताओंका वर्णन पशु समाजानुकूल मान्य बनानेके लिए देवताओं का पशु रूपमें वर्णन किया गया। उदाहरणके लिए वृहदारण्यकोपनिषद्के उस प्रसंगको[3] लेते हैं, जिसमें कहा गया कि जब पुरुष अकेला था तो उसे भय लगा, उसने साथीकी इच्छा की, शरीरके दो भाग किये, पति-पत्नी बने, पर उसने सोचा मेरे ही शरीरसे उत्पन्न स्त्री मेरी पत्नी कैसे बन सकती है। अत: पुरुष वृषभ बना और वह स्त्री भाग गौ बना। पशु समाजमें कोई भी किसी का पति, किसी की पत्नी हो सकती है, चाहे वह बहिन हो या माँ हो। इस दृष्टिकोणको अपनाकर सामाजिकता

---

१. शब्रा० (४.३.५.१, ऐब्रा० ३.५.४७)।

२. ऋसं० (१०.९०.८, अथर्व० १९.६.१४, वासं० ३१.६, तैआ. ३.१२.४)।

३. सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा (पत्नी) सम्भवति। हन्त तिरोऽसानीति सा गोरभवद्वृषभ इतर:(वृउ० १.४.४)।

भी निभ गई और तत्वरूप देवताओंका पशु समान स्वाभाविक विकास सम्बन्धी प्रणाली भी पूर्णत: सफल हो गई । इस प्रकार वैदिकोंने देवोंको पशु रूपमें प्रतिष्ठित करके मुख्यत: उनकी क्रियाओंकी विशेषताको बतलाया है, कथाएँ तो अक्षर-अक्षर कल्पित हैं, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए ।

प्रत्येक देवताको पशुसे सम्बन्धित किया गया है । ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवा, भग, मरुत, पर्जन्य विष्णु, रुद्र, नदी, सिन्धु, मित्रावरुण, वास्तोष्पति, मुद्गल, गौ वाग्धेनु आदिको वृषभ या धेनु नामक पशुरूप में वर्णित किया गया है । ब्रह्मणस्पति गणपति हैं, उनका वाहन मूषक है । आग्नेय पशु मेष और महिष है । सारूवत पशु असुर है, पौष्ण पशु आदित्य है जिन्हें गाव या गौ कहा गया है । सौम्य पशु वृत्र, अहि आदि हैं । वैश्वदेव पशु पितृरूप पशु है । मारुत और इन्द्र पशु रुद्रादि गण और कूर्म नाग आदि हैं । सावित्र पशु गायत्र पुरुष पशु है । विष्णुका पशु शेष वृत्र गौ प्रश्नि हैं । रुद्रका वृषभ और स्वयं पशुपति है । सरस्वती का हंस, लक्ष्मीका मयूर, पूषाके पंचपशु-पुरुष पशु, अश्व गो, अजा, अवि हैं ।

पशुओंकी दार्शनिक व्याख्या उनके नामको सार्थक करती है । उदाहरणके लिए रासभ वह तत्व है जो रसमय है । अजा वह है जो लिप्त या व्याप्त है, अवि (भेड) वह है जो अवन या रक्षण करती है, गौ वह है जो इस भौतिकतामें परिणत होती रहती है, भौतिक ब्रह्माण्ड गमनशील या परिवर्तनशील है, इसलिए गौ कहलाता है, यह अनन्त रूपिणी है । इसलिए ही इसको पृश्नि: कहा जाता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि पशु दार्शनिकताकी व्याख्याका भी आधार सिद्ध होता है ।

वैदिक वाङ्मयके सब कथानक पशुके अतिरिक्त और कुछ नहीं । ब्राह्मण[१] तथा संहिताके[२] कुछ साक्ष्य निश्चित रूपसे यह सिद्ध कर देते हैं कि वेदोंके लौकिक आख्यान केवल वैदिक दर्शनके खोल हैं, खाल हैं, पशु हैं, कल्पनाके आधारके लिए पशु कथानक हैं । इतने प्रमाणों के द्वारा यह कहने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिये कि समस्त वैदिक वाङ्मय पशुवादसे ओतप्रोत है ।

---

१. शब्रा० (११.१.६.७,८,९,१०,११,१२)।

२. ऋसं० (१०.२७.३,१०.५४.२)।

अब हम धीरे धीरे इस विषयपर आते हैं कि यज्ञमें पशु-हिंसा कितनी प्रामाणिक और वैज्ञानिक है। वस्तुत: यह विषय जटिल तो है किन्तु यदि वैदिक साहित्यका निरपेक्ष भावसे श्रद्धापूर्वक, पारम्परिक रीतिसे अधिकारी होकर स्वाध्याय करें तो यह विषय इतना जटिल प्रतीत नहीं होता। बड़ेसे बड़ा विद्वान् भी विधर्मियोंके सुन्दर सुन्दर तर्कोंके आगे भ्रमित होते हुए देखे गए हैं और उनकी निष्ठा डगमगाती हुई दृष्टिगोचर हुई है।

यद्यपि पशुयाग करनेका विधान त्रेतायुगमें ही था, त्रेतायुगके बाद क्रमश: पशुयाग कम होते चले गए। कलियुगमें तो ऋषियोंने पशु-यागोंका निषेध ही कर दिया, उसके पीछे भी एक कारण है, कलियुग में स्वभावत: मनुष्योंकी आत्मा निर्बल होती है, अत: ऋषियोंने जान लिया था कि यज्ञोंसे श्रद्धा उठ जायेगी, विधियोंका लोप होने लगेगा, लोग स्वादवश पशुओंकी इच्छानुसार हिंसा करने लगेंगे अत: इस अत्याचारकी निवृत्तिके लिए उन्होंने कलियुगमें ऐसे यज्ञोंका निषेध किया जो हिंसासे युक्त होते थे।

'जनमेजयात्-जनमेजयान्तम्' इस पुराणसिद्धान्तके अनुसार विशेषत: त्रेता-युगपर्यन्त एवं साधारणत: द्वापर युगान्तके जनमेजयके सर्पयज्ञ तक ही यज्ञोंकी प्रधानता रही, उसके बाद यज्ञकाण्डसे क्रमश: श्रद्धा उठती गई, यहाँ तक कि आगे जाकर पञ्चपश्वात्मक चितियज्ञमें केवल प्राजापत्य पशुका आलम्भन रह गया। ब्रह्मासे लेकर श्यापर्ण पर्यन्त पाँचो पशुओं (पुरुष, अश्व, गो, अवि और अज) का आलम्भन होता रहा, परन्तु याज्ञवल्क्यके समयमें केवल प्राजापत्याज, वायव्याज इन अज पशुओंका आलम्भन रह गया (शब्रा० १.४.३८.६)। आज तो यज्ञविद्या सर्वथा विलुप्त हो गई है, मनमानी पद्धतियाँ बन गई है, यथेच्छ अधिकार मिल गए है, और मनुष्य इन्द्रियलोलुप होते जा रहे हैं, इस अवस्थामें इस प्रकार यदि पशुवधकी आज्ञा दे दी गई होती थी अनर्थ हो जाता। अत: उपासना प्रधान युगमें स्मार्त यज्ञोंकी प्रधानता हुई।

यह सब कुछ होनेपर भी यदि कोई धर्म्मपरायण वर्तमानमें वितानयज्ञ करना चाहे तो उसे ध्यान रखना होगा कि बिना पशुकी आहुतिके उसका यज्ञ सर्वथा निरर्थक है, उसे पशुवध करना ही पड़ेगा, क्योंकि शास्त्राज्ञा है।

आलम्भनके प्रसंगमें दार्शनिक आधार यह है कि संवत्सर प्रजापतिका अग्निभाग पशुनिर्माणमें खर्च होता है क्योंकि उसके अग्निभागको लेकर ही पशु

उत्पन्न होते हैं, इससे प्रजापतिमें कमी हो जाती है, इसी कमी को पूरी करनेके लिए आलम्भन किया जाता है। आलम्भनसे पशुओंके शरीरका अग्निभाग उत्क्रान्त होकर प्रजापतिके संवत्सराग्निमें चित होकर उसके विस्रस्त भागको भर देता है और पशु उसके अग्निभागको प्राप्त करके प्राण धारण करते हैं। इस प्रकार आदान-विसर्गात्मक भैषज यज्ञ सदासे हो रहा है।

यदि पार्थिव पशुओंका आलम्भन न होता, और नित्य नये नये पशु उत्पन्न ही होते रहते तो कुछ समयमें ही संवत्सर प्रजापति अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता, किन्तु ऐसा होता नहीं, उसे आलम्भन करना ही पड़ता है, आलम्भनके अनन्तर जो अग्निभाग उसमें जाता है, उसीसे वह एक प्रकारसे जीवित रहता है, इसी आधारपर "इत: प्रदानाद्धेते (उपजीवन्ति)" निगम वचन प्रतिष्ठित है।

यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि बिना पशुके यज्ञ कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। पशुहिंसा यज्ञार्थ अनिवार्य है। पशुकी उत्पत्ति एकमात्र यज्ञके लिए ही हुई है। यज्ञ आत्माका स्वरूप है। इसके लिए यदि पशुका आलम्भन किया जाता है तो पशु 'स्वादिष्ट' (आत्मोपयोगी) है। यदि मनस्तुष्टिके लिए पशुका मारण किया जाता है, तो यह 'मदिष्ट' है। दैवी सम्पदासे युक्त मनुष्य केवल सिद्धिके लिए ही पशुका आलम्भन करते हैं, उनके लिए पशु इन्द्रिय तृप्तिका साधन नहीं अपितु आत्मकल्याणका कारण है। इन्हीं दोनों उत्तमाधम वृत्तियोंका उल्लेख महर्षि ताण्ड्यने" स्वादिष्टा वै देवेषु पशव आसन् मदिष्टा असुरेषु" (तांड्यब्रा० ८.४.२) वचनके द्वारा किया है।

यज्ञस्वरूप सिद्धिके लिए अग्निमें सोमका आहुत होना नितान्त आवश्यक है। वह सोम हवि, पशु,राजा, वाज, ग्रह आदि भेदसे अनेक भागोंमें विभक्त है। आहुति द्रव्य स्वरूप सोमकी विजातीयतासे एक ही अग्नियज्ञ अनेक प्रकारका हो जाता है।

व्रीहि यवादिमें भी सोम स्थित है, जब इस सोमसे यज्ञ निष्पन्न किया जाता है तो वही यज्ञ हविर्यज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य आदि इष्टियोंमें इसी सोमकी आहुति दी जाती है। पशुबन्धमें पशुवपागत सोमकी आहुति दी जाती है, बिना पशुवपागत सोम की आहुतिके पशुबन्ध निष्पन्न नहीं हो सकता है और पशुकी वपा बिना आलम्भनके प्राप्त नहीं हो सकती अत: पशुवपागत सोमकी आहुतिके लिए आलम्भनका आश्रय लेना ही पड़ता है। वस्तुतस्तु पशुकी आव-

श्यकता नहीं है, वपागत सोमकी आवश्यकता होती है । राजासोमसे निष्पन्न होने वाला यज्ञ राजसूय और इसी प्रकार वाजसोमसे निष्पन्न होने वाला यज्ञ वाजपेय कहलाता है । इसी प्रकार यह जान लेना चाहिये कि सोमके भेदसे यज्ञभेद सिद्ध होता है ।

पशुबन्धमें पशुवपागत सोमकी आहुति देनेके लिए ही पशुका आलम्भन करना पड़ता है । प्रश्न हो सकता है कि पशुवपागत सोमको ही क्यों ग्रहण किया जाय, इसके पीछे भी रहस्य है, जिसको समझना चाहिये ।

वस्तुतः वपामें प्राण देवता प्रतिष्ठित रहता है । यज्ञ द्वारा हम अपने मानुषात्मा को आधिदैविक प्राण देवताके साथ (ग्रन्थिबन्ध सम्बन्ध द्वारा) जोड़ देते हैं । हमारा मानुषात्मा प्राण प्रधान है । उधर दिव्य देवप्राण सौर प्रधान है । इस विजातीय भावके कारण दिव्यप्राणका मानुषात्मागत पार्थिव प्राणके साथ योग नहीं हो सकता । इस विप्रतिपत्तिको दूर करनेके लिए ही पशुवपाको ग्रहण करना पड़ता है । साक्षात्कृत-धर्मा ऋषियोंने अनन्त कालकी परीक्षाके अनन्तर यह निश्चय किया कि तत्तद् प्राणदेवता तत्तद् पशुवपामें हैं। अतः तत्तद्यज्ञ विषयोंमें उन्होंने तत्तत् पशुओंका विधान किया। दिव्य प्राण सौर प्राण है, यह असुरका विरोधी है, अतः वपा निकालनेके वे ही उपाय ऋषियोंने निर्णीत किये जिनसे कि असुरप्राणका वपापर आक्रमण न हो। लौह धातु आसुर धातु है, अतएव शस्त्रसे आलम्भन न करके मुष्टिके आघातसे आलम्भनका विधान किया । आलम्भन करते समय जो शब्द यदि पशु करता भी है उसे भी दुःखमय और आसुर माना गया है, अतः उसका भी बलात् निरोध किया जाता है। पशुबन्धके अन्तर्गत पशुसंज्ञपनके कर्मकाण्डमें उक्त विधानोंका विस्तारसे विवेचन किया ही जा चुका है । उन सबका यही रहस्य है ।

हृदय स्थान में एक सफेद झिल्ली के आकारका सर्वशरीर प्रतिष्ठा रूप जो सोममय स्निग्ध धातु है, वही 'वपा' नामसे प्रसिद्ध है । यही 'मेद' कहलाता है । इसीके द्वारा यज्ञकर्ता यजमान अपने प्राणको देवताके साथ मिलानेमें समर्थ होता है । मेघ-संगमने इस व्युत्पत्तिके अनुसार इसे मेघ कहा है । मेघ एक प्रकार की चर्बी है तो तत्तद् पशुका प्राणायतन है । इस अभिप्राय की अनेक श्रुतियाँ[१] ब्राह्मणग्रन्थोंमें प्राप्त होती है ।

१. मेदो वै मेघः (शब्रा० ३.८.४.६)। पशुर्वै मेघः (ऐब्रा० २.६)। मेघो वा आज्यम् (तैब्रा० ३.९.१२.१)। पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मांदालब्धान्मेघ उदाक्रामत्सोऽश्वं

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि सभी यज्ञोंमें पशुमेधका प्रयोग नहीं किया जाता। मेघ व्यवस्था यज्ञस्वरूपपर निर्भर है, जैसा यज्ञ होगा तदनुरूप मेघ ही अपेक्षित होगा। उदाहरणके लिए चयनयज्ञ द्यावापृथिव्य है अत: यहाँ द्यावापृथिव्य पाँचों पशु अपेक्षित हैं। प्रकृत दर्शपूर्णमासका केवल भूमण्डलसे सम्बन्ध है अत: यहाँ पार्थिव मेघ रूप व्रीहि यवसे ही काम चल जाता है।

सोमयज्ञ संवत्सर यज्ञ है, उसकी प्रतिकृति अजपशु है। सोमयज्ञकी प्रतिकृति अज ही क्यों है, इस पर भी किंचित् विचार किया जाता है। पशुओंमें अज पाँचवाँ पशु है। मुख्यरूपसे पार्थिव पशु है, इसलिए इसको अग्निप्रधान माना जाता है। पार्थिवप्रजापति पृथिवीके केन्द्रमें प्रतिष्ठित है। 'प्रजापतिश्चरतिगर्भे' श्रुति प्रसिद्ध ही है। जो स्थान प्रवर्ग्याग्निसे निष्पन्न होने वाली औषधि व वनस्पति का है, वही स्थान इस अज पशुका है। औषधियाँ व वनस्पतियाँ हमारे अन्नमें उपयुक्त होती हुई भी क्षीण नहीं होती क्योंकि यह प्राजापत्य अन्न है। यही अवस्था इस अज पशुकी है, वह भी क्षीण नहीं होता। यह निरन्तर अद्यमान होता हुआ भी क्षीण नहीं होता, इसीलिए इसको अज कहते हैं। संवत्सर प्रजापति ईश्वरप्रजापति है। सारे विश्वका उपादान बनता हुआ भी यह मूलरूपसे उच्छिन्न नहीं होता। ग्रीष्म-वर्षा-शरद् भेदसे एक संवत्सरमें संवत्सर प्रजापति तीन बार प्रसव कर्म करता है, इधर यह अज पशु भी एक वर्ष में तीन बार प्रसवका अधिष्ठाता बनता है। प्रजापति मनप्राणवाङ्मय है। प्राणभागसे जैसे गौकी उत्पत्ति कही गई है उसी प्रकार वाक् भागसे अज पशु उत्पन्न होता है। इस प्रकार समझा जा सकता है कि संवत्सरसे अज उत्पन्न होता है और सोमयज्ञ संवत्सर यज्ञ है इसलिए सोमयज्ञमें पशु अजका वपा ही ग्रहण किया जाता है।

सभी यज्ञमें पशु अपेक्षित हो यह बात नहीं है किन्तु सोम तत्वकी अपेक्षा सभी यज्ञोंमें है। एक ही सोमकी सब यज्ञोंमें आहुति दी जाय, ऐसा भी नहीं है, एक ही सोम अवस्थान्तरसे अनेक भागोंमें विभक्त है। कहीं हविसोम पर्याप्त है, कहीं वाजसोम पर्याप्त है, कहीं ग्रहसोम (वल्ली सोम) पर्याप्त है, कहीं पशुवपासे काम लिया जाता है। प्रकृतिके नित्य यज्ञ भिन्न भिन्न सोमोंसे निष्पन्न होते हैं, उन्हींके आधारपर वैध यज्ञोंका आविष्कार हुआ। आप्तकाम ऋषियोंने जिस प्राकृतिक

प्राविशत तेऽश्व मालभन्त_ते गामालभन्त_स (मेघो देवैः) अनुगतो व्रीहिरभवत् (ऐब्रा० २८)।

यज्ञमें जिस आहुति द्रव्यकी व्यवस्था देखी, उसीका विधान किया। किसी यज्ञमें हविका विधान देखकर सर्वत्र हविका विधान मान लेना, एवं कहीं पशु विधान देखकर सर्वत्र पशुवपा की कल्पना कर लेना नितान्त असंगत है। ऋषियोंने उन उन यज्ञोंमें जो जो विधान किये, वे ही हमारे लिए मान्य हैं। इसीमें हमारा कल्याण है।

इस प्रकार दार्शनिक युक्तियाँ पशु-आलभनके औचित्यको प्रकट करती हैं।

यज्ञमें पशुको मारा जाता है, इससे हिंसा दोष भी होता है, जिसके परिहारके लिए दक्षिणाका विधान किया गया है। केवल हिंसाकी विभीषिकासे यज्ञ जैसा श्रेष्ठतम कर्मका परित्याग करना बुद्धिमानीका काम नहीं है।

पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा ये सब अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, इनके सम्बन्धमें शास्त्र जैसा निर्णय करे वही मान्य होना चाहिए। जो शास्त्र हमें "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" यह आदेश करता है, वही अपवाद स्वरूप विशेष स्थलके लिए "अग्निषोमीयं पशुमालभेत्" यह आज्ञा भी देता है। दोनोंके लिए शब्द प्रमाण समान है। इसीलिए भगवान् व्यासने हिंसा-अहिंसा भावकी मीमांसा करते हुए "अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्" (३.१.६.२५) सूत्र लिखा। इसपर शांकरभाष्य भी देखना चाहिए।

अतीन्द्रियार्थद्रष्टा आप्तपुरुषोंने इस सम्बन्धमें जो व्यवस्था दी, वही हमारे लिए मान्य होनी चाहिए। मनुष्य अनृत संहित है, परन्तु देवतुल्य आप्तपुरुष 'सत्य संहिता वै देवा:' के अनुसार सत्यसंहित है। किस कर्ममें हिंसा है, किस कर्ममें अहिंसा है, कौन धर्म है, कौन अधर्म है, इन सब अतीन्द्रिय भावोंका निर्णय हम साधारण मनुष्य नहीं कर सकते। अपने बुद्धिबलके आधारपर हर एक विषयका निर्णय कर बैठना अनुचित है। यदि कतिपय यज्ञोंमें पशुहिंसाका विधान उन आप्त ऋषियोंने किया है, तो वह कर्म हमें निर्दुष्ट मानना चाहिये। पश्वालम्भकी आज्ञा देने वाले शास्त्रका अपलाप कैसे किया जा सकता है।

वस्तुत: इन अतीन्द्रिय विषयोंका ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उन आध्यात्मिक शास्त्रोंमें अद्‌भुत अनन्य निष्ठा न हो। जिस व्यक्तिमें निष्ठा नहीं होती वह शास्त्रकी अवलेहना करके अपने बुद्धिबलसे कुछ भी व्यवस्था नहीं कर सकता। बिना शब्द प्रमाणके लौकिक कार्यका निर्वाह करना कठिन हो जाता है फिर पारलौकिक विषयों के लिए आप्त प्रमाणके अतिरिक्त अन्य कौनसा मार्ग

निकाला जा सकता है। अन्ततोगत्वा शास्त्र ही की शरण लेना पड़ती है। समस्त अतीन्द्रिय विषयोंके सम्बन्धमें शास्त्र ही एक मात्र शरण है तथा उस कुमारिल भट्ट जैसी शास्त्र निष्ठा होनी आवश्यक है, जो "वेदा: प्रमाणं स्यु:" कहकर गिरिशिखरसे कूद पड़ा और फिर भी उसका कुछ नहीं बिगड़ा।

विद्वत् जगत् में यज्ञीय पशुहिंसाके नामसे जो नाक-भौं सिकोड़ा जाता है, उससे घृणा की जाती है और सुन्दर सुन्दर तर्कोंके द्वारा उसके विरुद्ध बोला जाता है, इन सबको देखकर प्रस्तुत 'पशु संज्ञपन' के अन्तर्गत दार्शनिक युक्तियोंसे यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई कि पशुका आलम्भन करना नितान्त आवश्यक है, साथ ही परम वैज्ञानिक भी। अन्य भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं किन्तु दार्शनिक युक्तियोंके सामने उनका इतना महत्व नहीं है।

अग्निषोमीय पशुवपायाग

इस कृत्यके अन्तर्गत मुख्य रूपसे पशुके अंगोंका सिंचन, वपोत्खेदन, वपाश्रपण तथा वपाभिघारण आदि कृत्य निष्पन्न किये जाते हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि पशुसंज्ञपनके पूर्वऔर उसके पीछे परिपशव्य आहुति दी जाती है, इसके पश्चात् जब शमिताके द्वारा पशुकी संज्ञपन क्रिया कर ली जाती है, तब मन्त्रसे[१] वपाश्रपणीके द्वारा पशु बाँधनेके काममें आने वाली रस्सीको चात्वालमें फेंका जाता है[२]। शब्रा० में यह कृत्य अग्निष्टोममें वर्णित नहीं है।

भारद्वाजके अनुसार चात्वाल अथवा उत्करमें उस पाशको डालनेके पहले समन्त्रक[३] पशुका पाश ढीला किया जाता है, तब पाश बींधा जाता है और उसके पश्चात् चात्वाल या उत्करमें वह रज्जु डाली जाती है,[४] जिसके लिए मन्त्रका[५] विधान किया गया है।

---

१. माहिर्भूर्मापृदाकुः (वासं० ६.१२)।

२. काश्रौसू० (६.५.२५)।

३. शमितार उपेतन (तैसं० ३.१.४.३)।

४. भारश्रौसू० (७.१३.६-८)।

५. अदितिः पाशं प्र मुमोक्तु (तैसं० ३.१.४.४)।

भारद्वाजने जिस मन्त्रसे पशुके पाशको ढीला करना कहा, उसी मन्त्रका विनियोग आपश्रौसू० तथा सत्याषाढने पशुके समीप अध्वर्यु और यजमानके पहुँचनेके लिए किया है ।[१]

गोपीनाथके अनुसार पाश चात्वाल अथवा उत्करमें चुपचाप ही डाला जाना चाहिये,[२] वस्तुत: मन्त्रपूर्वक तो उस रशनाको ढीला किया जाता है, जिसमें पशु बँधा है, चात्वालमें पाश चुपचाप ही डाला जाता है ।

इस कृत्यके लिए अभिचार भी किया जा सकता है, जिसके लिए विधान किया गया है कि यदि यजमान किसी वैरीके मरणकी इच्छा करे तो उसे मन्त्रके[३] साथ उस रशनाको किसी शुष्क स्थाणु अथवा शुष्क दर्भस्तम्बमें बाँधना चाहिये ।[४] आपस्तम्ब (७.१७.७) ने किसी पेड़ या पेड़के तने अथवा किसी खम्भेसे रशनाको बाँधनेका विधान किया है ।

नेष्टाको प्रैष

सोमयागके प्रसंगमें नेष्टाको "नेष्टः पत्नीमुदानय" प्रैष किया जाता है ।[५] जैसे कि पशुबन्धकी सारी क्रियाएँ निरूढपशुबन्धके अनुसार की जा रही हैं किन्तु इस प्रैषके सम्बन्ध में यह कहना है कि यदि निरूढपशुबन्ध किया जायेगा तो उस समय यह प्रैष नहीं किया जायेगा अपितु भिन्न प्रैष किया जायेगा । कात्यायन तथा शब्रा० ने तो इस क्रियाका विधान किया किन्तु अन्य भारद्वाजश्रौसू०, आपश्रौसू० तथा सत्याषाढश्रौसू० आदि ग्रन्थोंमें उक्त क्रियाका उल्लेख नहीं मिलता ।

निरूढपशुबन्धमें जो प्रैष किया जाता है उसमें केवल इतनी भिन्नता है कि वह नेष्टाको न कहकर प्रतिप्रस्थाताके प्रति कहा जाता है ।

---

१. आपश्रौसू० (७.१७.४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२५)।

२. पृष्ठसं० (४२५)।

३. अरातीयन्तमधरं (तैसं० ३.१.४.४)।

४. भारश्रौसू० (७.१३.८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२५)।

५. काश्रौसू० (६.५.२६, शब्रा० ३.८.२.१)।

पत्नी द्वारा मन्त्रवाचन

सर्वप्रथम जलसे भरे हुए कलशको धारण करके यजमानपत्नी मन्त्रके[१] द्वारा गार्हपत्यके समीपसे चलकर पशुके समीप आती है,[२] तब प्रतिप्रस्थाता अथवा नेष्टा पत्नीसे मन्त्र[३] कहलाता है ।[४]

यदि निरूढपशुबन्ध यज्ञ है तो यह मन्त्र प्रतिप्रस्थाता पत्नीसे कहलाता है और यदि सोमयाग है तो नेष्टा पत्नीसे उक्त मन्त्र कहलाता है । कात्यायनने पत्नीसे मन्त्र कहलानेका विधान तो किया किन्तु जिस प्रकार भारद्वाजने समन्त्रक पत्नीके आगमनका उल्लेख किया है, वैसे कात्यायनने समन्त्रक उल्लेख नहीं किया अर्थात् यह जो कहा गया है कि पत्नी पशुके मुखादि अवयवोंके शोधनके लिए ग्रहण किये गए जलकलश (पन्नेजनी) को लेकर चात्वाल (पशु) के समीप आती है, यह क्रिया कात्यायनके अनुसार अमन्त्रक है, जबकि भारद्वाजने इस क्रिया का समन्त्रक ही विधान किया है ।

कात्यायनने नेष्टा द्वारा जिस मन्त्रको यजमानपत्नीसे कहलाया है, उसके सम्बन्धमें अन्य सूत्रोंने कहा है कि यजमानपत्नी मन्त्रके द्वारा सूर्यरश्मियों को नमस्कार करती है । अर्थात् सूर्यरश्मियोंको उक्त मन्त्रके[५] द्वारा नमस्कार किया जाता है ।[६] धूर्तस्वामीके अनुसार यदि यजमानकी बहुतसी पत्नियाँ हों तो उन सबको भी इसी प्रकार आदित्यरश्मियोंको नमस्कार करना चाहिए ।[७]

---

१. अनर्वा प्रेहि घृतस्य कुल्यामनु सह प्रजया सह रायस्पोषेण (तैसं० १.३.८) । भारद्वाजने इस मन्त्रसे पहले वह मन्त्र कहा है, जिससे यजमानपत्नी आदित्यकी प्रार्थना करती है ।

२. भारश्रौसू० (७.१३.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२४, आपश्रौसू० ७.१८.३-४) ।

३. नमस्त आतानानर्वा प्रेहि घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु (वासं० ६.१२) ।

४. काश्रौसू० (६.६.१, शब्रा० ३.८.२.२) ।

५. नमस्त आतान (तैसं० १.३.८) । ऐसा ज्ञात होता है कि भारद्वाजके 'अनर्वा प्रेहि' मन्त्रको कात्यायनने 'नमस्त आतान के साथ मिला लिया है, इसीलिए कात्यायनने उस क्रिया को अमन्त्रक लिखा जिसके द्वारा भारद्वाजने पत्नीको चात्वालकी ओर भेजनेका विधान किया है ।

६. आपश्रौसू० (७.१८.१-२, भारश्रौसू० ७.१३.९, सत्यश्रौसू० पृष्ठसं० ४२४) ।

७. आपश्रौसू० (७.१८.१-२ पर धूर्तस्वामीका भाष्य) ।

जल प्रक्षेपण तथा मार्जन

सत्याषाढने जिस मन्त्रके द्वारा पूर्णपात्रसे किंचित् जल पत्नीके द्वारा डलवानेका विधान किया उसी मन्त्रके द्वारा भारद्वाजने यह विधान किया है कि पत्नीको चात्वालपर जलका स्पर्श करना चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही मन्त्रका[१] विनियोग भारद्वाजने जलस्पर्शके लिए किया है।[२] आपश्रौसू० (७.१८.४) ने लिखा है कि यजमान और सभी ऋत्विजोंको भी जलका स्पर्श करना चाहिए। शब्रा० (३.८.२.३) ने शुद्धिकरणमें उक्त मन्त्रका तात्पर्य कहा है। मिश्रभाष्यके अनुसार उक्त मन्त्र दो भागोंमें विभक्त है, पहला मन्त्रभाग जलकी प्रार्थनाके लिए और दूसरा मन्त्रभाग आशीर्वचनमें विनियुक्त हुआ है (पृष्ठ २२४)। कात्यायनने पूरे श्रौतसूत्रमें इस मन्त्रका कोई उल्लेख नहीं किया।

अब मार्जनकी क्रिया प्रारम्भ होती है। सत्याषाढ (पृष्ठसं० ४२४) का कहना है कि जिस मन्त्रसे जल डाला गया है, उसी मन्त्रसे चात्वालपर स्थित होकर मार्जन किया जाना चाहिये।[३] भारद्वाजके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि मन्त्रके दूसरे भागसे मार्जन किया जाना चाहिए।[४] भट्टभास्करने मन्त्रका विभाग तो नहीं किया किन्तु उसने भारद्वाज और सत्याषाढ से भिन्न यह विनियोग किया है कि यह मन्त्र पत्नीको जल देखते हुए पढ़ना चाहिए।[५] बौधायनने इसी प्रकारका विधान किया है।[६] आपश्रौसू० (७.१८.३-४) ने सबसे अलग यह विधान किया है कि उक्त मन्त्रके द्वारा जलका स्पर्श किया जाना चाहिए, उसने मार्जन अथवा पत्नीके द्वारा मन्त्र वाचन दोनोंका विधान नहीं किया। आपस्तम्बने भारद्वाजके अनुसार जलके स्पर्शका विधान तो किया किन्तु जिस प्रकार भारद्वाजने मन्त्रके दो भाग किये उस प्रकार मन्त्रके दो भाग आपस्तम्बने नहीं किये।

---

१. आपो देवीः शुद्धायुवः (तैसं० १.३.८)। अथवा आपो देवीः शुद्धायुवः शुद्धा यूयं देवां ऊड्ढ्वं शुद्धा वयं परिविष्टाः परिवेष्टारो वो भूयास्म (तैसं० १.३.८)।

२. भारश्रौसू० (७.१३.११, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४२४)।

३. पृष्ठसं० (४२४)।

४. भारश्रौसू० (७.१४.१)।

५. संहिताके (१.३.८) पर भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठसं० ४४८)।

६. बौश्रौसू० (४.६)।

पशुके अंगोंका प्रक्षालन

चात्वालपर स्थित जलका स्पर्श करने तथा मार्जन करनेकी क्रिया हो चुकनेपर पशुके अंगोंका अभिषेचन (प्रक्षालन) तथा आप्यायन किया जाता है । यहाँ सूत्रकारोंने दोनोंके द्वारा अभिषेचन और आप्यायन करना कहा है अर्थात् अध्वर्यु और यजमानपत्नी दोनों ही दोनों कार्य कर सकते हैं किन्तु यदि एक अभिषेचन करता है तो दूसरा आप्यायन । अर्थात् यदि पत्नी अभिषेचन करती है तो अध्वर्यु आप्यायन करता है और यदि अध्वर्यु अभिषेचन करता है तो पत्नी आप्यायनका कार्य करती है ।[१]

कात्यायनश्रौसू० (६.६.३) और शब्रा० (३.८.२.६) के अनुसार मन्त्रके[२] साथ पत्नी मृतपशुके मुखपर, मन्त्रके[३] साथ नासिकापर, मन्त्रके[४] साथ चक्षुपर मन्त्रके[५] साथ कानोंपर, मन्त्रके[६] साथ नाभिपर, मन्त्रके[७] साथ शिश्नको,[८] मन्त्रके[९] साथ अपानपर तथा पशुके चारों पैरोंको एकत्र करके मन्त्रसे[१०] सब पैरोंपर उस पन्नेजनी जलसे प्रक्षालन करती है ।[११] देवयाज्ञिकका कहना है कि कानोंपर प्रक्षालन करते समय दोनों कानों के प्रक्षालनके लिए दो बार मन्त्रकी आवृत्ति कर लेनी चाहिये (पृष्ठसं० २२८) देवयाज्ञिकने पायुका अपान अर्थ किया है किन्तु गोपीनाथने पायुका गुदा अर्थ किया है (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ४२५) ।

---

१. भारश्रौसू० (७.१४.२-३, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ४२४) ।
२. वाचं ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
३. प्राणं ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
४. श्रोत्रं ते शुन्धामि (वासं० ६.१५) ।
५. चक्षुस्ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
६. नाभिं ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
७. मेढ्रं ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
८. मेढ्रं मेहनं प्रजननम् शिश्नमिति यावत् (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ४२५) ।
९. पायुं ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
१०. चरित्राँस्ते शुन्धामि (वासं० ६.१४) ।
११. काश्रौसू० (६.६.३, शब्रा० ३.८.२.६, मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० २२५) ।

भारद्वाजके अनुसार यजमानपत्नी मन्त्रके[१] द्वारा वाणीका, मन्त्रके[२] के द्वारा प्राणोंका, मन्त्रके[३] द्वारा चक्षुका, मन्त्रके[४] द्वारा कानका, मन्त्रके[५] द्वारा समस्त पशुका, मन्त्रके[६] द्वारा नाभिका, मन्त्र[७] के द्वारा गुदा का और मन्त्रके[८] द्वारा पैरों का आप्यायन करती है।[९] अध्वर्यु इस अवसरपर मन्त्रके[१०] द्वारा पशुकी ग्रीवापर जल डालता है।[११] आपश्रौसू० (७.१८.८-१२) में उक्त मन्त्रका विधान ग्रीवापर जल डालनेके स्थान पर हृदय देशपर जल डालनेके लिए किया गया है। भारद्वाजने जिस मन्त्रका विनियोग ग्रीवापर डालनेके लिए तथा जिस मन्त्रका विनियोग समस्त पशुके आप्यायनमें किया है, उन दोनों मन्त्रोंको भट्टभास्करने एक मन्त्र मानकर उसका विनियोग वागादिके अभिमर्शनमें किया है (तैसं० १.३.८ पर भट्टभास्करका भाष्य)। इसी प्रकार जिस मन्त्रका विनियोग भारद्वाजने नाभिके तथा गुदाके आप्यायनमें किया है, उस मन्त्रका विनियोग भट्टभास्करने आप्यायनके स्थानपर स्पर्श करनेके लिए किया है, अन्यच्च भारद्वाजने जिस मन्त्रका विनियोग पैरोंके आप्यायनमें किया है, उसके लिए भट्टभास्करने उक्त मन्त्रका विनियोग प्रक्षालनमें किया है (पृष्ठसं० ४५१-४५२)।

मन्त्रके[१२] द्वारा पशुके समस्त शरीरपर आप्यायन करनेके पश्चात् मन्त्रसे[१३] पन्नेजनके शेष जलको पशुके दोनों जघनप्रदेशों पर डालता है।[१४] देवयाज्ञिकने

---

१. वाक्त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
२. प्राणस्त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
३. चक्षुस्त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
४. श्रोत्रं त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
५. नाभिस्त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
६. नाभिस्त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
७. पायुस्त आ प्यायतां (तैसं० १.३.९)।
८. शुद्धाश्चरित्राः (तैसं० १.३.९)।
९. भारश्रौसू० (७.१४.४,६,७)।
१०. या ते प्राणांछुर जगाम (तैसं० १.३.९)।
११. भारश्रौसू० (७.१४.५)।
१२. यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तआप्यायतां निष्ट्यायतां (वासं० ६.१५)।
१३. शमहोभ्यः (वासं० ६.१५)।
१४. काश्रौसू० (६.६.५-६, शब्रा० ३८.२.९-१०)।

जघनप्रदेशके स्थानपर पुच्छदेशका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २१८)। कुछ सूत्रोंने[१] पशुकी पीठपर और कुछने भूमिपर जल डालनेका भी विधान किया है।[२]

समन्त्रक पशुके समस्त अंगोंका सेचन करनेसे पूर्व पशुके समस्त अंगोंको मन्त्रपूर्वक अध्वर्यु और यजमान दोनों स्पर्श करते हैं, जिसके लिए देवयाज्ञिकने विधान किया है कि मन्त्रसे[३] पशुके मस्तक, मन्त्रसे[४] पशुकी जिह्वा, मन्त्रसे[५] नासिका (दोनों नासिका छिद्रों पर दो बार मन्त्र पढ़कर), मन्त्र[६] पढ़कर दोनों आंखोंका, मन्त्रको[७] दो बार पढ़कर दोनों कानोंका सेचन करते हैं।[८]

संक्षेपमें उक्त कृत्यके सम्बन्धमें केवल इतना कहना है कि पशुसे सम्बन्धित दो कृत्य प्रमुख है, प्रक्षालन और सेचन। पहले प्रक्षालन किया जाता है, जिसको पत्नी करती है और फिर शेष जलसे सेचन किया जाता है, जिसको अध्वर्यु और यजमान दोनों करते हैं, शेष जलको अन्तमें पशुके जघनप्रदेशपर अथवा पूँछपर, अथवा पीठपर अथवा भूमिपर डाल दिया जाता है, जैसा कि विभिन्न सूत्रकारोंने विधान किया है।

वपाग्रहण देशमें बर्हिनिधान

जिस स्थानसे वपा ग्रहण करनी है उस स्थानपर एक दर्भपत्र प्रागग्र (पूर्वकी ओर फुलगी) करके मन्त्रके[९] द्वारा रक्खा जाता है। इससे पूर्व अध्वर्यु पशुको उत्तान कर देता है।[१०]

---

१. भारश्रौसू० (७.१४८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२५)।

२. आपश्रौसू० (७.१८.१२)।

३. मनस्तआप्यायतां (वासं० ६.१५)।

४. वाक्तआप्यायतां (वासं० ६.१५)।

५. प्राणस्तआप्यायतां (वासं० ६.१५)।

६. चक्षुस्त आप्यायतां (वा० ६.१५)।

७. श्रोत्रं त आप्यायतां (वासं० ६.१५)।

८. शब्रा० (३८.२.९, काश्रौसू० ६.६.४)।

९. ओषधे त्रायस्व (वासं० ६.१५)। ओषधे त्रायस्वैनम् (तैसं० १.३.९)।

१०. काश्रौसू० (६.६.७, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठ सं० २१८, भारश्रौसू० ७.१४८, आपश्रौसू० ७.१८.१२)।

वपोत्खेदन

कुशाका पूर्वकी ओर सिरा करके मन्त्र[१] भागसे स्वधितिके द्वारा चिह्न करके उस चिह्न किये हुए कुशापर असि रखता है[२] और छिन्न दर्भके अग्रभागको ग्रहण करके, मूल भागको दक्षिण हाथमें लेकर उस स्थानकी त्वचाका छेदन-करता है, जहाँ से वपा ग्रहण करनी है, तब छेदनके उपरान्त रक्त निकल आनेपर मन्त्रके[३] द्वारा मूल तृणके दोनों किनारों को रक्तसे भिगोकर मन्त्रसे[४] वह तृण उत्करमें फेंक देता है ।[५] उत्करमें तृण फेंकनेका विधान शब्रा० में उल्लिखित नहीं है ।

उस फेंके गए तृणके ऊपर स्थित होकर यजमान मन्त्रका[६] पाठ करता है ।[७] तैसं० में उक्त क्रियाका उल्लेख नहीं है ।

अब मन्त्रसे[८] पशुकी वपा निकाली जाती है ।[९] इस क्रियाका विधान कात्यायनने अमन्त्रक ही किया है, किन्तु भारद्वाज आदिने इस क्रिया का समन्त्रक ही विधान किया है, इस अवसरपर गोपीनाथका कहना है कि वपा बाहर नहीं निकाली जाती अपितु पृथक् की जाती है ।[१०]

---

१. स्वधिते मैनं हिंसीः (वासं० ६.१५, तैसं० १.३.९)।

२. शब्रा० (३८.२.१२, काश्रौसू० ६.६.८, भारश्रौसू० ७.१४.९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२५)।

३. रक्षसां भागोऽसि (वासं० ६.१६, तैसं० १.३.९)।

४. निरस्तं रक्ष (वासं० ६.१६)।

५. आपश्रौसू० (७.१८.१४, भारश्रौसू० ७.१४, १०, काश्रौसू० ६.६.८-९)।

६. इदमहं रक्षोऽभि तिष्ठामीदमहं रक्षोऽव बाध इदमहं रक्षोऽधमं तमो नयामि (वासं० ६.१६)।

७. शब्रा० (३८.२.१५, काश्रौस० ६.६.१०)। गिरिधरभाष्य (पृष्ठसं० २४९) के अनुसार स्थित होनेका अर्थ) पैर दाबकर कुशा के ऊपर खड़ा होना ।

८. इषे त्वा (तैसं० १.३.९)।

९. भारश्रौसू० (७.१४.११, आपश्रौसू० ७.१९.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२६)।

१०. पृष्ठसं० (४२६)।

मन्त्रसे[१] वपा बाहर निकालकर रख ली जाती है और फिर मन्त्रके[२] द्वारा वपासे वपाश्रपणीयोंका वेष्टन किया जाता है ।[३] महीधरके अनुसार पशुके उदरसे वपाका निष्कासन करके उस वपाके द्वारा दोनों वपाश्रपणियोंको ढका जाता है (पृष्टसं० १०३)।

अब एकशूलके द्वारा उस वपाके सबसे छोटे भागका छेदन किया जाता है[४] जिसके लिए भारद्वाजने मन्त्रका[५] विधान किया, किन्तु कात्यायनके अनुसार यह क्रिया अमन्त्रक ही की जाती है ।[६]

अब मन्त्रके[७] साथ वपाका छेदन करके उदरसे संलग्न वपाको पृथक् कर लिया जाता है,[८] जिसके लिए भारद्वाजने मन्त्रका[९] विधान किया किन्तु कात्यायनने इस क्रियाका अमन्त्रक ही विधान किया है ।[१०]

भारश्रौसू० (७.१४.१६-१८) में कहा गया है कि शमिताको अपनी मुष्टिसे उस वपाका सिरा तब तक पकड़े रखना चाहिये जब तक कि वपा होम न हो जाय, इस अवसरपर अध्वर्यु और यजमान वपाश्रपणीका स्पर्श करते हैं अर्थात् अध्वर्यु द्वारा ग्रहीत वपाश्रपणीको यजमान स्पर्श करता है, तब अध्वर्यु मन्त्रके[११] साथ आहवनीयके प्रति चलना प्रारम्भ कर देता है ।

देवयाज्ञिकने उक्त क्रियाका कोई उल्लेख नहीं किया, उसके अनुसार वपा प्रतिप्रस्थाताको दे दी जाती है, जिसे वह चात्वालपर धोता है तथा शामित्रमें पकाकर

---

१. देवेभ्यः शुन्धस्व देवेभ्यः शुम्भस्व (तैसं० १.२.१२.२)।
२. घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथाम् (तैसं० १.३.९)।
३. भारश्रौसू० (७.१४.१२-१३, आपश्रौसू० ७.१९,१ सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ४२६)।
४. भारश्रौसू० (७.१४.१४, बौश्रौसू० ४.६)।
५. अच्छिन्नो रायः सुवीरः॥ इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टामि उत्कृन्तामि (तैसं. १.३.९)।
६. काश्रौसू० (६.६.१२)।
७. ऊर्जे त्वा (तैसं० १.१.१.१)।
८. भारश्रौसू० (७.१४.१५)।
९. ऊर्जे त्वा मन्त्रका प्रयोग दर्शपूर्णमासके प्रसंगमें भी शाखाछेदनके प्रसंगमें किया गया है ।
१०. काश्रौसू० (६.६.१२ पर सरलावृत्ति)।
११. उर्वन्तरिक्षमन्विहि (तैसं० ३.९.२)।

चात्वाल और उत्करके बीचसे आकर आहनीयके समीप उत्तरकी ओर बैठ जाता है, वहाँ आग्नीध्र उल्मुक ग्रहण करके उसी प्रकार चात्वाल और उत्करके बीचसे आकर आहवनीयके समीप पहुँचता है, तब अध्वर्यु सव्य हाथमें ग्रहण किये हुए तृणको मन्त्रके[1] साथ आहवनीयमें डाल देता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २१९, काश्रौसू० ६.६.१२, १४)।

वपाश्रपण

पशुके अंगोंका प्रक्षालन, सेचन करनेके अनन्तर जब उसके शरीरसे वपा निकाल ली जाती है तो उसको पकाया जाता है, यहाँ वपा पकानेसे सम्बन्धित कर्मकाण्डपर विचार किया जाता है।

जब अध्वर्यु आहवनीयमें तृण फेंक देता है तो उसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता आहवनीयके उत्तरमें खड़ा होकर वपाको पकाता है और उसके पश्चात् यूप और अग्निके बीचसे वपाको लाकर और स्वयं भी आहवनीयके दक्षिणकी ओर खड़ा होकर पुनः आहवनीयमें ही वपा पकाता है[2]।

भारद्वाजने पकानेके लिए मन्त्रका[3] विधान किया है[4]। सत्याषाढने इस अवसरपर एक मन्त्रका[5] उल्लेख किया है जिसके द्वारा आदित्यकी प्रार्थना की जाती है[6]।

उपर्युक्त कृत्यसे स्पष्ट होता है कि प्रतिप्रस्थाता तीन बार वपाका श्रपण करता है, एक बार शामित्रमें तथा आहवनीयमें उत्तरकी ओर खड़ा होकर दूसरी बार तथा दक्षिणकी ओर बैठकर तीसरी बार।

---

१. वायो वे स्तोकानाम् (वासं० ६.१६)।
२. काश्रौसू० (६.६.१५ पर सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २२७)।
३. प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः (तैब्रा० ३.२.२.२)।
४. भारश्रौसू० (७.१५.१)।
५. नमः सूर्यस्य संदृशो युयोथा इति
६. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२६)।

वपाके ऊपर आहुति देना

आहवनीयपर स्थित तपी हुई वपाके ऊपर मन्त्रके[१] साथ अध्वर्यु आज्य-स्थालीसे स्रुवाके द्वारा आज्य ग्रहण करके आहुति देता है।[२] कतिपय सूत्रोंमें भिन्न मन्त्रका[३] उल्लेख है।[४]

मैत्रावरुणके प्रति प्रैष कथन

स्रुवासे अभिघार[५] (घी गिराते समय) अध्वर्यु मैत्रावरुणको "स्तोकेभ्यो[६]ऽनुब्रूहि" प्रैष करता है।[७] प्रैष के अनन्तर मैत्रावरुण ऋचाओं[८] पाठ करता है।[९] ऐब्रा० (२.२.१२) पर सायणने विधान किया है कि उपर्युक्त मन्त्रोंके साथ ही बून्दों के लिए मैत्रावरुणको वषट्कार भी कहना चाहिये।

---

१. अग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा (वासं० ६.१६)। त्वामु ते दधिरे हव्यवाहम् (तैसं० ३.१.४)।

२. काश्रौसू० (६.६.१६, शब्रा० ३.८.२.२१, भारश्रौसू० ७.१५.८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२७)।

३. तैसं० (३.१.४)।

४. भारश्रौसू० (७.१५.८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२७)।

५. अवत्तस्य हविष उपरि घृतप्रक्षेप अभिघारणम् (काश्रौसू० पृष्ठसं० ४७)।

६. अग्निसंयोगात् ये मेदसो विन्दवश्चोतन्ति, ते स्तोका इति (आपश्रौसू० टी० ७.२०.३), द्विशूलया शाखया धार्यमाणया वपाया उपरि 'त्वामु ते दधिरे' इति मन्त्रेण आज्ये हुते सति तत्सकाशात् पतन्तो विन्दवः स्तोकाः (सायणभाष्य, तैसं० १.३.९)।

७. काश्रौसू० (६.६.१७ पर सरलावृत्ति, शब्रा० ३.८.२.२२, ऐब्रा० २.१.१२, भारश्रौसू० ७.१५.९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४२८)।

८. जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्। हव्या जुह्वान आसनि (ऋसं० १.७५.१)। इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व। स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य (ऋसं० ३.२१.१)। घृतवन्तः पावक ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः। स्वधर्मन् देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम् (ऋसं० ३.२१.२)। तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य। ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव (ऋसं० ३.२१.३)। तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगौ शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य। कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर (ऋसं० ३.२१.४) ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्‌भृतं प्र ते वयं ददामहे। श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान् देवशो विहि। (ऋसं० ३.२१.५)।

९. ऐब्रा० (२.१.१२)।

जैसे ही मन्त्रपाठ समाप्त होता है, तभी प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युको "शृता प्रचर" ऐसा कहता है । तब अध्वर्यु स्रुचोंको लेकर आगे बढ़कर "श्रौषट्" कहता है ।[१]

प्रैषकथन

इसके पश्चात् अध्वर्यु मैत्रावरुणको "स्वाहाकृतिभ्यः प्रेष्य" प्रैष करता है ।[२] तब अध्वर्युसे प्रेरित होकर मैत्रावरुण मन्त्रोंके[३] द्वारा होताको प्रेरित करता है तब होता याज्याका[४] पाठ करता है ।[५] इसके पश्चात् अध्वर्यु अन्तिम प्रयाज आहुति देता है ।[६]

वपा तथा पृषदाज्यका अभिघारण

शब्रा० (३.८.२.२४) ने यह विधान किया है कि पहले पशुवपाका अभिघा-रण किया जाय फिर पृषदाज्य (दधिमिश्रित आज्य) का अभिघारण किया जाय, किन्तु जो चरकशाखोक्त आध्वर्यवके कर्ता पहले पृषदाज्यका और फिर वपाका अभि-घारण करते है, उनकी शब्रा० ने स्पष्टतः निन्दा की है । जहाँ शतपथब्राह्मणको पहले पृषदाज्यका अभिघारण मान्य नहीं है, वहाँ अन्य सूत्रकारोंने ऐसा ही विधान किया है, उदाहरणके लिए सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२८) ने यही विधान किया है कि पहले पृषदाज्यका और फिर पशुवपाका अभिघारण होना चाहिये ।

आज्योपस्तार, हिरण्यशकलावधान, वपानिधान आदि कृत्य

सर्वप्रथम जुहूमें आज्यका लेप करता है, फिर जुहूपर सुवर्णका एक टुकड़ा रखता है, फिर वपाको काटकर होताको "अग्निषोमाभ्यां छागस्य वपां

---

१. शब्रा० (३.८.२.२३)।

२. शब्रा० (३.८.२.२३, काश्रौ० ६.६.१९, तैसं० ६.३.९)।

३. होता यक्षदग्निं स्वाहाऽऽज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवां आज्यपान् स्वाहा अग्निं होत्राज्जुषाणा अग्न आज्यस्य वियन्तु होतर्यज (तैब्रा० ३.६.२)।

४. सद्योजातो व्यमिमीत यज्ञम्। अग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः। अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि। स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः(तैब्रा० ३.६.३)।

५. तैसं० (१.३.९ पर सायण भाष्य)।

६. तैसं० (१.३.९ पर सायण भाष्य)।

मेदसोऽनुब्रूहि" प्रैष करता है। इसके पश्चात् वपापर सोनेको रखता है और घीसे दो बार बूंदें टपकाता है।[1]

ऐब्रा० (२.२.१४) का कहना है कि यद्यपि वपा पाँच अवदानोंसे युक्त होती है, फिर भी यदि वह चार अवदानोंसे युक्त हो तो भी वपाके चारके स्थानपर पाँच भाग करने चाहिये। वपा काटनेके सम्बन्धमें कहा गया है जितना भाग वपाका श्वेत है, उतना ही काटना चाहिये, रक्त भागको काटनेका ऐब्रा० (२.२.२४) ने निषेध किया है।

सोनेके अभाव में ऐब्रा० (२.२.२४) ने निर्णय दिया है कि यदि सोना न हो तो पहले आज्यसे दो बार उपस्तरण करके वपाका टुकड़ा रखकर ऊपरसे दो बार अभिघारण किया जाय।

शब्रा० (३.८.२६) में उक्त कृत्य इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—सर्वप्रथम आज्यसे उपस्तरण किया जाय, फिर एक हिरण्यखण्ड डालकर, वपाके भाग करके होताको "अग्निषोमाभ्यां छागस्य वपां मेदः प्रेष्य" प्रैष किया जाय, फिर एक और हिरण्यखण्ड रक्खा जाता है और इसके पश्चात् दो बार अभिघारण क्रिया करके श्रौषट् कहता है और तब मैत्रावरुणको "अग्निषोमाभ्यां छागस्य वपा मेदसोऽनुब्रूहि" प्रैष किया जाता है।

वपाहोम

इतनी क्रिया हो चुकने पर वषट्कारके साथ वपाकी आहुति दी जाती है (शब्रा० ३.८.२ २६-२७)। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२९) के अनुसार "जात-वेदो वपया गच्छ देवान" मन्त्रसे वषट्कार करके "देवेभ्यः स्वाहा" मन्त्रसे वपाकी आहुति दी जाती है।

ऐब्रा० (२.२.१४) में वपाहोमकी प्रशंसामें एक आख्यान भी दिया गया है, साथ ही यह भी कहा गया कि इसी वपाकी आहुतिके द्वारा यजमान अमृतत्वको प्राप्त करता है, क्योंकि वपाकी आहुति अमृतकी आहुति है। स्वर्गप्राप्तिके लिए वपायाग ही पर्याप्त बतलाया गया है। एक स्थानपर ऐब्रा० (२.२.१४) ने कहा है कि पशुके शरीरमें जितनी वपा है, उतना ही मुख्य पशु है, इससे भी वपाका महत्व ही परिलक्षित होता है।

---

१. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४२०, काश्रौसू० ६.६.२२)।

एक स्थानपर दृढ़तापूर्वक यह आग्रह किया गया कि वपाके लिए जो आहुति दी जाय उसमेंसे कुछ न कुछ अवश्य भक्षण कर लिया जाना चाहिए (ऐब्रा० २.१.९)।

वपाहोमके लिए याज्याके[१] पाठका भी विधान प्राप्त होता है ।[२]

वपाकी आहुति देनेके पश्चात् दीक्षित पुरुष यजमान हो जाता है, अब इस कृत्य के पश्चात् यजमानके यहाँ कोई भी भोजन कर सकता है, वपा होमसे पहले यजमानके यहाँ किसीके भी द्वारा भोजन करनेका निषेध किया गया है ।[३]

वपाहोमके अन्तमें वपाश्रपणियोंको फेंकना

वपाकी आहुतिके पश्चात् विशाखा (द्विशृंगा) नामक वपाश्रपणीको (उसका आगेका सिरा पूर्वकी ओर करके) और दूसरी एकशृंगा वपाश्रपणीको (उसके आगेके सिरोंको उत्तरकी ओर करके) आहवनीयमें फेंक दिया जाता है ।[४] इस कृत्यके लिए मन्त्र पढ़ा जाता है ।[५]

सुब्रह्मण्य द्वारा सुब्रह्मण्याका पाठ

भारश्रौसू० (१२.२०.४) ने इस अवसरपर कहा है कि वपाहोमके पश्चात् सुब्रह्मण्यको यजमानके पिता-पुत्रोंका नाम लेकर सुब्रह्मण्याका पाठ करना चाहिए ।

चात्वालपर मार्जन

वपाहोमके पश्चात् चात्वालके मार्जनका भी विधान सूत्रकारोंने किया है । देवयाज्ञिकके अनुसार सपत्नीक यजमान और ब्रह्मा आदि ऋत्विज् मन्त्रके[६] द्वारा

---

१. युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम् । युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्या-दग्नीषोमावमुंचतं गृभीतान् (ऋसं० १.९३.५)।

२. ऐब्रा० (२.१.९)।

३. वपाहोमे निष्पन्ने सति तद्गृहे भोक्तव्यम् (ऐब्रा० २.१.९ पर सायणका भाष्य)।

४. शब्रा० (३.८.२.२८, काश्रौसू० ६.६.२६)

५. स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् (वासं० ६.१६)।

६. इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुंचतु (वासं० ६.१७)।

अपने ऊपर जल छिड़कते हैं, पत्नी भी उक्तमन्त्रके द्वारा मार्जन क्रिया सम्पन्न करती है ।[१] कुछ सूत्रकारों ने भिन्न मन्त्रका[२] उल्लेख किया है ।[३]

सारांश

प्रस्तुत अग्निषोमीय पशुवपायागके अन्तर्गत पशुके अंगोंका प्रक्षालन, वपोत्छेदन, वपाश्रपण अन्तिम प्रयाज आहुति, वपायाग आदि क्रियाएँ वर्णित की गई ।

जिन शरीररहित चार आहुतियोंका उल्लेख प्राप्त होता है, उनमें तीन आहुति (प्रक्षेप आहुति, आज्य आहुति, सोमाहुति) के अतिरिक्त अन्य चौथी वपा आहुतिको अमृतकी आहुति माना गया है, क्योंकि इस आहुतिके द्वारा यजमान अमृतत्वको प्राप्त करता है । इससे वपाहुतिका महत्व समझमें आता है । यजमानको अमृतत्वकी प्राप्ति करानेके लिए ही यह क्रिया की गई है । इस वपायागकी समाप्ति आहवनीयमें वपाश्रपणियोंको डालकर की जाती है । इसके साथ ही वपायाग सम्बन्धी सभी कृत्य समाप्त हो जाते हैं ।

पशुपुरोडाशयाग

यागानुष्ठान करते समय सर्वत्र इस नियमका पालन अवश्य किया जाता है कि जिस देवताके लिए पशुका प्रयोग हो, उस देवताके लिए पुरोडाश भी बनाया जाय । यहाँ पर भी इस नियमका पूर्णतः पालन किया जाता है । पहले पशुकी वपा आहुति दी जा चुकी है, अब वपाकी आहुतिके पश्चात् पुरोडाशयाग किया जाता है ।

---

१. काश्रौसू० (६.६.२७)। शब्रा० ने मार्जनका विधान तो किया किन्तु मन्त्रका उल्लेख नहीं किया ।

२. इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । निर्मा मुञ्चामि शपथान्निर्मा वरुणादुत । निर्मा यमस्य पड्वीशात् सर्वस्मादेवकिल्विषादथो मनुष्यकिल्विषात् । आपो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुचन्त्वँ हसः।

३. भारश्रौसू० (७.१६,१३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४३०)।

पात्रासादनादि प्रारम्भिक कृत्य

सर्वप्रथम पशुपुरोडाशसे सम्बन्धित समस्त पात्रोंको सजाकर रख दिया जाता है (भारश्रौसू० ७.१७.१; सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ४३०)। इसके पश्चात् दो पवित्रा बनाकर अध्वर्यु यजमानको प्रैष "यजमान वाचं यच्छ" करता है। देवयाज्ञिकने पात्रासादनसे पूर्व उक्त प्रैषका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० २२०)।

तैसं० (६.३.१) में अग्निषोमीयपशुके लिए एकादशकपालोंपर पुरोडाश पकानेका विधान किया गया है। निरूढपशुबन्धमें बारह कपालोंपर भी पुरोडाश पकाया जा सकता है, जिसका उल्लेख कात्यायन आदिने अपने अपने सूत्रोंमें किया है।[१]

भारद्वाज (७.१७.३) के अनुसार यजमानको उक्त प्रैष हो चुकनेपर और यजमान द्वारा मौन हो जानेपर अध्वर्यु उसके हाथको पात्रोंके चारों ओर घुमाता है। इसके पश्चात् ग्यारह कपालोंपर धान उडेला जाता है। अब यजमान मौन का परित्याग कर देता है।

स्वधितिके द्वारा पशुके अंगोंको अलग करना

देवयाज्ञिकके अनुसार जुहूसे सम्बद्ध प्रधानयागके लिए अंगोंको पशुके शरीरसे निकाला जाता है। सर्वप्रथम (आम्रफलके सदृश) हृदयके मांसको, फिर जिह्वाको, (दोनों भुजाओंके बीचके भाग) वक्षको, बाएँ हाथके नीचे कन्धेसे सन्निकृष्ट प्रथम नलिकाको, दोनों बगलों को, (पित्ताधार रूप अत्यधिक कोमल) यकृत् को दोनों कुक्षियोंमें स्थित पके हुए महद् आम्रफलके सदृश दोनों गोलकों (वृक्क) को, गुदाको, कटिको काटते हैं। इसके पश्चात् उपभृत् सम्बन्धी स्विष्टकृत् यागके लिए तीन (दक्षिण बाहुकी प्रथम नलिका, गुदाका तीसरा अत्यन्त सूक्ष्म भाग और बायाँ कटिप्रदेश) अंग पशुके शरीरसे निकालकर ग्रहण किये जाते हैं। उपयड्डोमके लिए गुदाका स्थूल भाग ग्रहण किया जाता है। इसके पश्चात् स्थूल आन्त्र, पशुकी पूँछ, क्लोम (फेफड़े), प्लीहा (शुक्तिकाकार मांस), अध्यूध्नी (ऊधस् का ऊपरी मांस), जिस मांसके द्वारा हृदय ढका हुआ रहता है, वह मांस (पुरीतत्)। ये विकल्पेन ग्रहण

---

१. काश्रौसू० (६.७.१६) ने ग्यारह कपालोंका ही उल्लेख किया है किन्तु सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४३१) ने बारह कपालोंका उल्लेख किया है, भारद्वाजने भी विकल्पके रूपमें बारह कपाल स्वीकार किये हैं (७.१७.४)।

किये जाते हैं ।[१] कर्कके अनुसार अग्निषोमीयपशुयागमें इन अंगोंको नहीं निकाला जाता ।

आपश्रौसूत्र (७.२४.२-४) के अनुसार यह विधान प्राप्त होता है कि वक्षके पश्चात् काटे जाने वाले अंगोंको किसी भी क्रमसे काटा जा सकता है किन्तु गुदाका भाग सब अंगोंके मध्यमें काटा जाना चाहिये ।

भारश्रौसू० (७.१८.१३, ७.१९.१) में यह कहा गया है कि या तो प्रत्येक अंगके दो दो भाग ग्रहण किये जाएँ अथवा प्रथम तीन (हृदय, जिह्वा और वक्ष) नियमानुसार काटे और दूसरें अंग स्वेच्छानुसार काट ले ।

भारद्वाज (७.१९.४-७) ने गुदाके अंगोंका विभाजन करते हुए निर्देश दिया है कि गुदाके मोटे भागको उपभृत् में स्विष्टकृत् आहुतिके लिए ग्रहण करे, अन्य दो भागोंमें उपयाज आहुति के लिए मोटा भाग और पतले भागके तीन भाग करके मध्य आकार वाले गुदाके भागके फिर दो भाग करे और जुहूपर रक्खे, मोटे भागको उपभृत् पर और पतले भागके फिर दो भाग करके इडाके लिए रक्खे । आपश्रौसू० ७.२४.६-७) के अनुसार गुदाके तीन भाग किये जाते हैं, मोटे भागको उपयाज आहुतिके लिए, मध्यम आकार वाले गुदाके भागको जुहूमें और पतले भागको उपभृत् में रक्खे अथवा जुहूके दो भाग करके मोटे भागको उपयाजके लिए और दूसरेके तीन भाग करके मध्यम आकार वालेको जूहूके लिए पतले भागको उपभृत् के लिए और मोटे भाग को इडाके लिए ग्रहण करे । शब्रा० (३.८.३.१८-१९) के अनुसार पहले गुदाके तीन भाग किये जाते हैं, जिनमें पहला भाग उपयाजके लिए, दूसरा भाग प्रधान होमके लिए और तीसरे भागको फिर दो भागों में विभक्त करके एक भागको तीन अंगोंके मध्यमें और दूसरेको स्विष्टकृत् यागके लिए रक्खा जाता है । उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि गुदाके विभाजनके लिए कोई निश्चित एक मत नहीं प्राप्त होता है, किसीके अनुसार गुदाके ग्यारह भाग, किसीके अनुसार गुदाके पाँच भाग और किसीके अनुसार गुदाके चार भाग किये जाते हैं ।

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २२१-२२२, काश्रौसू० ६.७.६-११, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ४३२)।

पशुके समस्त अंगोंको निकालते हुए यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि जो भी अंग निकाला जाय वह काट-फाँट कर नहीं निकाला जाय, पूरा का पूरा अंग बड़ी सावधानीसे निकाला जाय।

गर्त्तमें पशुपुरीष रखकर उसपर पशुके रुधिरका प्रक्षेपण

शामित्रके पीछे उत्करके उत्तरमें स्थित एक गर्तमें पशुके मल (पुरीष) को चुपचाप रखकर फिर पशुके रुधिरको उसके ऊपर डाला जाता है। इस कृत्यके लिए मन्त्र[1] पढ़ा जाता है। देवयाज्ञिकके अनुसार इस अवसरपर जलका स्पर्श किया जाता है (पृष्ठसं० २२३)।

पशुश्रपण

अरणिमात्र शूलमें हृदयको पिरोकर शामित्रपर तथा अन्य अंगों को उखापर पकाया जाता है (काश्रौसू० ६.७.१४-१५)। पद्धत्यानुसार "द्यौरसि" मन्त्रसे शूल लेकर उसके पश्चात् शूलमें हृदयको पिरोकर शामित्रपर तपाता है। इसके पश्चात् "द्यौरसि" मन्त्रसे ही उखा लेकर "मातरिश्वन" इस मन्त्रसे उसको भी शामित्रपर पकाता है, तब यजमानके अन्वारब्ध करनेपर उखापर हृदय आदि अंगोंके मांसोंको क्रम से पकाता है।

भारद्वाजने घड़ेमें पशुके अंगोंका उल्लेख किया है, तथा उस मन्त्रका[2] विधान किया है, जिसका वाचन उस समय किया जाता है, जब घड़े से भाप निकल रही हो (भारश्रौसू० ७.१७.७, ७.१८.५)। इसके पश्चात् भारद्वाजने कुछ क्रियाओं का उल्लेख किया है कि यदि अंग कट-फट गए हों तो मन्त्रका[3] पाठ किया जाय। इसके पश्चात् उन अंगोंपर घी डालकर, फिर उन अंगोंको उस घड़ेसे निकालकर उतार ले पुन: चात्वाल और उत्करके बीचसे होकर तथा यूप और आहवनीयके बीचसे होकर पंचहोतृ[4] मन्त्र के साथ वेदीके दक्षिण भागमें लाकर उन पशुके समस्त अंगोंको लाकर रख देता है (भारश्रौसू० ७.१८.६-७)।

---

१. रक्षसां भागोऽसि इति।

२. स्वाहोष्मणोऽव्यथिष्यै॥

३. स्वाहोष्मणोऽव्यथिष्यै॥

४. अग्निहोता। अश्विनाऽध्वर्यू। त्वष्टाऽग्नीत् मित्र उपवक्ता॥ (तैब्रा० ३.३)।

उत्तरदेशमें हृदयादि हविको पकाते हुए शमिताके प्रति अध्वर्युकी शिक्षा

शमिता जब पशुको पका रहा होता है तब अध्वर्यु उसे समझाता है कि यदि कोई तुमसे "शृतं हविः शमिताः" ऐसा पूछे तो तुम्हें शृतम् इतना ही कहना चाहिए, तुमको न तो 'शृतं भगवः' कहना चाहिए और न "शृतं हि" ऐसा कहना चाहिए। तब शमिता उसी प्रकारके आदेशका पालन करता है। इस अवसरपर वह तीन बार उत्सेचन करके हृदयको शूलसे निकालकर उसे अवदानोंके ऊपर स्थापित करके उस शूलको अध्वर्युको सौंप देता है। अध्वर्यु उस शूलको भूमिसे व्यतिरिक्त अन्य किसी स्थानपर स्थापित कर देता है (काश्रौसू० ६.८.१-२)।

मांसपाक हो जाने पर अध्वर्यु द्वारा शमितासे प्रश्न करना

जुहूमें पाँच बारमें पृषदाज्यको ग्रहण करके चात्वाल और उत्करके बीचसे निकलकर शमितासे पूछता है—"हे शमिता ! क्या हवि पक गया ?" तब शमिता कहता है—"हाँ, पक गया।" तब अध्वर्यु उपांशु स्वरसे "देवानां" कहता है। इस प्रकार अध्वर्यु तीन बार प्रश्न करता है और अध्वर्युको तीन ही बार शमिता उत्तर देता है।[१]

आपश्रौसू० (७.२३.५), तथा भारश्रौसू० (७.१८.१-२) में कहा गया है कि दूसरी बार प्रश्न रास्तके आधे में तथा तीसरी बार प्रश्न स्थानपर पहुँचकर अध्वर्युको करना चाहिए।

हवि पकनेपर पुरोडाशकी आहुति

पशुपुरोडाश यागके प्रारम्भमें कहा गया था कि जहाँ पशु होता है, वहाँ पुरोडाश भी बनाया जाता है, जब पशुके अंगोंको पका लिया जाता है तब पुरोडाशकी आहुति दी जाती है। आपश्रौसू० (७.२२.११) में कहा गया है कि पुरोडाश की आहुतिके दो विकल्प हैं—एक विकल्प यह है कि वपाकी आहुतिके बाद पुरोडाश की आहुति दी जाय, अथवा तब आहुति दी जाय, जब पशुके अंग पकने प्रारम्भ हों।

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २२३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४३५, शब्रा० ३.८.३.३-७, काश्रौसू० ६.८.४, तैसं० ६.३.१०)।

तैसं० (६.३.१०) ने वपाकी आहुतिके पश्चात् पुरोडाशकी आहुति देनेका विधान किया है । तैसं० के उक्त प्रमाणके आधारपर ही सायणने भी निर्देश किया है कि "जातवेदो वपाय गच्छ देवान् "(तैसं० ३.१.४) मन्त्रसे वपाकी आहुतिके पश्चात् पुरोडाशकी आहुति दी जानी चाहिए (तैसं० १.३.१० पर सायण भाष्य) ।

आहुति देनेसे पूर्व अध्वर्यु मैत्रावरुणको प्रैष "अग्निषोमाभ्यां पुरोडाशस्यानुब्रूहि । अग्निषोमाभ्यां पुरोडाशस्य प्रैष्य" करता है । तब मैत्रावरुण ऋचाओं[1] का पाठ करता है (श्रौतकोशः, पृष्ठसं० २११) ।

हृदयाभिघारण

स्रुवाके द्वारा जुहूमें स्थित पृषदाज्य ग्रहण करके अध्वर्यु सारे मांसोंके ऊपर स्थित हृदयका मन्त्रसे[2] अभिघारण करता है और सारे पशुका अभिघारण चुपचाप करता है ।[3] सत्याषाढने पशुके अभिघारणके लिए मन्त्रका[4] प्रयोग किया है (पृष्ठसं० ४३५) । गोपीनाथके अनुसार उस कुम्भकी परिक्रमा की जाती है, जिसमें पशु पकाया जाता है, फिर शूलमें पिरोये हुए हृदयको निकालकर उस घड़ेमें ही डालते हैं । तब घड़ेमें स्थित हृदयका अभिघारण किया जाता है, घड़ेमें ही स्थित पशुके अंगोंका अभिघारण किया जाता है, (पृष्ठ सं० ४३५)

पशुके हृदय आदि अंगोंको काटना

भारद्वाज (७.१८.८-९) के अनुसार इस अवसरपर बर्हिके ऊपर प्लक्ष (पिलखन) की टहनी लाकर रक्खी जाती है और उसके बीचके भागपर पशुके

---

१. अग्निषोमा यो अद्य वामिदं वचः सपर्यति । तस्मै धत्तं सुवीर्यं गवां पोषं स्वश्व्यम् । (ऋसं० १.९३.२)। आन्यं दिवो मातरिश्वा ज़भारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः। अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम् (ऋसं० १.९३.६) । पहली ऋचा पुरोडाशकी पुरोनुवाक्या और दूसरी ऋचा याज्या है । शांखायनके अनुसार पुरोडाशकी याज्या व पुरोनुवाक्या इस प्रकार है—अग्नीषोमा पिपृतमर्वतो न आ प्यायन्तामुस्रिया हव्यसूदः । अस्मे बलानि मघवत्सु धत्तं कृणुतं नो अध्वरं श्रुष्टिमन्तम् (ऋसं० १.९३.१२) । पुरोनुवाक्या इस प्रकार है—अग्नीषोमा यो अद्य वामिदं वचः सपर्यति । तस्मै धत्तं सुवीर्यं गवां पोषं स्वश्व्यम् (ऋसं० १.९३.२) ।

२. सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् (वासं० ६.१८) । तैसं० (१.३.१०.१) ।

३. देवयाज्ञिकपद्धति, (पृष्ठसं० २२३ काश्रौसू० ६.८.६, शब्रा० ३.८.३.९) ।

४. यस्त आत्मा पशुषु प्रविष्ट ॥

अंगोंको काटा जाता है। काश्रौसू० के अनुसार अध्वर्यु यूप और अग्निके बीचसे आकर वेदीके दक्षिण श्रोणी देशपर बर्हि बिछाकर उसपर असि (स्वधिति) रखता है, तब प्रतिप्रस्थाता प्लक्षकी शाखाओंपर पशुके अंगों को काटता है (६.८.७)। गोपीनाथने स्पष्ट किया है कि जिसके द्वारा आहवनीय और वपा के बीचसे वपा लाई गई थी, उसीके द्वारा बर्हिपर असि (स्वधिति) को रक्खा जाना चाहिये (पृष्ठसं० ४३५)।

आज्य उपस्तरण

सत्याषाढके अनुसार इस अवसरपर चार पात्रोंमें घीका लेप किया जाता है—जुहू, उपभृत्, वसाहोमहवनी, और समवत्तधानी (पृष्ठसं० ४३६)। शब्रा० ३.८.३.१०) में भी इन्हीं चारों पात्रोंका उल्लेख है।

देवयाज्ञिकके अनुसार उक्त आज्य उपस्तरणकी क्रियासे पहले निम्नांकित क्रियाएँ की जाती हैं—सर्वप्रथम उखामेंसे समस्त मांस निकालकर किसी विपुल पात्रमें हृदयादि क्रमसे उन मांसों को उदक्संस्थ रक्खा जाता है, फिर वसा निकालकर किसी दूसरे पात्रमें रक्खी जाती है, फिर स्थाली आज्यके द्वारा हृदय आदि प्रत्येक एकादश अंगोंको प्राणदान "इन्द्राग्नी गच्छ" मन्त्रसे दिया जाता है। वसाके लिए चुपचाप ही यह कृत्य किया जाता है। फिर पशुमांस और असि लेकर चात्वाल और उत्करके बीचसे और यूप और अग्निके बीचसे मांस लाकर स्रुक् से दक्षिण प्रदेशमें वेदीपर हृदयादि प्रत्येक अंगोंको "प्रियेण" मन्त्रसे रक्खा जाता है। इसके पश्चात् पूँछ रखनेकी क्रिया समन्त्रक की जाती है, तब वसाको बिना मन्त्रके रखकर पशुकी पूँछको 'असदन्निति' मन्त्रसे आलम्भन किया जाता है, वसाका आलम्भन बिना मन्त्रके ही करके तब पूर्वोक्त चार पात्रोंमें घी डालनेकी क्रियाका विधान देवयाज्ञिकने किया है (पृष्ठसं० २२३-२२४)। कात्यायनने इतने विस्तारसे क्रियाका उपाख्यान नहीं किया। जुहू और उपभृत् दोनोंमें हिरण्यका स्थापन किया जाता है।

मैत्रावरुणके प्रति प्रैष

इसके पश्चात् अध्वर्यु मैत्रावरुणको प्रैष "मनोतायै[1] हविषो ऽवदीय मान-

---

१. मनोताका सायणने यह अर्थ किया है—देवानां मनांस्योतानि दृढं प्रविष्टानि यस्यां देवतायां सा मनोता (ऐब्रा० २.१.१०)। तैसं० (१.३.१०) का भाष्य करते हुए सायण ने कहा है—मनस्यूता सम्बद्धेति मनोता। देवताओंमें तीन देवताओंको मनोता माना गया

स्यानुब्रूहि" करता है ।[१] सायण ने यह प्रैष होताके प्रति कहलाया है (पृष्ठ सं० ४५९, तैसं० १.३.१०) । इस अवसर पर मैत्रावरुण ऋचाएँ पढ़ता है[२] ।

वसाग्रहण तथा आज्यमिश्रण

अब मन्त्रके[३] द्वारा मांसपाकभाण्डसे जो भी यत्किंचित् वसा (स्नेहात्मक द्रव्य विशेष) प्राप्त होता है, उसको वसाहोमहवनीमें ग्रहण करके अध्वर्यु मन्त्रके[४] द्वारा उसके ऊपर दो बार अभिघारण करके पार्श्वअस्थिसे अथवा कट्टारिकासे आज्य और वसाको मिला देता है ।[५]

शेष वपाको इडापात्रमें डालकर पशुके अंगोंको भी डालना

अब शेष वपाको इडापात्रीमें डालकर पशुके वक्ष, हृदय, जिह्वा, यकृत् वृक्क अंगोंको भी डालता है ।[६]

भारद्वाजके अनुसार मन्त्रके[७] साथ उस वपाका आलोडन किया जाता है तथा बादमें मन्त्रके[८] साथ उस पसलीसे उसको ढक दिया जाता है जिस पसलीसे

है, क्योंकि उनमें विचार ओतप्रोत हैं । उन देवताओंके नाम हैं—वाक्, गौ और अग्नि । उक्त सभी अग्नि देवता से सम्बन्धित हैं । ऐब्रा० (२.१.१०) ने अग्निमें सभी मनोताओंको संगठित माना है, इसीलिए उक्त मन्त्र वाक् और गौ के न होकर अग्निके ही है । स्वयं ऐब्रा० में प्रश्न उठाया गया है कि जब पशु अन्य देवताका है तब मनोता देवताको दिये जाने वाले हविष रूप अंगोंके अवदान में अग्नि देवता मन्त्रका पाठ क्यों किया जाता है, इसका उत्तर यह दिया है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अग्निमें ही सब मनोता संगठित हैं, इसलिए अग्निके मन्त्र कहे गए ।

१. काश्रौसू० (६८८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४३६, भारश्रौसू० ७.१८.११, तैसं० ६.३.१०) ।
२. प्रयतं द्वेषः (वासं० ६.१८) ।
३. रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत् (वासं० ६.१८) ।
४. प्रयुतं द्वेषः (वासं० ६.१८) ।
५. काश्रौसू० (६८.११, शब्रा० ३८.३.२०, भारश्रौसू० ७.१९.१२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ४३८) ।
६. काश्रौसू० (६८.१२, देवयाज्ञिकपद्धतिपृष्ठसं० २२५) ।
७. श्रीरस्यग्निस्त्वा श्रीणातु (तैसं० १.३.१०) ।
८. स्वाहोष्मणोऽव्यथिष्यै (आपश्रौसू० ७.२३.९) ।

वसाका अभिघारण किया जाता है।[१] सत्याषाढने विकल्पके रूपमें वसाको ढकनेका विधान किया है, इसके अतिरिक्त उसने यूष (मांसके साथ पके हुए जल) के द्वारा सेचन करने, उत्तरकी ओरसे आकर जुहू-उपभृत् पर हिरण्य रखने और सबके अभिघारण करनेका भी विधान किया (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४३८-४३९) है।

मैत्रावरुणके प्रति प्रैष

उक्त क्रियाके पश्चात् पत्नीसंयाजके लिए पूँछको तथा उपयड्ढोमके लिए गुदाको किसी सुगुप्त स्थानपर रखकर मैत्रावरुणको प्रैष "अग्निषोमाभ्यां छागस्य हविषोऽनुब्रूहि" करता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु श्रौषट् कहकर प्रैष मैत्रावरुणके प्रति कहता है—" इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविः प्रेष्य।[२] सत्याषाढने अध्वर्युके द्वारा श्रौषट् करनेपर यह विधान किया है कि मैत्रावरुणको प्रैष न किया जाकर वह होताको प्रेरित करे (पृष्ठसं० ४३९)।

वसाहोम

जब होता याज्याका आधा भाग पढ़ चुका होता है तब प्रतिप्रस्थाता मन्त्रके[३] साथ उत्तरकी ओर बैठकर वसाकी आहुति देता है।[४] इस अवसरपर भारद्वाजने निर्देश दिया है कि वसाका कुछ भाग बचाकर अवश्य रख लेना चाहिए (७.२०.६)। मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २३०) में हवनहवनीसे वसाका आधा भाग लेकर तब वसाकी आहुतिका उल्लेख प्राप्त है। इसके पश्चात् जुहूमें स्थित अन्य अंगोंकी भी आहुति दे दी जाती है।[५] होमके प्रसंगमें गोपीनाथ का कहना है कि वषट्कारके साथ अध्वर्यु "इन्द्रियावी भूयासम्" मन्त्रसे आहुति दे सकता है (पृष्ठसं० ४३९)।

---

१. भारश्रौसू० (७.२०.१-२)।

२. काश्रौसू० (६.८.१३-१४, शब्रा० ३.८.३.२९, भारश्रौसू० ७.२०.३-४)।

३. घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा (वासं० ६.१९)। घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा त्वा अन्तरिक्षाय (तैसं० १.३.१०)।

४. काश्रौसू० (६.८.१६, शब्रा० ३.८.३.३२, भारश्रौसू० ७.२०.५)।

५. देवयाज्ञिकपद्धति, (पृष्ठसं० २२५, शब्रा० ३.८.३.३२)।

वसाके शेष भागकी आहुतिका दिशाओंमें भी विधान किया गया है, जिसके अनुसार प्रतिप्रस्थाता मन्त्रके[१] द्वारा पूर्वकी ओर, मन्त्रके[२] साथ दक्षिणकी ओर, मन्त्रके[३] साथ पश्चिमकी ओर, मन्त्रके[४] साथ उत्तरकी ओर, मन्त्रके[५] साथ मध्यमें और अन्तमें सर्वत्र मन्त्रके[६] साथ वसाके शेष भागकी आहुति देता है ।[७] भारद्वाज (७.२०.९) ने अन्तिम आहुति पूर्वकी ओर देनेका निर्देश दिया है जिसके लिए मन्त्रका[८] विनियोग किया गया है ।

वनस्पतियाग

प्रदक्षिण क्रमसे आवर्तन करके पृषदाज्यस्थालीसे आज्य जुहूमें ग्रहण करके अध्वर्यु मैत्रावरुणको प्रैष करता है—"वनस्पतये अनुब्रूहि" । इसके पश्चात् श्रौषट् करके अध्वर्यु फिर मैत्रावरुणको यह प्रैष "वनस्पतये प्रेष्य" कहकर वन[९]स्पतिके लिए आहुति देता है ।[१०] इस अवसरपर मैत्रावरुण पुरोनुवाक्याका[११] पाठ करके याज्याके लिए होताको प्रेरित करत है, तब होता याज्याका[१२] पाठ करता है (तैसं० १.३.१० पर सायणभाष्य) । इस प्रकार वनस्पतियाग कृत्य सम्पन्न होता है ।

---

१. "दिशः" (तैसं० १.३.१०)।
२. "प्रदिशः" (तैसं० १.३.१०)।
३. "आदिशः" (तैसं० १.३.१०)।
४. "विदिशः" (तैसं० १.३.१०)।
५. "उद्दिशः" (तैसं० १.३.१०)।
६. "स्वाहा" (तैसं० १.३.१०)।
७. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ४३९, बौश्रौसू० ४.९, आपश्रौसू० ७.२५.१०-१२, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २२६, काश्रौसू० ६.८.२०-२१, शब्रा० ३.८.३.३६)।
८. स्वाहा दिग्भ्यो नमो दिग्भ्यः (तैसं० १.३.१०)।
९. वनस्पतिर्वृक्षस्तथाविधशरीरयुक्तां देवतां यजेत् (ऐब्रा० २.१.१० पर सायण भाष्य)।
१०. देवयाज्ञिकपद्धति, (पृष्ठसं० २२५, तैसं० ६.३.११ सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४४०, काश्रौसू० ६.८.१७, भारश्रौसू० ७.२०.१०-१२, शब्रा० ३.८.३.३३)।
११. देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम् । प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः (तैब्रा० ३.६.११.२)।
१२. वनस्पते रशनया अभिधाय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान् । वह देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः (तैब्रा० ३.६.१२.१)।

स्विष्टकृत् याग

उपभृत् के अवदानोंको जुहूमें डालकर अध्वर्यु मैत्रावरुणको प्रैष "अग्नये-स्विष्टकृते अनुब्रूहि" करता है, तब उसके पश्चात् श्रौषट् करके अध्वर्यु "अग्नये स्विष्टकृते प्रेष्य" यह प्रैष मैत्रावरुणको करता है । इसके पश्चात् वषट्कार करके आहुति देता है ।[१] अग्निस्विष्टकृत् के लिए ही यह आहुति दी जाती है, (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठ सं० २२६) । अग्निस्विष्टकृत् के लिए पुरोनुवाक्या[२] और याज्याका[३] पाठ किया जाता है (श्रौतकोश, पृष्ठसं० २१२) ।

कात्यायनने इस अवसरपर वसाके शेष भागके होमका विधान किया है (काश्रौसू० ६.८.२०-२१) ।

अंगोंका स्पर्श करना

स्रुचोंको उनके स्थानपर रख देनेके पश्चात् पशुके अंगोंके स्पर्श करनेकी रीतिका पालन किया जाता है । शब्रा० (३.८.३.३६) ने कहा है कि पशुका स्पर्श करनेका यही एक अवसर है और इस समय सबको निःशंक होकर पशुका स्पर्श करना चाहिए, यह क्रिया मन्त्र[४] के द्वारा निष्पन्न की जाती है ।[५]

इस प्रकार सबसे पहले पात्रासादन आदि प्रमुख क्रियाएँ पशुपुरोडाशके लिए करके, फिर पशुके अंगोंको स्वधितिके द्वारा अलग करना, फिर उन अंगोंके भी टुकड़े करना, पशुके मलको गड्ढेमें रखना, उसपर पशुके रुधिरको डालना, फिर पशुको पकाना, पकनेपर पशुपुरोडाशकी आहुति देना, पशुके हृदयका अभिघारण करना, पशुके हृदय आदि अंगोंको काटना, आज्यका उपस्तरण करना, मैत्रावरुणके प्रति प्रैष कहना, वसाको ग्रहण करना, उसमें आज्यको मिलाना, फिर शेष वपाको

---

१. शब्रा० (३.८.३.३४, काश्रौसू० ६.८.१९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ४४०, भारश्रौसू० ७.२०.१३-१५) ।

२. पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ विद्वाँ ऋतूँर्ऋतुपते यजेह । ये दैव्या ऋत्विजस्तेभिरग्ने त्वं होतॄणामस्यायजिष्ठः (ऋसं० १०.२.१) ।

३. अग्ने यदद्य विशो अध्वरस्य होतः पावकशोचे वेष्ट्वं हि यज्वा । ऋता यजासि महिना वि यद् भूर्हव्या वह यविष्ठ या ते अद्य (ऋसं० ६.१५.१४) ।

४. ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे नि दीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः । देव त्वष्टर्भूरि ते सं समेतु सलक्ष्मा यद् विषुरूपं भवाति (वासं० ६.२०, तैसं० १.३.१०) ।

५. शब्रा० (३.८.३.३७, काश्रौसू० ६.९.१) ।

इडापात्रमें डालकर पशुके अंगोंको भी डालना, पशुकी गुदाको तथा उसके पुच्छ भागको किसी सुरक्षित स्थानपर रखना, मैत्रावरुणके प्रति प्रैष कहना, फिर वसा की आहुति देना फिर वनस्पति तथा स्विष्टकृत् याग निष्पन्न करके अन्तमें पशुके स्पर्शकी क्रियाके साथ उक्त पशुपुरोडाश यागका कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है ।

उपयड्ढोम

पशुयागके अन्तर्गत प्रयाज,[१] अनुयाज[२] तथा उपयाज[३] संज्ञक आहुतियाँ दी जाती है, जिनके लिए पशुकी गुदाके तीन भाग किये जाते हैं, जिनमें पहला तिहाई भाग उपयाजके लिए, दूसरा तिहाई भाग जूहूमें तथा तीसरा तिहाई भाग उपभृत में रक्खा जाता है (शब्रा० ३.८.४.४, १०) ।

अनुयाजके लिए पहले पृषदाज्य ग्रहण किया जाता है, जिसे ध्रुवागत आज्य ग्रहण करनेसे पूर्व ही जुहू और उपभृतसे ले लिया जाता है । इसी पृषदाज्यसे अनुयाजाहुति दी जाती है, यह क्रिया चातुर्मास्यमें भी की जाती है, जिसका उल्लेख कात्यायन (५.४.२४) ने किया है ।

अनुयाजके पश्चात् उपयाज आहुति दी जाती हैं, जिसके लिए सर्वप्रथम आग्नीध्रीयसे अथवा शामित्राग्निसे आग्नीध्र जलते हुए अंगारे लाकर होताकी धिष्ण्यामें स्थापित करता है तथा प्रतिप्रस्थाता श्रोणीके समीपमें उपयड्ढोमके लिए गुदा लेकर बैठता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठ सं० २२६) ।

इस अवसरपर होता अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनोंके लिए उपयाजार्थ वषट्कार करता है (शब्रा० ३.८.४.१०) । तब अनुयाज आहुति के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता लिए हुए गुदाके ग्यारह ग्यारह तिरछे टुकड़े काटकर अनुयाजोंके लिए

---

१. दर्शपूर्णमासादिके अन्तर्गत ऋतुदेव परमात्माके उद्देशसे जो समिध नामक घृतकी पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, उनका नाम प्रयाज है (मीमांसार्य भाष्य, पृष्ठसं० २९२)। प्रधानयागात्पूर्वमिज्यते यैस्ते प्रयाजाः(काश्रौसू० पृष्ठसं० ३१)।

२. प्रधानयागके अनन्तर जिन्हें पढ़कर ब्रह्मा यजन करता है। (अनु पश्चात् प्रधानयागान्तरमिज्यते) इस व्युत्पत्तिसे वे याज्यामन्त्र अनुयाज कहलाते हैं। (सूर्यकान्तका वैदिककोश पृष्ठसं० ३९४, श्रौपनि० पृष्ठसं० ३६)।

३. अथ यद् यजन्तमुपयजति तस्मादुपयजो नाम (शब्रा० ३.८.४.१०)। अनूयाजसमीप इज्यन्त इत्युपयजः(तैसं० १.३.११ पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ४७१)।

किये गए प्रत्येक वषट्कारपर एक एक गुदकाण्डकी हाथसे ग्यारह आहुति मन्त्रोंसे[1] देता है ।[2]

सरलावृत्तिकारने स्पष्ट किया है कि अध्वर्युके द्वारा अनुयाजके लिए आहुति देने पर पीछे प्रतिप्रस्थाता आहुति देता है । (काश्रौसू० ६.९.१० पर सरलावृत्ति) ।

इस कृत्यमें गुदाके तीसरे भागके ग्यारह टुकड़े करके ग्यारह मन्त्रोंसे उन टुकड़ोंकी आहुति दी जाती है, इसीलिए सायणने इस कृत्यको गुदकाण्डहोमसे अभिहित किया है ।

मुखस्पर्श

इस अवसरपर कात्यायन आदिने प्रतिप्रस्थाता द्वारा मुखस्पर्श करनेका उल्लेख किया है[3] किन्तु तैसं० (१.३.११) तथा कुछ श्रौतसूत्रकारोंने उक्त क्रियासे पूर्व हाथमें लगी हुई सामग्रीको बर्हि पर डालनेका विधान किया है (भारश्रौसू० ७.२१.१३, आपश्रौसू० ७.२६.१२) । इस क्रियाके लिए मन्त्रका[4] विधान प्राप्त होता है । कात्यायनने इस क्रियाका उल्लेख नहीं किया है ।

जिस मन्त्रका[5] विनियोग कात्यायन और भारद्वाजने स्पर्श करनेमें किया है, उसी मन्त्रका विनियोग आपस्तम्ब (७.२६.१२) ने जपमें किया है । भट्टभास्करने उक्त क्रियाका विधान ही नहीं किया बल्कि उक्त क्रियाका मन्त्र, जिसे भारद्वाजने कहा है, वह मन्त्र 'अद्भ्यस्त्वा' के साथ मिलाया है जिसका विनियोग भारद्वाजने बर्हिपर सामग्री डालनेके निमित्त किया है । इसके साथ साथ भट्ट भास्करने मन्त्रका[6]

---

१. समुद्रं गच्छ स्वाहा ॥ अन्तरिक्षं गच्छं स्वाहा । देवं सवितारं गच्छ स्वाहा । मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा ॥ अहोरात्रे गच्छ स्वाहा । छन्दांसि गच्छ स्वाहा । द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा । यज्ञं गच्छ स्वाहा । सोमं गच्छ स्वाहा । दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा ॥ (वासं० ६.२१, तैसं० १.३.११) ।

२. काश्रौसू० (६.९.१०, शब्रा० ३८.४.११-३८.५.४, मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० २३४, आपश्रौसू० ७.२६.९-१२ देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० २२७, भारश्रौसू० ७.२१.१२) ।

३. काश्रौसू० (६.९.११, शब्रा० ३८.५.५) ।

४. भट्टभास्करके अनुसार "अद्भ्यस्त्वा ओषधीभ्यो मनो मे हार्दि यच्छ", आपश्रौसू० के अनुसार "अद्भ्यस्त्वा ओषधीभ्यः" ।

५. मनो मे हार्दि यच्छ (वासं० ६.२१, तैसं० १.३.११) ।

६. तनूं त्वचं पुत्रं नप्तारमशीय (तैसं० १.३.११) ।

उल्लेख धुएँको देखनेके निमित्त किया है, जिसका अन्तर्भाव आपश्रौसू० ने जपमें तथा भारद्वाजने और कात्यायनने स्पर्श करनेमें किया है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार विनियोग भिन्न भिन्न हैं और उन उन विनियोगोंमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्रोंका किस प्रकार भिन्न भिन्न विधान सूत्रकारों और भाष्यकारों ने किया है। प्राय: ऐसी स्थिति यत्र तत्र देखनेको मिल जाती है, जबकि एक सूत्रकार एक ही मन्त्रका विनियोग कुछ और दूसरा सूत्रकार उसी मन्त्रका विनियोग कुछ और कर रहा है।

स्वरुहोम

स्वरुहोमसे पूर्व यूपोत्पाटनकी क्रियाका उल्लेख देवयाज्ञिकने किया है (पृष्ठसं० २२७)। शब्रा० ने स्वरुके होमका कोई उल्लेख नहीं किया।

ग्यारह आहुति दे चुकनेपर अध्वर्यु पुन: वेदी पारकरके उत्तरकी ओर जाकर जुहूके आज्यसे स्वरुपर लेप करके मन्त्रके[1] के द्वारा आहुति देता है।[2] कात्यायनके अनुसार जुहूमें स्वरु रखकर फिर उस स्वरुकी आहुति दी जाती है, जिसके लिए मन्त्र[3] पढ़ा जाता है,[4] जो काठक संहितामें उल्लिखित मन्त्रसे कुछ भिन्न हैं। भारद्वाजने काठक संहिताका मन्त्र प्रयुक्त किया है, जबकि कात्यायनने वाजसनेयि शाखाका, किन्तु दोनोंमें किंचित् भेद अवश्य है।

पत्नीसंयाज

देवयाज्ञिकके अनुसार वज्र लेकर होता, स्रुक् लेकर अध्वर्यु, पशुकी पूँछ लेकर आग्नीध्र पत्नीसंयाजके लिए गार्हपत्यकी ओर चलते हैं (पृष्ठ सं० २२८)। अब पशुकी पूँछसे पत्नीसंयाजकी आहुति दी जाती है। देवताओंकी पत्नीके लिए पूँछका भीतरी भाग और लोमवाला भाग गृहपति अग्निके लिए निकाला जाता है। इस अवसरपर कहा गया है कि यदि यजमान चार भागोंकी आहुति दे तो चार भाग और यदि पाँच भागोंकी आहुति दे तो पाँच भाग करने चाहिए। सभी स्रुचियोंसे घी लेकर प्रस्तरपर लेप किया जाता है, इससे पूर्व जुहूकी तथा उपभृतकी स्रुचियों

---

१. द्यां ते धर्मो गच्छत्वन्तरिक्षमचि: पृथिवी भस्मना पृणस्व स्वाहा (कासं० ३.३)।

२. भारश्रौसू० (७.२२.१)।

३. दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा (वासं० ६.२१)।

४. काश्रौसू० (६.९.१२, मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० २३४)।

को अलग कर दिया जाता है । इसके पश्चात् सब स्रुचियोंपर अवशिष्ट घी गिरा दिया जाता है, पुन: सब स्रुचियाँ ले जाकर गाड़ीके बाँसके पास ले जा रक्खी जाती है । मैत्रावरुणको "सूक्तवाकाय सूक्ता प्रेष्य" प्रैष किया जाता है, तब होता सूक्तवाकका[१] पाठ करता है ।[२]

पशुके अंगोंका विभाजन

पत्नीसंयाजकी आहुति दी जानेके पश्चात् भारद्वाजने पशुके अंगोंका विभाजन किया है, कात्यायनने इस प्रकारके कृत्यका कोई उल्लेख नहीं किया है । भारश्रौसू० (७.२२.१३-१५) के अनुसार अध्वर्यु पशुकी पूँछका माँसल भाग इडाके रूपमें होताको, लोमयुक्त भाग आग्नीध्रको, पशुके आगेवाला हाथ शमिताको देता है, यजमानपत्नी अध्वर्युको पूँछका शेष भाग अर्पित करती है । ऐब्रा० (७.१.१) तथा गोब्रा० (१.३.१८) ने पशुके अंगोंके छत्तीस विभाग किये हैं, जिनको ऋत्विजोंमें बाँट दिया जाता है । उदाहरणके लिए जिह्वा सहित दोनों ठुड्डी प्रस्तोताको, श्येनाकार वक्ष उद्गाताको, कण्ठ और ककुद प्रतिहर्ताको, दक्षिण श्रोणी (ऊरु मूल) होताको, बाँई

---

१. इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत् । आर्ध्म सूक्तवाकम् । उत नमोवाकम् । ऋध्यास्म सूक्तोच्यमग्ने त्वं सूक्तवागसि । उपश्रितो दिवः पृथिव्योः । ओमन्वती तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवीस्ताम् । शंगये जीरदानू । अत्र स्नू अप्रवेदे । उरुगव्यूती अभयं कृतौ । वृष्टिद्यावारीत्यापा । शंभुवौ मयोभुवौ ॥ ऊर्जस्पती च पयस्वती च । सूपचरणा च स्वधिचरणा च । तयोराविदि । अग्निरिदं हविरजुषत । अवीवृधत महोज्यायोऽकृत । सोम इदं हविरजुषत । अवीवृधत महोज्यायोऽकृत । अग्निरिदं हविरजुषत ॥ अवीवृधत महोज्यायोऽकृत । प्रजापतिरिदं हविरजुषत । अवीवृधत महोज्यायोऽकृत । अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम् । अवीवृधेतां महोज्यायो क्राताम् । इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम् । अवावृधेतां महोज्यायो क्राताम् । इन्द्र इदं हविरजुषत । अवीवृधत महोज्यायोऽकृत । महेन्द्र इदं हविरजुषत । अवीवृधत महोज्यायोऽकृत । देवा आज्यपा आज्यमजुषन्त । अवीवृधन्त महोज्यायो कृत । अग्निहोत्रेणेदं हविर जुषत । ऋवीवृध्धत महोज्यायोऽकृत । अस्यामृधद्धोत्रायां देवंगमायाम् । आशास्ते यं यजमानोऽसौ । आयुराशास्ते सुप्रजास्त्वमाशास्ते । सजातवनस्यामाशास्ते । उतरां देवयज्यामाशास्ते । भूयो हविष्करणमाशास्ते । दिव्यं धामा शास्ते । विश्वं प्रियमाशास्ते । यदनेन हविषा शास्ते । तदश्यातदृध्यात् । तदस्मै देवा रासन्ताम् । तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनते । वयमग्नेर्मानुषाः । इष्टं च वीतं च । उभे च नो द्यावापृथिवी अंहसः स्पाताम् । इह गतिर्वामस्येदं च । नमो देवेभ्यः(तैब्रा० ३.५.१०) ।

२. भारश्रौसू० (७.२२.५) ।

श्रोणी ब्रह्माको, ऊरुका दायाँ अधोभाग (सक्थि) मैत्रावरुणको, ऊरुका बायाँ अधोभाग (सक्थि) ब्राह्मणाच्छंसिको, दक्षिण अंससे युक्त दक्षिण पार्श्व अध्वर्युको, बायाँ पार्श्वमात्र उपगातृको, बायाँ अंस प्रतिप्रस्थाताको, दायाँ बाहु नेष्टा तथा बायाँ बाहु पोताको, दायाँ ऊरु अच्छावाक तथा बायाँ आग्नीध्रको, दायाँ बाहु आत्रेयको तथा बायाँ बाहु सदस्यको, सद और अनूक[1] गृहपतिको, दक्षिण पाद गृहपतिको भोजन देने वाले पुरुषको, सव्य पाद गृहपतिकी पत्नीको भोजन देने वाले पुरुषको, ओष्ठ गृहपति को, पूँछ किसी ब्राह्मण को, तीन कीकसा (स्कन्धका मांस शकल) ग्रावस्तुतको, तीन कीकसा उन्नेताको, दोनों क्लोम शमिताको। इस अवसरपर कहा गया है कि यदि शमिता ब्राह्मण हो तो उस स्थितिमें दोनों क्लोम किसी ब्राह्मणको दे देने चाहिये। शिर सुब्रह्मण्याको, अजिनचर्म आग्नीध्रको, इडा सबकी होती है किन्तु असाधारण अवस्थामें इडा होताको दी जाती है, इस प्रकार पशुके छत्तीस अंग छत्तीस व्यक्तियोंको दिये जाते हैं, उपर्युक्त क्रम ऐब्रा० के अनुसार है, गोब्रा० ने भी इसी प्रकार पशुके छत्तीस विभाग करनेका विधान किया है किन्तु कहीं कहीं ऐब्रा० तथा गोब्रा० में किंचित् भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, यथा, गोब्रा० (१.३.१८) के अनुसार ब्रह्माको बाई श्रोणी न देकर दायाँ कूल्हा दिया जाता है, आग्नीध्रको अजिन चर्म न देकर हृदय, दो अण्डकोश, अंगुलियाँ के जोड़, दाहिनी भुजा देनेका विधान किया है। इसी प्रकार गोब्रा० ने होतृको दक्षिण श्रोणीके स्थानपर सव्य श्रोणी देनेका विधान किया है, मैत्रावरुणको दाएँ ऊरुके अधोभागके स्थानपर बाएँ ऊरुके अधोभाग देने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार गोब्रा० ने होतृको दक्षिण श्रोणीके स्थानपर सव्य श्रोणी देनेका विधान किया है। इस प्रकार जहाँ दोनोंके क्रममें समानता है वहीं किसी ऋत्विज् को देनेके लिए पशुके अंगोंके क्रममें मतभेद भी है। पशुके अंगोंके विभाजनका जितने विस्तारसे ब्राह्मण ग्रन्थोंने उल्लेख किया है, उतने विस्तारसे वर्णन सूत्रकारोंने नहीं किया है, उन्होंने केवल पशुके एक दो अंगोंका ही उल्लेख किया है, जिसको होता, आग्नीध्र तथा अध्वर्युके लिए रख लिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य अंगोंको न ही स्पष्ट किया और न ही यह उल्लेख किया कि कौन सा अंग किसको देना चाहिए।

---

१. अनूकं मूत्रवस्तिः स्यात्सास्नेत्येके वदन्ति च। सदं तु पृष्ठवंशः स्यादेतद् गृहपतेर्द्वयम्॥ उक्त श्लोक सायणने ऐब्रा० (७.१.१) के भाष्यमें उद्धृत किया है।

समिष्टयजुकी आहुति

भारश्रौसू० (७.२२.१७) ने इस अवसरपर समिष्टयजुकी तीन आहुतियोंको मन्त्रके[1] द्वारा देनेका विधान किया है।

समिष्टयजुकी तीन आहुतियाँ दिये जानेके पश्चात् सब ऋत्विज् चात्वाल और उत्करके बीचसे होकर बाहर निकल जाते हैं (भारश्रौसू० ७.२२.१८)।

देवयाज्ञिकने यद्यपि समिष्टयजुकी तीन ही आहुतियोंका उल्लेख किया है किन्तु विकल्पके रूपमें उसने भिन्न मन्त्र "याँ आवह" का उल्लेख किया है, जिसका विधान भारद्वाज ने नहीं किया[2]।

हृदयशूलका उपूगहन

देवयाज्ञिकपद्धतिके अनुसार बर्हिहोमके पश्चात् सभी ऋत्विज्, यजमान और उसकी पत्नी हृदयशूलके साथ तडागादिके समीप चलते हैं। वहाँ जाकर अध्वर्यु जलमें घुसकर मन्त्रके[3] साथ ऐसे स्थानपर उस हृदयशूलको गाड़ते हैं, जहाँ सूखी और गीली भूमिका सन्धिस्थल हो। यदि तडागादिके समीप जाना सम्भव न हो सके तो उस स्थितिमें हृदयशूलको यूपके पूर्व देशमें जलपात्रसे जल गिराकर तब सूखी और गीली भूमिके बीचमें गाड़ दिया जाता है। पशुका हृदय इसी काटें में पिरोकर पकाया जाता है, अब इसके कार्यकी निवृत्ति हो चुकी है, अतः पशुसंज्ञपनके पश्चात् उसको भूमिमें गाड़ा जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २२९)। सूत्रकारोंने हृदयशूलके उपगूहनका विधान किया है।[4] तैसं० (६.४.१) ने उद्वासन कालमें ध्यानका भी वर्णन किया है।

अभिमन्त्रण अथवा उपस्पर्शन

जहाँ कहीं भी हृदयशूल गाड़ा गया हो वहीं यजमान और ऋत्विज् मन्त्रसे[5] जलका स्पर्श करते हैं (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठ सं० २२९)। कात्यायनने दो

---

१. यज्ञ यज्ञं गच्छ। एष ते यज्ञो यज्ञपते॥ देवा गातुविदः (तैसं० १.४.४४.३)।
२. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठसं० २२८)।
३. शुगसि तमभि शोचयोऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (तैसं० १.३.११)।
४. बौश्रौसू० (४.१०-११, काश्रौसू० ६.१०.३, भारश्रौसू० ७.२३.२)।
५. सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (वासं० ६.२२)।

श्रोणी ब्रह्माको, ऊरुका दायाँ अधोभाग (सक्थि) मैत्रावरुणको, ऊरुका बायाँ अधोभाग (सक्थि) ब्राह्मणाच्छंसिको, दक्षिण अंससे युक्त दक्षिण पार्श्व अध्वर्युको, बायाँ पार्श्वमात्र उपगातृको, बायाँ अंस प्रतिप्रस्थाताको, दायाँ बाहु नेष्टा तथा बायाँ बाहु पोताको, दायाँ ऊरु अच्छावाक तथा बायाँ आग्नीध्रको, दायाँ बाहु आत्रेयको तथा बायाँ बाहु सदस्यको, सद और अनूक[1] गृहपतिको, दक्षिण पाद गृहपतिको भोजन देने वाले पुरुषको, सव्य पाद गृहपतिकी पत्नीको भोजन देने वाले पुरुषको, ओष्ठ गृहपति को, पूँछ किसी ब्राह्मण को, तीन कीकसा (स्कन्धका मांस शकल) ग्रावस्तुतको, तीन कीकसा उन्नेताको, दोनों क्लोम शमिताको। इस अवसरपर कहा गया है कि यदि शमिता ब्राह्मण हो तो उस स्थितिमें दोनों क्लोम किसी ब्राह्मणको दे देने चाहिये। शिर सुब्रह्मण्याको, अजिनचर्म आग्नीध्रको, इडा सबकी होती है किन्तु असाधारण अवस्थामें इडा होताको दी जाती है, इस प्रकार पशुके छत्तीस अंग छत्तीस व्यक्तियोंको दिये जाते हैं, उपर्युक्त क्रम ऐब्रा० के अनुसार है, गोब्रा० ने भी इसी प्रकार पशुके छत्तीस विभाग करनेका विधान किया है किन्तु कहीं कहीं ऐब्रा० तथा गोब्रा० में किंचित् भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, यथा, गोब्रा० (१.३.१८) के अनुसार ब्रह्माको बाईं श्रोणी न देकर दायाँ कूल्हा दिया जाता है, आग्नीध्रको अजिन चर्म न देकर हृदय, दो अण्डकोश, अंगुलियाँ के जोड़, दाहिनी भुजा देनेका विधान किया है। इसी प्रकार गोब्रा० ने होतृको दक्षिण श्रोणीके स्थानपर सव्य श्रोणी देनेका विधान किया है, मैत्रावरुणको दाएँ ऊरुके अधोभागके स्थानपर बाएँ ऊरुके अधोभाग देने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार गोब्रा० ने होतृको दक्षिण श्रोणीके स्थानपर सव्य श्रोणी देनेका विधान किया है। इस प्रकार जहाँ दोनोंके क्रममें समानता है वहीं किसी ऋत्विज् को देनेके लिए पशुके अंगोंके क्रममें मतभेद भी है। पशुके अंगोंके विभाजनका जितने विस्तारसे ब्राह्मण ग्रन्थोंने उल्लेख किया है, उतने विस्तारसे वर्णन सूत्रकारोंने नहीं किया है, उन्होंने केवल पशुके एक दो अंगोंका ही उल्लेख किया है, जिसको होता, आग्नीध्र तथा अध्वर्युके लिए रख लिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य अंगोंको न ही स्पष्ट किया और न ही यह उल्लेख किया कि कौन सा अंग किसको देना चाहिए।

---

१. अनूकं मूत्रवस्तिः स्यात्सास्नेत्येके वदन्ति च। सदं तु पृष्ठवंशः स्यादेतद् गृहपतेर्द्वयम्॥ उक्त श्लोक सायणने ऐब्रा० (७.१.१) के भाष्यमें उद्धृत किया है।

समिष्टयजुकी आहुति

भारश्रौसू० (७.२२.१७) ने इस अवसरपर समिष्टयजुकी तीन आहुतियोंको मन्त्रके[१] द्वारा देनेका विधान किया है।

समिष्टयजुकी तीन आहुतियाँ दिये जानेके पश्चात् सब ऋत्विज् चात्वाल और उत्करके बीचसे होकर बाहर निकल जाते हैं (भारश्रौसू० ७.२२.१८)।

देवयाज्ञिकने यद्यपि समिष्टयजुकी तीन ही आहुतियोंका उल्लेख किया है किन्तु विकल्पके रूपमें उसने भिन्न मन्त्र "याँ आवह" का उल्लेख किया है, जिसका विधान भारद्वाज ने नहीं किया[२]।

हृदयशूलका उपूगहन

देवयाज्ञिकपद्धतिके अनुसार बर्हिहोमके पश्चात् सभी ऋत्विज्, यजमान और उसकी पत्नी हृदयशूलके साथ तडागादिके समीप चलते हैं। वहाँ जाकर अध्वर्यु जलमें घुसकर मन्त्रके[३] साथ ऐसे स्थानपर उस हृदयशूलको गाड़ते हैं, जहाँ सूखी और गीली भूमिका सन्धिस्थल हो। यदि तडागादिके समीप जाना सम्भव न हो सके तो उस स्थितिमें हृदयशूलको यूपके पूर्व देशमें जलपात्रसे जल गिराकर तब सूखी और गीली भूमिके बीचमें गाड़ दिया जाता है। पशुका हृदय इसी काटें में पिरोकर पकाया जाता है, अब इसके कार्यकी निवृत्ति हो चुकी है, अतः पशुसंज्ञपनके पश्चात् उसको भूमिमें गाड़ा जाता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० २२९)। सूत्रकारोंने हृदयशूलके उपगूहनका विधान किया है।[४] तैसं० (६.४.१) ने उद्वासन कालमें ध्यानका भी वर्णन किया है।

अभिमन्त्रण अथवा उपस्पर्शन

जहाँ कहीं भी हृदयशूल गाड़ा गया हो वहीं यजमान और ऋत्विज् मन्त्रसे[५] जलका स्पर्श करते हैं (देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठ सं० २२९)। कात्यायनने दो

---

१. यज्ञ यज्ञं गच्छ। एष ते यज्ञो यज्ञपते ॥ देवा गातुविदः (तैसं० १.४.४४.३)।

२. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठसं० २२८)।

३. शुगसि तमभि शोचयोऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (तैसं० १.३.११)।

४. बौश्रौसू० (४.१०-११, काश्रौसू० ६.१०.३, भारश्रौसू० ७.२३.२)।

५. सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (वासं० ६.२२)।

मन्त्रोंका[१] उल्लेख किया है, जिनके द्वारा जलका स्पर्श किया जाता है (काश्रौसू० ६.१०.५)। कात्यायनने जिन दो मन्त्रोंका उल्लेख किया उनमें पहले मन्त्रका विनियोग भारद्वाजने आदित्यके उपस्थानमें और दूसरे मन्त्रका विनियोग चात्वालपर मार्जनके निमित्त किया है। आदित्यके उपस्थानमें भारद्वाजने एक और मन्त्रका[२] उल्लेख किया है (भारश्रौसू० ७.२३.३)। गिरिधरभाष्यके अनुसार काण्व शाखा-वाले मार्जन तथा माध्यन्दिन शाखा वाले अभिमन्त्रण करते हैं (पृष्ठ सं० २५५)। देवयाज्ञिकने विकल्पके रूपमें दोनोंका विधान किया है—अभिमन्त्रणका भी और उपस्पर्शनका (पृष्ठसं० २२९) भी।

अन्तमें कुछ अन्य क्रियाएँ

भारश्रौसू० (७.२३.४-८) में कहा गया है कि चात्वालपर मार्जन करनेके उपरान्त सभी ऋत्विज् और यजमान पत्नी सहित वापिस पीछे देखे बिना लौट आते हैं, मन्त्रके[३] साथ प्रत्येक एक एक समिधा आहवनीयमें डालकर मन्त्र[४] पढ़ते हैं। यजमानकी पत्नी भी गार्हपत्यमें उपर्युक्त मन्त्रके साथ ही समिधा डालती है और अन्तमें यजमान मन्त्रके[५] साथ यूपकी प्रार्थना करता है।

इस प्रकार इन सब कृत्योंके साथ उपयड्ढोमसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है।

पश्वैकादशिनी

तैसं० (६.५.५) में स्पष्टत: पशवैकादशिनीका विधान प्राप्त होता है, अत: यजमान विकल्पमें श्रुतिके विधानके अनुसार एकादशिनीका यजन करता है।

---

१. पहला मन्त्र तो "सुमित्रया" है जो पूर्व पृष्ठकी टिप्पणी ५ में दिखा दिया है, दूसरा मन्त्र इस प्रकार है-धाम्नो धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च (वासं० ६.२२)। तैसं० (१.३.११) में यही मन्त्र इस प्रकार है-धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण नो मुञ्च यदापो अघ्निया वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च॥

२. उदुत्तमं वरुण पाशं (तैसं० १.५.११.३)।

३. एधोऽस्येधिषीमहि (तैसं० १.४.४५.३)।

४. अपो अन्वचारिषम् (तैसं० १.४.४५.३)।

५. आशासानः सुवीर्यम् (तैसं० ३.५.५.३)।

शब्रा० (३.९.१.५) में कहा गया है कि जो इस प्रकार अनुष्ठान करता है, उस यजमानके पुत्रों तथा पशुओंकी समृद्धि होती है ।

पश्वैकादशिनी पक्षमें ग्यारह यूपोंकी स्थापना की जाती है फिर उन यूपोंमें क्रमशः अग्नि, सरस्वती, सोम, पूषा, बृहस्पति, विश्वेदेव, इन्द्र, मरुत्, इन्द्राग्नी, सविता तथा वरुणके लिए पशुओंको नियुक्त करके उनका क्रमशः ही आलभन किया जाता है ।

कात्यायनने विधान किया है कि यदि ग्यारह यूपोंकी स्थापना न की जाय तो पश्वैकादशिनीके लिए उस एक ही यूपमें पहले अग्नि देवताके पशुको नियोजित करके उसके उत्तरमें उस अग्नि वाले पशुके गलेमें सरस्वतीके पशुको बाँध दिया जाय, फिर सरस्वती वाले पशुके गलेमें उत्तरकी ओर ही सोमके पशुको बाँध दे और इसी प्रकार अन्य पशुओंको भी उत्तर-उत्तर दिशा में एकके गलेमें एक पशु को बाँध दिया जाय, इस प्रकार पश्वैकादशिनी पक्षमें एक ही यूपसे भी यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है (काश्रौसू० ८.८.२६) । संज्ञपनके सम्बन्ध में कहा गया है कि पहले अग्निके पशुको दक्षिण की ओर आलभन किया जाय और फिर उसके उत्तर-उत्तर दिशामें सारस्वत आदि पशुओंका संज्ञपन किया जाय (काश्रौसू० ८.८.२८) ।

वपाकी आहुति भी सबसे पहले अग्निके पशुकी दी जाती है तथा उस पशुकी आहुति भी सबसे पहले ही दी जाती है (शब्रा० ३.९.१.२६-२७) ।

वसतीवरीग्रहण विधि

अग्निषोमीय पशुसे सम्बन्धित सम्पूर्ण कर्मकाण्डका पूर्वोक्त परिच्छेदों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है, इसके पश्चात् सबसे महत्वपूर्ण कृत्य सम्पन्न किया जाता है, जो सोमरससे सम्बन्धित है ।

अग्निष्टोमके अन्तिम दिन सोमरस निकाला जाता है, जिसके लिए पहले दिन अर्थात् चौथे दिन ही जल ग्रहण किया जाता है, इस जलको वसतीवरी[१] नामसे अभिहित किया गया है । चौथे दिन सम्पन्न होने वाला यह कृत्य कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि जलग्रहण की प्रत्येक क्रिया श्रुति विहित तथा समन्त्रक की जाती है ।

---

१. अभिषुतस्य सोमस्य वर्द्धनार्थं याः आपः सोमरसेन सह संसृज्यन्ते ता वसतीवर्य उच्यन्ते (काश्रौसू० ८.९.६ पर सरलावृत्ति, तैसं० ६.४.२.१) ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रौतयागकी छोटीसे छोटी क्रिया भी श्रुतिके विधानके अनुसार तथा मन्त्र सहित ही की जाती है, अत: श्रौतयागसे सम्बन्धित कोई भी क्रिया साधारण नहीं मानी जा सकती, प्रत्येक क्रिया महत्वपूर्ण है और सभी क्रियाएँ कुछ न कुछ दार्शनिक आधार ग्रहण किये हुए होती है, इसी प्रकार वसतीवरी जलग्रहण की क्रिया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है । ऐतरेय ब्राह्मण (८.३.२) में कहा गया है कि वसतीवरी तथा (सुत्यादिनके दिन ग्रहण किये जाने वाले) एकधन नामक जल अति प्रशस्त, प्रत्युत्थानके योग्य तथा प्रदक्षिणाके योग्य हैं । जो जल इतना आदरणीय है वह निश्चित रूपसे महत्वपूर्ण होगा ही, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

जल ग्रहण करनेका स्थान

वसतीवरीजल ग्रहण करनेके लिए जलाशयका उल्लेख सूत्रग्रन्थों तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है ।[1] सरोवरके किनारों पर स्थित स्थावर जल ग्रहण करनेका (तैसं० ६.४.२) ने निषेध किया है । रुका हुआ जल यज्ञकार्योंमें श्रेष्ठ नहीं माना जाता अत: वसतीवरी जल बहते हुए स्रोतसे ही ग्रहण किया जाता है ।[2] जलाशयके सम्बन्धमें आप० श्रौसू० (११.२०.५) तथा मैसं० (४.५.१) ने कहा है कि वह किसी पहाड़ीसे स्रोतके रूपमें निकला हुआ होना चाहिए ।

बहते हुए जलमें घड़ा डुबोना

वसतीवरीजल ग्रहण करनेके लिए अध्वर्यु उस ओर मुख करता है जिस ओर जलका प्रवाह है, तब मन्त्रके[3] साथ खड़ा होकर जलमें उस घड़ेको डुबोकर जल प्राप्त करता है, जिसमें जल प्राप्त करना होता है ।[4]

---

१. भारश्रौसू० (१२.२०.५, शब्रा० ३.९.२.६)।

२. न स्थावराणां गृह्णीयाद्वरुणगृहीता वै स्थावरा यत्स्थावराणां गृह्णीयाद्वरुणेनास्य यज्ञं ग्राहयेत् (तैसं० ६.४.२)।

३. हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ २ आ विवासति । हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्माँ अस्तु सूर्यः (वासं० ६.२३)। हविष्मतीरिमा आपो हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्माँ आ विवासति हविष्माँ अस्तु सूर्यः (तैसं० १.३.१२)।

४. शब्रा० (३.९.२.१०-१२, काश्रौसू० ८.९.९, बौश्रौसू० ६.३२, वैखानसश्रौसू० १४.१८.१८८.२)।

वसतीवरीजलके सम्बन्धमें कुछ आवश्यक निर्देश

भारश्रौसू० (१२.२०.७) ने इस अवसरपर कहा है कि समीपतम जलके स्रोतको नहीं लांघना चाहिये। स्थानके सम्बन्ध में कहा गया है कि वसतीवरी उस स्थानसे ग्रहण किया जाय जहाँ छाया और धूपका मेल हो।[१] आपश्रौसू० (११.२०.७) ने सामान्य नियमका उल्लेख करते हुए कहा है कि छाया तब ग्रहण की जानी चाहिए, जब बादलकी छाया न हो, यदि बादलकी छाया है तो उस स्थितिमें अन्यकी छाया लेना अनावश्यक है।

वसतीवरीजलका ग्रहण सूर्यास्त होनेसे पहले

श्रुति (तैसं० ६.४.२) ने सूर्यास्त होनेसे पूर्व ही वसतीवरी संज्ञक जल ग्रहण करनेका विधान किया है किन्तु यदि सूर्यास्त हो जाय और वसतीवरीजल ग्रहण नहीं किया जा सके तो उस स्थितिमें विकल्पके रूपमें भिन्न भिन्न प्रावधान किये गए हैं। उदाहरणके लिए इस अवसरपर कहा गया है कि यदि वसतीवरीजल ग्रहण करनेमें देर हो जाए और सूर्यास्त हो जाय तो यजमानको उस स्थितिमें अपने घरमें रक्खे हुए प्रभूत मात्रामें घड़ोंमें से किसी एक घड़ेसे जल प्राप्त कर लेना चाहिए जबकि उसने पहले सोमयाग कर लिया हो, यदि यजमानने सोमयाग नहीं किया हो तो उस यजमानसे जल ग्रहण करना चाहिए जिसने पहले कभी सोमयाग किया हो यदि अन्य कोई भी ब्राह्मण ऐसा प्राप्त नहीं होता है, जिसने सोमयाग किया हो तो उस स्थिति में उल्का अथवा हिरण्यके द्वारा ही जल ग्रहण कर लेना चाहिए।[२] इसी प्रकार तैसं० (६.४.२) में कहा गया है कि या तो उल्काके द्वारा अथवा कुम्भमें हिरण्य डालकर उसके सहित अथवा किसी सोमयाजीके गृहमें स्थित कुम्भगत जल को ग्रहण कर लेना चाहिए। भारश्रौसू० (१२.२०.११) ने एक अन्य मतका भी उल्लेख किया है, जिसके अनुसार ब्राह्मणको वर (श्रेष्ठ कोई वस्तु) देकर भी जल ग्रहण किया जा सकता है।

ऐब्रा० (२.३.२०) ने वसतीवरीके साथ साथ एकधन संज्ञक जलका भी उल्लेख किया है, जिसे अगले दिन (अर्थात् सुत्यादिवस को) ग्रहण किया जाता है।

---

१. तैसं० (६.४.२, भारश्रौसू० १२.२०.८)।

२. शब्रा० (३.९.२.८-९, कौश्रौसू० ८.९.८-९)।

होता द्वारा मन्त्रपाठ

बहते हुए सरोवर अथवा नदीसे मन्त्रपूर्वक जल ग्रहण करनेके उपरान्त जब वह स्थापित किये जाने वाला होता है तब होता ऋचाका[१] पाठ करता है ।[२]

वसतीवरीजलका स्थापन

होता द्वारा मन्त्र पाठ किये जानेके पश्चात् अध्वर्यु वसतीवरीजलको लाकर गार्हपत्यके पश्चात् भागमें मन्त्रके[३] साथ रखता है ।[४] भारश्रौसू० (१२.२१.१) के अनुसार उत्तरवेदीके दक्षिणमें वसतीवरीको स्थापित करनेसे पूर्व रातको महावेदीमें बैठे हुए यजमान और उसकी पत्नीके चारों ओर परिक्रमा करके वसतीवरी जल ले जाया जाता है ।

कात्यायनके अनुसार 'अग्नेर्वो' मन्त्रके द्वारा शालाद्वार्यके पश्चिम भागमें वसतीवरीको रखनेके पश्चात् उत्करमें लौटकर अध्वर्यु सुब्रह्मण्यको "सुह्मण्ये सुब्रह्मण्यामाह्वय पैतापुत्रीयाम्" प्रैष करता है, तब उत्करमें सुब्रह्मण्य यजमानके पिता-पुत्रोंके नामके साथ सुब्रह्मण्याका पाठ करता है (काश्रौसू० ८.९.१०-११)। देवयाज्ञिकपद्धतिमें कहा गया है कि पहले सुब्रह्मण्याका पाठ किया जाय फिर वसतीवरी जलका ग्रहण किया जाय (पृष्ठसं० २८९)। देवयाज्ञिकने इस अवसर पर पशुपुरोडाश निर्वापका विधान किया है, जबकि कात्यायनके अनुसार वसतीवरी जलको रखने तथा सुब्रह्मण्याका पाठ होनेके पश्चात् सबके प्रति "व्युत्क्रामत" प्रैष किया जाता है । इसके पश्चात् यजमान हविर्द्धानके पुरोदेशमें बैठता है ।[५] पत्नी शालाद्वार्यके पीछे बैठती है । अन्य सब देवयजनसे निकलते हैं । उत्तरवेदीके पीछे बैठा हुआ यजमान अपने अंकमें सोम रखता है ।[६]

---

१. आ धेनवः पयसा तूर्ण्यर्था अमर्धन्तीरुप नो यन्तु मध्वा । महो राये बृहतीः सप्त विप्रो मयोभुवो जरिता जोहवीति (ऋसं० ५.४३.१)।

२. ऐब्रा० (२.३.२०)।

३. अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि (वासं० ६.२४,तैसं० १.३.१२)।

४. काश्रौसू० (८.९.१०,शब्रा० ३.९.२.१३)।

५. काश्रौसू० (८.९.१२)।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३००)।

वसतीवरीहरण

पहले वसतीवरीकलशको हाथमें लेकर शालाद्वार्यके पीछे अध्वर्यु जाता है फिर मन्त्रके[१] द्वारा अध्वर्यु वसतीवरीकलशको बाएँ कन्धेपर रखकर पश्चिमकी ओरसे गार्हपत्य (प्राजहित) को पार करके दक्षिणमार्गसे वसतीवरीको लाकर उत्तरवेदीके दक्षिणमें लाकर रखता है। पुन: वसतीवरीकलश पत्नीके आगे रखता है और पत्नीके पीछेसे घूमकर उसको उठा लेता है, अब उस कुम्भको लेकर दक्षिण कन्धेपर रखकर उत्तरपूर्वके द्वारसे निकलकर उत्तरवेदीकी उत्तरश्रोणीपर उस वसतीवरी कलशको रखता है, इसके पश्चात् मन्त्र[२] पाठ करके अध्वर्यु उस वसतीवरी कुम्भको दाएँ कन्धे से फिर बाएँ कन्धेपर लाकर तीर्थ (वेदी तथा उत्करके बीचके प्रदेश अथवा चात्वाल और उत्कर प्रदेश के बीच) प्रान्त भागको प्राप्त करके मन्त्रके[३] द्वारा अध्वर्यु आग्नीध्रकी धिष्ण्याके पीछे स्थापित करता है।[४]

देयाज्ञिकके अनुसार आग्नीध्र यजमानकी गोदमें रक्खे हुए सोमको लेकर पहलेसे ही स्थापित आसन्दीपर सोमको स्थापित कर देता है (देवयाज्ञिकपृद्धति, पृष्ठसं० ३००)।

वसतीवरी जल आग्नीध्रकी धिष्ण्यामें ही रक्खा रहता है।

सोमरक्षण

दीक्षित रातभर जागकर सोमकी देखभाल करता है (काश्रौसू० ८.९.२३)। आपश्रौसू० (११.२१.१२) ने आग्नीध्रशालामें आग्नीध्रको तथा सत्याश्रौसू. (पृष्ठसं० ७६२) ने प्राग्वंशमें पत्नीके जागते रहनेके लिए निर्देश दिया है।

---

१. इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ (वासं० ६.२४, तैसं० १.३.१२)।

२. मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ (वासं० ६.२४, तैसं० १.३.१२)।

३. विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। भूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् (वासं० ६.२४, तैसं० १.३.१२)।

४. आपश्रौसू० (११.२१.३-४, काश्रौसू० ८.९.१६-२१, भारश्रौसू० १२.२१.३-४, शब्रा० ३.९.२.१४-१६)। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७५९, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३००, तैसं० ६.४.२)।

दधिकी निष्पत्तिके लिए दोहनसे सम्बन्धित प्रैष

दहीके लिए दूधका दोहन किया जाता है (काश्रौसू० ८.९.२५)। भारश्रौसू० (१२.२१.८-९) ने प्रैष "या यजमानस्य या धर्मधुक् तस्यै दधिधर्माय तप्तमनातक्तं मैत्रावरुणाय शृतातक्यं कुरुतादित्यग्रहाय" का विधान किया है। तदनुसार ऋत्विज उन उन कार्योंको करते हैं। आपश्रौसू० (११.२१.१०) के अनुसार इस अवसरपर सवनीय पुरोडाशकी आहुतिके लिए और सवनीय पशुयागके लिए कुशा और समिधाकी गड्डी बाँध दी जाती है।

कात्यायनने सुब्रह्मण्याके पाठका भी उल्लेख किया है (काश्रौसू० ८.९.२४)। अब सब ऋत्विज आग्नीध्रीयमें आ जुटते हैं। सदोमण्डपमें इस समय कोई नहीं रहता (भारश्रौसू० १२.२१.१२)।

पञ्चम अध्याय

प्रातःसवन

चौथे दिनके अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले कृत्योंमें मुख्य रूपसे अग्निषोमीय पशु, पशुके निमित्त गाड़े गए यूप, वपा तथा पुरोडाश एवं वसतीवरीग्रहणसे सम्बन्धित कर्मकाण्डका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया।

पहले कहा जा चुका है कि यजमान सोमकी रक्षा करता हुआ रातभर जागता है, अगले (पाँचवें) दिन प्रातः (सूर्योदयसे पहले) ही उपांशु नामक प्रस्तर खण्डसे सोमका रस निकाला जाता है, इसीलिए सोमरस निकालनेके कारण इस दिनको "सुत्या" कहा जाता है[१]।

अब अग्निष्टोमके अन्तिम (पाँचवें) दिनमें सम्पन्न होने वाले कृत्योंके कर्मकाण्डका विवेचन करनेसे पूर्व सुत्यादिवसमें सम्पन्न होने वाले कुछ प्रारम्भिक कृत्योंका उपक्रम किया जाता है—

सुत्योपक्रम

इस दिन ऋत्विज सौत्यकर्म प्रारम्भ करने हेतु सबको "प्रबुध्यध्वम्" का बार बार उच्चारण करके रात्रिके अपरभागमें अथवा महारात्रि[२] को ही जगाता है। सोकर उठनेके पश्चात् सभी ऋत्विज दन्तधावन, स्नान करके, धौत वस्त्रोंको धारण करके, आचमन तथा तिलकधारण आदि कृत्य सम्पन्न करते हैं। सभी ऋत्विज सन्ध्योपासना आदि नित्य कर्मोंको करके शालाद्वार्यके समीपमें आकर जलका स्पर्श करते हैं।[३]

---

१. धर्मशास्त्रका इतिहास (पृष्ठसं० ५५१)।

२. रात्रेर्महान्भागो महारात्रं तस्मिन्महारात्रे रात्रेर्यो महान्भागस्तस्मिन्नित्यर्थः (गोपीनाथ का भाष्य पृष्ठसं० ७६३)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३०१-३०२)।

कात्यायनके अनुसार अध्वर्यु परिस्तरण, पात्रसंसादन, प्रोक्षण, आज्यनिर्व-पन, अभिश्रयण, स्रुवाका सम्मार्जन, उद्वासन और अवेक्षण आदि कृत्य करके आग्नीध्रीयमें आज्यसे प्रोक्षणीको भरकर जलके साथ आज्यको ग्रहण करता है ।[१] देवयाज्ञिकके अनुसार यजमानको "यजमान वाचं यच्छ" प्रैष किया जाता है। प्राजहितको छोड़कर अन्योंका परिस्तरण तथा शालाद्वार्यके उत्तरकी ओर अथवा पीछेकी ओर पात्रासादन कृत्य किया जाता है। पात्रासादनके अन्तर्गत अग्निहोत्र-हवनी, वज्र, शम्या, दृषदुपल, पवित्रच्छेदन, स्थाली, आज्य, वेद, हिरण्य आदि, इध्म चतुष्टय, बर्हिचतुष्टय, स्रुवा, जुहू, प्रचरणी, वसाहोमहवनी, दो उपभृत्, ध्रुवा स्रुक्‌च-तुष्टय, प्राशित्रहरण, दो पन्नेजनी, पृषदाज्यके लिए दधि, हिरण्यशकल, उपाकरणतृण, उखापंचक, मन्थनचतुष्टय, योक्त्र, यूनकुशा, होतृपीठ, इडापात्री, अन्तर्धानकट तथा षडवत्त आदि पदार्थोंको यथास्थान रक्खा जाता है ।[२]

अभिमर्शन तथा ३३ यज्ञातनू आहुतियाँ

कुछ सूत्रोंमें अग्निसम्बन्धी मन्त्रके[३] द्वारा आग्नीध्रीयके, विष्णु सम्बन्धी मन्त्रके[४] द्वारा हविर्द्धानके, अग्नि सम्बन्धी ऋचाके[५] द्वारा स्रुचों, वायुसे सम्बद्ध ऋचाके[६] साथ वायुसे सम्बद्ध सोम पात्रों (ग्रह और स्थाली) के, इन्द्रसे सम्बद्ध ऋचाके[७] द्वारा सदस् के अभिमर्शनका उल्लेख प्राप्त होता है तथा अनुवाकके[८] द्वारा आग्नीध्राग्निपर यज्ञातनू संज्ञक ३३ आहुतियाँ देनेका विधान प्राप्त होता है ।[९] गोपीनाथका कहना है कि एक देशके अभिमर्शनसे सारे मण्डपका अभिमर्शन सिद्ध हो जाता है, अत: आग्नीध्रीय शाला, हविर्द्धान आदिके अभिमर्शनके समय एक बार ही मन्त्र पढ़नेसे अभिमर्शनसे सम्बन्धित कृत्य निष्पन्न हो जाता है। स्रुचोंके

---

१. काश्रौसू० (९.१.२)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३०२)।

३. अयं नो अग्निर्वरिवः कृणोतु इति (तैसं० १.३.४.१)।

४. इदं विष्णुर्वि चक्रमे (तैसं० १.२.१३.१)।

५. अग्न आयूँषि पवस इति (तैसं० १.३.१४.७)।

६. आ वायो भूष (तैसं० १.४.४)।

७. आ घा ये अग्निम् (तैब्रा० २.४.५.७)।

८. प्रजापतिर्मनसाऽन्धो च्छेतः (तैसं० ४.४.९.१)।

९. भारश्रौसू० (१३.१.२,४ सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७६५,७६९)।

सम्बन्धमें कहा है कि स्रुचोंके मध्यमें जितनी भी स्रुचों को एक साथ अभिमर्शन करना सम्भव हो, उतनी स्रुचोंका अभिमर्शन एक ही बार मन्त्र पढ़कर किया जाय, विकल्पके रूपमें मन्त्रावृत्ति: भी की जा सकती है, यह अभिमर्शन प्रचरणीसे किया जाता है, क्योंकि उसीसे आज्य ग्रहण किया गया है । क्योंकि वसाहोमहवनीसे आज्य ग्रहण नहीं किय गया अत: गोपीनाथने वसाहोमहवनीसे अभिमर्शनका निषेध किया है । इसी प्रकार सभी वायव्य (ऊर्ध्व) पात्रोंका भी प्रयत्नपूर्वक एक साथ स्पर्श करके एक बार ही मन्त्र पढ़ना चाहिये, इसी प्रकार यहाँ भी यह कहा गया है कि यदि ऐसा न हो तो क्रमश: अभिमर्शन करके मन्त्रावृत्ति: की जानी चाहिये, यहाँ वायव पात्रोंमें चमसको ग्रहण नहीं किया गया है, स्थालीका अवश्य वायव्य पात्रोंके साथ अभिमर्शन किया जाता है (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७६९) ।

अग्निषोमीयवत् स्तरण

कात्यायनने विधान किया है कि अग्निषोमीयवत् आहवनीय, शालाद्वार्य तथा दक्षिणाग्निका एक बार ही स्तरण किया जाना चाहिये न कि तीन बार[१] । देवयाज्ञिकके अनुसार इध्मप्रोक्षणसे लेकर आत्मालम्भनपर्यन्त सभी कृत्य अग्नि-षोमीयपशुके समान ही किये जाते हैं ।[२]

राजा सोमका स्थापन

घृतासादनके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[३] साथ सोम लेकर हविर्द्धानमें प्रवेश करके दाहिने हविर्द्धानके ईषाके अन्तरालसे आधेसे अधिक सोमको तृतीय सवनके लिए चर्मपर रक्खे हुए आमने सामने अभिषवके निमित्त पत्थरोंपर स्थापित करके सोमोपनहन वस्त्रके साथ ही गाड़ीके जुएके बीचमें राजा सोमको गिराता है, शेष सोमको माध्यन्दिन सवनके लिए ईषाओंके ऊपर ही वस्त्रसे ढक कर रक्ख देता

---

१. काश्रौसू० (९.१.४)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३०३)।

३. हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा । ऊर्ध्वमिमध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ । सोम राजन्विश्वास्त्वम् प्रजा उपावरोह (वासं० ६.२५-२६) । तैसं० (१.३.१३) में मन्त्र इस प्रकार है—हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वोर्ध्वमिममध्वरं कृधि दिवि देवेषु होत्रा यच्छ सोम राजन्नेह्यव रोह मा भेर्मा सं विक्था मा त्वा हिंसिषं प्रजास्त्वमुपावरोह प्रजास्त्वामुपावरोहन्तु ।

है ।[१] अब यजमान सोमके नीचेसे अपना हाथ निकालकर सोमके पास बैठता है तथा मन्त्र[२] पढ़कर राजा सोमका स्पर्श करता है ।[३]

पंचहोतृ सज्ञंक मन्त्रके द्वारा आग्नीध्राग्निपर आहुति

गाड़ीके जुओंके बीचमें राजा सोमको उतारकर पत्थरोंपर सोम स्थापित करनेके पश्चात् तथा प्रातरनुवाकसे पूर्व उपर्युक्त आहुतिका उल्लेख कुछ सूत्रकारोंने इस प्रकार किया है कि यदि यजमानको स्वर्गकी इच्छा हो तो आग्नीध्र अग्निमें "अग्निर्होता" पंचहोतृ संज्ञक मन्त्रके द्वारा आहुति दी जानी चाहिए (भारश्रौसू० १३.३.११)। आपश्रौसू० (१२.३.१२) का कहना है कि सोमयागांगभूत आज्य-पशु-पुरोडाशकी प्रधान आहुतियाँ अग्निके मध्यमें और सोमाहुति अग्निके दोनों ओर दी जानी चाहिए।

सुत्योपक्रमके अन्तर्गत जागरणसे लेकर आग्नीध्र अग्निपर आहुतिपर्यन्त कृत्य सम्पन्न होनेके पश्चात् प्रातरनुवाकसे सम्बन्धित कर्मकाण्डका विवेचन किया जाता है, जो अग्निष्टोमके अन्तिम दिनका सबसे महत्वपूर्ण एवं विलक्षण कृत्य है।

प्रातरनुवाक

रातमें बसेरा ले चुकनेपर पक्षी उषःकालमें उठकर चहचहाने लगते हैं और मनुष्य प्रातः उठकर वाग्व्यवहार करते हैं। उन पक्षियोंके चहचहाने तथा मनुष्यों के वाग्व्यवहार होनेसे पूर्व ही प्रातःकाल तड़के ही होता द्वारा पढ़े जाने वाले ऋक्समू-होंको प्रातरनुवाककी संज्ञा विद्वानोंने दी है।[४]

---

१. काश्रौसू० (९.१.५, बौश्रौसू० ७.१, भारश्रौसू० १३.३.१०, शब्रा० ३.९.३.३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७९, आपश्रौसू० १२.३.१३)।

२. विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु (वासं० ६.२६)।

३. काश्रौसू० (९.१.६, शब्रा० ३.९.३.७)।

४. सूर्यकान्तका वैदिक कोश पृष्ठसं० ४०५)। प्रातःकालात्पूर्वं होत्राऽनुवक्तव्य ऋक्समूहः प्रातरनुवाकः (तैसं० १.३.१३ पर सायणभाष्य), प्रातःकाल एव स प्रजापतिस्तमनुवाक-मृक्समूहं देवार्थमनुक्रमेणाब्रवीत्। यस्मादेवं तस्मात् प्रातरनुवाक इति नाम सम्पन्नम् (ऐब्रासा० २.२.१५)।
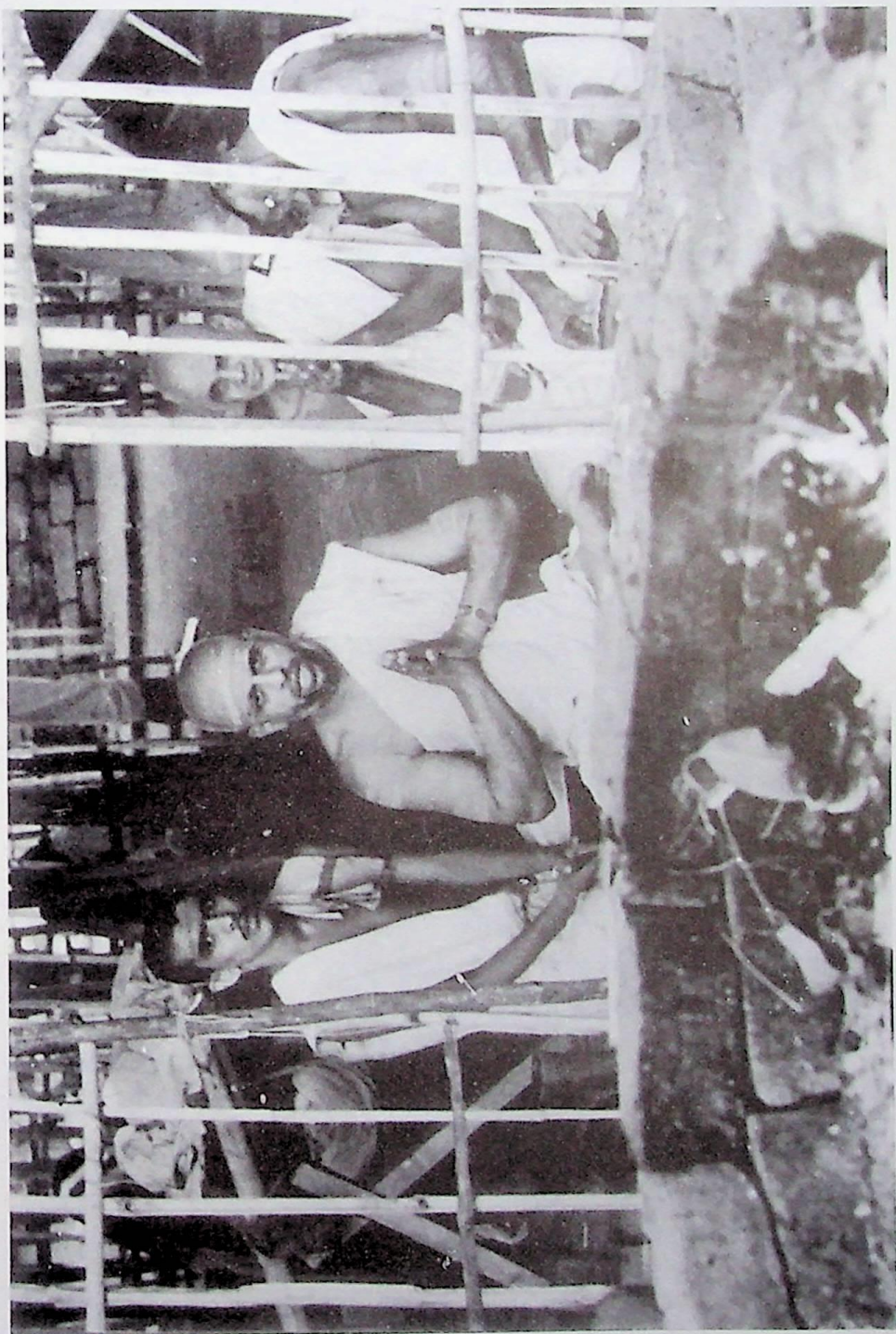
प्रातरनुवाक

प्रातरनुवाकका काल

सूर्योदयसे बहुत पहले जब तक न तो मनुष्य ही उठकर बोले हों और न ही पक्षियोंने चहचहाना प्रारम्भ किया हो, उस समय होता ऋक्समूहोंका पाठ करता है (आपश्रौसू० १२.३.१४)। भारद्वाजने कहा है कि यदि अध्वर्युको यजमानसे द्वेष हो तो वह चिड़ियोंकी चहचहाटके पीछे प्रातरनुवाकका पाठ करवानेके लिए होताको प्रैष करे (१३.३.१२)। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रातरनुवाकका समय सूर्योदयसे बहुत पूर्व है, जिस समय किसीकी भी आवाज सुनाई नहीं पड़ती[1]।

प्रातरनुवाकके लिए होताको प्रैष

देवयाज्ञिकने प्रातरनुवाकके पूर्व लोकद्वारीय सामका भी उल्लेख किया है, जो शालाद्वार्यकी ओर उत्तरमुख होकर यजमानके द्वारा गाया जाता है (पृष्ठसं० ३०३)। तब हविर्द्धानके पूर्वी द्वारके मध्य, पृष्ठ्याके उत्तरकी ओर होतृषदनके पूर्वी द्वारमें होताके बैठनेपर अध्वर्यु आहवनीयमें समिदाधान करते हुए "देवेभ्य: प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहि" अथवा "देवेभ्य" प्रैष होताको प्रातरनुवाकका पाठ करनेके लिए करता (काश्रौसू० ९.१.१०-११) है। भारश्रौसू० (१३.३.११) के अनुसार "देवेभ्य: प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहि ब्रह्मन् वाचं यच्छ सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वय प्रतिप्रस्थात: सवनीयान्निर्वपामिक्षां दोहय" प्रैष किया जाता है। आपश्रौसू०(१२.३.१५) में उपर्युक्त दोनों प्रैषोंसे भिन्न दो प्रैषोंका उल्लेख किया गया है—"प्रातर्यावभ्यो देवेभ्योऽनुब्रूहि ब्रह्मन् वाचं यच्छ प्रतिप्रस्थात: सवनीयान्निर्वप सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वय" अथवा "सुब्रह्मण्ये सुब्रह्मण्यामाह्वय" दूसरा प्रैष जो विकल्प रूपमें कहा गया है, वह तो सुब्रह्मण्याके लिए है, प्रातरनुवाकसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं किन्तु पहला प्रैष जो आपस्तम्बने प्रयुक्त किया है, वह भी उपर्युक्त अन्य दोनों प्रैषोंसे भिन्न ही है। ऐब्रा० (२.२.१५) ने प्रैष "देवेभ्य: प्रातर्यावभ्यो होतरनुब्रूहि" किया है। इस प्रकार स्पष्ट रूपसे यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रातरनुवाकके लिए ही उक्त सभी प्रैषोंका उल्लेख भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें किया गया है किन्तु सभीने पाठ भिन्न भिन्न प्रयुक्त किया है, अर्थात् प्रैष मन्त्र सबने भिन्न भिन्न प्रयुक्त किये हैं। सायणने ऐब्रा० (२.२.१५) का भाष्य करते हुए लिखा है कि जब तक प्रैष न किया जाय तब तक प्रातरनुवाक नहीं कहना चाहिए तथा वही काल प्रातरनुवाकका होता

---

१. ऐब्रा० (२.२.१५)।

है, जिस कालमें अध्वर्यु होताको प्रातरनुवाकके लिए प्रैष मन्त्र कहता है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि प्रातरनुवाकका पाठ सूर्योदयसे बहुत पहले ही किया जाना चाहिए किन्तु अन्तत: प्रातरनुवाकके प्रारम्भके लिए अध्वर्युपर आश्रित होना पड़ता है, जब वह प्रैष मन्त्र कहेगा, तभी होता को प्रातरनुवाकका पाठ करना पड़ेगा ।

होता द्वारा पढ़ी जाने वाली पहली ऋचा

होता सबसे पहले "आपो रेवती: क्षयथा हि वस्व: क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी: सरस्वती तद् गृणते वयो धात्" (ऋसं० १०.३०.१२) ऋचाका पाठ करता है (आश्वश्रौसू० ४.१३.६-७) । ऋचाके सम्बन्धमें ऐब्रा० (२.२.१६) ने बड़ी रोचक आख्यायिका प्रस्तुत की है—किसी यज्ञमें प्रजापतिके स्वयं होता होकर प्रातरनुवाक बोलनेके लिए उद्यत होनेपर सभी देवताओंने यह अपेक्षा की कि मुझे लक्ष्य करके प्रारम्भ करेंगे, मुझे लक्ष्य करके प्रारम्भ करेंगे । सभीको आशान्वित देखकर उन्होंने विचार किया कि यदि किसी मन्त्रसे प्रतिपादित एक देवताको लक्ष्य करके प्रारम्भ करूँगा तो अन्य देवता कुपित होंगे अत: मुझे किस प्रकार देवता प्राप्त हों ऐसा विचार करके उन प्रजापतिने सभी देवोंके सिद्ध्यर्थ "आपो रेवती:" आदि ऋचाका दर्शन किया । इस ऋचाके पढ़नेपर सभी देवता यह सोचकर प्रसन्न हो गए कि यह प्रातरनुवाक मुझे ही लक्ष्य करके प्रारम्भ किया गया है, मुझे ही लक्ष्य करके प्रारम्भ किया गया है । इस प्रकार उक्त मन्त्रके द्वारा पाठ किये जानेपर सभी देवता प्रसन्न हो गए । अग्निष्टोमके अन्तर्गत प्रातरनुवाकके प्रसंगमें होता भी उपर्युक्त मन्त्रका पाठ सबसे पहले करता है ।

ऐब्रा० (२.२.१६) ने इस ऋचाको वज्र कहा है । इस सम्बन्धमें आख्यायिका दी गई है कि किसी समय प्रजापतिके प्रातरनुवाक बोलनेपर उसके समीप आए देव भयको प्राप्त हो गए । इन्द्रने उनको समझाया कि तुमको डरना नहीं चाहिए । मैं असुरोंके विनाशके लिए प्रात: काल तीन प्रकारसे समृद्ध वज्रको[१] फेकूँगा । तब तीन प्रकारसे समृद्ध रूप वज्रको उन असुरोंके ऊपर इन्द्रने प्रहार किया जिससे असुरोंका विनाश हुआ, देवताओंने विजय प्राप्त की ।

---

१. तीन प्रकारका वज्रत्व इस प्रकार है-यह ऋचा वज्र इसलिए है कि यह ऋचा अपोनप्त्रीय देवताक है । दूसरे यह ऋचा वज्र इसलिए है कि यह ऋचा त्रिष्टुप् छन्दस्क है । तीसरे यह ऋचा वज्र इसलिए है कि यह ऋचा वाक् रूपा है ।

पहली ऋचाका तीन बार पाठ

इस ऋचाके सम्बन्धमें ब्रह्मवादियोंका यह मत दिया गया है कि वही होता मुख्य है जो इस ऋचामें ही सभी छन्दोंको उत्पन्न करता है। तब किसी अभिज्ञने विधान किया कि यदि होता इस ऋचाका तीन बार पाठ करें तो ऋचा सभी छन्दोंके रूप वाली हो जाती है।[१] इस प्रकार तीन बार पाठ करनेसे यह ऋचा सभी छन्दों की उत्पत्ति स्थान हो जाती है[२]।

प्रातरनुवाक बोलनेकी रीति

प्रातरनुवाक कैसे बोलना चाहिए? यह प्रश्न ब्रह्मवादियों द्वारा किये जाने पर ऐब्रा० (२.२.१८) ने उत्तर दिया कि छन्दोंके अनुसार प्रातरनुवाक बोलना चाहिए। पाद-पादके अवसानपर प्रातरनुवाक बोलनेके पक्षका खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्षके अनुसार यह विधान किया गया कि एक एक अर्धर्चके अवसानपर प्रातरनुवाक कहना चाहिए, क्योंकि यह अर्धर्चश: अनुवचन यजमानकी प्रतिष्ठानके लिए ही होता है।

प्रातरनुवाकमें छन्दोंका क्रम

प्रातरनुवाकमें छन्दोंका क्रम व्यूढ नहीं होता अपितु अव्यूढ[३] होता है, जिससे प्रातरनुवाकके मध्यसे बृहती छन्द उपस्थित रहता है। अव्यूढमें छन्दोंका क्रम इस प्रकार रहता है—गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती, उष्णिक्, जगती और पंक्ति।

---

१. ऐब्रा० (२.२.१६)।

२. मन्त्रकी आवृत्ति होने से ऋचा १३२ अक्षरों वाली हो जाती है, इन्हीं में जगती आदि अधिक अक्षरों वाले और गायत्री आदि न्यून अक्षरों वाले छन्दों का सम्पादन होने से यह कहा गया कि यह ऋचा सभी छन्दोंकी उत्पत्ति स्थान है।

३. ऋक्सर्वानुक्रमणिका (परि० ३.१-३) में छन्दोंका क्रम कहा गया है—गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पंक्तित्रिष्टुब्जगत्यतिजगतीशक्वर्यतीशक्वर्यष्ट्यत्यष्टीधृत्यतिधृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराणि। ये गायत्री अनुष्टुप् आदि छन्द चार चार अक्षरसे बढ़ने वाले हैं अतः यह क्रम व्यूढ कहलाता है किन्तु जब छन्दोंका क्रम विपर्यय हो जाता है तो यही क्रम 'अव्यूढ' कहलाने लगता है (ऐब्रा० २.२.१८ पर सायणभाष्य)।

कामना विशेष के अनुसार प्रातरनुवाकके मन्त्रोंकी संख्या भिन्न भिन्न

ऐब्रा० (२.२.१७) में कहा गया है कि यदि यजमानको दीर्घ आयुकी इच्छा हो तो सौ ऋचाएँ पढ़ी जानी चाहिए, यज्ञकी कामना वाले यजमानके लिए होता को तीन सौ साठ ऋचाओं का, प्रजा और पशुकी कामना वाले यजमानके लिए होता को सात सौ बीस ऋचाओंका, अब्राह्मण[1] अथवा जनापवादसे दूषित (दुरुक्तोक्त) के लिए आठ सौ ऋचाओंका, स्वर्गकी कामना वालेको एक हजार ऋचाओंका, सभी कामनाओं की सिद्धिके लिए अपरिमित ऋचाओंका पाठ करना चाहिए ।

प्रातरनुवाकके तीन भाग और प्रत्येकके एक एक देवता

प्रातरनुवाकके तीन भाग कहे गए हैं, जिनमें प्रथम भागके देवता अग्नि, दूसरे भागके देवता उषा और अन्तिम भागके देवता अश्वि-द्वय । इन तीनों ही देवताओंके लिए सातों (गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती, उष्णिक् जगती तथा पंक्ति) छन्दोंमें ऋचाका पाठ किया जाता है । इस अवसरपर ऐब्रा० (२.२.१७) का कहना है कि जो इस प्रकार जानता है उसे सभी देवलोकोंमें समृद्धि, ग्राम्य पशुओंकी[2] प्राप्ति होती है ।

प्रातरनुवाककी समाप्ति

होता "अभूदुषा रुशत् पशुराग्निरधायृत्वियः । अयोजि वां वृषण्वसू रथो दस्रावमर्त्यो माध्वी मम श्रुतं हवम्" (ऋसं० ५.७५.९) ऋचाके द्वारा प्रातरनुवाककी समाप्ति करता है । ऐब्रा० (२.२.१८) में यह प्रश्न उठाया गया है कि जब सोमयाग सम्बन्धी तीन देवों-अग्निके, उषाके और अश्वि-द्वयके लिए मन्त्र पाठ करता है तो इस एक ऋचाके पाठसे किस प्रकार प्रातरनुवाककी समाप्ति की जाती है । इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है कि "अभूदुषा रुशत् पशुः इस मन्त्रसे उषाकी स्तुतिकी

---

१. अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता ऋषिणा तत्त्ववादिना। आद्यो राजभृतस्तेषां द्वितीयः क्रय-विक्रयी, तृतीय बहुयाज्यः, स्याच्चतुर्थो ग्रामयाजकः। पंचमस्तु वृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च । अनागतां तु यः पूर्वां सादित्यां चैव पश्चिमाम् । नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठोऽब्रह्माणः स्मृतः ॥

२. सप्त ग्राम्याः पशवो अजाऽश्वो गौर्महिषी वराहो हस्त्यश्वतरी च इति बौधायन । अजाविकं गवाश्वं च गर्दभोष्ट्रं नरस्तथा । सप्त वै ग्राम्यपशवो गीयन्ते कविसत्तमः ॥ इति आपस्तम्ब । देखिए- मार्कण्डेय पुराण (४५.२९) ।

गई क्योंकि यह उषाके लिए अनुकूल है। "अग्निरधायृत्विय:" ऋचा अग्निके अनुकूल है तथा "अयोजि वां वृषण्वसू रथो दस्रावमर्त्यो माध्वी मम श्रुतं हवम्" ऋचा अश्वि-द्वयके अनुकूल है। इस प्रकार एक ही ऋचासे अनुवचनकी समाप्ति करनेसे सभी तीनों देवोंके याग का समापन हो जाता है। इस प्रकार तीन देवोंसे युक्त प्रातरनुवाककी समाप्ति उपर्युक्त एक ही ऋचासे की जाती है और तीनों देवोंके यागका समापन भी हो जाता है।

होताके प्रति कहे गए प्रैष मन्त्रके साथ ब्रह्माका मौन धारण

एक स्थानपर कहा गया है कि जैसे ही अध्वर्यु होता को प्रातरनुवाकका पाठ करनेके लिए प्रैष मन्त्र कहे तभी ब्रह्माको तब तकके लिए मौन धारण कर लेना चाहिए जब तक कि उपांशु और अन्तर्याम ग्रहकी आहुति न दे दी जाय तथा पवमान स्तोत्रोमें भी अध्वर्युके द्वारा आदेश दिये जानेके पश्चात् अन्तिम ऋचा जब तक न कही जाय तब तक ब्रह्माको मौन ही धारण करना चाहिये। इसी प्रकार जब तक स्तोत्र-शस्त्रका पाठ समाप्त होनेपर वषट्कार न कर लिए जाएँ तब तक ब्रह्माको मौन ही रहना चाहिए (ऐब्रा० ५.५.३३ पर सायणभाष्य)।

प्रातरनुवाकके अतिरिक्त अन्य कुछ और कृत्य

भारश्रौसू० (१३.३.१३-१४) के अनुसार इस अवसरपर सुब्रह्मण्यको यजमानके पिता और पुत्रोंका नाम लेकर सुब्रह्मण्याका पाठ करना चाहिए, इसी अवसरपर सवनीय पशुपुरोडाशके लिए अन्न निकाला जाता है, आमिक्षाके लिए दूध दुहा जाता है। कुछ आचार्योंके अनुसार पुरोडाश तथा दूध दूहनेका कृत्य बाद में करने चाहिए तथा कुछ आचार्योंके अनुसार ये दोनों कृत्य प्रातरनुवाकका पाठ किये जानेके समय ही किये जाने चाहिए, इस प्रकार दोनों ही मत प्राप्त होते हैं।

आश्वलायनश्रौसू० (४.१५.१-२) तथा शांखायनश्रौसू० ने प्रातरनुवाका-न्तर्गत ऋचाओंका उल्लेख किया है[१]।

अध्वर्यु द्वारा श्रवण

कात्यायनके अनुसार अध्वर्यु जागते हुए होता द्वारा पढ़े जाने वाले ऋक्मन्त्रोंको सुनता है किन्तु यदि अध्वर्युको नींद आ रही हो और वह सोना चाहता

१. श्रौतकोश, द्वितीय ग्रन्थ (पृष्ठसं० २१९)।

हो तो यह आवश्यक नहीं कि नींद आनेपर भी प्रातरनुवाक सुना ही जाय अपितु वह सो भी सकता है ।[१]

आग्नीध्र द्वारा सवनीयनिर्वाप

होता द्वारा प्रातरनुवाकका पाठ किए जाते समय आग्नीध्र इन्द्रके लिए ग्यारह कपालोंपर पुरोडाश पकाता है, सवनीय हवियोंमें यह हवि प्रथम होती है, इसके अतिरिक्त हरियोंके लिए धान, पूषाके लिए करम्भ, सरस्वतीके लिए दधि, मित्राव-रुणोंके लिए पयस्य (दूधकी बनी हुई खीर) की हवि बनाकर रखता है । विकल्पके रूपमें यह भी विधान किया है कि 'सर्वं ऐन्द्रा भवन्ति' इस श्रुतिके अनुसार इन्द्र-हरिके लिए धान, इन्द्रपूषा के लिए करम्भ, इन्द्र-सरस्वती के लिए दधि, इन्द्रमैत्रावरुणके लिए पयस्या की हवि बनाई जानी चाहिए ।[२]

पात्रासादन

हविर्द्धानके आगे अरत्निमात्र तथा चार अंगुल ऊँचे मिट्टीके चबूतरेपर उन्नेता सोमसे सम्बन्धित पात्रोंको धोकर यथास्थान रखता है । सर्वप्रथम खरके ईशानदिग्भागमें दक्षिणकी ओर उपांशुग्रहपात्र तथा उत्तरकी ओर अन्तर्यामग्रहपात्र रखता है ।[३] किन्हीं सूत्रोंमें यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि पूर्वमें उपांशु संज्ञक ग्रहपात्र और अपर भागमें अन्तर्याम संज्ञक ग्रहभाग स्थापित किया जाना चाहिये ।[४] कात्यायनने उक्त क्रियाका अमन्त्रक ही विधान किया है किन्तु उससे सम्बन्धित मन्त्र[५] भाग भी प्राप्त होता है जिसका उल्लेख अन्य सूत्रकारोंने किया है ।

इसके पश्चात् उपांशुपात्रके पीछे समीपमें ही तीन द्विदेवत्यग्रह सजाकर रक्खे जाते हैं । द्विदेवत्य ग्रहोंमें पहला (मेखलाके चिह्नसे युक्त) ऐन्द्रवायवग्रह उपांशुके पीछे, ऐन्द्रवायवके पीछे (अजागलस्तनकी आकृतिसे युक्त) मैत्रावरुण ग्रह तथा मैत्रावरुणग्रहके पीछे (ओष्ठके समान दो कोणोंसे युक्त) आश्विनग्रह रक्खा

---

१. काश्रौसू० (९.१.१३-१४, शब्रा० ३.९.३.११)।

२. काश्रौसू० (९.१.१५-१६)।

३. काश्रौसू० (९.२.२-३)।

४. भारश्रौसू० (१३.१.७, आपश्रौसू० १२.१.७-८, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७०)।

५. अग्निर्देवता गायत्री छन्द उपांशोः पात्रमसि सोमो देवता त्रिष्टुप् छन्दोऽन्तर्यामस्य पात्रमसि (तैसं० ३.१.६.२)।

जाता है । इस प्रकार उपांशु ग्रहके पीछे क्रमशः द्विदेवत्य संज्ञक तीनों ग्रह स्थापित कर दिये जाते हैं ।[१] कुछ सूत्रकारोंने द्विदेवत्यग्रह रखनेसे पूर्व उपांशुसवनका उल्लेख किया है, जो उपांशुग्रहसे स्पर्श करके दक्षिणकी ओर मुखकरके उपांशु और अन्तर्याम ग्रहके बीचमें रक्खा जाता है ।[२] सत्याषाढने उपांशुसवन[३] रखनेसे सम्बन्धित मन्त्र[४] का भी उल्लेख किया है ।[५] गोपीनाथने द्विदेवत्यग्रहसे सम्बन्धित तीन मन्त्रोंका उल्लेख किया है ।[६]

उपांशुग्रह, अन्तर्यामग्रह, उपांशुसवन, द्विदेवत्यग्रह रखनेके पश्चात् अब उन्नेता खरके आग्नेय कोणमें शुक्रग्रहको दक्षिणकी ओर, मन्थी ग्रहको उत्तरकी ओर रखता है ।[७] कुछ अन्य सूत्रकारोंके अनुसार शुक्रग्रह तथा मन्थीग्रह पश्चिम और पूर्वकी ओर मन्त्रके[८] साथ रक्खे जाते हैं ।[९] शुक्रग्रह बिल्वकी लकड़ीका और मन्थी ग्रह विकंकतकी लकड़ीका बना हुआ होता है ।

शुक्र और मन्थीग्रहके पश्चात् आग्रयणस्थालीको[१०] उन्नेता खरके मध्यमें रखता है ।[११] गोपीनाथने आग्रयणस्थाली रखनेसे सम्बन्धित मन्त्रका उल्लेख किया

---

१. काश्रौसू० (९.२.४, भारश्रौसू० १३.१.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७०-७७१)।

२. भारश्रौसू० (१३.१.९ आपश्रौसू० १२.१.९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७०)।

३. उपांशुरुपांशुग्रहार्थः सोमः सूयते कण्ड्यते येन स उपांशुसवनस्तं ग्रावाणमुपांशुपात्रेण संस्पृष्टं प्रयुनक्ति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७७०)।

४. व्यानाय त्वा इति ।

५. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं ७७०)।

६. इन्द्रो देवता जगती छन्दः, बृहस्पतिर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः, अश्विनौ देवता पंक्तिश्छन्दः इति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७७१)।

७. काश्रौसू० (९.२.८.९)।

८. सूर्यो देवता बृहती छन्दः शुक्रस्य पात्रमसि चन्द्रमा देवता सतो बृहती छन्दो मन्थिनः पात्रमसि (तैसं० ३.१.६.२)।

९. भारश्रौसू० (१३.१.११, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ७७१)।

१०. स्थाली मृन्मयी भवति । सा च चरुस्थाल्याः सदृशी । स्थालीतः एव तत्तद्देवताको रसो होमार्थं गृह्यते । एवं च स्थालीनां रसधारणमेव प्रयोजनम् (काश्रौसू० ९.२.१० पर सरलावृत्ति)।

११. कौश्रौसू० (९.२.१०)।

है ।[१] यद्यपि कात्यायनने शुक्र और मन्थीग्रहके पश्चात् आग्रयणस्थाली रखनेका उल्लेख किया है किन्तु अन्य सूत्रोंमें शुक्र और मन्थी ग्रहके पश्चात् ऋतुग्रह रखनेका उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख कात्यायनने इस अवसरपर न करके आदित्यस्थाली रखनेके पश्चात् किया है ।

आग्रयणस्थालीके पश्चात् उक्थ्यग्रह सहित उक्थ्यस्थाली रखनेका विधान कात्यायनने किया है जो आग्रयणस्थालीके दक्षिणकी ओर रक्खे जाते हैं ।[२] सत्याषाढके अनुसार खरकी उत्तरश्रोणीपर उक्थ्यस्थाली और उसके उत्तरमें उक्थ्य ग्रह रक्खा जाता है ।[३] गोपीनाथने इस अवसरपर कहे जाने वाले मन्त्रका उल्लेख किया है ।[४]

आग्रयणस्थालीके उत्तरकी ओर आदित्यस्थाली तथा आदित्यस्थालीके पूर्वमें आदित्यग्रह रक्खा जाता है ।[५] कतिपय सूत्रोंने आदित्यस्थालीके उत्तरमें आदित्यग्रह रखनेका विधान किया है ।[६] गोपीनाथने अपने भाष्यमें मन्त्रका भी संकेत किया है ।[७]

आग्रयणस्थालीके पूर्वमें दो ऋतुपात्र[८] रक्खे जाते हैं, जिनमें अध्वर्युका दक्षिणकी ओर तथा प्रतिप्रस्थाताका उत्तरकी ओर रक्खा जाता है ।[९] कुछ सूत्रकारोंने मन्थि ग्रहके पश्चात् ऋतुपात्रोंके स्थापनका विधान किया है ।[१०] आपश्रौसू० ने इस अवसरपर निर्देश दिया है कि यदि किसी मन्त्रका विधान न किया गया हो तो "को

---

१. विश्वेदेवा देवतोष्णिहा छन्द इति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७७२)।

२. काश्रौसू० (९.२.११)।

३. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७७२)।

४. इन्द्रो देवता ककुच्छन्द इति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७७२)।

५. काश्रौसू० (९.२.१२)।

६. भारश्रौसू० (१३.२.२) में कहा गया है कि आदित्यस्थाली और आदित्यग्रह दक्षिणी हविर्द्धान शकटकी टेकके पीछे स्थापित किये जाते हैं। (आपश्रौसू० १२.२.४, सत्याषाढश्रौसू पृष्ठ सं० ७७२)।

७. कस्त्वा इति मन्त्रः।

८. उभयतोमुखे द्वे पात्रे ऋतुपात्रसंज्ञके (श्रौपनि० २४९.१९९)।

९. काश्रौसू० (९.२.१३)।

१०. भारश्रौसू० (१३.१.१२, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं ७७१)।

वा युनक्ति" मन्त्र पढ़ लेना चाहिए।[१] गोपीनाथ ने भी मन्त्रका संकेत दिया है, किन्तु वह भिन्न है।[२]

आग्रयणस्थालीके पश्चिममें परिप्लवाकी[३] स्थापना की जाती है।[४] कतिपय सूत्रकारोंने परिप्लवाको खरके मध्य रखनेका निर्देश दिया है।[५]

परिप्लवा रखनेके पश्चात् उत्तरी हविर्द्धानके उपस्तम्भनकी पूर्व दिशाके समीप ध्रुवस्थालीकी स्थापना की जाती है।[६] गोपीनाथने ध्रुवस्थालीके रखनेके निमित्त मन्त्रका भी संकेत किया है।[७]

ध्रुवस्थालीके पश्चात् उत्तरी हविर्द्धान शकटकी धुरिपर प्रचरणीकी स्थापना की जाती है।[८] इसके पश्चात् उत्तरी अक्षके पूर्वी दिशामें अनसके ऊपर ही पूतभृत्संज्ञक महाकलश[९] की स्थापना की जाती है।[१०] इसी प्रकार उत्तरी अक्षके पूर्वी दिशामें अनसके ऊपर ही आधवनीय[११] संज्ञक महाकलशकी स्थापना की

---

१. आपश्रौसू० (१२.१.६)।

२. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ७७२) के अनुसार-कस्त्वा इति।

३. परि सोमरसस्य मध्ये प्लवते तरति नौकेव इति परिप्लवा। सोमरसस्य मध्ये प्लव इवेति परिप्लवा (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७७३)। द्रोणकलशमध्ये निहिता सती लघुत्वात् प्लवति तरति इति परिप्लवा। सा लघुपात्ररूपा द्रोणकलशात्सोमग्रहणयोग्या स्रुक्सदृशमुखा इति (सरलावृत्ति पृष्ठसं० ३४२)।

४. काश्रौसू० (९.२.१५)।

५. भारश्रौसू० (१३.२.४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७३)।

६. भारश्रौसू० (१३.२.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७२, काश्रौसू० ९.२.१८)।

७. पृथिवी देवता विराट् छन्द इति।

८. काश्रौसू० (९.२.१९)।

९. पूतं गालितमेव बिभर्ति सोमं इति पूतभृत् (गोपीनाथका भाष्य पृष्ठसं० ७७८)। पूतभृच्च मार्त्तिकः। अस्य मृन्मयत्वं कलशाकारता च भवति (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४२)।

१०. काश्रौसू. (९.२.२०)।

११. आयते प्रक्षाल्यते सोमोऽस्मिन्नित्याधवनीयः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४३)। आधूतो निष्पीड्य गालित एव सोमोऽवनीयते यस्मिन्नित्याधवनीय (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ७७७)।

जाती है ।[१] कतिपय सूत्रकारोंने[२] पूतभृत् तथा आधवनीय संज्ञक महाकलशोंकी स्थापनासे सम्बन्धित मन्त्रोंका[३] उल्लेख किया है ।

अब हविर्द्धान शकटके दक्षिणमें धुरिके पीछे मन्त्रके[४] द्वारा ऊनकी छननीसे आच्छादित द्रोणकलश[५] लाकर उन्नेता रखता है ।[६] देवयाज्ञिकके अनुसार इसी द्रोणकलशपर श्वेतवर्णकी भेड़के ऊनसे निर्मित एक पवित्रा लाकर रक्खी जाती है और इसी प्रकार एक दूसरी पवित्रा परिप्लवाके ऊपर लाकर रक्खी जाती है ।[७]

अब धातुके अथवा मिट्टीके बने हुए तीन या पाँच एकधनकलशोंको[८] उत्तरी हविर्द्धानके उत्तरी धुरेके पीछे रक्खा जाता है ।[९] भिन्न भिन्न यज्ञोंमें रक्खे जाने वाले एकधन कलशोंकी संख्या भिन्न होती है । यद्यपि अग्निष्टोममें तीन या पाँच एकधन कलश रक्खे जाते हैं किन्तु ग्रन्थोंमें इनकी संख्या तीनसे लेकर अधिकतम पन्द्रह तक निर्दिष्ट की गई है ।[१०] सत्याषाढने इस अवसरपर मन्त्रके[११] द्वारा स्रुचिके अभिमर्शनका भी विधान किया है, गोपीनाथने चुपचाप स्रुचिके अभिमर्शनका भी उल्लेख किया है ।[१२]

---

१. काश्रौसू० (९.२.२१)।
२. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७७७, भारश्रौसू० १३.२.१३-१४)।
३. युनज्मि वायुमन्तरिक्षेण ते सह (तैसं० ३.१.६.१) से आधवनीय, युनज्मि वाचं सह सूर्येण ते (तैसं० ३.१.६.२) मन्त्रसे पूतभृत् रक्खा जाता है ।
४. युनज्मि ते पृथिवीं ज्योतिषा सह (तैसं० ३.१.६.१)।
५. द्रोणकलशो वारणकाष्ठमयः (सरलावृत्ति पृष्ठसं० ३४२)। द्रोणाकृतिः कलशो द्रोणकलश इति रुद्रदत्तः (आपश्रौसू० १२.२.१०)।
६. भारश्रौसू० (१३.२.१२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७७७, काश्रौसू० ९.२.१६)।
७. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३०६)।
८. एकं सोमरूपं धनं येषां ते एकधनाः। सोमवर्द्धनार्था आप एकधनाः। तद्ग्रहणार्था घटाश्च एकधनशब्देनोच्यते (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४२)। एकधनानि घटानीत्यापस्तम्बः (गोपीनाथका भाष्य पृष्ठसं० ७७८)।
९. काश्रौसू० (९.२.२२)।
१०. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३४३, आपश्रौसू० १२.२.१३) ने पाँच, सात, नौ या ग्यारह एकधनकलशोंका उल्लेख किया है ।
११. युनज्मि तिस्रो विपृचः सूर्यस्य ते (तैसं० ३.१.६.२)।
१२. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ७७८)।

एकधनकलशोंके साथ ही चमसोंकी[१] भी स्थापना की जाती है जिनकी संख्या दश होती है। यदि सत्रहवाँ ऋत्विज् सदस्यके रूपमें चुना गया हो तो उस स्थितिमें इन चमसोंकी संख्या ग्यारह हो जाती है। ये चमस होता ब्रह्मा उद्गाता यजमान मैत्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी, पोता नेष्टा अच्छावाक् और आग्नीधसे सम्बद्ध होते हैं। अध्वर्यु उनको खरपर यथास्थान व्यवस्थित कर देता है।[२]

कतिपय सूत्रोंमें यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि विकल्पके रूपमें कोई कोई आचार्य इस अवसरपर अधिश्रवणचर्म और ग्रावाण रखनेकी भी व्यवस्था करते हैं।[३]

भारश्रौसू० (१३.२.१) ने आग्रयणस्थाली तथा उक्थ्यस्थालीके मध्य तीन अतिग्राह्यस्थाली रखनेका विधान किया, जो अग्नि, इन्द्र और सूर्यके लिए होती हैं। कात्यायनने अतिग्राह्य स्थालीका उल्लेख नहीं किया। अन्य सब पदार्थ कात्यायन और भारद्वाज तथा अन्य भी सूत्रग्रन्थों (सत्याषाढ तथा आपस्तम्ब) में समान रूपसे वर्णित हैं, केवल एक दो (अधिश्रवणचर्म तथा ग्रावाण) पदार्थोंका उल्लेख कात्यायनने अवश्य ही नहीं किया है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि पात्रासादनसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड कात्यायनने प्रातरनुवाकके बादमें किया जबकि सत्याषाढश्रौसू० तथा भारद्वाज श्रौसू० ने प्रातरनुवाकसे पूर्व किया है। कात्यायनने तो स्पष्ट रूपसे यह भी संकेत दिया है कि प्रातरनुवाक सवनीयनिर्वाप तथा पात्रयोजन ये तीनों कृत्य एक साथ ही

---

१. अथातश्चमसलक्षणानि व्याख्यास्यामोऽर्थात्परिणानि पात्राणि भवन्ति, द्व्यंगुल खाताश्चमसाख्यंगुलदण्डाश्चतुरंगुलोच्छ्रायाः षडंगुलविस्ताराः प्रादेशमात्राश्च दीर्घत्वेन मवनित इति कठसूत्रे। यज्ञपार्श्वे च-विकंकतमयाः श्लक्ष्णास्त्वग्विलाश्चमसाः स्मृताः। दशांगुलमिता दीर्घाश्चतुरंगुलविस्तृताः॥ १ ॥ चतुरंगुलखाताश्च दण्डास्तु द्व्यंगुला मताः। षडंगुलमितोच्छ्रायास्तेषां दण्डेषु लक्षणम्॥ २ ॥ होतुमण्डल एव स्याद् ब्रह्मणेश्चतुरस्त्रकः उदगातृणां च त्रयश्रिः स्याद्याजमानः पृथु स्मृतः॥ ३ ॥ प्रशास्तुरवतष्टः स्यादुत्तष्टौ ब्रह्मशंसिनः। पोतुरग्रे विशाखी स्यान्नेष्टुः स्याद् द्विगृहीतकः॥ ४ ॥ अच्छावाकस्य च रास्ना च आग्नीध्रस्य मयषकः॥ ५ ॥ इति।पृथुर्हस्ताकारः। अवतष्टोधः प्रदेशे छिन्नः। उत्तष्ट ऊर्ध्वप्रदेशे छिन्नः। द्विगृहीतको वारद्वयं समन्तात्। कृतरेखः मयूषकस्तीक्ष्णाग्रः॥ (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४३)।

२. गोपीनाथका भाष्य (पृ.७७९)।

३. सत्याषाढश्रौसू० (पृ.७७९)।

किये जाते हैं (९.२.२२)। इस प्रकार यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि चाहे किसी श्रौतसूत्रने प्रातरनुवाकके पूर्व पात्रासादनका उल्लेख किया हो अथवा पीछे किन्तु उक्त तीनों(प्रातरनुवाक, सवनीयनिर्वाप और पात्रासादन) कृत्य एक साथ ही अनुष्ठित होते हैं।

अब अध्वर्यु मन्त्रके[१] साथ सभी पात्रों (ग्रहों, स्थालियों, कलशों, चमसों) का स्पर्श करता है।[२] इसके पश्चात् सवनीय पशुयागसे सम्बन्धित क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं।[३] अब सामान्य घीमेंसे थोड़ासा घी अध्वर्यु प्रचरणीमें लेता है। आपस्तम्बने दो मत प्रस्तुत किये हैं—प्रथम मतके अनुसार अध्वर्युको आग्नीध्रयज्ञशालामेंसे सवनीय पशुके लिए घी लेना चाहिए और अनुबन्ध्या पशुयागके लिए भी उत्तरवेदीमेंसे थोड़ा घी लेना चाहिए, दूसरे मतके अनुसार उसको दोनों यागोंके लिए घी उत्तरवेदीसे ही लेना चाहिए।[४] इसके पश्चात् अध्वर्यु अपने हाथकी हथेली ऊपर करके उन लकड़ियोंपर जल छिड़कता है, जो वह उस दिन गड्ढेके साथ अग्निपर रखने वाला होता है। आघारसमिधाओंके बीचमें अध्वर्यु जो भी इन्धन रखता है, उसपर पहले जल छिड़कता है। घी सहित स्रुवा रहता है।[५]

प्रातरनुवाककी अन्तिम ऋचाका होता द्वारा पाठ किये जाने पर प्रचरणीहोम

उपर्युक्त सभी कृत्य प्रातरनुवाकके साथ-साथ किये जाते हैं। अन्तिम समयमें जब होता प्रातरनुवाककी निम्नांकित "अभूदुषा रुशत्पशुराग्निरधायृत्वियः। अयोजि वां वृषण्वसू रथो दस्रावमर्त्यो माध्वी मम श्रुतं हवम् (ऋसं० ५.७५.९) ऋचाका पाठ करता है तो अध्वर्यु चार बारमें आज्य ग्रहण करके प्रचरणीसे आहवनीयमें मन्त्रके[६] साथ आहुति देता है।[७]

---

१. अपां क्षया ऋतस्य गर्भाः। भुवनस्य गोपाः श्येना अतिथयः। पर्वतानां ककुभः प्रयुतो न पातारः। वग्नुनेन्द्रं ह्वयत। घोषेणामीवांश्चातयत। युक्ता स्थ वहत। (तैब्रा० ३.७.९)।

२. भारश्रौसू० (१३.३.१)।

३. काश्रौसू० (९.१.३, भारश्रौसू० १३.३.२)।

४. आपश्रौसू० (१२.३.३-४)।

५. भारश्रौसू० (१३.३.५-९)।

६. शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः। श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा (वासं० ६.२६, तैसं० १.३.१३)।

७. शब्रा० (३.९.३.१४, काश्रौसू० ९.३.१, भारश्रौसू० १३.४.१, आपश्रौसू० १२.५.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७८९)। गोपीनाथने संकेत दिया है कि मन्त्रके अन्तमें स्वाहा

होता आदिको अध्वर्युद्वारा प्रैष

प्रचरणीसे आहुति दिये जानेके पश्चात् पुन: उसी प्रकार चार बारमें आज्य ग्रहण करके होताको "अप इष्य होत:" चमसाध्वर्युओंको "मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहि" नेष्टाको "पत्नीरुदानय:", एकधनकलशोंको धारण करनेवालेके प्रति "एत" आग्नीध्रको "आग्नीच्चात्वाले वसतीवरीभि: प्रत्युपतिष्ठासै हौतृचमसेन च" प्रैष किया जाता है।[१] अध्वर्यु यह प्रैष अप्सुहोमके लिए आज्य ग्रहण करके उत्तरकी ओर चलते हुए होता, चमसाध्वर्यु, नेष्टा एकधनकलश ग्रहण करनेवालेको तथा आग्नीध्रको करता है (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ३१८)।

प्रैषके अनन्तर होता द्वारा अपोनप्तृ देवताक 'प्र देवत्रा' आदि सूक्तका पाठ

इस अवसरपर होता प्रैषके अनन्तर सूक्तका[२] पाठ करता है, जिसका उल्लेख श्रौतसूत्रों व ब्राह्मणग्रन्थोंमें हुआ है।[३]

सूक्तके सम्बन्धमें कुछ महत्वपूर्ण निर्देश ऐब्रा० ने स्पष्ट किये हैं। इस सम्बन्धमें कहा गया है कि सूक्तका पाठ अर्धर्चके अवसानपर न करके लगातार

भी कहा जाना चाहिए (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७९०)।

१. भारश्रौसू० (१३.४.२, काश्रौ० ९.३.३, शब्रा० ३.९.३.१६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७९०)।

२. प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति। महीं मित्रस्य वरुणस्य धासिं पृथुज्रयसे रीरधा सुवृक्तिम्॥ अध्वर्यवो हविष्मन्तो हि भूताऽच्छाप इतोशतीरुशन्त:। अव याश्चष्टे अरुण: सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमद्या सुहस्ता:॥ अध्वर्यवोऽप इता समुद्रमपां नपातं हविषा यजध्वम्। स वो दददूर्मिमद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत॥ यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास इळते अध्वरेषु। अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥ याभि: सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्य:। ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिंचा ओषधीभि:पुनीतात्॥ एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ। सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवी:॥ यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत्। तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनाप:॥ प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो व:सिन्धवो मध्व उत्स:। घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वाऽऽपो रेवती: शृणुता हवं मे॥ तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति। मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम् (ऋसं० १०.३०.१-९)।

३. ऐब्रा० (२.३.१९, आपश्रौसू० १२.५.१-२, आश्वश्रौसू० ५.१.१)।

करना चाहिए तथा सूक्तकी प्रथम ऋचाको लगातार तीन बार बोलना चाहिए। सूक्तपाठके द्वितीय प्रकारको बताते हुए कहा गया है कि ऐसा पाठ करना चाहिये कि नौ ऋचाओंतक (दो ऋचाओंके मध्य) अन्तराय न हो। दसवीं ऋचाको[१] ग्यारहवींके स्थानपर तथा दसवींके स्थानपर ग्यारहवीं[२] ऋचा पढ़ी जाए। साथ ही यह भी विधान किया गया है कि जब 'एकधना' नामक जलको नदीसे लाया जाय तब दसवीं ऋचा, जब होता एकधना नामक जलको लेकर लौटते हुए पुरुषोंको देखे तब तेरहवीं[३] ऋचा, होता द्वारा दृष्ट जल जब चात्वालके समीप आवे तब उसके समीप आते हुए 'आ धेवन:'[४] आदि ऋचाओंका पाठ, जब वसतीवरी और एकधन जल मिलाये जावें तब 'समन्या यान्ति'[५] ऋचा, वसतीवरी और एकधन दोनों जल जब होतृचमसमें डाले जाएँ तब आपो न देवी:[६] ऋचा, का पाठ करना चाहिये।[७]

जिन जिन व्यक्तियोंको जो जो कार्य करनेके लिए प्रैषके रूपमें आदेश दिया गया है, वे वे व्यक्ति उन उन कार्योंको इस अवसरपर करते हैं। नेष्टा द्वारा पत्नी लाये जानेसे सम्बन्ध एक मन्त्रका[८] उल्लेख भारद्वाजने इस अवसरपर किया है।[९] सम्बद्ध ऋत्विज् चात्वालके पीछे और आग्नीध्रके आगे उत्तरकी ओर बढ़ते हैं।[१०]

---

१. आवर्वृततीरध न द्विधारा गोषुयुधो न नियवं चरन्तीः। ऋषे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः (ऋसं० १०.३०.१०)।

२. हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्। ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः (ऋसं० १०.३०.११)।

३. प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि। अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः (ऋसं० १०.३०.१३)।

४. आ धेनवः पयसा तूर्ण्यर्था अमर्धन्तीरुप नो यन्तु मध्वा। महो राये बृहतीः सप्त विप्रो मयोभुवो जरिता जोहवीति (ऋसं० ५.४३.१)।

५. समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यः पृणन्ति। तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः (ऋसं० २.३५.३)।

६. आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः। प्राचैर्देवासः प्रणयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव (ऋसं० १.८३.२)।

७. ऐब्रा० (२.३.१९-२०)।

८. प्रह्युदेहि (तैसं० ३.५.६.२)।

९. भारश्रौसू० (१३.४.५)।

१०. शब्रा० (३.९.३.१७)।

नदीके जलपर होम करना

अब ब्रह्मा, यजमान तथा पत्नी उस स्थानपर जल ग्रहण करनेके लिए जाते हैं, जहाँसे वह होताके प्रातरनुवाकका भी श्रवण कर सकें। इस अवसरपर कहा गया है कि यदि होता द्वारा पठित ऋचाओंको वह न सुन पा सके तो वह बहरा या गूंगा हो जाता है, अत: उस स्थानसे जल ग्रहण करना आवश्यक है, जहाँसे वह प्रातरनुवाक सुन सके।[१] यदि जल दूर हो तो उस अवस्थामें उसको वहीं से मंगवाकर फिर समीपसे ग्रहण कर लेना चहिये।[२] जल दूर हो या समीप हो प्रातरनुवाकके मन्त्रोंका श्रवण होना अत्यन्तावश्यक है, इसीलिए यह विधान किया गया है कि यदि जल दूर हो तो उसको वहाँसे मंगवा लिया जाय और फिर समीपसे उसको ग्रहण किया जाय।

अब जिस जलको ग्रहण करना है, उस जलके ऊपर तृणको डालकर चार बारमें ग्रहण किये हुए आज्यकी आहुति उस तृणको लक्ष्य करके मन्त्रसे[३] दी जाती है।[४] इस तृणकी संख्या एक ही होती है। मिश्रभाष्यके अनुसार यह आहुति वसतीवरीग्रहणसे पहले दी जाती है।[५] सत्याषाढश्रौसू० के अनुसार समस्त आज्यकी आहुति दी जाए अथवा कुछ आज्य बचा लिया जाए।[६] गोपानाथने स्पष्ट किया है कि यदि आज्य बचाना ही है तो चौथाई आज्यकी आहुति दी जाती है और शेष तीन चौथाई आज्य बचा लिया जाता है।[७]

आज्यको बहाना तथा जल ग्रहण करना

मन्त्रके[८] द्वारा अध्वर्यु मैत्रावरुणचमसके द्वारा उस आज्यको बहा देता है, जिसकी आहुति दी है, साथ ही उसी मैत्रावरुणचमसके द्वारा जल ग्रहण करता है,

---

१. भारश्रौसू० (१३.४.६, मैसं० ४.५.२, गोपीनाथका, भाष्य पृष्ठसं० ७९१)।

२. भारश्रौसू० (१३.४.७, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७९२)।

३. देवीरापो अपान्नपाद्यो व ऊर्मिर्हविष्य इन्द्रियावान्मदिन्तमः। तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा (वासं० ६.२७, तैसं० १.३.१३.२)।

४. भारश्रौसू० (१३.४.८, काश्रौसू० ९.३.४, शब्रा० ३.९.३.२५, बौश्रौसू० ७.३)। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७९२)।

५. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २४१)।

६. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७९२)।

७. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ७९२)।

८. कार्षिरसि (वासं० ६.२८, तैसं० १.३.१३)।

जिसके लिए मन्त्र[१] पढ़ा जाता है ।[२] सत्याषाढने ग्रहणप्रदेशसे आज्यको दूर करनेके लिए कुशाका उल्लेख किया है कि कुशोंके द्वारा आज्य हटानेका कृत्य किया जाना चाहिये ।[३]

जलसे एकधन तथा पान्नेजनी कलशोंको भरना

पूर्वोक्त मन्त्रके ही द्वारा जलसे एकधनकलशोंको भरकर अध्वर्यु जलके मध्यसे निकलता है, फिर यजमानकी प्रत्येक पत्नीके लिए दो दो पान्नेजनी कलशोंको जलसे भरकर चुपचाप जलसे निकलता है ।[४] सरलावृत्तिमें स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पत्नीके दो दो पान्नेजन[५] कलश होते हैं, जिनमें पहला कलश पशुप्राणशोधनार्थ तथा दूसरा उर्वभिषेकार्थ होता है ।[६]

आज्याहुति स्थानसे प्रत्यागमन

अब उपर्युक्त कार्योंको निपटाकर सब वापिस लौटते हैं । नेष्टा मन्त्रके[७] साथ पत्नीको लेकर वापिस लौटता है ।[८]

पत्नी द्वारा पान्नेजनी-जल ग्रहण

सत्याषाढके अनुसार यजमानकी जितनी भी पत्नियाँ होती हैं, वे सब मन्त्रके[९] द्वारा पान्नेजनी स्थाली से पान्नेजनी जल ग्रहण करती हैं,[१०] जिसे वे पत्नियाँ अथवा

---

१. समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि (वासं० ६.२८, तैसं० १.३.१३)।

२. शब्रा० (३.९.३.२६-२७, काश्रौसू० ९.३.५-६, भारश्रौसू० १३.४.१०, आपश्रौसू० १२.५.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७९२)।

३. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ७९२)।

४. काश्रौसू० (९.३.७-८, भारश्रौसू० १३.४.११) तथा आपश्रौसू० (१२.५.११) ने क्रियाका तो उल्लेख कात्यायनके विधानके समान ही किया है किन्तु मन्त्र भिन्न है जो इस प्रकार है—सोमस्य वो मूजवतो रसं गृह्णामि इति ॥

५. पशोः पादौ निज्येते एभिरति पान्नेजनाः कलशाः (काश्रौसू० ९.३.८ पर सरलावृत्ति)।

६. पृष्ठसं० (३४४)।

७. प्रह्युदेहि।

८. भारश्रौसू० (१३.४.१३-१४)।

९. वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो विश्वेभ्यो वो देवेभ्यः पन्नेजनीर्गृह्णामि (तैसं. ३.५.६.२) इति।

१०. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७९४)।

यजमानकी एक ही पत्नी है तो वह पत्नी पूर्व द्वारसे सदस् में प्रवेश करके प्रशास्ताकी धिष्ण्याको आगेसे पार करके नेष्टाकी धिष्ण्याके पीछे उन पान्नेजनी जलको मन्त्रके[१] द्वारा रखती है ।[२]

मैत्रावरुणचमसस्थ तथा वसतीवरी संज्ञक जलका संसर्ग

अब चात्वालपर स्थित होकर अध्वर्यु मैत्रावरुणचमसस्थ जल और वसतीवरीको एक दूसरेमें मिला देता है,[३] इस कृत्यके लिए मन्त्र पढ़ा जाता है ।[४] विकल्पके रूपमें कात्यायनने यह विधान किया है कि पहले मैत्रावरुणचमसमें वसतीवरी संज्ञक जल डाला जाय ।[५]

प्रचरणीके जलसे आज्यको तर करना

भारश्रौसू० (१३.५.४) तथा संहिता ग्रन्थोंमें[६] यह भी उल्लेख किया गया है कि मन्त्रके[७] द्वारा अध्वर्युको प्रचरणीके घीसे जलको[८] तर करना चाहिए । सत्याषाढने उक्त मन्त्रका उल्लेख तो किया किन्तु विनियोग उस क्रियामें नहीं किया है, जिस क्रियामें विनियोग भारद्वाजने किया है, सत्याषाढके अनुसार दक्षिण हस्तमें होतृचमस ग्रहण करके वाम हस्तमें मैत्रावरुणचमसको धारण करके परस्पर स्पर्श कराता है ।[९]

---

१. वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो विश्वेभ्यो वो देवेभ्यः पन्नेजनीः सादयामि यज्ञाय वः पन्नेजनीः सादयामि इति (तैसं० ३.५.६.२)।

२. भारश्रौसू० (१३.५.१)।

३. काश्रौसू० (९.३.९, शब्रा० ३.९.२९, भारश्रौसू० १३.५.२)।

४. समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः (वासं० ६.२८)।

५. काश्रौसू० (९.३.१०)।

६. कासं० (३.९, मैसं० ४.५.२)।

७. सं वोऽनक्तु वरुणः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ यथायथं धुरो धूर्भिः कल्पन्ताम् इति ।

८. होतृचमस और मैत्रावरुणचमस इन दोनोंके जल को तर किया जाता है (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ७९५)।

९. सत्याषाढसू० (पृष्ठसं० ७९४)।

भारद्वाज द्वारा प्रयुक्त किये गए मन्त्रसे आपस्तम्ब[१] द्वारा प्रयुक्त तथा सत्याषाढ द्वारा प्रयुक्त मन्त्र बिल्कुल समान नहीं है, किंचित् भेद अवश्य है। सत्याषाढने वो नक्तुके स्थानपर वोदधातु का तथा सं धाता का अधिक प्रयोग किया और आपस्तम्बने भी संपूषा और सं धाता का अधिक प्रयोग किया है।

होतृचमसमें वसतीवरीजल छोड़ना

अब आग्नीध्रके हाथमें स्थित होतृचमसको लेकर अध्वर्यु उसमें वसतीवरी संज्ञक जल छोड़ता है, जिसको फिर वह यजमानको समर्पित कर देता है। इस जलकी निग्राभ्या[२] संज्ञा है, जो अभिषवके लिए काममें लाया जाता है।

अध्वर्यु व होताके मध्य प्रश्नोत्तर

अब उठकर आहवनीयकी ओर जाकर अध्वर्यु होताके मध्य जल प्राप्त होनेसे सम्बद्ध प्रश्नोत्तर कृत्य करता है। पहले होता अध्वर्युसे "अध्वर्योऽवेरपा ३" प्रश्न करता है जिसके उत्तर में होता "उतेव नंनमुः" यह उत्तर देता है।[३] भारद्वाजने उतेव नंनमुः वाक्यके स्थानपर उतेमनन्नमुः वाक्य का प्रयोग किया है।[४] सत्याषाढके अनुसार अध्वर्यु तीन बार प्रश्नका उत्तर देता है और होता भी तीन ही बार प्रश्न करता है।[५]

प्रचरणीसंस्रव होम

यह कृत्य अग्निष्टोमके ही अन्तर्गत किया जाता है, इस सम्बन्धमें कहा गया है कि आहवनीय अग्निमें समित्पूर्वक प्रचरणीसंस्रवोंकी आहुति मन्त्रसे[६] की जानी चाहिए।[७] यदि पर्याप्त प्रचरणीसंस्रव न हो तो आज्यस्थालीसे चार बारमें आज्य ग्रहण करके उपर्युक्त मन्त्रके द्वारा ही आहुति आहवनीयमें दी जाती है (देवया-

---

१. आपश्रौसू० (१२.६.३)।
२. होतृचमसे निगृह्यमाणत्वात् निग्राभ्या इति संज्ञा (शब्रा० ३.९.३.३० पर सायण भाष्य)।
३. काश्रौसू० (९.३.१२)।
४. भारश्रौसू० (१३.५.६)।
५. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७९६)।
६. यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा व्वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा (वासं० ६.२९, तैसं० १.३.१३)।
७. काश्रौसू० (९.३.१३)।

ज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३०९)। कतिपयसूत्रकारोंने प्रचरणीसंस्रवहोमको ही क्रतुकरण[1] आहुतिके नामसे अभिहित किया है।[2]

प्रचरणी स्रुचिका स्थापन तथा उससे अभिचार क्रिया

क्रतुकरण आहुति अथवा प्रचरणीसंस्रव होमके पश्चात् अध्वर्यु हविर्द्धान शकटके दक्षिण वाले बाँसके सिरेपर प्रचरणी लाकर रखकर उस स्रुचिसे उस व्यक्तिको स्पर्श करता है, जिससे वह द्वेष करता हो।[3] आपश्रौसू० (१२.७.१) के अनुसार जिसको नपुंसक बनाना हो, उसको इस स्रुचिसे स्पर्श किया जाता है। सत्याषाढश्रौसू० में कहा गया है कि यदि यजमान अपने शत्रुको नपुंसक बनाना चाहे तो प्रचरणीको दक्षिणहविर्द्धानके नीचे रखे। विकल्पके रूपमें गोपीनाथने दक्षिणहविर्द्धानकी धुरिके नीचे प्रचरणी रखनेका भी विधान किया है।[4]

आधवनीय कलशमें जलका प्रक्षेप

मन्त्रके[5] साथ अध्वर्यु इस अवसरपर आधवनीय कलशमें तीन जलोंको डालता है, तीनों जलोंको डालते हुए उपर्युक्त मन्त्रकी आवृत्ति भी की जाती है। सबसे पहले आधवनीयमें मैत्रावरुणके चमसके सम्पूर्ण जलको उडेलता है, फिर वसतीवरीके तृतीय अंश तथा एकधन कलशोंके तृतीय तृतीय अंश जलका प्रक्षेप करता है।[6]

जलसे पूरित कलशोंका स्थापन

इस समय अध्वर्यु वसतीवरीजल, एकधनकलश और मैत्रावरुणचमसको उत्तरी हविर्द्धानके उत्तरमें रखता है।[7] आपश्रौसू० के अनुसार वसतीवरीजल धुरेके सामने, एकधनकलश उत्तरी हविर्द्धान शकटके धुरेके पीछे, मैत्रावरुणचमस दक्षिणी

---

१. क्रतुव्यावृत्तिः क्रियतेऽनेनेति क्रतुकरणम् (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ७९६)।

२. आपश्रौसू० (१२.६.४-५ सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७९६, भारश्रौसू० १३.५.७)।

३. भारश्रौसू० (१३.५.११-१२)।

४. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ७९७)।

५. अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो महिना विश्वशम्भूः। स नः पावको द्रविणं दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम इति (काश्रौसू. ९.३.१८-१९)।

६. काश्रौसू० (९.३.१८-१९)।

७. भारश्रौसू० (१३.६.१-२)।

हविर्द्धान शकटके धुरेके सामने, होताका चमस दक्षिणी हविर्द्धानके उत्तरी पहिएकी लीकपर पहिएके सामने रखता है, विकल्पके रूपमें यह क्रम विपरीत भी हो सकता है, उदाहरणके लिए वसतीवरीको घेरेके पीछे ।[१]

यहाँ तक प्रातरनुवाकके पश्चात् जलग्रहणसे सम्बन्धित कर्मकाण्डका विवेचन किया गया । जिस प्रकार चौथे दिन नदीसे या सरोवरसे जल ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार पाँचवें दिन भी नदी या सरोवरसे जल ग्रहण किया जाता है, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि चौथे दिन जो जल ग्रहण किया जाता है, उसे वसतीवरी और जो पाँचवें दिन जल ग्रहण गया उसे एकधन कहते हैं । अभिषवके लिए दोनोंका ही प्रयोग किया जाता है । पाँचवें दिन लाए हुए जलसे पान्नेजनी कलशोंको भरा जाता है, तब वही जल पान्नेजनी कहलाने लगता है, इसी प्रकार वही जल (वसतीवरी) जब होतृचमसमें उडेला जाता है, तो उसकी संज्ञा निग्राभ्या हो जाती है । यह निग्राभ्या संज्ञक जल अभिषवके निमित्त ही ग्रहण किया जाता है, पान्नेजनी जल पत्नी ग्रहण करती है । यजमानकी यदि बहुतसी पत्नियाँ हों तो सभी पान्नेजनीजल ग्रहण करती है । यहाँ यह विशेष बात है कि पत्नी दो पान्नेजनी कलशोंमें जल ग्रहण करती है, जिसका उपयोग पशुके प्राणके शोधनके लिए तथा पशुकी जांघके अभिषेकार्थ होता है ।

दधिग्रहप्रचार

बहुतसे ग्रन्थोंमें[२] इस अवसरपर दधिग्रहप्रचार कृत्य उल्लिखित है किन्तु कात्यायनने तथा शब्रा० ने दधिग्रहसे सम्बन्धित अनुष्ठान वर्णित नहीं किया है ।

दधिग्रहके प्रचारका अर्थ

गोपीनाथके अनुसार जिस कृत्यमें दधिरूप ग्रहका अनुष्ठान किया जाता है उसे दधिग्रहप्रचार कहते हैं । वषट्कारके अभावके कारण प्रचार अनुष्ठानवाची है, याग वाची नहीं । ग्रह शब्द यहाँ द्रव्यके अर्थमें ग्रहण किया गया है ।[३]

---

१. आपश्रौसू० (१२.७.२-३)।

२. तैसं० (३.५.८, ३.५.९, ६.६.९-१०, ३.३.३, ३.३.४, मैसं० १.३.३५, कासं० २९.५, कपिसं० ४५.६)।

३. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ७९८)।

नित्य और काम्य भेदसे दो प्रकारके दधिग्रह

आपश्रौसू० ने दो प्रकारके दधिग्रह बताए हैं—नित्य और काम्य।[१] गोपीनाथने स्पष्ट किया है कि ग्रहण किये जानेसे वह दधिग्रह नित्य और पशुकामकी इच्छासे वह दधिग्रह काम्य कहलाता है।[२]

विभिन्न कामना वालोंके लिए विभिन्न द्रव्योंके ग्रह

भारश्रौसू० तथा सत्याषाढने उल्लेख किया है कि तेजकी इच्छा वालेको आज्यका, ब्रह्मचर्यकी इच्छा वालेको सोमका, पशुकी इच्छा वालेको दहीका ग्रह लेना चाहिए।[३] एक स्थानपर यह भी स्पष्ट किया गया है कि दधिग्रह ही सामान्यतः या ऐच्छिक रूपसे आहुतिके लिए ग्रहण करना चाहिए।[४] इस अवसरपर कहा गया है कि यदि सोमग्रह लिया जाता है तो सोमकी उतनी ही मात्रा सवनचर्मपर डालनी चाहिए, जितनी मात्रा एक ग्रहके लिए पर्याप्त हो।[५]

निग्राभ्यके लिए मन्त्रपाठ

शेष सोमको बाँधकर अध्वर्यु होतृचमसको वसतीवरीके जलसे भरता है तथा यजमानसे उन मन्त्रोंको[६] पढ़नेके लिए कहता है, जिनके पढ़नेसे यह होतृचमसस्थ जल निग्राभ्य हो जाता है।[७]

दधिग्रह-आहुति कर्म

दक्षिणी हविर्द्धान शकटके नीचे धुरेके सामने होताका चमस रख देने पर अध्वर्यु मन्त्रके[८] द्वारा उदुम्बरके बने हुए चौकोंने ग्रहमें दधि लेकर मन्त्रके[९] साथ

---

१. आपश्रौसू० (१२.७.८, ऐब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २९७)।

२. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ८००)।

३. भारश्रौसू० (१३.६.७, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ७९९)।

४. आपश्रौसू० (१२.७.८)।

५. भारश्रौसू० (१३.६.९, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ८००)।

६. निग्राभ्याः स्थ देवश्रुतः से लेकर गणा मे मा वि तृषत् पर्यन्त (तैसं० ३.१.८)।

७. भारश्रौसू० (१३.६.१०)।

८. उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा ज्योतिष्मते ज्योतिष्मन्तं गृह्णामि (तैसं० ३.५.८.१)।

९. अपेन्द्र द्विषतो मनः (तैसं० ३.५.८.१)।

दधिग्रहको आहवनीयकी ओर ले जाकर शेष अनुवाकके[१] साथ आहुति देता है ।[२]

सोमसवनके निमित्त मन्त्रपाठ

सोममें वसतीवरी जल मिलाकर सोमसवनके निमित्त मन्त्रका[३] पाठ किया जाता है ।[४]

सोमका कुट्टन

अब अध्वर्यु ग्रावाणसे अधिषवणचर्मफलकपर मन्त्रके[५] द्वारा सोम कूटता है ।[६] आपश्रौसू० ने इस मन्त्रको सोमकरणी मन्त्र कहा है ।[७] यह ध्यान रखना चाहिए कि जब कभी भी सोम कूटा जाय तो वह फलकपर ही ग्रावाणसे कूटा जाना चाहिए ।[८] साथ ही जिस मन्त्रका पहले प्रयोग किया गया है, उसी मन्त्रका प्रयोग उस समय किया जाना चाहिए जब सोम कूटा जाय ।[९] कूटते समय जब टहनी पहले गिरे तब मन्त्र[१०] पढ़ा जाता है ।[११] जब सोमकी बूंदे गिरे तब मन्त्र[१२] पढ़ा जाता है ।[१३] इस मन्त्रके संम्बन्धमें दो मत प्राप्त होते हैं—पहले के अनुसार प्रत्येक सवनपर उपर्युक्त मन्त्र ही पढ़ा जाना चाहिए, दूसरेके अनुसार केवल अन्तिम सवनपर ही यह मन्त्र पढ़ा जाना चाहिए ।[१४]

---

१. प्राणाय त्वा (तैसं० ३.५.८.१)।

२. भारश्रौसू० (१३.६.३-६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ७९९)।

३. अवीवृधं वो मनसा सुजाताः (तैसं० ३.१.८.२)।

४. भारश्रौसू० (१३.६.११, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८००)।

५. तिस्रो जिह्वस्य समिधः परिज्मनोऽग्नेरकृण्वन्नुशिजो अमृत्यवे । तासामेकामदधुर्मर्त्ये भुजं लोकमु द्वे उप जामी ईयतुः (मैसं० १.३.३५)।

६. भारश्रौसू० (१३.६.१३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८०१)।

७. आपश्रौसू० (१२.७.१०)।

८. भारश्रौसू० (१३.७.२)।

९. भारश्रौसू० (१३.७.३)।

१०. आ माऽस्कान्त्सह प्रजया सह रायस्पोषेण (तैसं० ३.१.८.३)।

११. भारश्रौसू० (१३.७.४)।

१२. द्रप्सश्चस्कन्द (तैसं० ३.१.८.३-४)।

१३. भारश्रौसू० (१३.७.६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८०१)।

१४. भारश्रौसू० (१३.७.७)।

सत्याषाढने इस अवसरपर होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मा और यजमानके सोमभक्षणका विधान किया है ।[1]

अदाभ्यअंशुग्रहप्रचार

सर्वप्रथम यजमान दशापवित्रकी नाभि करता है, अध्वर्यु हाथमें सुवर्णखण्ड लेकर दधिग्रह पात्रमें छन्नीके द्वारा सोमसे निचोड़ा हुआ रस इस प्रकार लेता है कि उसकी धारा टूटने नहीं पाती । आपश्रौसू० (१२.७.१२) के अनुसार अध्वर्यु पहले अंशुचमस या अदाभ्यचमस लेता है, फिर मन्त्र[2] पढ़कर उस अदाभ्य या अंशुचमसको खरपर रखता है और इसके पश्चात् हाथमें सुवर्ण खण्ड लेकर वह पूर्वकी ओर मुखकरके अदाभ्य या अंशुग्रहकी आहुति देता है, मन्त्र वही पढ़ा जाता है जो दधिग्रहके प्रसंगमें पढ़ा गया था तथा सोमकूटनेके अवसरपर भी वही मन्त्र पढ़ा जाता है, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है ।[3]

अब अध्वर्यु सब सोमग्रहोंको लेकर सुवर्णखण्डके साथ आहुति देता है । सबकी सब सोम आहुतियाँ पूर्वकी ओर मुख करके दी जाती हैं । सोमकी आहुति देकर शेषभागको अध्वर्यु सदस्में भक्षण कर जाता है । फिर ग्रहको मार्जालीयमें स्वच्छ करता है । सदस्में शेष सोमको अध्वर्यु ग्रहण करता है तथा आहुतियोंका शेष अंश अग्निशालामें आग्नीध्र ग्रहण करता है । सोमकी बची हुई जूठनको मार्जालीयमें धो दिया जाता है अब अध्वर्यु अदाभ्यग्रह ग्रहण करके बँधे हुए गट्ठेमेंसे अलग अलग इन मन्त्रोंके[4] साथ सोमराजाकी तीन डण्ठलें निकाल लेता है । दही या दूधसे भरे हुए चमसमें अध्वर्यु निग्राभ्य जलकी बूंद डालकर उसके घोलमें सोमकी तीनों डण्ठलें डालकर मन्त्र[5] पढ़ता है ।[6]

अध्वर्यु प्रत्येक बार तीन मन्त्र पढ़कर चार बार उसको चलाता है अथवा पाँच पाँच मन्त्र पढ़कर दो बार और एक एक मन्त्र पढ़कर दो बार अर्थात् कुल चार

---

१. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८०२-८०४)।
२. एष ते योनिः।
३. भारश्रौसू० (१३.७.८-१४)।
४. वसवस्त्वा प्र वृहन्तु गायत्रेण छन्दसा (तैसं० ३.३.१)।
५. मान्दासु ते शुक्र शुक्रमा धूनोमि (तैसं० ३.३.१)।
६. भारश्रौसू० (१३.८.१-९)।

बार चलाता है अथवा सात मन्त्रोंके साथ एक बार और एक एक मन्त्रके साथ पाँच बार चलाता है ।[१] आपश्रौसू० के अनुसार तीन-तीन मन्त्रोंके साथ चार बार या दो-दो मन्त्रोंके साथ चार बार और चार मन्त्रोंके साथ पाँचवी बार चलाता है अथवा दो मन्त्रोंके साथ पाँच बार और छठे-सातवें बार एक एक मन्त्रके साथ चलाता है ।[२]

अदाभ्यग्रहकी आहुति

अब अध्वर्यु मन्त्रके[३] साथ दधिग्रहके द्वारा उस घोलको ग्रहण करता है, फिर मन्त्रके[४] द्वारा ग्रह ले चलता है और मन्त्रके[५] साथ ग्रहकी आहुति देता है ।[६]

सोमके गड्ढेमें सोमकी डण्ठल रखना

अब अध्वर्यु तीनों डण्ठलोंको सोमके गड्ढेमें मन्त्रके[७] साथ रख देता है । रखनेकी क्रियासे सम्बद्ध दो मत प्राप्त होते हैं-एकके अनुसार प्रत्येक सवनके साथ एक एक डण्ठल रखना चाहिये, दूसरोंके अनुसार इसी समय एक एक करके सब डण्ठलें रख देनी चाहिये ।[८] आपश्रौसू० ने दूसरे मतका विधान किया है ।[९]

अंशुग्रहग्रहण

अब अध्वर्यु अंशुग्रह उठाता है ।[१०] अध्वर्यु अधिषवणचर्मपर सोमराजको उतना ही उडेलता है जितना एक ग्रहके लिए वह उचित समझता है ।[११]

---

१. भारश्रौसू० (१३.८.१०) के अंगरेजी अनुवादपर सम्पादककी टिप्पणी ।

२. आपश्रौसू० (१०.८.२) ।

३. शुक्रं ते शुक्रेण गृह्णामि । अग्निः प्रातः सवने पात्वस्मान् (तैसं० ३.१.९.१-२) ।

४. आस्मिन्नुग्रा अचुच्यवुः (तैसं० ३.३.३.२)

५. सोमः सोमस्य पुरोगाः (तैसं० ३.३.३.२) । आपश्रौसू० (१२.८.३) के अनुसार मन्त्रपाठ इस प्रकार है—यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवी इति ।

६. भारश्रौसू० (१३.८.११-१३) ।

७. उशिक्त्वम् देव सोम गायत्रेण छन्दसा (तैसं० ३.३.३.२-३) ।

८. भारश्रौसू० (१३.८.१४-१५) ।

९. आपश्रौसू० (१२.८.४) ।

१०. भारश्रौसू० (१३.८.१७) ।

११. भारश्रौसू० (१३.८.१८) ।

सोमका कुट्टन

साँस खींचे बिना अध्वर्यु सोमको कूटता है, छननीमें निर्बाध सोमरसकी धारा बहने देता है और फिर अदाभ्य[१] ग्रहमें एक बारमें ही रस ले लेता है ।[२]

वामदेव्य सामके द्वारा सोमग्रहण

इस अवसरपर कहा गया है कि मन ही मन वामदेव्य साम[३] कहते हुए सोम ग्रहण किया जाना चाहिये[४] किन्तु कुछ आचार्योंने वामदेव्यके मूल मन्त्रोंसे इस एक मन्त्रका[५] पाठ करते हुए सोमग्रहण करनेका विधान किया है, जिसका उल्लेख भारद्वाजने किया है ।[६]

अंशुग्रहकी आहुति

सोम लेकर अध्वर्यु और यजमान सौ मान सुवर्णपर अपने साँस मन्त्रके[७] साथ रोक लेते हैं ।[८] आपश्रौसू० के अनुसार तब प्रतिप्रस्थाता दोनोंसे सुवर्ण खण्डका स्पर्श कराता है और सुवर्णपर जल छिड़कता है ।[९]

अध्वर्यु सुवर्णखण्डसे ग्रहपात्रको ढककर मन्त्रके[१०] साथ जलका स्पर्श

---

१. यद्वै देवा असुरानदाभ्येनादभ्नुवन्तददाभ्यस्यादाभ्यत्वमिति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठ सं० ८१४)।

२. भारश्रौसू० (१३.९.१)।

३. साकौसं० (१.२.२.३.५, ऊहगान २.१.१.१२.१-३)। कया नश्चित्र आभुवदिति वामदेव्यस्यर्चा इति (गोपीनाथका भाष्य, पृष्ठसं० ८११)।

४. भारश्रौसू० (१३.९.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ८११)।

५. नश्चित्र आ भुवत् (तैसं० ४.२.११.२)।

६. भारश्रौसू० (१३.९.३, सत्यौषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८११)।

७. आ नः प्राण एतु परावतः (तैसं० ३.३.३.३-४)।

८. भारश्रौसू० (१३.९.५)।

९. आपश्रौसू (११.८.७-८)।

१०. इन्द्राग्नौ मे वचः कृणुताम् (तैसं० ३.३.३.३-४)।

करता है ।[१] इसके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[२] द्वारा साँस खींचे बिना तत्काल आहुति देता है ।[३]

सोम-भक्षण

आहुति दे चुकनेपर बचे हुए सोमका भक्षण सदस्में कर लिया जाता है ।[४]

दक्षिणा

अंशुग्रहकी आहुति तथा अदाभ्यग्रहकी आहुतिके बाद दोनों बार दक्षिणाके रूपमें बारह बछिया तथा सोने-लेटनेके लिए एक चर्म दिया जाता है ।[५] आपश्रौसू० ने गर्भिणी बछियाका उल्लेख किया है ।[६]

कामना विशेषसे अदाभ्य तथा अंशु ग्रहका ग्रहण

आपश्रौसू० में कहा गया है कि जिसके शत्रु हों, उसे अदाभ्यग्रह लेना चाहिए तथा जिसे समृद्धिकी इच्छा हो उसे अंशुग्रह लेना चाहिए । इनको प्रत्येक यज्ञमें नहीं लिया जाता, वाजपेय, राजसूय तथा सर्ववेदस् यज्ञमें ही इनका ग्रहण किया जाता है, ज्निन यज्ञोंमें सारी सम्पत्ति वितरित कर दी जाती है । किन्तु यह भी कहा गया है कि उस यजमानके लिए अध्वर्यु ग्रह ले सकता है जो उसे बहुत प्रिय और सुपरीक्षित हो ।[७] गोपीनाथके अनुसार इस प्रकारके गुणोंसे अलंकृत यजमानके लिए अध्वर्यु सभी प्रकृति-विकृति यागोंमें बिना किसी कामनाके भी ग्रह ग्रहण कर सकता है ।[८]

---

१. भारश्रौसू०(१३.९.६)।स्पर्श करनेकी क्रिया (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ८१३) के अनुसार अमन्त्रक है, जबकि उपर्युक्त मन्त्रका विनियोग ग्रहको आहवनीयकी ओर ले जाते समय किया गया है, इससे स्पष्ट है कि भारद्वाजने जिस मन्त्रका विनियोग स्पर्श करनेकी क्रिया में किया उसी को सत्याषाढने आहवनीयका ओर ले जानेकी क्रियामें किया है ।

२. दधन्वे वा यदीम् (तैसं० ३.३.३.४)।

३. भारश्रौसू० (१३.९.७, सत्याषाढश्रौसू० ८१३ पृष्ठ संख्या)।

४. भारश्रौसू० (१३.९.९)।

५. भारश्रौसू० (१३.८.१६, १३.९.१०)।

६. आपश्रौसू० (१२.८.११)।

७. आपश्रौसू० (१२.८.१२-१४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८१६)।

८. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ८१७)।

जिस प्रकार कात्यायनने दधिग्रहका विधान नहीं किया उसी प्रकार कात्यायनने अग्निष्टोमके प्रसंगमें अंशु एवं अदाभ्य ग्रहोंकी आहुतियोंका उल्लेख नहीं किया है ।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बातका भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिसका वर्णन एक स्थानपर किया गया है । दधि, अंशु और अदाभ्य तीनों ग्रहोंके पात्र समान होते हैं, किन्तु तीनोंके तीन पात्र होते हैं ।[१] आपश्रौसू० ने दधिग्रहके लिए एक पात्र और अंशु-अदाभ्य के लिए एक पात्रका उल्लेख किया किन्तु सत्याषाढने तीन ही पात्रोंका संकेत किया है । आपश्रौसू० के अनुसार उस अवस्था में केवल एक ही पात्र ग्रहण किया जाता है, जब सोमग्रह ग्रहण किया जाय किन्तु सत्याषाढके अनुसार उस स्थितिमें भी तीन ही पात्र ग्रहण किये जाते हैं ।[२]

उपांशुग्रहप्रचार

प्रात:सवनके अन्तर्गत कात्यायनके अनुसार उपांशुग्रह पहला ग्रह है, जिसका ग्रहण किया जाता है । इसके अतिरिक्त अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य और ध्रुव इन धाराग्रहोंका[३] ग्रहण किया जाता है । ऐन्द्रवायवादि तीन द्विदेवत्यग्रह, द्वादश ऋतुग्रह ऐन्द्राग्न और वैश्वदेव (कुल मिलाकर चौबीस) ग्रह ग्रहण किये जाते हैं ।

एकधनशेष व वसतीवरीशेषका स्थापन

एकधनकलशमें बचे हुए तथा वसतीवरीमें बचे हुए जलको उत्तरी हविर्द्धा-नके नीचे धुरीके पीछे यत्नपूर्वक रक्खे (काश्रौसू० ९.४.१) ।

---

१. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८१०) ।

२. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ८१०) ।

३. उन्नेता आधवनीयकलशादुदंचनेन सोममादाय यजमानहस्तस्थितहोतृचमसे निग्राभ्यास्वासिंचति । ततः यजमानस्ता निग्राभ्याः पवित्रे द्रोणकलशस्योपरि उदगातृभिर्विस्तार्यधृते आसिंचति सन्ततम् । ततः सन्तत स्रवन्त्या धारायाः सकाशात् अन्तर्यामादीन् ध्रुवग्रहान्तान् नवग्रहान् गृह्णंति इत्यत एवैते धाराग्रहाःउच्यन्ते (काश्रौसू० ९.५.१७) । धारायामुत्पन्ना ग्रहाः धाराग्रहाः (आपश्रौसू० १२.१८.११ पर रुद्रदत्तकी वृत्ति) ।

ऋत्विजोंका क्रमसे उपवेशन

महाभिषवके उद्देश्यसे अब ऋत्विज अपने अपने निश्चित स्थानपर बैठते हैं। अधिषवण-चर्मके उत्तरकी ओर अध्वर्यु और यजमान बैठें, इन दोनोंमें भी पूर्वकी ओर अध्वर्यु और पश्चिमकी ओर यजमान, ब्रह्मा। प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा उन्नेता, अधिषवणचर्मके पीछेसे घूमकर दक्षिणकी ओर उत्तराभिमुख होकर बैठते हैं।[१]

पत्थर ग्रहण करना

अनामिकामें हिरण्य-बन्धन हेतु अध्वर्यु आदि चारों अपने अपने पत्थरोंको उठाते हैं। अध्वर्यु दो पत्थरोंका तथा अन्य तीन ऋत्विज् तीन पत्थरोंका आहरण करते हैं।[२] अब हाथ धोकर अध्वर्यु अनामिकामें सोना बाँधता है और मन्त्रसे हिंकार करके उपांशुसवन (संज्ञक पत्थर) को उठाता है।[३] सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८१७) ने मन्त्र[४] के द्वारा ग्रावाके अभिमन्त्रणका उल्लेख किया है। आपश्रौसू० (११.९.१) के अनुसार ग्रावाण उठानेसे पूर्व अध्वर्यु होताके चमसको वसतीवरीके जलसे भर देता है। हिंकारसे पूर्व अध्वर्युको मौन धारण कर लेना चाहिए।

यजमान द्वारा मन्त्रपाठ

अब यजमान निग्राभ्याको अपनी छातीसे लगाकर तथा उसको स्पर्श करता हुआ मन्त्रका[५] उच्चारण करता है।[६]

---

१. काश्रौसू० (९.४.१-३, देवयाज्ञिक पद्धति, पृष्ठसं० ३०९)।

२. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठ सं० ३१०)।

३. शब्रा० (३.९.४.१,३, भारश्रौसू० १३.९.११, बौश्रौसू० ५.७, काश्रौसू० ९.४.४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८१७)।

४. ग्रावासि इति।

५. निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा (वासं० ६.३०)॥ मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वि तृषन् (वासं० ६.३१)।

६. काश्रौसू० (९.४.६, शब्रा० ३.९.४.७)।

उपांशुसवनपर सोमका प्रक्षेप

यजमान द्वारा मन्त्रपाठ किये जानेके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[१] द्वारा अधिषवणचर्मपर रक्खे हुए उपांशुसवनपर एक एक करके पाँच मुष्टि सोम डालता है ।[२] तात्पर्य यह है कि एक एक मन्त्र पढ़कर एक एक मुष्टि सोम उपांशु सवनपर डाला जाता है, जो अधिषवणचर्मपर स्थित होता है । इस प्रकार पाँच मन्त्रोंके द्वारा एक एक करके पाँच मुष्टि सोम डालनेका कार्य सम्पन्न हो जाता है ।

कतिपय सूत्रोंके अनुसार अध्वर्यु उपांशुसवन उठा लेनेके पश्चात् मौन होकर आग्रयणस्थाली लेता है तथा ग्रावाणका मुख ऊपर करके और हाथमें सुवर्ण खण्ड लेकर मन्त्रोंके[३] द्वारा सोमको पाँच बार तौलता है तथा अन्तमें कुछ सोम रोक लेता है ।[४]

सोम-स्पर्श

अधिषवणचर्मपर स्थापित उपांशुसवनके ऊपर सोम प्रक्षेप करनेके अनन्तर प्रक्षेपित सोमका मन्त्रके[५] द्वारा स्पर्श किया जाता है ।[६]

क्षुल्लकाभिषवके लिए विधिपूर्वक सोमको पृथक् करना

क्षुल्लकाभिषवके लिए अध्वर्यु उस सोममेंसे एक मुष्टि सोम पृथक् करता है, जिसका स्पर्श किया गया है । प्रतिप्रस्थाता भी इसी प्रकार पावनार्थ छह अंशु

---

१. इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते मिमे ॥इन्द्राय त्वाऽऽदित्यवते मिमे॥ इन्द्राय त्वाऽभिमातिघ्ने मिमे। श्येनाय त्वा सोमभृते मिमे॥ अग्नये त्वा रायस्पोषदे मिमे (वासं० ६.३२)।

२. काश्रौसू० (९.४७, शब्रा० ३.९.४.९-१०)।

३. इन्द्राय त्वा वृत्रघ्ने। इन्द्राय त्वा वृत्रतुरे। इन्द्राय त्वा भिमातिघ्न॥ इन्द्राय त्वाऽऽदित्यवत॥ इन्द्राय त्वा विश्वदेव्यावते (तैसं० १.४.१)।

४. भारश्रौसू० (१३.९.१२-१३, आपश्रौसू० १२.९.४-५, बौश्रौसू० ७.५, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८१७)।

५. यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे। तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः(वासं० ६.३३)।

६. काश्रौसू० (९.४८, शब्रा० ३.९.४.१२, भारश्रौसू० १३.१०.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८१८)।

पृथक् करता है तथा तृतीय सवनके लिए सातवाँ एक महा अंशु पृथक् किया जाता है जिसे किसी अन्य स्थानपर रख दिया जाता है, इसके अतिरिक्त उपांशु-अभिषव (क्षुल्लकाभिषव) के निमित्त होतृचमसस्थ जलको किसी दूसरे पात्रमें करके अलग रख दिया जाता है, उपांशुसवन भी इसी प्रकार पृथक् कर दिया जाता है ।[१]

महाभिषव

यह सबसे पहला महाभिषव नामक कृत्य है, जिसका अनुष्ठान इस अवसरपर किया जाता है । देवयाज्ञिकके अनुसार अध्वर्यु हाथ धोता है, हिरण्य बन्धन करता है, इसी प्रकार अन्य ऋत्विज (प्रतिप्रस्थाता, उन्नेता, नेष्टा) भी हाथ धोते हैं तथा अनामिकामें सोना बाँधते हैं, तथा सभी "देवस्य त्वा" मन्त्रसे पत्थर उठाते हैं ।[२]

सोमपर जल छिड़कना

रक्खे हुए सोमपर मन्त्रके[३] द्वारा निग्राभ्याजल छिड़का जाता है ।[४]

अभिषव करते समय अभिचार क्रिया

इस अवसरपर कहा गया है कि अभिषव करते समय अध्वर्युको अपने शत्रुका स्मरण "अमुष्मा अहं प्रहरामि न तुभ्यं सोम" कहकर करना चाहिए । यदि अध्वर्युका कोई शत्रु न हो तो उस स्थितिमें यह विधान किया गया है कि तृणका ही चिन्तन कर लिया जाय ।[५]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१०, काश्रौसू० ९.४.९) ।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१०) ।

३. श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः । ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत (वासं० ६.३४) ।

४. काश्रौसू० (९.४.१०, शब्रा० ३.९.४.१६, भारश्रौसू० १३.१०.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८१८) ।

५. काश्रौसू० (९.४.११-१२, शब्रा० ३.९.४.१७) ।

अभिषव-क्रिया

मन्त्रपूर्वक[१] अध्वर्यु उपांशुसवनसे सोमको कूटता है।[२] भारश्रौसू० (१३.१०.६) ने उक्त मन्त्रका विनियोग पत्थर उठानेकी क्रियाके निमित्त किया है। कतिपय सूत्रोंमें सोमकूटनेका मन्त्र[३] भिन्न रूपसे उल्लिखित है।[४] साथ ही यह भी कहा गया कि सर्वप्रथम सोमके मूलका कुट्टन किया जाय, फिर तृणका और फिर काष्ठखण्डका।[५]

निग्राभ्यजलसे सोमको सींच सींचकर तीन बार अभिषव क्रिया की जाती है। प्रथम अभिषव में आठ बार, द्वितीय अभिषवमें ग्यारह बार और तीसरे अभिषव में बारह बार सोम कूटा जाता है। कामनाभेदसे कूटनेकी संख्या भिन्न हो जाती है। इस अवसरपर कहा गया है कि यदि यजमान पशुकी कामना करे तो अध्वर्यु प्रत्येक अभिषवमें सोमको पाँच बार कूटे, यदि यजमान ब्रह्मवर्चस् की कामना करे तो अध्वर्युको चाहिए कि वह प्रत्येक अभिषव में आठ बार प्रहार करे। इस अवसरपर एक महत्वपूर्ण कृत्यका उल्लेख किया गया है कि प्रत्येक प्रहारवर्गके[६] साथ अध्वर्यु होताके चमसमेंसे थोड़ासा जल सोमांशुओं पर डालकर दो ऋचाओंके[७] साथ निग्राभवाचन करे।[८]

---

१. मा भेर्मासंविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः (वासं० ६.३५, तैसं० १.१.४.१)।

२. काश्रौसू० (९.४.१३, शब्रा० ३.९.४.१८)। अधिषवण फलकका अभिमन्त्रण किया जाता है, जिसके लिए सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ८१९) ने उक्त मन्त्रका विधान किया है।

३. तैब्रा० (३.७.९.१)।

४. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८१९, भारश्रौसू० १३.१०.७)।

५. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ८१९)।

६. अष्टप्रहारात्मक प्रथम वर्ग, एकादश प्रहारात्मक द्वितीय वर्ग तथा द्वादश प्रहारात्मक तृतीय वर्ग॥

७. प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिशआ धावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्। त्वमंग प्रशंसिषा। देवः शविष्ठ मर्त्यम्। न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः (वासं० ६.३७, ऋसं० १८४.१९, तैसं० १.४.१)।

८. काश्रौसू० (९.४.१४)।

आपश्रौसू० (१२.९.९) के अनुसार यजमान अपने मनमें अपनी इच्छित पत्नियोंमें से किसी एकका स्मरण इस रूपमें करता है कि वह भी मेरी इच्छा करती है, तब उक्त निग्राभ संज्ञक दोनों ऋचाओंका पाठ करता है ।

शब्रा० (३.९.४.१९) के अनुसार अध्वर्यु तीन बार सोमपर प्रहार करता है और तीन ही बार सोमरस इकट्ठा करता है तथा चार बार निग्राभवाचन करता है, कात्यायन (९.४.१९-२०) ने विकल्पके रूपमें चौथी बार निग्राभवाचनका उल्लेख किया है, यदि तीन ही बार निग्राभवाचन किया जाता है तो चौथी बार चुपचाप ही होतृचमसपर उपांशुसवन रख दिया जाता है ।

अभिषवके सम्बन्धमें भारद्वाजने विधान किया है कि सोमपर वसतीवरीका जल छिड़का जाय, इस अवसरपर होताके चमसके जलको निग्राभकी संज्ञा देता है और फिर ऋत्विज तीसरी बार सोमको कूटते हैं, इसके पश्चात् तीन बारी में कुटे हुए सोमसे निकले हुए रसको काष्ठपात्रमें एकत्र कर लिया जाता है तब कोई ऋत्विज उसको आधवनीय कलशमें डाल देता है । आपश्रौसू० (१२.१२.५-६) ने अंजलि में रस लेकर पात्रमें डालने का उल्लेख किया है, जिसे उन्नेता शकटके दोनों बाँसों के बीचसे ले जाकर आधवनीय कलशमें डालता है । तीसरे अभिषवणके समय ऋजीष (रस निकले हुए सोमपर्व) को निचोड़कर सोमरस इकट्ठा करते हैं, अभिषवणचर्मपर दोनों ग्रावोंको आमने सामने रखकर अध्वर्यु उन ग्रावोंमें लगी हुई तलछट को पूँछकर बीचमें इकट्ठा करता है, तब उद्गाता उन ग्रावापर द्रोणकलश लाकर रखता है, जिसका मुख पूर्वकी ओर होता है । अब उसको दक्षिण हविर्द्धानशकटके धुरेके पास पहुँचा जाया जाता है, उस द्रोणकलशपर ऊनी पवित्र इस प्रकार बिछाया जाता है कि उसकी झालरें उत्तरकी ओर हो जाती हैं । अब अध्वर्यु सोमरसपर मन्त्र[१] पढ़ता है । इस समय अध्वर्यु होताके चमससे ऊनी पवित्रपर निर्बाधधारा छोड़ता है, जो धारा सोमरसकी होती है । यदि उसका कोई द्वेषी हो तो उसका नाम लेकर बीचमें धारा छोड़ता है, इस अवसरपर उन्नेता उदंचनके द्वारा आधवनीय कलशसे सोम लेकर होताके चमसमें डालता है,[२] इस प्रकार उक्त कृत्योंके द्वारा महाभिषव कृत्य सम्पूर्ण हो जाता है ।

---

१. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः । अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत (तैआ० १.११.१) ।

२. भारश्रौसू० (१३.१२-१-१३) ।

क्षुल्लकाभिषव

अभिषवके दो भेद हैं-महाभिषव और क्षुल्लकाभिषव। महाभिषव कृत्य प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु, उन्नेता, नेष्टा आदि ऋत्विजों द्वारा सम्पन्न होता है किन्तु क्षुल्लकाभिषव कृत्य केवल अध्वर्यु ही सम्पन्न करता है।

सर्वप्रथम क्षुल्लकाभिषवके निमित्त पात्रान्तरमें स्थापित सोमको अधिषवणपर डाला जाता है, पात्रान्तरमें स्थित निग्राभ्याजलको होतृचमसमें डाला जाता है, इसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता छह अंशुओंको ग्रहण करके बाएँ हाथकी अंगुलियोंमें दो दो को असंश्लिष्ट करता है। तब दक्षिण हाथमें उपांशुपात्र ग्रहण करके बैठ जाता है। अध्वर्यु 'श्वात्रास्थ' मन्त्रसे उसी प्रकार सोमके ऊपर निग्राभ्याका सेचन करता है, जिस प्रकार महाभिषवमें सोमके ऊपर सेचन किया गया था। पहलेकी तरह ही मन्त्रपूर्वक उपांशुसवनको ग्रहण करके 'मा भेर्मा' मन्त्रसे प्रहार करता है। आठ बार सोम कूटा जाता है। किन्तु मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाता है, सात बार सोम अमन्त्रक ही कूटा जाता है। इसके पश्चात् अभिषुत सोमसे तीन अंशु लेकर होतृचमसमें उनको डालकर यजमानसे पहले की तरह ही 'प्रागपा' मन्त्र कहलाया जाता है।[१]

उपांशुग्रहग्रहण

निग्राभवाचनके अनन्तर एक एक करके तीन मन्त्रोंके साथ तीन बार उपांशु ग्रह ग्रहण किया जाता है। आठ बार सोम कूटकर मन्त्रसे[२] पहली बार, फिर ग्यारह बार सोम कूटकर मन्त्रसे[३] दूसरी बार और मन्त्रसे[४] तीसरी बार सोमके बारह बार कूटनके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता उपांशुग्रह ग्रहण करता है।[५]

देवयाज्ञिकके अनुसार दूसरी बार जब अभिषव किया जाता है तो मन्त्रका उच्चारण एक बार किया जाता है और दस बार चुपचाप ही सोम कूटा जाता है। इसी प्रकार तीसरी बार जब सोमाभिषव किया जाता है तो मन्त्र एक ही बार बोला

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१२)।

२. उपयामगृहीतोऽसि वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः (वासं० ७.१, तैसं० १.४.२)।

३. उपयामगृहीतोऽसि देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि (वासं० ७.१, तैसं० १.४.२)।

४. उपयामगृहीतोऽसि मधुमतीर्नइषस्कृधि (वासं० ७.२)।

५. काश्रौसू० (९.४.२१, शब्रा० ४.१.१.८-१३, भाश्रौसू० १२.१०.१३)।

जाता है, ग्यारह बार चुपचाप सोम कूटा जाता है ।[१] महाभिषवमें सोम कूटनेसे सम्बन्धित जिन मन्त्रोंका उल्लेख किया गया, उन्हीं मन्त्रोंका पाठ क्षुल्लकाभिषवमें भी किया जाता है । वस्तुत: सोम कूटनेकी समस्त क्रिया महाभिषव और क्षुल्लका-भिषव दोनोंमें समान ही है, भेद इतना है कि क्षुल्लकाभिषवका कर्त्ता अध्वर्यु ही होता है और उपांशुग्रह ग्रहण किया जाता है, ये दोनों विधान महाभिषवके विधानसे भिन्न हैं, बाकी सब क्रियाएँ समान ही हैं ।

भारश्रौसू० में कहा गया है कि जब प्रतिप्रस्थाता उपांशुग्रह लेता है तो उसको सोमकी दो डण्ठलोंसे ढक देता है, इसके उपरान्त अध्वर्यु अपने दोनों हाथ मिलाकर उपांशुग्रहमें सोमरस डालता है ।[२] तब अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातासे उपांशुग्रह ले लेता है, किन्तु उसको नीचे नहीं रखता ।[३] अभिचार कृत्यके अन्तर्गत अवश्य ही यह विधान देवयाज्ञिकने किया है कि हाथसे बिना छोड़े ही मन्त्र 'अमुष्य त्वा प्राणं सादयामि' से ग्रहको रक्खा जाय और मन्त्र 'अमुष्य त्वा प्राणमपि दधामि' से ग्रहको आच्छादित किया जाय । इस अवसरपर यह ध्यान रखना चाहिए कि अमुष्यके स्थानपर उस व्यक्तिका नाम लिया जाय जो शत्रु हो ।[४]

उपांशुग्रह-आहुति

पहले अध्वर्यु उपांशुग्रह लेकर मन्त्रके[५] साथ खड़ा होता है ।[६] मन्त्रके[७] द्वारा ग्रहको पूर्वकी ओर ले जाता है ।[८] आपश्रौसू० (१२.१०.१४) के अनुसार होताके आदेशानुसार ग्रहको ले जाया जाता है । अब मन्त्रके[९] साथ अध्वर्यु और प्रतिप्र-स्थाता समिधाओंके उत्तरकी ओर जाकर खड़े होते हैं ।[१०] तब अध्वर्यु सीधे खड़े

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठ सं० ३१२)।
२. भारश्रौसू० (१३.१०.१२-१३)।
३. भारश्रौसू० (१३.११.१)।
४. देवयाज्ञकपद्धति (पृष्ठसं० ३१३)।
५. स्वांकृतोऽसि मधुमतीर्न इषस्कृधि (तैसं० १.४.२.१)।
६. भारश्रौसू० (१३.११.२, आपश्रौसू० १०.१०.१३, बौश्रौसू० ७.५)।
७. उर्वन्तरिक्षमन्विहि (तैसं० १.४.२.१)।
८. भारश्रौसू० (१३.११.३)।
९. मनस्त्वाष्टु (तैसं० १.४.२.१)।
१०. भारश्रौसू० (१३.११.४)।

होकर मन्त्रके[१] साथ आग्नेय कोणमें धारागत आहुति देता है।[२] आपश्रौसू० (१२.१०.५) के अनुसार अध्वर्यु उस ग्रहको घिरी हुई लकड़ियोंके दक्षिणी मेलपर ले जाकर अग्निके दक्षिणकी ओर पूर्वमें आहुति देता है।

होता द्वारा वाणी-विसर्जन

उपांशुग्रहकी आहुति तक होता मौन धारण किये रहता है, जैसे ही उपांशुग्रहकी आहुति दी जाती है, त्यों ही होता अपनी वाणीका विसर्जन कर देता है। इस सम्बन्धमें ब्राह्मण ग्रन्थ (ऐब्रा० २.२१.३) में विधान प्राप्त होता है-सर्वप्रथम होता मन्त्रसे[३] उपांशुग्रहका अनुमन्त्रण करता है। इसके पश्चात् उपांशुग्रहको देखकर मन्त्रसे[४] उच्छ्वास लेता है फिर मन्त्रसे उपांशुसवनका स्पर्श करता है तब होता बोलना प्रारम्भ कर देता है।[५]

पात्र पोंछनेकी क्रिया कामनाभेदके अनुसार भिन्न भिन्न

अध्वर्यु और यजमान दोनों एक साथ यज्ञस्थानमें जाकर मन्त्र[६] पढ़ते हुए खड़े खड़े उपांशुग्रहसे थोड़ासा आहवनीयमें हवन करके ग्रहपात्रके ऊपरका भाग पोंछ लेते हैं, फिर अध्वर्यु प्रथम परिधिके नीचे उल्टा हाथ डालकर पीछेको खींचता है तथा मन्त्र[७] पढ़ता है।[८] शब्रा० (४.१.१.२४) के अनुसार अध्वर्यु मध्य परिधिमें हथेलीसे पोंछा हुआ सोम लगाता है।

भारश्रौसू० में यह कृत्य वर्षासे सम्बन्धित है, अतः विधान किया गया है कि यदि वर्षाकी कामना हो तो अध्वर्युको पात्रका मुँह नीचे करके उसमें लगी हुई सामग्री हाथसे पोंछनी चाहिए और यदि वर्षाकी कामना न हो तो उस स्थितिमें पात्रका मुँह

---

१. स्वाहा त्वा सुभवः सूर्याय (तैसं० १.४.२.१)।
२. भारश्रौसू० (१३.११.५)।
३. प्राणं यच्छ स्वाहा त्वा सुहव सूर्याय इति।
४. तमभि प्राणेत् प्राण प्राणं मे यच्छ इति।
५. व्यानाय त्वा इति।
६. स्वांकृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय (वासं० ७.३)।
७. देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य उपमार्ज्मि (वासं० ७.३)।
८. काश्रौसू० (९.४.३४)।

ऊपरको ही करके हाथसे पोंछना चाहिए ।[१] आपश्रौसू० (१२.११.४) के अनुसार बाहर लगे हुए को ऊपर करके पोंछना चाहिए ।

तीसरे सवन तकके लिए ग्रहमें अंशुका स्थापन

हविर्द्धानमें प्रवेश करके खरके समीपमें ही बैठकर उपांशुग्रहके अवशिष्ट स्वल्प भागको आग्रयणस्थालीमें उडेलकर तृतीय सवनके लिए एक महान् अंशु उपांशुग्रहपात्रमें डाल देता है ।[२]

स्वीकृत अंशुओंका सोममें स्थापन

पहले जिन छह अंशुओंका उल्लेख किया जा चुका है, उन छह अंशुओंको सोमकी शेष डण्ठलोंमें मन्त्रके[३] साथ मिलाया जाता है अथवा विकल्पके रूपमें यह भी विधान किया गया कि प्रत्येक सवनपर दो दो डण्ठलें सोमकी डण्ठलोंमें मिला दी जाय ।[४]

हविर्द्धानसे निष्क्रमण तथा ग्रहका स्पर्श

मन्त्रके[५] द्वारा अध्वर्यु हविर्द्धानसे बाहर निकलकर उस उपांशुग्रहका स्पर्श करता है, जिसे वह लेकर निकलता है, यजमान उस होतृचमसको किसी अन्यको सौंप देता है, जिसे वह पहलेसे ही ग्रहण किये हुए होता है ।[६]

दक्षिणा

कात्यायनने उपांशुग्रहकी आहुतिके पूर्व दक्षिणाका विधान किया है । यह दक्षिणा अध्वर्युको यजमान इस कामनासे देता है कि मेरा यज्ञ समाप्त हो जाय । दक्षिणाके अन्तर्गत किन्हीं विशेष वस्तुओंको गिनाया तो नहीं गया किन्तु यह

---

१. भारश्रौसू० (१३.११.७८, आपश्रौसू० १२.११.३) ।

२. भारश्रौसू० (१३.११.१०, काश्रौसू० ९.५.३६) ।

३. यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा (वासं० ७.२, तैसं० १.४.१.३) ।

४. शब्रा० (४.१.१.५, भारश्रौसू० १३.११.११, काश्रौसू० ९.४.२६) ।

५. स्वाहा (वासं० ७.२) ।

६. काश्रौसू० (९.४.३०-३१) ।

अवश्य कहा गया है कि यजमानको जो अभीप्सित हो, वह अध्वर्युको अवश्य दे ।[१] देवयाज्ञिकके अनुसार प्रार्थना[२] की जाती है ।[३]

अंशुओंके होमका अभिचारके रूपमें विधान

यदि अध्वर्यु अभिचार क्रिया करना चाहे तो उसे सोमकी डाली को बाहों, छाती या कपड़ेसे चिपकाकर मन्त्रके[४] साथ आहुति देनी चाहिये ।[५] भारश्रौसू (१३.११.१६-१७) के अनुसार अध्वर्यु जिस व्यक्तिके विरुद्ध अभिचार क्रिया करना चाहे और वह यदि दूर हो तो यथासम्भव देर तक साँस अवरुद्ध करके मन्त्रके[६] साथ आहुति प्रदान करे । आपश्रौसू० (१२.११.९) ने अध्वर्युको त्रिभंगी होकर खड़ा होनेका विधान किया है ।

उपांशुग्रहका स्थापन

मन्त्रके[७] साथ आग्रयणस्थालीमें शेष भागको उडेलकर मन्त्रके[८] द्वारा उपांशु ग्रहको खरके दक्षिण भागमें यथास्थान रख देता है ।[९] भारश्रौसू० (१३.११.९) ने उक्त दोनों मन्त्रोंको एक मन्त्र मानकर उपांशुग्रहके रखनेकी क्रियाका विधान किया है । कात्यायन (९.४.३७) ने भिन्न मन्त्रका[१०] उल्लेख किया है । कात्यायनने केवल इतना कहा कि उपांशुग्रहको स्वस्थानमें स्थापित कर देना चाहिए, किन्तु शब्रा० (४.१.१.२६) ने खरके दक्षिण भागमें उपांशुके स्थापनका खण्डन करके अपना मत प्रकट किया कि खरके उत्तर भागमें ही ग्रहका स्थापन किया जाना चाहिए ।

---

१. काश्रौसू० (९.४.३२)।
२. पुत्रो मेऽस्तु, धनं मेऽस्तु, गौर्मेऽस्तु इति ।
३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१३)।
४. देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भंगेन हतोऽसौ फट् (वासं० ७.३)।
५. काश्रौसू० (९.४.३५, शब्रा० ४.१.१.२६)।
६. प्रहर्षिणो मदिरस्य पदे मषाञ्ञावस्तु स्वाहा ।
७. एष ते योनिः (तैसं० १.४.२)।
८. प्राणाय त्वा (तैसं० १.४.२)।
९. भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठसं० ५२९)।
१०. प्राणाय त्वा सादयामि (वासं० ७.३)।

उपांशुसवनका स्थापन

उक्त कृत्य केवल माध्यन्दिन शाखीय सूत्र तथा ब्राह्मणमें तो प्राप्त होता है किन्तु तैत्तिरीय श्रुतिमें इस कृत्यका कोई उल्लेख नहीं मिलता। पहले अध्वर्यु उपांशुसवनको लेता है, वह इसको न तो झालरसे और न दशापवित्रेसे छूता है, यदि कोई अंशु या सोमलताका टुकड़ा लगा होता है तो उसे हाथसे छुड़ा लेता है। इसके पश्चात् उपांशुसवनको उपांशुग्रहसे स्पर्श करके उसीके पास उत्तरकी ओर मुँह करके मन्त्रके[१] साथ रखता है।[२]

उपांशुग्रहसे सम्बन्धित सभी कृत्योंमें उपांशुसवनस्थापन कृत्य सबसे अन्तिम कृत्य है, इसी कृत्यके साथ "उपांशुग्रह-प्रचार' संज्ञक कृत्य समाप्त हो जाता है।

पाँचवें दिन इतने सब कृत्य सूर्योदयसे पूर्व ही सम्पन्न कर लिये जाते हैं। दिन निकलने वाला होता है और सूर्योदयकी प्रतीक्षा की जाती है। देवयाज्ञिकके अनुसार सभी ऋत्विज अपने अपने नित्यकर्मोंमें लग जाते हैं तथा सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मोंको सम्पन्न करते हैं।

पत्नी और यजमान दोनों शौच आदिसे निवृत्त होते हैं।[३]

अन्तर्यामग्रह-प्रचार

उपांशुग्रहके पश्चात् सूर्योदय होनेपर अन्तर्यामग्रह लिया जाता है। उपांशु और अन्तर्याम दोनों ग्रहोंकी क्रियाएँ समान ही हैं, जिस प्रकार उपांशुग्रह अध्वर्यु ग्रहण करता है, उसी प्रकार अन्तर्यामग्रह भी अध्वर्यु ग्रहण करता है, जिस प्रकार उपांशुग्रह को धरतीपर नहीं रक्खा जाता, उसी प्रकार इसे भी नहीं रक्खा जाता, जिस प्रकार उपांशुग्रह लेकर अध्वर्यु खड़ा होता है, उसी प्रकार अन्तर्यामग्रह भी लेकर अध्वर्यु खड़ा होता है।[४] इसी प्रकार यदि उपांशुग्रह ढका जाता है तो अन्तर्यामग्रह भी ढका जाता है, यदि उपांशुग्रह नहीं ढका जाता तो अन्तर्यामग्रह भी नहीं ढका जाता है।[५]

---

१. व्यानाय त्वा सादयामि (वासं० ७.३)।

२. काश्रौसू० (९.४.३८, शब्रा० ४.१.१.२८)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१५)।

४. भारश्रौसू० (१३.१३.३)।

५. शब्रा० (४.१.२.१८)।

उद्गाता अधिषवणचर्मके ऊपर चार ग्रावा सामने रखकर उनके ऊपर ऋजीष रखकर फिर ऋजीषके ऊपर द्रोणकलश स्थापित करता है। दशापवित्र द्रोणकलशपर उदग्वंश फैला दा जाती है। तब पवित्रके ऊपर मध्यमें हिरण्य रक्खा जाता है। यदि उद्गाता न कर सके तो उक्त सभी कृत्योंको अध्वर्यु सम्पादित करता है। उन्नेता आधवनीयसे उदंचन (सोमग्रहणार्थ चमस) के द्वारा सोम लेकर पवित्र के ऊपर यजमानके द्वारा धारण किये हुए होतृचमसस्थ निग्राभ्याओंपर सेचन करता है फिर यजमान पवित्रको निग्राभ्यासे सतत सींचता है, इसी सन्ततधाराके द्वारा ध्रुवपर्यन्त ग्रह ग्रहण किये जाते हैं।[१]

अन्तर्यामग्रह ग्रहण

दशापवित्रकी नाभिसे बहती हुई सोमरसकी अत्यधिक पवित्र धारासे मन्त्रके[२] द्वारा अन्तर्यामग्रह भरा जाता है।[३] इसके पश्चात् अध्वर्यु अन्तर्यामग्रहको होताके दक्षिणकी ओर या उत्तरकी ओर ले जाता है।[४]

ग्रह-मार्जन

सोम न टपकने पावे इसलिए ग्रहका मार्जन किया जाता है। यद्यपि अन्तर्याम ग्रह रक्खा नहीं जाता किन्तु यदि अध्वर्यु अभिचार करना चाहे तो उस स्थितिमें "अमुष्य त्वोदानं सादयामि" कहकर ग्रह रख दिया जाता है।[५]

ग्रह-आहुति

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों मन्त्र[६] पढ़कर चारों ओर लगी हुई लकड़ीके

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१४-३१५)।

२. उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य राय एषो यजस्व। अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्। सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व (वासं० ७.४-५, तैसं० १.४.३)।

३. भारश्रौसू० (१३.१३.२, शब्रा० ४.१.२.१४, काश्रौसू० ९.६.१, बौश्रौसू० ७.६, आपश्रौसू० १२.१२.१-१२.१२.१३.१-५)।

४. भारश्रौसू० (१३.१३.४)।

५. शब्रा० (४.१.२.१७)।

६. मनस्त्वाष्टु:(तैसं० १.४.२.१)।

दक्षिणी मेलपर खड़े हो जाते हैं ।[१] तब सीधे खड़ा होकर अध्वर्यु मन्त्रके[२] साथ ईशानकोणमें धाराप्रवाह आहुति देता है ।[३] आपश्रौसू० (१२.१३.७) ने अग्निके उत्तरके आधेके पूर्वमें आहुति देनेका विधान किया है । शब्रा० (४.१.२.२१) के अनुसार जिस "स्वांकृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा" मन्त्र[४] के द्वारा उपांशुग्रहकी आहुति दी जाती है, उसी मन्त्रके द्वारा अन्तर्याम ग्रहकी आहुति दी जाती है, तात्पर्य यह है कि उपांशु और अन्तर्याम दोनों ग्रहोंकी आहुतिका मन्त्र समान है ।

ग्रह-मार्जन

अन्तर्यामग्रहके मार्जनकी क्रिया उपांशु ग्रहके मार्जनकी क्रियासे भिन्न है । आहुतिके पश्चात् अन्तर्यामग्रहको मुखसे आरम्भ करके नीचेको पोंछा जाता है, जब कि उपांशुग्रह इसके विपरीत पोंछा जाता है ।[५]

सोम मलना

परिधि (समिधा) में मलनेकी क्रिया भी एक समान नहीं है । उपांशुग्रहकी आहुति देकर अध्वर्युने हथेलीको ऊपर करके पश्चिमसे पूर्वकी ओर मध्य परिधि (समिधा) में सोम मला था किन्तु अन्तर्यामग्रहकी आहुतिके पश्चात् अध्वर्यु हथेलीको पूर्वसे पश्चिमकी ओर नीचे करके बीचकी परिधि (समिधा) में सोम मलता है,[६] यह क्रिया मन्त्रके द्वारा की जाती है ।[७]

---

१. भारश्रौसू० (१३.१३.५, भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठसं० ५३४) ।

२. स्वाहा त्वा सुभवः सूर्याय (तैसं० १.४.२.१) ।

३. भारश्रौसू० (१३.१३.६, भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठसं० ५३४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८२९) । गोपीनाथने अभिचार कृत्यके निमित्त सतत धाराके स्थानपर विच्छिन्न धारागत आहुति देनेका विधान किया है ।

४. प्रस्तुत मन्त्र वासं० (७.३) तथा (७.६) दोनोंमें प्राप्त होता है । पहला मन्त्र उपांशु ग्रहकी आहुतिके लिए विनियुक्त है तथा दूसरा मन्त्र अन्तर्यामग्रहकी आहुतिके लिए ।

५. शब्रा० (४.१.२.२२, काश्रौसू० ९.६.३) ।

६. शब्रा० (४.१.२.२३, काश्रौसू० ९.६.४) ।

७. देवेभ्यस्त्वा मरिचिपेभ्यः (वासं० ७.६) ।

अन्तर्यामग्रहसादन

मन्त्रके[१] साथ अध्वर्यु अन्तर्यामग्रहको यथास्थान रखता है।[२] इस ग्रहमें सोमका कुछ भाग शेष रहता है[३] किन्तु सत्याषाढने सोमांशुओंके डालनेका निषेध किया है (पृष्ठसं० ८२९)। शब्रा० (४.१.२.२४) का भाष्य करते हुए सायणने संकेत दिया है कि उपांशुग्रह, अन्तर्यामग्रह और उपांशुसवन तीनों इस प्रकार रक्खे जाएँ कि वे परस्पर तीनों मिले हुए हों। कात्यायनने हविर्द्धानकी ओर चलकर अन्तर्याम ग्रहके सादनका विधान भिन्न मन्त्रके[४] द्वारा किया है।[५] अभिचार क्रियाके निमित्त मन्त्रके[६] द्वारा उपांशुसवन लाकर रक्खा जाता है।[७] भारश्रौसू० (१३.१३.११-१२) के अनुसार अध्वर्यु उपांशु और अन्तर्यामको स्पर्श करके दोनोंके बीचमें उपांशुसवन लाकर रखता है किन्तु यदि अभिचारक्रिया करनी हो तो मन्त्रके[८] द्वारा अन्तर्यामग्रह भरकर रख दिया जाता है। उपांशु और अन्तर्यामग्रह तथा उपांशुसवन ये तीनों तीसरे सवन तक ज्योंके त्यों रक्खे रहते हैं।[९]

अन्तर्यामग्रहकी आहुतिका समय

व्यवहारकी दृष्टिसे तथा श्रुतिके अनुसार सामान्य रूपसे यह विधान किया गया कि यदि शीघ्रता हो तो उपांशुग्रहकी आहुति सूर्योदयसे पूर्व और अन्तर्याम ग्रहकी आहुति सूर्योदयके पश्चात् दी जाय किन्तु यदि शीघ्रता न हो तो यह विधान किया गया कि दोनों ग्रहोंकी आहुति सूर्योदयके पश्चात् ही दी जाय।[१०] शब्रा० (४.१.२.११) ने उपांशुग्रहकी आहुतिका विधान सूर्योदयसे पूर्व और अन्तर्याम

---

१. एष ते योनिरपानाय त्वा (तैसं० १.४.३)।
२. भारश्रौसू० (१३.१३.८)।
३. भारश्रौसू० (१३.१३.८)।
४. उदानाय त्वा (वासं० ७.६)।
५. काश्रौसू० (९.६.५)।
६. अमुष्य त्वा व्याने सादयामि इति।
७. अमुष्य त्वापाने सादयामि इति।
८. भारश्रौसू० (१३.१३.११-१२)।
९. भारश्रौसू० (१३.१३.९,१३)।
१०. भारश्रौसू० (१३.१३.१४)।

ग्रहकी आहुतिका विधान सूर्योदयके पश्चात् ही किया है। कुछ आचार्य इसके विपरीत विधान करते हुए कहते हैं कि अन्तर्यामग्रहकी आहुति सूर्योदयके पूर्व और उपांशुग्रहकी आहुति सूर्योदयके पश्चात् दी जाय अथवा कुछ आचार्योंके अनुसार दोनों ग्रहोंकी आहुति सूर्योदयके पूर्व ही दिये जानेका विधान प्राप्त होता है।[१]

उक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि ग्रहोंकी आहुतिके कालके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न मत आचार्योंने प्रस्तुत किए हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे यही उपयुक्त है कि उपांशुग्रहकी आहुति सूर्योदयसे पूर्व और अन्तर्यामग्रहकी आहुति सूर्योदयके पश्चात् ही दी जाय।

होता द्वारा वाग्विसर्जन

जिस प्रकार उपांशुग्रहके प्रसंगमें यह विधान किया गया था कि होता उपांशु ग्रहकी आहुति से पूर्व मौन रहता है उसी प्रकार अन्तर्यामग्रहके प्रसंगमें भी यह विधान किया गया है कि मन्त्रसे[२] अन्तर्यामग्रहका अनुमन्त्रण और मन्त्रके[३] द्वारा निःश्वास लेकर बोलना प्रारम्भ करे।[४]

ऐन्द्रवायवग्रहग्रहण विधि

इन्द्र-वायुका ग्रह ऐन्द्रवायव ग्रह कहलाता है। एक चौथाई भाग इन्द्रका तथा तीन चौथाई भाग वायुका होता है।[५] इसी ग्रहका एक नाम ऐन्द्रतुरीय ग्रह भी है।[६]

ग्रहके याज्या और पुरोनुवाक्या मन्त्र

ऐन्द्रवायव ग्रहके लिए दो पुरोनुवाक्या तथा दो याज्या मन्त्र हैं, जिनमें पहला मन्त्र[७] (पुरोनुवाक्या) वायुका, दूसरा मन्त्र[८] (पुरोनुवाक्या) इन्द्र और वायु दोनोंका।

---

१. भारश्रौसू० (१३.१३.१५-१६)।
२. अपानं यच्छ स्वाहा त्वा सुहव सूर्याय इति।
३. तमभ्यपानेदपानापानं मे यच्छ इति।
४. ऐब्रा० (२.३.३१)।
५. ऐब्रा० (२.४.२५)।
६. शब्रा० (४.१.३.१४)।
७. वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋसं० १.२.१)।
८. इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋसं० १.२.४)।

इसी प्रकार पहला याज्या मन्त्र[१] वायुका तथा दूसरा याज्या मन्त्र[२] इन्द्र और वायु दोनोंका है ।[३] शब्रा० (४.१.३.१५) ने दो अनुवाक्यों तथा दो प्रैषोंका भी उल्लेख किया है ।

ग्रहग्रहण

मन्त्रके[४] द्वारा पहली बार और मन्त्रके[५] द्वारा दूसरी बार अध्वर्यु लगातार गिरती हुई धाराके द्वारा ऐन्द्रवायव ग्रह भरता है ।[६] अध्वर्यु द्वारा ऐन्द्रवायव ग्रह दो बार भरा जाता है, इसीलिए दो मन्त्रोंका प्रयोग किया गया ।

ग्रहासादन

ऐन्द्रवायवग्रहको ऊनी पवित्रेसे प्राप्त करनेपर मन्त्रके[७] द्वारा ग्रहको यथा स्थान रख देता है ।[८] आपश्रौसू० (१२.४.१०-११) ने कहा है कि या तो अध्वर्यु ऊनी पवित्रकी झालरोंके साथ रक्खे अथवा दूसरी पवित्राके साथ । इस अवसरपर कहा गया है कि यदि किसी ग्रहको रखनेका मन्त्र निर्दिष्ट न हो तो अध्वर्युको चाहिए कि वह मन्त्रके[९] साथ ऐन्द्रवायव ग्रहको रक्खे ।[१०]

---

१. अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु । त्वं हि पूर्वपा असि (ऋसं० ४.४६.१) ।

२. शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः । वायो सुतस्य तृम्पतम् (ऋसं० ४.४६.२) ।

३. ऐब्रा० (२.४.२६) ।

४. आ वायो भूष शुचिपाउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार । उपो तेअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा (वासं० ७.७, ऋसं० ७.९२.१, तैसं० १.४.४) ।

५. इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि । उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां (वासं० ७.८, ऋसं० १.२.४) ।

६. शब्रा० (४.१.३.१८-१९, काश्रौसू० ९.६.६-७, भारश्रौसू० १३.१४.८-९, आपश्रौसू० १२.१४.८-९) ।

७. एष ते योनिः सजोषाभ्यां त्वा (तैसं० (१.४.४) ।एष ते योनिः सजोषाभ्यां त्वा सादयामि (वासं० ७.८) ।

८. शब्रा० (४.१.३.१९, भारश्रौसू० १३.१४.१०) ।

९. एष ते योनिः इति ।

१०. भारश्रौसू० (१३.१४.१२) ।

होता द्वारा ग्रहग्रहण तथा भक्षण

ऐब्रा० (२.४.२७) के अनुसार जिस यजु मन्त्रसे अध्वर्यु होताको ग्रह दे उसी मन्त्रसे[१] होता उस ग्रहको ग्रहण करके ऐन्द्रवायवग्रहसे सोमको पीवे तथा मन्त्रका[२] पाठ करे ।[३]

बृहद्-रथन्तर सामभेदसे ग्रह-ग्रहणके क्रमका विधान

भारश्रौसू० (१३.१४.२-७) में ऐन्द्रवायव ग्रहसे सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण निर्देश उल्लिखित हैं—यदि सोमयाग रथन्तर-सामसे युक्त हो तो अन्य ग्रहोंमें ऐन्द्रवायव ग्रह पहले भरा जाता है, यदि सोमयाग जगत्सामसे युक्त हो तो आग्रयण स्थाली पहले भरी जाती है, यदि सोमयाग बृहत्सामसे युक्त हो तो शुक्रग्रह पहले भरा जाता है, यदि सोमयाग रथन्तर और बृहत्साम दोनोंसे युक्त हो तो भी ऐन्द्रवायव ग्रह ही पहले भरा जाता है । यदि अध्वर्यु ऐन्द्रवायवग्रह भरनेसे पूर्व कोई दूसरा ऐच्छिक ग्रह भर लेता है तो अध्वर्युको चाहिये कि वह ऐन्द्रवायवग्रह भरने तक उस ग्रहको अपने हाथमें लिए रक्खे तथा पहले ऐन्द्रवायव ग्रहको रक्खे फिर बाद में दूसरा ग्रह रक्खे । यदि अध्वर्यु पहले आग्रयणस्थालीसे सोम भर लेता है तो मन्थी ग्रहके भरनेके पश्चात् ही अपना मौन तोड़ता है, यदि अध्वर्यु पहले उक्थ्य स्थालीसे सोम भरता है तो वह मन ही मन मन्त्र पढ़कर उक्थ्यस्थालीको भरता है ।

किस ग्रहको पहले भरा जाना चाहिए यद्यपि इसका विधान श्रुतियोंमें[४] प्राप्त होता है, तथापि ऐन्द्रवायव ग्रह ही पहले भरा जाता है । सूत्रग्रन्थोंमें ऐन्द्रवायव ग्रहका ही पहले विधान किया गया है ।

ऐन्द्रवायवग्रहका लक्षण

शब्रा० के अनुसार "रास्ना"[५] से युक्त जो ग्रह हो, वह ऐन्द्रवायव ग्रह कहलाता है ।

---

१. एष वसुः पुरुवसुरहिवसुः पुरुवसुर्मयि वसुः पुरुवसुर्वाक्पा वाचं मे पाहि इति ।

२. उपहूता वाक् सह प्राणनोपमां वाक् सह प्राणेन ह्वयतामुपहूता ऋषयो देव्यासस्तनू पावानेस्तन्वेस्तपोजा उपमामृषयो देव्यासो ह्वयं तां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति ।

३. ऐब्रा० (२.४.२७) ।

४. तैसं० (७.२.७) ।

५. रास्नावमैन्द्रवायवपात्रम् (शब्रा० ४.१.५.१९) । 'रास्ना' रशना, परितः स्रगित्यर्थः (सायण भाष्य) ।

मैत्रावरुणग्रह प्रचार

अजागलस्तनकी आकृति वाला ग्रह मैत्रावरुणग्रह कहा गया है।[१] मन्त्र[२] पढ़कर अध्वर्यु मैत्रावरुण देवके लिए मैत्रावरुणग्रह लेता है,[३] जिसमें उबालकर ठण्डा किया हुआ दूध मन्त्रके[४] द्वारा मिलाता है।[५] दो कुशा रखकर दूध मिलानेका भी विधान प्राप्त होता है।[६]

मन्त्र[७] पढ़कर मैत्रावरुणग्रहसे होता सोम पीता है, इसके पश्चात् मन्त्र[८] कहा जाता है।[९]

जिस प्रकार अन्य ग्रह यथास्थान रक्खे गए उसी प्रकार परिमार्जनके पश्चात् मन्त्र[१०] के द्वारा यह ग्रह भी यथास्थान रख दिया जाता है।[११]

आश्विनग्रह प्रचार

मैत्रावरुणग्रहके पश्चात् मन्त्रके[१२] द्वारा अध्वर्यु आश्विनग्रह लेता है।[१३]

---

१. अजकावं मैत्रावरुणपात्रम् (शब्रा० ४.१.५.१९)। अजका शब्देन अजागलस्तनो विवक्ष्यते (सायणभाष्य)।

२. अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऋतावृधा। ममेदिह श्रुतं हवम्। उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा (वासं० ७.९, ऋ.सं० २.४१.४, तैसं० १.४.५)

३. शब्रा० (४.१.४.७, काश्रौसू० ९.६.८, भारश्रौसू० १३.१५.१, आपश्रौसू० १२.१४.१२)।

४. राया वयं ससवांसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुमिन्द्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा (ऋसं० ४.४२.१०)।

५. शब्रा० (४.१.४.१०, काश्रौसू० ९.६.९, भारश्रौसू० १३.१५.२)।

६. गिरिधरभाष्य (पृष्ठसं० २७२, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३१६)।

७. एष वसुविदद् वसुरिह वसुर्विदद, वसुमयि वसुविदद् वसुश्चक्षुष्पाश्चक्षुर्मे पाहि इति।

८. उपहूतं चक्षुः सहमनसोपमां चक्षुः सहमनसाहनयतामुपहूता ऋषयो दैव्यनसस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजा उपमामृषयो दैव्यासो ह्वयतां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति।

९. ऐब्रा० (२.४.२७)

१०. एष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा इति।

११. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१६)।

१२. या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम् उपयामगृहीतोऽस्य श्विभ्यां त्वा (वासं० ७.११, ऋसं० १.२२.३)।

१३. शब्रा० (४.१.५.१७, आपश्रौसू० १२.८.९-११)। काश्रौसू० ने मैत्रावरुणग्रहके पश्चात् शुक्रग्रह का प्रतिपादन किया है, आश्विन ग्रहका नहीं।

तदनन्तर मन्त्र[१] पढ़कर उसे यथास्थान रख देता है ।[२] मन्त्र[३] पढ़कर होता ग्रहका पान करता है ।[४] इस अवसरपर यह निर्देश दिया गया है कि उसे पान करते समय अपने मुखको पीछे कर लेना चाहिये ।[५]अब मन्त्र[६] पढ़ा जाता है ।[७]

आश्विनग्रहको ओष्ठकी आकृति वाला बताया गया है ।[८]

शुक्र-मन्थी ग्रह प्रचार

शंड और अमर्क नामके असुर पुरोहितोंके लिए शुक्र और मन्थी दो ग्रह लिये जाते हैं तथा देवताओंके लिए इनकी आहुति दी जाती है ।[९]

शुक्रग्रह ग्रहण

शुक्रग्रह बिल्व अथवा विकंकतका बना हआ होता है । किस मन्त्रसे ग्रहण किया जाय इस सम्बन्धमें दो मत प्राप्त होते हैं—एक मतके अनुसार शुक्रग्रह 'अयं' मन्त्रसे तथा दूसरे मतके अनुसार 'तं प्रत्नथा पूर्वथा' मन्त्रके द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए ।[१०] सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८३६) ने 'अयं वेन' मन्त्रसे शुक्रग्रहके तथा 'तं प्रत्नथा' मन्त्रसे मन्थी ग्रहके ग्रहणका विधान किया है । उव्वट तथा महीधर दोनों भाष्यकारोंने इसके विपरीत विधान किया है अर्थात् अयं वेन[११] मन्त्रसे मन्थीग्रहके

---

१. एष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा (वासं० ७.११) ।

२. शब्रा० (४.१.५.१७) ।

३. एष वसुः संयद् वसुरिहवसुः संयद् वसुर्मयि वसुः संयद् वसुः श्रोत्रपाः श्रोत्र मे पाहि ।

४. ऐब्रा० (२.४.२७) ।

५. ऐब्रा० (२.४.२७) ।

६. उपहूतं श्रोत्रं सहात्मनोपमां श्रोत्रं सहात्मनाहवयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजौ उपमावृषयो देव्यासोह्वयतां तनूपावानस्तन्वस्तपौजा इति ।

७. ऐब्रा० (२.४.२७) ।

८. शब्रा० (४.१.५.१९) ।

९. शब्रा० (४.२.१.४-७) ।

१०. काश्रौसू० (९.६.११-१२) ।

११. अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा गृह्णामि (वासं० ७.१६) ।

तथा 'तं प्रत्नथा'[१] मन्त्रसे शुक्रग्रहके ग्रहणका विधान किया है।[२] भारद्वाज तथा भट्टभास्करने सत्याषाढके समान ही शुक्र और मन्थी ग्रहके ग्रहणके निमित्त मन्त्रोंका विनियोग प्रतिपादित किया है।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि माध्यन्दिन शाखामें शुक्रग्रह 'तं प्रत्नथा' मन्त्रसे ही ग्रहण किया जाता है किन्तु तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत शुक्रग्रह 'अयं वेन' मन्त्रके द्वारा ग्रहण किया जाता है, जिसकी पुष्टि भाष्य तथा सूत्रोंके द्वारा स्पष्ट हो जाती है।

शुक्रग्रहासादन

ग्रह ग्रहण करनेके पश्चात् मन्त्रसे[४] ग्रह रख दिया जाता है।[५] अभिचार कृत्यके लिए विधान किया गया है कि यदि अध्वर्यु यजमानसे द्वेष करता हो तो उसे भिन्न मन्त्रसे[६] शुक्रग्रह रखना चाहिए।[७]

मन्थीग्रह ग्रहण

शुक्र और मन्थीग्रह दोनों ही भरे जाते हैं और रक्खे जाते हैं। अब शुक्र ग्रह भरे और रक्खे जानेके पश्चात् मन्थीग्रह ग्रहण किया जाता है और रक्खा जाता है। भरनेके सम्बन्धमें कात्यायन तथा भारद्वाजने भिन्न भिन्न मन्त्रका[८] उल्लेख किया है।[९]

---

१. तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमया ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनन्दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्द्धसे। उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाहि (वासं० ७.१२)।

२. उव्वट और महीधरका भाष्य (पृष्ठसं० ११७ तथा ११९)।

३. भारश्रौसू० (१३.१५.३, भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठसं० ५४६, आपश्रौसू० १२.१४.१३)।

४. एष ते योनिर्वीरतां पाहि।

५. आपश्रौसू० (१३.१४.१३)।

६. एष ते योनिः शण्डाय त्वा।

७. आपश्रौसू० (१२.१४.१४)।

८. काश्रौसू० (९.६.१२ तथा शब्रा० ४.२.१.१०) ने 'अयं वेनश्चोदयत्' मन्त्रका तथा भारश्रौसू० (१३.१५.५ तथा आपश्रौसू० १२ १४.१५-१६) ने 'तं प्रत्नथा पूर्वथा' मन्त्र (तैसं० १.४.९) का उल्लेख किया है।

९. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८३६) ने भारद्वाज तथा आपस्तम्बोक्त मन्त्रोंका उल्लेख किया है, कात्यायनके अनुसार नहीं।

यवपिष्टके द्वारा मन्थीग्रहमें मिश्रण

मन्त्रके[१] द्वारा मन्थीग्रहमें भुने हुए जौंका सत्तू मिलाया जाता है ।[२] गोपीनाथने उक्त कृत्यके लिए 'पयश्च सक्तूंश्च कुरुत' प्रैषका भी उल्लेख किया है ।[३] अब पुन: परिमार्जन किया जाता है ।[४]

मन्थीग्रहासादन

मन्त्र[५] पढ़कर अध्वर्यु शुक्रग्रहके उत्तरकी ओर मन्थीग्रह रख देता है ।[६]

अभिचारकृत्यके लिए विधान किया गया है कि यदि अध्वर्यु किसी का गाँवसे निष्कासन अथवा किसीका प्रवेश कराना चाहता हो तो उसे "इदमहममुमामुष्यायणममुष्य पुत्रममुष्या विश उदूहामि" मन्त्र कहकर शुक्रग्रहको उठाकर (हटाकर) उसके स्थानपर मन्थी ग्रहको "इदमहममुमामुष्यायणममुष्य पुत्रममुष्यां विशि सादयामि" मन्त्र पढ़कर रख देना चाहिये ।[७]

ग्रहगत धूलि आदिका अपध्वंसन

यूपके टुकड़े दो प्रकारके होते हैं—एक वे टुकड़े जो छिड़के हुए जल वाले होते हैं, इन्हींको प्रोक्षित टुकड़े कहते हैं । दूसरे वे टुकड़े जिनपर जल नहीं छिड़का हुआ होता है, इन्हींको अप्रोक्षित टुकड़े कहते हैं । अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों प्रोक्षित तथा अप्रोक्षित टुकड़े लेते हैं । फिर अध्वर्यु शुक्रग्रह और प्रतिप्रस्थाता मन्थीग्रह लेता है । अब अध्वर्यु अप्रोक्षित टुकड़ेसे 'अपमृष्टः खण्डः' कहकर शुक्र ग्रहके अधोभागमें लगी हुई धूलको झाड़ता है तथा इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता 'अपमृष्टः

---

१. मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता । आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ (वासं० ७.१७, ऋसं० १०.६१.३) ।

२. शब्रा० (४.२.१.१२, काश्रौसू० ९.६.३, भारश्रौसू० १३.१५.६, आपश्रौसू० १२.१४.१६ पर रुद्रदत्तने स्पष्ट किया है कि जौंका सत्तू न तो ऊपर गिरना चाहिए और न ही अन्य ग्रहों के ऊपर, सत्याश्रौसू०, पृष्ठसं० ८३६) ।

३. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ८३६) ।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१६) ।

५. एष ते योनिः प्रजाः पाहि (वासं० ७.१७. तैसं० १.४.९) ।

६. शब्रा० (४.२.१.१२, आपश्रौसू० १२.१४.१६, भट्टभास्करका भाष्य, पृष्ठसं० ५४९) ।

७. आपश्रौसू० (१२.१५.२) ।

मर्कः' कहकर अप्रोक्षित शकलसे मन्थीग्रहमें लगी हुई धूलको झाड़ता है (शब्रा० ४.२.१.१४)। आपश्रौसू० (१२.२२.२) ने अध्वर्युके द्वारा 'अपनुत्तो शण्डः' तथा प्रतिप्रस्थाताके द्वारा 'अपनुत्तो मर्कः' कहलाकर साथ ही यह भी विधान किया है कि अभिचारके निमित्त अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपने द्वेषीका मनमें ध्यान करें। सायणने उक्त मन्त्रके स्थानपर विकल्पके रूप में 'अपनुत्तौ शण्डामर्कौ सहामुना' (तैब्रा० १.१.१) का भी उल्लेख किया (तैसं० १.४.९ पर सायणभाष्य) है।

अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता द्वारा निष्क्रमण तथा ग्रहासादन

अब अध्वर्यु मन्त्रका[1] पाठ करके और प्रतिप्रस्थाता भी मन्त्रका[2] पाठ करके निकल चलते हैं तथा दोनों आहवनीयके पीछे उत्तरवेदीपर दाहिनी कुहनी टिकाकर अध्वर्यु मन्त्रके[3] द्वारा वेदीके दक्षिण श्रोणीपर तथा प्रतिप्रस्थाता मन्त्रके[4] द्वारा उत्तरमें अपने अपने ग्रह रख देते हैं (शब्रा० ४.२.१.१५)।

पहले यह कहा जा चुका है कि अप्रोक्षित शकलके द्वारा ग्रहका अपमार्जन किया जाता है किन्तु जो प्रोक्षित टुकड़ें ग्रहण किये गए थे उनका प्रयोग केवल ग्रहके आच्छादनके लिए ही किया जाता है, अपमार्जनके लिए नहीं (महीधरका भाष्य, पृष्ठसं० ११८)।

निष्क्रमणकृत्यके सम्बन्धमें महीधरने स्पष्ट किया है कि यह निष्क्रमण हविर्द्धानके बीचसे किया जाता है (महीधरका भाष्य, पृष्ठसं० ११८)। तैत्तिरीय श्रुतिने निष्क्रमणके समय पूर्वकी ओर मुख करनेका विधान किया है (तैसं० ६.४.१०)।

यूपके प्रति गमन

मन्त्रके[5] द्वारा अध्वर्यु और मन्त्रके[6] द्वारा प्रतिप्रस्थाता यूपदेशके दक्षिण प्रदेशके प्रति गमन करते हैं।[7] कतिपय सूत्रकारोंने उत्तरवेदीकी परिक्रमाका उल्लेख

---

१. देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्तु (वासं० ७.१२)।

२. देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्तु (वासं० ७.१७)।

३. अनाधृष्टासि (वासं० ७.१७)।

४. अनाधृष्टासि (वासं० ७.१७)।

५. सुवीरो वीरान् प्रजनयन् (वासं० ७.१३)।

६. सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् (वासं० ७.१८)।

७. काश्रौसू० (९.१०.७, शब्रा० ४.२.१.१६-१७)।

करते हुए विधान किया है कि मन्त्रके[१] द्वारा अध्वर्यु दक्षिणकी ओरसे और मन्त्रके[२] द्वारा प्रतिप्रस्थाता उत्तरकी ओरसे उत्तरवेदीकी परिक्रमा करे ।[३]

यजमानको आशीर्वाद

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों मन्त्रके[४] साथ यजमानको आशीर्वाद देते हैं ।[५] आशीर्वचनके रूपमें ऋचाका उल्लेख शतपथने किया है किन्तु कात्यायनने इस ऋचाको 'सुवीरो वीरान्' मन्त्रमें सम्मिलित किया है, जिसका विनियोग यूपदेशके प्रति गमनके निमित्त किया गया है ।

यूपके पीछे अथवा आगे अरत्नी-सन्धान

शब्रा० (४.२.१.१९) में कहा गया है कि यदि आग भड़के तो उस स्थिति में अध्वर्युको यूपके आगे अथवा पीछे मन्त्रके[६] द्वारा कुहनी कर लेनी चाहिए और इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाताको भी मन्त्रके[७] द्वारा यूपके पीछे अथवा आगे कुहनी कर लेनी चाहिए । कात्यायनने कहा है कि यदि यूपके पश्चात् भागमें अरत्नी संधान न हो सके तो पूर्वमें ही उक्त कृत्य कर लेना चाहिए (काश्रौसू० ९.१०.९) ।

उत्करमें तथा आहवनीयमें यूपशकलका प्रक्षेपण

मन्त्रके[८] द्वारा अध्वर्यु और मन्त्रके[९] द्वारा प्रतिप्रस्थाता बिना जल छिड़के हुए यूपशकलको उत्करमें तथा मन्त्रसे[१०] प्रोक्षित यूपशकलको अध्वर्यु तथा मन्त्रसे[११] प्रोक्षित यूपशकलको प्रतिप्रस्थाता आहवनीयमें डाल देता है ।[१२]

---

१. सुवीराः प्रजाः प्रजनयन् परीहि शुक्रः शुक्रशोचिषा इति ।

२. सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहि मन्थी मन्थिशोचिषा इति ।

३. आपश्रौसू० (१२.२२.७-८, तैसं० ६.४.१०) ।

४. परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम् (वासं० ७.१३) ।

५. शब्रा० (४.२.१.१७) ।

६. सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा (वासं० ७.१३) ।

७. सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा (वासं० ७.१३) ।

८. निरस्तः शण्डः (वासं० ७.१३) ।

९. निरस्तो मर्कः (वासं० ७.१८) ।

१०. शुक्रस्याधिष्ठानमसि (वासं० ७.१३) ।

११. मन्थिनोऽधिष्ठानमसि (वासं० ७.१८) ।

१२. शब्रा० (४.२.१.२०, काश्रौसू० ९.१०.११) ।

चमसाध्वर्यु

मैत्रावरुणके प्रति प्रैष

सरलावृत्तिके अनुसार इस अवसरपर मैत्रावरुणको "प्रात: प्रात: सवस्य" यह प्रैष किया जाता है (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३५०)।

यजमान द्वारा जप

अप्रोक्षित और प्रोक्षित दोनों यूपशकलोंके अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा उत्कर और आहवनीयमें फेंक दिये जाने पर यजमान ऋचाका[१] पाठ करता है।[२]

शुक्रामन्थिग्रह होम

अब अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता यूपके दोनों ओर पार्श्वमें स्थित होकर पश्चिमकी ओर मुँह करके मन्त्र[३] पढ़कर आहुति देते हैं। पहले अध्वर्यु आहुति देता है और फिर प्रतिप्रस्थाता किन्तु दोनों आहुति देते हैं एक ही मन्त्रसे, जिसका कि उल्लेख किया जा चुका है।[४]

चमसाध्वर्युओंके द्वारा आहुति

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता के पश्चात् चमसाध्वर्यु लोग चुपचाप आहवनी-यके पीछे पूर्वकी ओर मुख किये हुए खड़े होकर चमसोंके द्वारा थोड़े-थोड़े सोमकी आहुति देते हैं। होताके चमसकी आहुति प्रथम वषट्कारके साथ ही दी जाती है किन्तु ब्रह्मा उद्गातृ और यजमानके चमसोंकी आहुति अनुवषट्कारके पश्चात् दी जाती है।[५]

चमसाध्वर्युके प्रति प्रैष

चमसोंमें सोम भरनेके लिए अध्वर्यु चमसाध्वर्युओंके प्रति "प्रैतु होतुश्च-मस: प्रब्रह्मण: प्रोद्गातृणां प्रयजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानां होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वम् शुक्रस्याभ्युन्नयध्वम्" प्रैष करता है। प्रात:सवनमें अच्छावाकके

---

१. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितार: स्याम (वासं० ७.१४)।

२. शब्रा० (४.२.१.१२, काश्रौसू० ९.१०.१२)।

३. सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्नि:। स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्माइन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा (वासं० ७.१४-१५)।

४. शब्रा० (४.२.१.२९-३१, काश्रौसू० ९.११.१)।

५. काश्रौसू० (९.११.२)।

चमसका अभाव होता है अत: अच्छावाकके अतिरिक्त होता, प्रशास्ता, ब्रह्मणाच्छंसि पोता, नेष्टा और आग्नीध्रके चमसका ही यहाँ ग्रहण किया गया है । अब यूपदेशसे आगमन होनेके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता मन्थिग्रहके शेषको शुक्रग्रहमें और अध्वर्यु मन्थिशेषसे मिश्रित शुक्रग्रहको भक्षणार्थ होतृचमसमें उडेलता है । इसके पश्चात् चमसाध्वर्यु द्रोणकलशसे होताओंके चमसोंमें सोम उडेलते हैं ।[१]

अब अध्वर्यु प्रशास्तृचमसको ग्रहण करके श्रौषट्के उपरान्त 'प्रशास्तर्यज' यह प्रैष करके दूसरे वषट्कारके पश्चात् आहुति दे देता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३२९) ।

अध्वर्यु द्वारा जप

कात्यायनके अनुसार प्रशास्तृचमसका होम करके अथवा अन्तमें आग्नी-ध्रचमसका होम करके अध्वर्यु ऋचाका[२] जप करता है ।[३]

चमसकी आहुति

देवयाज्ञिकके अनुसार प्रशास्ताके चमसकी आहुतिके पश्चात् ब्राह्मणा-च्छंसी आदिके चमसकी आहुति दी जाती है । सर्वप्रथम ब्राह्मणाच्छंसीके चमसको लेकर श्रौषट्के उपरान्त 'ब्रह्मन् यज' प्रैषके साथ दूसरे वषट्कारपर आहुति दी जाती है, यह ब्राह्मण्साच्छंसीके चमसकी आहुति हुई । जिस प्रकार प्रशास्तृचमस प्रदान किया गया उसी प्रकार ब्राह्मणाच्छंसीचमस प्रदान किया जाता है । अब पोताके चमसकी आहुति दी जाती है, जिसके लिए पहले पोताका चमस लिया जाता है फिर श्रौषट् फिर 'पोतर्यज' प्रैष और अन्तमें दूसरे वषट्कारपर आहुति, अन्तमें पहले की तरह ही चमसस्थापन । इसी प्रकार पोताके चमसके पश्चात् नेष्टाके चमसकी और फिर आग्नीध्रके चमसकी आहुति दी जाती है ।[४]

भक्षणके लिए सदस्में आकर अध्वर्यु द्वारा उपवेशन

अब अध्वर्यु आग्नीध्रके चमसको हाथमें लिए हुए ही सदोमण्डपमें आकर मन्त्र[५]के द्वारा होताके पश्चिममें समीपमें बैठता है ।

---

१. काश्रौसू० (९.११.३-६) ।

२. तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहा (वासं० ७.१५) ।

३. काश्रौसू० (९.११.९) ।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३२९-३३०) ।

५. अयाडग्नीत् (वासं० ७.१५) ।

सोमभक्षण

पहले द्विदेवत्य तथा एन्द्रवायवग्रहका पान किया जाता है, जिसके सम्बन्धमें दो मत प्राप्त होते हैं—एक मतके अनुसार वषट्कार करनेवालेको पहले भक्षण करना चाहिए, दूसरे मतके अनुसार होम करने वालेको पहले भक्षण करना चाहिए। मीमांसक पहले मतको स्वीकार करते हैं और कर्कसम्प्रदायकार याज्ञिकादि दूसरे मतको स्वीकार करते हैं।[१] कात्यायनने भी सिद्धान्त पक्ष में अध्वर्यु द्वारा पहले सोम भक्षणका विधान किया है।[२]

द्विदेवत्यग्रहका भक्षण किया जाता है। अध्वर्यु होता द्वारा समर्पित एन्द्र-वायवग्रह भक्षणके लिए मन्त्रके[३] द्वारा ग्रहण करता है।[४] अब अध्वर्यु होताके समान मन्त्रके[५] द्वारा ऐन्द्रवायवग्रहका भक्षण करता है।[६] इसके पश्चात् अध्वर्यु इन दो मन्त्रोंसे[७] मैत्रावरुण और आश्विनग्रह होतासे ग्रहण करके भक्षण करता है।[८] अब होतृचमसस्थ सोमका पहले अध्वर्यु भक्षण करता है, फिर प्रतिप्रस्थाता और अन्तमें होता एक बार भक्षण करता है। भक्षणानन्तर तीनों द्विदेवत्य ग्रहोंका सोम अध्वर्यु होतृचमसमें डाल देता है।[९]

आग्रयणग्रहप्रचार

अब अध्वर्यु मन्त्र[१०] पढ़कर सोमकी दो धाराओंमें आग्रयणस्थालीमें

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३३०)।

२. काश्रौसू० (९.११.१३)।

३. ऐतु व्वसुः पुरुवसुः। किसी भी संहितामें यह मन्त्र समाविष्ट नहीं है।

४. काश्रौस० (९.११.१६)।

५. वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा इति।

६. काश्रौसू० (९.११.१७)।

७. ऐतु वसुविदद्वसु॥ ऐतु वसुः संयद्वसु॥

८. काश्रौसू० (९.११.२१)।

९. काश्रौसू० (९.११.२२)।

१०. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्। उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः। पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि (वासं० ७.१९-२०, तैसं० १.४.१०)।

सोमग्रहण करता है ।[१] इस अवसरपर यजमान निग्राभ्यासे आग्रयणपात्रमें अलगसे सिंचन करता है, यह प्रथम धारा होती है और उन्नेता आधवनीयसे सोम लेकर उदंचनसे या किसी दूसरे पात्रसे सिंचन करता है, यह दूसरी धारा होती है । सोमकी एक धारा आग्रयणस्थाली में, दूसरी होताके चमसमें होती है । इस प्रकार उन्नेता और यजमान अलग अलग धारापात करते हैं ।[२]

आग्रयणस्थालीमें सोम भर चुकने पर अध्वर्यु तीन बार 'हिंकार' करके मन्त्र[३] के द्वारा अपना मौन तोड़ता है ।[४] आपस्तम्बमें उक्त मन्त्र कुछ संक्षिप्त है ।[५]

कात्यायनके अनुसार 'सोमः पवते'[६] तीन बार और 'अस्मै ब्रह्मण'[७] एक बार कहा जाता है[८] किन्तु भारद्वाजके अनुसार उक्त मन्त्रको पहले तो अस्फुट स्वरसे फिर मध्यम स्वरसे और तीसरी बार ऊँचे स्वरसे कहा जाता है ।[९]

देवयाज्ञिकके अनुसार मन्त्रके[१०] द्वारा आग्रयणस्थालीका परिमार्जन करके उसे खरके मध्यमें रख दिया जाता है ।[११]

---

१. भारश्रौसू० (१३.१५.८, शब्रा० ४.२.२.९, काश्रौसू० ९.६.१४)।

२. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३३८)।

३. वासं० (७.२१)।

४. भारश्रौसू० (१३.१५.१०, काश्रौसू० ९.६.१५ पर सरलावृत्ति)।

५. आपश्रौसू० (१२.१५.८)।

६. सोमः पवते सोमः पवते सोमः पवते (वासं० ७.२१)।

७. अस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेऽस्मै विशे पवतेऽस्मै सुन्वते यजमानाय पवत इषे पवत ऊर्जे पवते द्भ्य पवत ओषधीभ्यः पवते वनस्पतिभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते ब्रह्मवर्चसाय पवते यजमानाय पवते मह्यं ज्येष्ठ्याय पवते (वासं० ७.२१)।

८. काश्रौसू० (९.६.५)।

९. भारश्रौसू० (१३.१५.११)।

१०. एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति ।

११. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१७)।

उक्थ्यग्रहप्रचार

आग्रयणग्रहके पश्चात् उक्थ्यग्रह मन्त्रसे[१] धाराके द्वारा भरकर मन्त्रके[२] द्वारा रख दिया जाता है ।[३]

उक्थ्यस्थालीमें स्थित सोमके तीन भाग

प्रतिप्रस्थाता मित्रावरुण इन्द्र और इन्द्राग्निके लिए उक्थ्यस्थालीमें स्थित सोमके तीन भाग करता है ।[४] तीन भाग करनेके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता एक भाग अध्वर्युको देता है,[५] जिसके लिए मन्त्र पढ़ा जाता है ।[६] दूसरा भाग मन्त्र[७] पढ़कर ब्राह्मणाच्छंसीको देता है, जो इन्द्र देवताका होता है ।[८] तीसरा भाग मन्त्र[९] पढ़कर अच्छावाकको देता है जो इन्द्राग्नि देवताका होता है ।[१०]

अभिचार कृत्य

श्रौतसूत्रोंमें प्रतिपादन किया गया है कि यदि अध्वर्यु यह चाहे कि यजमान अपनी पूरी आयुका उपभोग करे तो उसे उक्थ्यस्थाली पूरी ही भरनी चाहिये और यदि अध्वर्यु यजमानकी आधी आयु चाहे तो उसे उक्थ्यस्थाली आधी ही भरनी चाहिये, यदि अध्वर्यु यजमानके दीर्घ जीवनकी इच्छा करे तो उसे चाहिये कि उक्थ्यस्थालीको स्वर्णपर रक्खे ।[११]

---

१. उपयामगृहीतोसि इन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि। यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वा (वासं० ७.२२, तैसं० १.४.१२)।

२. एष ते योनि रुक्थेभ्यस्त्वा (वासं० ७.२२)।

३. भारश्रौसू० (१३.१६,२ काश्रौसू० ९.६.२०, शब्रा० ४.२.३.१०, आपश्रौसू० १२.१५.११)।

४. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २६९)।

५. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २७०)।

६. मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि (वासं० ७.२३)।

७. इन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि (वासं० ७.२३)।

८. शब्रा० (४.२.३.१३)।

९. इन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि (वासं० ७.२३)।

१०. शब्रा० (४.२.३.१४)।

११. भारश्रौसू० (१३.१६.४-५, आपश्रौसू० १२.१६.२)।

ध्रुवग्रहप्रचार

उद्गाताओंके पश्चिमसे ध्रुवस्थाली लाकर उसी ध्रुवस्थालीसे अध्वर्यु मन्त्र[१] पढकर ध्रुवग्रह ग्रहण करता है।[२] इसके पश्चात् मन्त्रके[३] द्वारा अध्वर्यु उत्तरी हविर्द्धानमें तृणरहित बिल्कुल साफ स्थानपर ध्रुवग्रह रखता है।[४]

होतृचमसका सेचन तथा इन्द्रकी प्रार्थना

मन्त्र[५] पढ़कर अध्वर्यु ध्रुवपात्रमें स्थित सोमको होतृचमसमें सेचन करके मन्त्रके[६] द्वारा इन्द्रकी प्रार्थना करता है।[७] कात्यायनने उक्त कृत्यका विधान नहीं किया है, किन्तु बौधायनने उस ऋचाके[८] पाठका उल्लेख अवश्य किया है जिसका विनियोग कात्यायनने ध्रुवग्रहणमें किया है।[९] इन्द्रकी प्रार्थनाके निमित्त जिस ऋचाका विधान किया गया उस ऋचाका उल्लेख तैत्तिरीय श्रुतिमें नहीं है।

अभिचार कृत्य

आपश्रौसू० (१२.१६.५-८) के अनुसार यदि अध्वर्यु यह चाहे कि जिस यजमानने राज्य प्राप्त कर लिया है वह इससे वंचित हो जाय या जिस यजमानने राज्य खो दिया है, वह उसे पुनः प्राप्त हो जाय तो अध्वर्युको 'इदमहममुमामुष्यायण

---

१. मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतआ जातमग्निम्। कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः। उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम (वासं० ७.२४-२५)। मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृताय जातमग्निम्। कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः। उपयामगृहीतऽस्यग्नये त्वा वैश्वानराय (तैसं० १.४.१३.१)।

२. काश्रौसू० (९.६.२१, भारश्रौसू० १३.१६.३, शब्रा० ४.२.४.२४, आपश्रौसू० १२.१६.१)।

३. एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा सादयामि (वासं० ७.२५)। एष ते योनिरग्नये त्वा वैश्वानराय (तैसं० १.४.१३.१)।

४. शब्रा० (४.२.४.२४, मित्रभाष्य, पृष्ठसं० २७२)।

५. ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममव नयामि (वासं० ७.२५)।

६. अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् (वासं० ७.२५)।

७. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २७२, शब्रा० ४.२.४.२३)।

८. ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम (तैसं० १.४.१३.१)।

९. बौश्रौसू० (७.७)।

ममुष्य पुत्रममुष्या विश उखिदामि' मन्त्र पढ़कर सात ध्रुवस्थालियाँ उठा लेनी चाहिये तथा 'इदमहममुमामुष्यायण ममुष्य पुत्रमुष्यां विशि सादयामि' मन्त्र कहकर उठी हुई ध्रुवस्थालीको उसी स्थानपर रख देनी चाहिये, इस क्रियासे अध्वर्यु उसकी सम्पत्तिके जीवनको विचलित कर देगा, इसके विपरीत अध्वर्युको ध्रुवस्थालीके ऊपर एक कुशा रखकर पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ने चाहिये, इस क्रियासे अध्वर्यु यजमानकी खोई हुई सम्पत्ति पुनः प्राप्त करा देगा। अभिचारक्रिया सम्पादित करनेके लिए अध्वर्युको 'इदमहममुष्यामुष्यायणस्यायुः प्रवर्तयामि' मन्त्रसे ध्रुवस्थाली हटाकर फिर 'ध्रुवं त्वा ध्रुवक्षितिममुमास्थानाच्च्यावयामि' मन्त्र पढ़कर उसी स्थानसे ध्रुव-स्थालीको अपनी ओर खींच लेनी चाहिये।

अध्वर्यु तीसरे सवनके अवसरपर ध्रुवस्थालीमें स्थित सोमको होताके चमसमें उडेलेगा अतः उस समय तक ध्रुवस्थालीमें सोम रक्खा जाता है, गिराया नहीं जाता।[१]

भारश्रौसू० (१३.१६-८-१२) में कहा गया है कि अध्वर्यु ऊनी पवित्रमेंसे द्रोणकलशमें सोम उतना ही गिरने दे, जितने सोमसे प्रातःसवन सम्बन्धी कृत्य सम्पन्न हो जाएँ। अध्वर्यु ऊनी पवित्रको निचोड़कर पूतभृत् पर फैला देता है, तदुपरान्त अध्वर्यु मैत्रावरुणचमससे एकधनकलशोंमें जल डालता है, एकधन कलशोंसे पर्याप्त मात्रामें आधवनीयकलशमें जल उडेलता है। आधवनीयमेंसे थोड़ा सोम पूतभृत् में डालता है, इस सम्बन्धमें सामान्य सिद्धान्त यह है कि जब कभी द्रोणकलशके अतिरिक्त पूतभृत् में सोम डालना हो तो वह पवित्रके द्वारा ही डाला जाना चाहिए। इसके पश्चात् अध्वर्यु पवमान ग्रहोंको अपनी ओर खींचकर मन्त्रके[२] द्वारा द्रोणकलशका, मन्त्रके[३] द्वारा आधवनीयका और मन्त्रके[४] द्वारा पूतभृत् का स्पर्श करता है।

कात्यायनने स्पष्ट किया है कि जब तक ध्रुवग्रहहोम समाप्त नहीं होता तब तक यजमानको मूत्र-पुरीष नहीं करना चाहिए (काश्रौसू० ९.६.२२)।

---

१. भारश्रौसू० (१३.१६.७)।

२. उपयामगृहीतोसि प्रजापतये त्वा (तैसं० १.७.१२)।

३. इन्द्राय त्वा (तैसं० ३.२.१.३)।

४. विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः (तैसं० ३.२.१.३)।

विकल्पके रूपमें वैश्वानरग्रह होम

कात्यायनके अनुसार इस अवसरपर वैश्वानरग्रह भी ग्रहण किया जा सकता है, नहीं भी (काश्रौसू० ९.६.२३)।

स्थाली-ग्रहोंका पूर्णतया ग्रहण तथा निग्राभ्यासेचन

अध्वर्यु अन्तर्यामादि ग्रहोंसे लेकर ध्रुवपर्यन्त ग्रहोंको तथा आग्रयण, उक्थ्य तथा ध्रुवस्थालियोंको लेकर सम्पात्सोमके[1] द्वारा उन ग्रहों और स्थालियोंको भरता है। इसके पश्चात् सम्पात्सोमसे द्रोणकलशको आधा भरकर यजमान होतृचमसमें स्थित निग्राभ्याके द्वारा सबको सींचता है (काश्रौसू० ९.६.२४)।

विप्रुड्ढोम

सोमाभिषवके समय और ग्रहपात्रमें सोम ग्रहण करते समय अवश्य ही सोमका कुछ भाग पृथिवीपर गिरता है, जो प्रत्यवायमें हेतु होता है, उसीकी निवृत्तिके लिए विप्रुट् होम किया जाता है।[2]

हविर्द्धानसे निष्क्रमण

सर्वप्रथम अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, उद्गाता प्रतिहर्ता हविर्द्धानसे बाहर निकलते हैं।[3] सत्याषाढश्रौसू० (८.४) के अनुसार हविर्द्धानसे निकलते समय अध्वर्यु प्रस्तोताका, प्रस्तोता प्रतिहर्ताका, प्रतिहर्ता उद्गाताका, उद्गाता ब्रह्माका, ब्रह्मा यजमानका और यजमान ब्रह्माका स्पर्श दृढ़तापूर्वक करता है। यह अन्वारम्भण क्रिया कच्छ (अधोवस्त्रकी गोट) धारण करके ही की जाती है। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युके अधोवस्त्रकी गोटको दक्षिण हाथसे ग्रहण करके अपने अधोवस्त्रकी गोटको दृढ़ताके लिए बाएँ हाथसे ग्रहण करता है।[4] सबसे पहले अध्वर्यु, फिर क्रमशः प्रतिप्रस्थाता, उद्गाता, प्रतिहर्ता हविर्द्धानसे बाहर निष्क्रमण करता है।[5]

---

१. ग्रहाणां ग्रहणसमये एकस्य ग्रहस्य ग्रहणानन्तरमन्यस्य ग्रहणात्पूर्वं मध्ये यो दशा पवित्रस्थः सोमरसः पतति स सम्पात्सोम इत्युच्यते (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४०)।

२. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० २७३, गिरिधरभाष्य, पृष्ठसं० २८६)।

३. काश्रौसू० (९.६.२५)।

४. काश्रौसू० की सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३४०)।

५. काश्रौसू० (९.६.२६)।

आहुति

अब होम किया जाता है । सोमकी जो बून्दें पृथिवीपर गिर जाती हैं, वे बून्दें इस होमके द्वारा आहवनीय अग्निमें पहुँच जाती हैं, क्योंकि आहवनीय सभी आहुतियोंकी प्रतिष्ठा है ।[१]

यह विप्रुट् होम अन्वारम्भक्रियासे पूर्व अथवा पश्चात् भी किया जा सकता है,[२] किन्तु यदि होमसे पहले अन्वारम्भ क्रिया की जाती है तो सभी बाएँ हाथसे दूसरेको छूकर दाएँ हाथसे आहुति देते हैं, जिसका कि ध्यान रखना चाहिए ।[३]

विप्रुड्ढोम अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, उद्गाता आदिके द्वारा किया भी जा सकता है अथवा केवल अध्वर्यु ही उक्त कृत्यका कर्ता होता है ।[४] देवयाज्ञिकके अनुसार अन्वारम्भ पक्षमें ब्रह्मा द्वारा भी आहुति दी जा सकती है ।[५]

प्रचरणीमें आज्यस्थालीसे एक बार आज्य ग्रहण करके समिदाधानपूर्वक मन्त्रके[६] द्वारा यजमान सहित सभी सोमके लिए आहुति समर्पित करते हैं ।[७]

आपश्रौसू० (१२.१६.१६) के अनुसार प्रत्येक सवनमें यह आहुति उक्त मन्त्रसे दी जानी चाहिए ।

इस अवसरपर मन्त्र[८] पढ़कर उद्गाता भी तीन आहुति देता है ।[९]

---

१. शब्रा० (४.२.५.१ पर सायणभाष्य)।

२. काश्रौसू० (९.६.२७)।

३. शब्रा० (४.२.५.२, काश्रौसू० ९.६.२८)।

४. काश्रौसू० (९.६.२९)।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१८)।

६. यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते अंशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात् । अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतं स्वाहा (वासं० ७.२६, काण्व सं० ७.११, तैसं० ३.१.१०)।

७. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१८, शब्रा० ४.२.५.२)।

८. ऋचं सामयजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते । वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः (साकौसं० १.४.२.३.१०)।

९. श्रौतकोशः (पृष्ठसं० २७७)।

बहिष्पवमान निःसर्पण

कतिपय सूत्रोंके अनुसार सप्तहोतृ मन्त्रके साथ आहवनीयमें सग्रह आहुति दिये जाने पर बहिष्पवमानके लिए पाँच ऋत्विज परस्पर एक दूसरेका स्पर्श करते हुए अर्थात् अध्वर्युको प्रस्तोता, प्रस्तोताको प्रतिहर्ता, प्रतिहर्ताको उद्गाता, उद्गाताको ब्रह्मा और ब्रह्माको यजमान स्पर्श करते हुए नीचे झुककर उत्तरकी ओर प्रस्थान करते हैं।[१] आपस्तम्बके अनुसार वे इस प्रकार चलते हैं मानों वे धरतीपर रेंग रहे हों, धरती चाट रहे हों और अपना सिर झुकाए हुए हों।[२] भारद्वाजने मन्त्रके[३] द्वारा अध्वर्युके रेंगनेका विशेष रूपसे विधान किया है।[४]

कात्यायनके अनुसार अध्वर्यु दो वेदी-तृण ग्रहण करता है, तब अध्वर्यु आदि छह व्यक्ति अन्वारम्भण क्रियाके साथ झुके हुए होकर उत्तरकी ओर मुख करके चात्वालके दक्षिण की ओर वेदीके मध्य वर्तमान बहिष्पवमानदेशके प्रति गमन करते हैं। अब अध्वर्यु ग्रहण किये हुए दोनों तृणोंमें मन्त्रके[५] साथ पहले तृणको चात्वालमें फेंकता है, दूसरा तृण अन्वारम्भ क्रियाका विसर्जन करके बैठे हुए उद्गाताके पूर्वमें चुपचाप फेंकता है।[६]

होता द्वारा अनुमन्त्रण

होताके चलनेके सम्बन्धमें ऐतरेय ब्राह्मणने पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके रूपमें याज्ञिकोंके मतोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है-पूर्वपक्षमें याज्ञिकोंके इस मतका विवेचन किया गया कि बहिष्पवमानस्तोत्र देवों और मनुष्यों दोनोंका ही भक्ष्य है (वे सभी इससे तृप्त होते हैं) इसलिए सभी उसके साथ उस ओर जाते हैं अतः होताको भी उनके साथ चलना चाहिए। उत्तरपक्षमें उक्त मतके विपरीत यह विचार याज्ञिकोंके द्वारा प्रस्तुत किया गया कि यदि होता उनके साथ प्रसर्पण करता है तो

---

१. आपश्रौसू० (१२.१६.१७, १७.१, षड्विंशब्रा० ३.१, आश्वश्रौसू० ८.१३.२३, भारश्रौसू० १३.१६.१५)।

२. आपश्रौसू० (१२.१७.३)।

३. गायत्रः पन्था वसवो देवता वृकेणापरिपरेण पथा स्वस्ति वसूनशीय। वागग्रेगा अग्र एतु॥

४. भारश्रौसू० (१३.१६.१७)।

५. देवानामुत्क्रमणमसि (वासं० ७.२६)।

६. काश्रौसू० (९.६.३२-३३)।
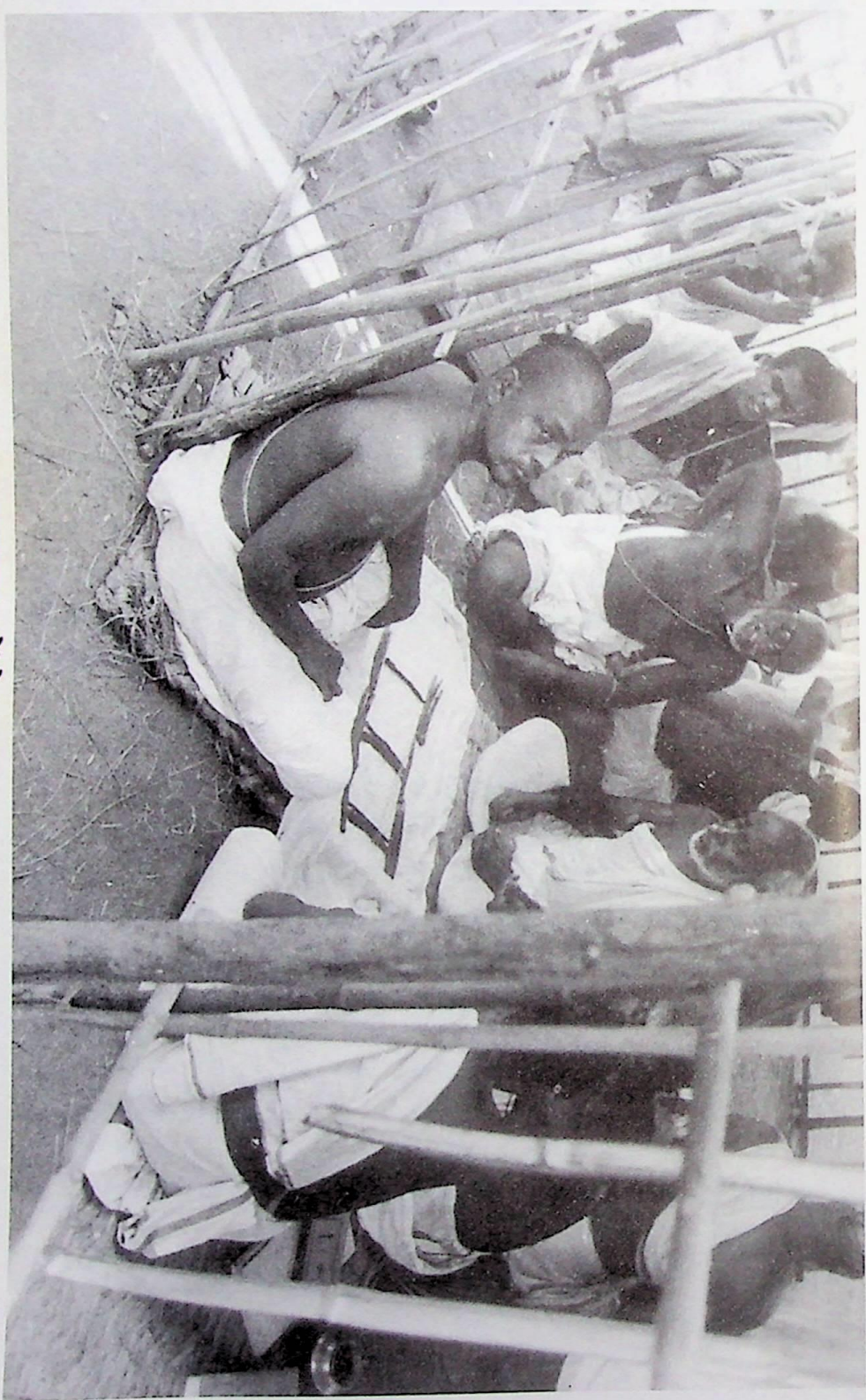
उद्गाताओंके द्वारा सामगान

अपनी ऋचाओंको ही सामके पीछे चलने वाला बनाता है (क्योंकि ऋचाएँ आधार हैं, अत: यह ठीक नहीं है, कि साम आधेय है, अत: उसे पीछे चलना चाहिए) वहाँ जो आकर इस होतासे कहे कि 'यह होता सामगान करने वाले उद्गाताका अनुगमन करने वाला हो गया अत: होताने अपना यश उद्गातामें स्थापित कर दिया। अत: स्वकीय पदसे च्युत हो गया और आगे स्वकीय स्थानसे भी च्युत हो जायेगा।इस अन्य पुरुषके द्वारा अभिशप्त होता अवश्य ही वैसा होता है, अत: होताको अन्य ऋत्विजोंके साथ प्रसर्पण नहीं करना चाहिए (ऐब्रा० २.३.२२)।

प्रसर्पण न करनेपर होताको वहीं पर बैठे हुए (दूसरोंके प्रसर्पणको देखकर) अनुमन्त्रण करना चाहिये।[१] ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार होता द्वारा मन्त्रसे[२] अनुमन्त्रण किया जाता है।[३] इसके पश्चात् दूसरा मन्त्र[४] पढ़ा जाता है।[५]

बहिष्पवमानस्तोत्र

बहिष्पवमानस्तोत्रके लिए हविर्द्धानसे निष्क्रमण करनेके अनन्तर कितने ही कृत्य सम्पादित करने पड़ते हैं।[६] जिस स्थानपर यह स्तोत्र पढ़ा जाता है उस स्थानको 'आस्ताव' कहते हैं।[७] यह स्तोत्र-पाठ एक दिनसे अधिक समय तक चलता है। यजमान एवं (अध्वर्युको छोड़कर) अन्य चार ऋत्विज गायन करते हैं।[८]

सोमरस जब पहली बार निकाला जाता है तो प्रथम स्तोत्र कहा जाता है, जिसे पवमानकी संज्ञा मिली है,[९] किन्तु प्रात:कालीन सवनस्तोत्रको बहिष्पवमान[१०]

---

१. तान् होताऽनुमन्त्रयतेऽत्रैवासीनः (आश्वश्रौसू० ५.२८)।

२. यो देवानामिह सोमपीथो यज्ञे बर्हिषि वेद्या३म्। तस्यापि भक्षयामसि इति॥

३. ऐब्रा० (२.३.२२)।

४. मुखमसि मुखं भूयासम् इति॥

५. ऐब्रा० (२.३.२२)।

६. धर्मशास्त्रका इतिहास (पृष्ठसं० ५५२)।

७. आश्वश्रौसू० (१२.१७.११-१२)।

८. आपश्रौसू० (१२ १७.११-१२)।

९. कया नश्चित्र इत्याद्यासु नवसु गायत्रीच्छन्दस्कासु ऋक्षु (३.६.२४-२५) गीयमानं स्तोत्रं पवमानसंज्ञकम् (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४१)।

१०. अस्य सदसो बहिः क्रियमाणत्वात् बहिष्पवमानमित्यपि संज्ञा (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४१)।

कहा गया है । दूसरी और तीसरी बार रस निकालते समय क्रमसे माध्यन्दिन और आर्भव पवमान या तृतीय पवमानके नामसे अभिहित किया गया है । अन्य स्तोत्रोंकी धुर्य संज्ञा है ।[१]

पवमानस्तोत्रोपाकरण

अब उपाकरण[२] क्रिया की जाती है, जिसके अन्तर्गत मन्त्रसे[३] अध्वर्यु जप करते हुए प्रस्तोताको तृण प्रदान करता है । यही उपाकरण क्रिया माध्यन्दिन और तृतीयसवनमें भी अनुष्ठित होती है, बिना तृण दिये ही सब पवमानोंमें उपाकरण क्रिया की भी जा सकती है । विकल्पके रूपमें प्रस्तोताको तृणके स्थानपर कुशमुष्टि भी दी जा सकती है ।[४] भारद्वाजने भिन्न मन्त्रका[५] उल्लेख किया है ।[६]

उपवेशन प्रकार

गायक ऋत्विज चात्वालके दक्षिणमें जाकर बैठते हैं, जहाँ उद्गाता उत्तरकी ओर, प्रस्तोता पश्चिमकी ओर तथा प्रतिहर्ता दक्षिणकी ओर मुँह करके बैठता है । इस प्रकार बैठे हुए उद्गाता आदिके सामने अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता पश्चिमकी ओर मुँह करके बैठता है अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाताके दक्षिणमें यजमान भी बैठता है, जो गायन भी करता है, अध्वर्यु गायन नहीं करता केवल बैठा रहता है ।[७]

जब तक उद्गाता लोग पवमानस्तोत्र पढ़ते हैं तब तक उन्नेता आधवनीयमें रक्खे हुए सोमके ऊपर दशापवित्र रखकर पूतभृत् नामके कलशपर पवमानस्तोत्रकी समाप्ति तक छींटे देता है ।[८]

---

१. पवमानव्यतिरिक्तानि सर्वाणि स्तोत्राणि धुर्याणीति उच्यन्ते (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३६३)।

२. सोमः पवत इति मन्त्रेणाध्वर्युणा उद्गातृभ्यस्तृणप्रदानमेवोपाकरणम् (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३४१)।

३. सोमः पवत इति ।

४. काश्रौसू० (९.६.३५-३६ तथा काश्रौसू० ९.७.१)।

५. वायुर्हिंकर्ताऽग्निः प्रस्तोता प्रजापतिः साम बृहस्पतिरुद्गाता विश्वे देवा उपगातारो मरुतः प्रतिहर्तार इन्द्रो निधनं ते देवाः प्राणभृतः प्राणं मयि दधतु ॥ सोमः पवते ॥ (तैसं० ३.३.२.१)।

६. भारश्रौसू० (१३.१७.२)।

७. काश्रौसू० (९.७.२)।

८. काश्रौसू० (९.७.३)।

स्तोत्रका प्रारम्भ

उद्गातृगणके लोग चात्वालकी ओर देखते हुए सामका गायन प्रारम्भ करते हैं। गायक ऋत्विज चारों दिशाओंमें बैठ जाते हैं। पाँचवा यजमान भी गायनमें सहयोग देता है। सर्वप्रथम ऋत्विजोंके द्वारा 'ओ' कहकर गायन प्रारम्भ किया जाता है, जिसपर यजमान 'हो' कहकर अपना गायन प्रारम्भ करता है। इस अवसरपर कहा गया है कि जब स्तोत्र गाया जा रहा हो तब यजमान अन्वारोह मन्त्र[१] अस्फुट स्वरमें पढ़े, इसके पश्चात् वह मन्त्रका[२] भी पाठ करता है। यह मन्त्र सभी स्तोत्रोमें यजमानके द्वारा पढ़ा जाता है।[३]

स्तोत्रके गायनका प्रकार

शतपथब्राह्मण (४.२.५.७) में कहा गया है कि बहिष्पवमानस्तोत्र बिना आवृत्ति किये ही पढ़े जाने चाहिये।

गोब्रा० (१.३.३) के अनुसार ब्रह्मा दो बहिष्पवमान स्तोत्रको वाणी रोककर चुपचाप दोपहर तक बोलता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सूत्रोंने उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता प्रतिप्रस्थाता और यजमानके उल्लेखके साथ ब्रह्माका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, जब कि गोपथ ब्रह्माका भी उल्लेख करता है।

यजमान द्वारा यजुःपाठ

देवयाज्ञिकके अनुसार स्तोत्रसमाप्तिसे पूर्व यजमान प्रथम प्रस्तावके समय शतपथ स्वरसे 'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय' ये तीन ऋचाएँ पढ़ता है।[४]

---

१. श्येनोऽसि गायत्रछन्दाः अनु त्वा रभे स्वस्ति मा सं पारय (तैसं० ३.२.१.१)। गोब्रा० (१.५.११-१२) ने भी उक्त मन्त्रका उल्लेख इस प्रसंग में किया है।

२. स्तुतस्य स्तुतमसि इति॥

३. भारश्रौसू० (१३.१७.३-१२)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३१९)।

सवनीय पुरोडाश निर्वाप

बहिष्पवमानस्तोत्रके पश्चात् इन्द्र देवताके लिए पुरोडाश तैयार किया जाता है, किन्तु उक्त कृत्यसे पूर्व अनेक कृत्योंका विधान सूत्रोंमें प्राप्त होता है, जिनका सम्पादन पुरोडाश तैयार करनेसे पूर्व ही किया जाता है। सर्वप्रथम अध्वर्यु खड़ा होकर आग्नीध्र और प्रतिप्रस्थाताको प्रैष[१] करता है।[२] इसके पश्चात् अपने स्थानपर लौटकर मन्त्रपूर्वक[३] सोमकी प्रार्थना करता है।[४] आग्नीध्र अग्निसे जलते हुए अंगारे लाकर धिष्ण्याओंपर उसी क्रमसे उन अंगारोंको स्थापित करता है, जिस क्रमसे धिष्ण्या उठाई गई थी।[५] अध्वर्युके 'कुशा फैलाओ' कहनेपर आग्नीध्र पृष्ठ्याको देखकर अन्तःपात्यसे प्रारम्भ करके उत्तरवेदी तक चुपचाप कुशा फैला देता है।[६]

भारद्वाजके अनुसार इस अवसरपर प्रतिप्रस्थाता पूर्वकी ओर बैठकर तथा पश्चिमकी ओर मुँह करके परिप्लवाके द्वारा द्रोणकलशमेंसे सोम निकालकर आहवनीय, आग्नीध्र और होतृधिष्ण्यापर आघार आहुति देता है। अन्य धिष्ण्या-ओंपर परिप्लवा घी की प्रतिप्रस्थाताके द्वारा पाँच पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, इसके पश्चात् वह मार्जालीय धिष्ण्यापर सोमकी आहुति देता है। इस अवसरपर निर्देश दिया गया है कि जिन मन्त्रोंका प्रयोग धिष्ण्याओंके निवपनके लिए किया गया था, उन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग आघार आहुतिके लिए भी किया जाना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि उक्त क्रियाएँ समन्त्रक हैं और धिष्ण्याओंके निवपनके समय कहे गए मन्त्रोंका ही यहाँ पुनः प्रयोग किया जाता है। अब सवनीय पुरोडाशके लिए आग्नीध्र उन पात्रोंको साफ करके ला रखता है, जिनकी आवश्यकता धान्यकी आहुति देनेके लिए पड़ती है। इस अवसरपर अध्वर्यु दो पवित्रा तैयार करके यजमानको मौन होनेका आदेश देता है तथा पात्रोंका स्पर्श करता है।[७]

---

१. अग्नीदग्नीन्विहर बर्हिस्तृणीहि पुरोडाशाँ अलंकुरु प्रतिप्रस्थातः पशुनेहि इति (काश्रौसू० ९.७.४)।

२. काश्रौसू० (९.७.४, भाश्रौसू० १३.१७.१३, शब्रा० ४.२.५.११)।

३. विष्णो त्वं नो अन्तमः (तैसं० ३.१.१०.३)।

४. भाश्रौसू० (१३.१७.१४)।

५. भाश्रौसू० (१३.१७.१५, काश्रौसू० ९.७.५)।

६. काश्रौसू० (९.७.६)।

७. भाश्रौसू० (१३.१७.१६-२१)।

हविष्पंचक

देवयाज्ञिकके अनुसार पाँच हवियोंको उत्तरवेदीके समीपमें आग्नीध्र लाकर रखता है। एक मतके अनुसार अध्वर्यु भी हवियोंका आसादन कर सकता है (देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३२३)।

कात्यायनके अनुसार एक महापात्रमें एक ही बारमें पाँचों हवियाँ रक्खी जाती हैं—मध्यमें पुरोडाश, आगे धान, अन्य प्रत्येक दिशामें प्रदक्षिण क्रमसे करम्भ (दही युक्त आटा), दधि, पयस्या (मट्ठा) हवियाँ रख दी जाती हैं।[1]

हविष्पंचकसे तात्पर्य पाँच हवियोंका समूह, जिनका प्रयोग इस अवसरपर प्रातः सवनके अन्तर्गत किया जाता है।

भारद्वाजके अनुसार धान हरिवन्त[2] (हरि नामक दो अश्व वाले) इन्द्रके लिए, मन्थ (करम्भ) पशुओंके स्वामी पूषादेवके[3] लिए, परिवाप (लाजा) सरस्वतीसे[4] युक्त देव और भारतीसे युक्त देवके लिए होता है।[5] शब्रा० (४.२.५.२२) के अनुसार धान दो घोड़ोंके लिए, पूषाके लिए (करम्भ) आज्य मिश्र मन्थ, सरस्वतीके लिए दही, मित्रावरुणके लिए पयस्या तथा परिवाप भारतीके लिए होता है।

पंच हविष्क यज्ञकी प्रशंसा

ऊपर जिन पाँच हवियों का उल्लेख किया गया है, उन पाँच हवियोंसे युक्त सोमयागके ज्ञानके लिए ऐतरेयब्राह्मणने बड़ी प्रशंसा की है। ऐतरेय ब्राह्मण (२.३.२४) ने समृद्धि के लिए पाँच हवियोंसे युक्त सोमयागके अनुष्ठानका इस अवसरपर उल्लेख किया है।

---

१. काश्रौसू० (९.९.४)।

२. हरिनामानौ द्वावश्वावस्यस्त इति हरिवानिन्द्रः (ऐब्रा० २.३.२४ पर सायणभाष्य)।

३. पोषकत्वात् पशवः पूषञ्छब्देनोच्यन्ते तत्स्वामी देवः पूषण्वान् (ऐब्रा० २.३.२४ पर सायणभाष्य)।

४. सरस्वती वाक्साऽस्यास्तीति देवविशेषः। सरस्वतीवान्। स एव भारतीवाञ्शरीर भरणाद् भरणः प्राणः। तस्य संबन्धिनी देहेऽवस्थितिर्भारती तद्युक्तो देवो भारतीवान् (ऐब्रा० २.३.२४ पर सायणभाष्य)।

५. भारश्रौसू० (१३.१८.१)।

प्रत्येक सवनमें इन्द्रके लिए ग्यारह कपालोंपर निर्वपन

ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार सिद्धान्त पक्षमें यही मत स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक सवनमें इन्द्रके लिए ग्यारह कपालोंपर ही पुरोडाश पकाया जाना चाहिये।[१] कुछ ग्रन्थोंमें यह भी उल्लेख है कि प्रत्येक सवनके लिए अलग-अलग पुरोडाशका निर्वपन करना चाहिए अर्थात्-प्रात: सवनमें आठ कपालोंका, माध्यन्दिन सवन में ग्यारह कपालोंका और तृतीय सवनमें बारह कपालोंका पुरोडाश होना चाहिये[२] किन्तु यह मत इसलिए आदरणीय नहीं है कि जितने पुरोडाश सभी सवनोंमें होते हैं, वे सभी इन्द्रके लिए ही निर्वपित होते हैं इसलिए अलग अलग कपालोंपर पुरोडाश पकानेकी आवश्यकता नहीं है। केवल ग्यारह कपालोंपर ही पुरोडाशका प्रत्येक सवनमें निर्वपण करना पर्याप्त है।[३]

निर्वपन विधि

सर्वप्रथम ओखलीमें धान और जौं उडेले जाते हैं, इसके पश्चात् लाजाको पकानेके लिए किसी पात्रकी व्यवस्थाकी जाती है, तब आग्नीध्र मन्त्रसे[४] धानके आधे भागको शुद्ध करके भिगो देता है और वह धान उस पात्रमें डाल देता है। पके हुए लाजामें घी डालकर उतारता है। जौंको कूटनेके पश्चात् लाजाकी भूसी हाथसे अलग करता है।[५] आपश्रौसू० (१२.४.१४) के अनुसार नखसे लाजाकी भूसी अलग करनी चाहिए। इस प्रसंगमें ओखलीमें आहुति देनेसे सम्बद्ध, कूटनेसे सम्बद्ध छाजमें आहुति देनेसे सम्बद्ध, भूसी निकालनेसे सम्बद्ध, मन्त्र[६] पढ़े जाते हैं, जिनका वाचन बहुवचनान्त होता है।[७]

अब पुरोडाशके लिए धान कूटा जाता है। नीचे पत्थरपर धानके दानें डालकर करम्भके लिए अग्निपर पात्र रक्खा जाता है तथा उस (कढ़ाई नुमा) पात्रमें

---

१. ऐब्रा० (२.३.२४)।

२. तैब्रा० (१.५.११.३, आपश्रौसू० १२.४.१-२, तैसं० २.२.९, तैसं० १८.२२)।

३. तैब्रा० (१.५.११.४, ऐब्रा० २.३.२३)।

४. देवो नः सवितोत्पुनातु इति।

५. भारश्रौसू० (१३.१८.३-९)।

६. अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि (तैसं० १.१.५.२)।

७. भारश्रौसू० (१३.१८.१०)।

आधे जौं उडेल दिये जाते हैं। इसके पश्चात् धानके लिए पात्र रख दिये जानेपर आग्नीध्र पुरोडाशके लिए कपाल सजा देता है। अब आग्नीध्र आमिक्षा तैयार करता है। विभिन्न पात्रोंमें आहुतिकी सामग्री डालता है। मन्थ और पुरोडाशके आटेके लिए जल मिलाता है। कपालोंपर पका हुआ पुरोडाश ला रखता है। इस प्रकार आग्नीध्र आहुतियोंकी सामग्री पूर्णत: तैयार कर लेता है।[1]

पुरोडाशभक्षणके सम्बन्धमें विधान

ऐतरेय ब्राह्मण (२.३.२३) में पहले उन याज्ञिकोंके मतका निरूपण किया गया है, जो यह विधान करते हैं कि पुरोडाशका जितना भाग बिना घी लगा हुआ हो, उतनेको ही सोमपानकी रक्षाके लिए भक्षण करना चाहिये, क्योंकि घृत रूपी वज्रसे इन्द्रने वृत्रको मारा था। इसके पश्चात् उक्त मतका निषेध करते हुए उन याज्ञिकोंके मतका कथन किया गया जो यह कहते हैं कि पुरोडाशका जो कुछ भी घृतयुक्त या घृतरहित भाग है वह खा लेना चाहिये क्योंकि वह जो उत्पवन संस्कारसे संस्कृत (घृत) है वह हवि ही है और जौं उत्पवन संस्कारसे संस्कृत है वह सोमपानके सदृश ही है। अत: ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार सिद्धान्त पक्षमें यही मत स्थिर किया गया कि पुरोडाशका जो भी भाग है वह खा लेना चाहिये चाहे वह घृतयुक्त हो अथवा घृतरहित हो।

आश्विनग्रहग्रहण

अब अध्वर्यु द्रोणकलशमेंसे परिप्लवाके द्वारा अश्विनोंके लिए मन्त्रके[2] द्वारा ग्रह भरता है।[3] भारद्वाजके अनुसार इसी अवसरपर अन्य ग्रहोंको भी भरा जा सकता है।[4]

---

१. भारश्रौसू० (१३.१८.१२-१३.१९.५)।

२. या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा गृह्णामि। एष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा सादयामि (वासं० ७.११, तैसं० १.४.६.१)।

३. भारश्रौसू० (१३.१९.६, आपश्रौसू० १२.९-११, वैखासू० १५.२१.२०२.१५, काश्रौसू० ९.७.७, शब्रा० ४.२.५.११)।

४. भारश्रौसू० (१३.१९.७)।

यूपपरिव्ययण

अश्विनोंके लिए ग्रह भरा जा चुकनेके पश्चात् अध्वर्यु त्रिवृत् रज्जुसे यूपको बाँधता है ।[१] कात्यायनके अनुसार ध्रुवग्रहकी रक्षा[२] करके अर्थात् उसको कपड़े आदिसे ढककर सवनीय पशुको यूपसे बाँधा जाता है (उसी रस्सीको खोलकर यूपके बीचसे यूपके आगे निकालकर सवनीय पशुके लिए पुन: परिव्ययण (लपेट) कर देता है ।[३]

अग्निष्टोममें एक ही सवनीय पशु होता है, जो अग्निदेवताक कहा गया है । यह आग्नेय पशु कात्यायनके अनुसार 'स्तोमायन' नामसे पुकारा जाता है जिसे अग्नि देवताको ही समर्पित कर दिया जाता है[४] तथा प्रात:सवनमें पशुका आलभन करके तीसरे सवन तक उसको पकाया जाता है ।[५] भारद्वाजने इस अवसरपर भी ग्यारह यूपोंका उल्लेख किया है ।[६]

देवयाज्ञिकके अनुसार अग्निषोमीय पशुके समान ही अन्य भी कृत्य (स्वर्वगूहन, उपाकरण, शकलादान, होम तथा अग्निमन्थन आदि) सवनीय पशुके लिए अनुष्ठित होते हैं ।[७]

होता आदि ऋत्विजोंका वरण

कात्यायनने इस अवसरपर 'अमुक शर्मा होता मानुष' मन्त्रसे होताके, 'अश्विनावध्वर्यु आध्वर्यवात्' मन्त्र से अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाताके, 'मित्रावरुणो प्रशास्तारौ प्राशास्त्रात्' मन्त्रसे (यद्यपि मन्त्र द्विवचनान्त है, तथापि एक ही) प्रशास्ताके, 'इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात्' मन्त्र से ब्राह्मणाच्छंसी के, 'मरुत: पोतात्' मन्त्रसे पोताके,

---

१. भारश्रौसू० (१३.१९८)।

२. देवयाज्ञिकके अनुसार 'ध्रुवगोप नामक किसी क्षत्रियकी स्थापना ध्रुवग्रहकी रक्षाके निमित्त की जानी चाहिये (पृष्ठसं० ३२१)।

३. काश्रौसू० (९.८.१)।

४. काश्रौसू० (९.८.६)।

५. काश्रौसू० (९.८.२ तथा शब्रा० ४.२.५.१३)।

६. भारश्रौसू० (१३.१९.१)

७. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३२१)।

'ग्नावो नेष्ट्रात्' मन्त्रसे नेष्टाके, 'अग्निराग्नीध्रात्' मन्त्रसे आग्नीध्रके तथा 'अग्निर्ह दैवीनाम्' मन्त्रसे यजमानके वरणका विधान किया है (काश्रौसू० ९.८.७-१४)।

प्रवृत्त होम

जिस क्रमसे वरण किया गया है, उसी क्रमसे ऋत्विज और यजमान मन्त्रके[१] द्वारा आहवनीयमें दो दो आहुति प्रचरणीसे एक बारमें आज्य ग्रहण करके देते हैं।[२]

धिष्ण्योपस्थानादि कृत्य

इस अवसरपर कात्यायनने 'धिष्ण्य मन्त्रों'[३] के द्वारा सोलह ऋत्विजों व यजमानके द्वारा आग्नीध्रीय आदि धिष्ण्याओंके उपस्थानका प्रतिपादन किया है।

सदोऽभिमर्शन

उपस्थानके अनन्तर यजमान सहित ऋत्विज मन्त्रके[४] द्वारा सदस् का, मन्त्रके[५] द्वारा प्राग्द्वारके स्थूणका अभिमर्शन करते हैं।[६]

इसके अनन्तर मन्त्रसे[७] सूर्यका, मन्त्रसे[८] यजमानके द्वारा ऋत्विजों का, मन्त्रसे[९] आग्नीध्र आदि धिष्ण्याओंका अभिमन्त्रण किया जाता है।[१०] कर्कके

---

१. पहली आहुति "जुष्टो वाचे भूयासं वाचस्पतये देवि वाग्यते वाचो मधुज्जुष्टतमम् तस्मिन्मा धाः स्वाहा सारस्वत्या" इस मन्त्रसे तथा दूसरी आहुति "पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः" (वासं० २०.८४) मन्त्रसे दी जाती है।

२. काश्रौसू० (९.८.१५-१६)।

३. विभूरसि आदि सोलह मन्त्र धिष्ण्य मन्त्र कहे जाते हैं, जो वासं० के पाँचवे अध्यायके इकतीसवें मन्त्रसे प्रारम्भ होते हैं।

४. वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि (वासं० ५.३३)।

५. ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम् (वासं० ५.३३)।

६. काश्रौसू० (९.८.१८-१९)।

७. अध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् (वासं० ५.३३)।

८. मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम् (वासं० ५.३४)।

९. अग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन (वासं० ५.३४)।

१०. काश्रौसू० (९.८.२१-२३)।

अनुसार अभिमन्त्रण केवल यजमान ही करता है किन्तु पितृभूतिके अनुसार सभीके द्वारा अभिमन्त्रण किया जाता है।[१]

धिष्ण्योपस्थान तथा सदोऽभिमर्शन कृत्यमें जिन मन्त्रोंका विनियोग किया गया है, वे सभी धिष्ण्या प्रकरणमें भी विनियुक्त किये जा चुके हैं, जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है।

अवकाशमन्त्रोंके द्वारा यजमानको ग्रहावेक्षण कराना

अब अध्वर्यु अवकाश संज्ञक मन्त्रोंका[२] यजमानसे वाचन कराता हुआ यजमानको ग्रहका अवेक्षण कराता है। सर्वप्रथम उपांशुग्रहका, फिर क्रमशः उपांशुसवन, अन्तर्यामग्रह, ऐन्द्रवायवग्रह, मैत्रावरुणग्रह, आश्विनग्रह, शुक्रामन्थीग्रह, आग्रयणग्रह, उक्थ्यग्रह और ध्रुवग्रहका अवेक्षण करता है।[३]

भारश्रौसू० (१३.१९.११) के अनुसार उक्त कृत्य उस समय किया जाता है जब वपा होम हो चुकनेके पश्चात् ब्रह्मा और यजमान सदस्में जाने ही वाले होते हैं।

अब मन्त्रसे[४] पूतभृत् आधवनीय दोनों एक साथ अध्वर्यु द्वारा दिखाये जाते हैं।[५] शुक्रामन्थीग्रह भी एक साथ ही यजमानके द्वारा देखा जाता है। भारद्वाजके अनुसार आधवनीय और द्रोणकलश मन्त्रसे[६] तथा पूतभृत् मन्त्रसे[७] देखा जाता है।[८]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३२३)।

२. ये अवकाश संज्ञक मन्त्र १० हैं, जिनसे दस पदार्थोंका अवेक्षण होता है—प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व॥ १॥ व्यानाय मे०॥ २॥ उदानाय मे०॥ ३॥ वाचे मे०॥ ४॥ क्रतूदक्षाभ्यां मे०॥ ५॥ श्रोत्राय मे०॥ ६॥ चक्षुर्भ्यां मे०॥ ७॥ आत्मने मे०॥ ८॥ ओजसे मे०॥ ९॥ आयुषे मे०॥ १०॥ (वासं० ७.२७-२८)।

३. काश्रौसू० (९.७.८)। भारश्रौसू० ने भी इसी प्रकार वर्णन किया है किन्तु उसने अन्य भी पदार्थोंका उल्लेख किया है, जिसका वर्णन कात्यायनने नहीं किया।

४. विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् (वासं० ७.२८)।

५. काश्रौसू० (९.७.१२)।

६. द्वौ समुद्रौ विततावाक्यौ (तैसं० ३.२.२.१)। कात्यायन (९.७.१३) ने द्रोणकलशके लिए कोऽसि कतमोऽसि कस्याऽसि को नामोऽसि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनाती तृपाम् (वासं० ७.२९) मन्त्रका उल्लेख किया है।

७. द्वे द्रधसी (तैसं० ३.२.२.२)।

८. भारश्रौसू० (१३.१९.१२-१३)।

स्पष्टरूपसे कात्यायन और भारद्वाजने उक्त कृत्यके लिए भिन्न भिन्न मन्त्रका विधान किया है । भारद्वाजके अनुसार जिस मन्त्रसे पूतभृत् देखा जाता है, उस मन्त्र से द्रोणकलश भी देखा जा सकता है, जिसका विधान आपश्रौसू० (१२.१८.१८) ने किया है ।

अब यजमान मन्त्रका[१] जप करता है,[२] किन्तु भारद्वाजने इस अवसरपर सोमकी प्रार्थना करनेका विधान किया है, जिसके लिए मन्त्र[३] पढ़ा जाता है ।[४] यहाँ कात्यायनने और भारद्वाजने यद्यपि एक ही क्रियाका उल्लेख किया किन्तु मन्त्र भिन्न है ।

जिन पदार्थोंका उल्लेख कात्यायनने नहीं किया उन पदार्थोंके अवेक्षणका विधान भारद्वाजने किया है । भारद्वाजके अनुसार अध्वर्यु मन्त्रसे[५] आज्यस्थालीका, मन्त्रसे[६] ध्रुवस्थालीका, मन्त्रसे[७] अतिग्राह्यग्रहका, मन्त्रसे[८] षोडशी ग्रहका, मन्त्रसे[९] सम्पूर्ण सोमका अवेक्षण यजमानको कराता है ।[१०] सोम देखनेके सम्बन्धमें आपश्रौसू० (१२.१९.१) ने विधान किया है कि उक्त मन्त्रके आधे भागसे आहवनीयकी ओर देखा जाय और मन्त्रके अन्तिम भागसे सोमकी ओर देखा जाना चाहिये ।

इस अवसरपर यह भी कहा गया है कि जो समृद्धि चाहे, ब्रह्मतेज चाहे, अथवा अभिचार करना चाहे और यदि रुग्ण हो तो भी उनको यह अवेक्षण कृत्य सम्पादित करना ही चाहिये ।[११]

---

१. ॐ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः (वासं० ७.२९)।
२. काश्रौसू० (९.७.१४)।
३. परिभूरग्निं परिभूरिन्द्रम् (तैसं० ३.२.३.१)।
४. भारश्रौसू० (१३.१९.१४)।
५. अंगेभ्यो मे (तैसं० ३.२.३.२)।
६. आयुषे मे (तैसं० ३.२.३.२)।
७. तेजसे मे ॥ ओजसे मे ॥ वचसे मे ॥ (तैसं० ३.२.३.२)।
८. वीर्याय मे (तैसं० ३.२.३.२)।
९. कोऽसि को नम (तैसं० ३.२.३.२)।
१०. भारश्रौस० (१३.२०.३-१०)।
११. भारश्रौसू० (१३.२०.११, तैसं० ३.२.३.३-४)।

प्रार्थना

देखनेके अतिरिक्त यज्ञीय पदार्थोंकी प्रार्थना भी इस अवसरपर की जाती है। भारद्वाजने इस अवसरपर मन्त्रसे[१] उत्करपर वेदी बनानेके लिए फेंके गए सब करणोंकी, मन्त्रसे[२] द्यावापृथिवीकी, मन्त्रसे[३] चात्वालके दक्षिणमें आस्ताव (बहिष्पवमान देश) की, मन्त्रसे[४] द्रोणकलशकी, मन्त्रसे[५] सोमकी, मन्त्रसे[६] आहवनीयाग्निकी, मन्त्रसे[७] यज्ञकी, मन्त्रसे[८] होतृकोंकी, मन्त्र[९] से आहवनीयकी, मन्त्रसे[१०] आग्नीध्र अग्निकी, मन्त्रसे[११] होताकी धिष्ण्याकी, मन्त्रसे [१२] द्यावापृथिवीकी, मन्त्रसे[१३] आदित्यकी, मन्त्रसे[१४] वायुकी, मन्त्रसे[१५] अग्निकी, मन्त्रसे[१६] यमकी, मन्त्रसे[१७] सरस्वतीकी, मन्त्रसे[१८] सदस्के दोनों द्वारोंकी, मन्त्रसे[१९] सदस् की,

---

१. स्फ्यः स्वस्तिर्विघनः स्वस्ति ॥ यज्ञिया यज्ञकृतः स्थ ते मास्मिन् यज्ञ उपह्वध्वम् (तैसं० ३.२.४.१)।
२. उप मा द्यावापृथिवी ह्वयेताम् (तैसं० ३.२.४.१)।
३. उपास्तावः (तैसं० ३.२.४.१)।
४. कलशः (तैसं० ३.२.४.१)।
५. सोमः (तैसं० ३.२.४.१)।
६. अग्निः (तैसं० ३.२.४.१)।
७. उप देवा उप यज्ञः (तैसं० ३.२.४.१)।
८. उप मा होत्रा उपहवे ह्वयन्ताम् (तैसं० ३.२.४.१)।
९. नमो अग्नये मखघ्ने (तैसं० ३.४.२.१)।
१०. नमो रुद्राय मखघ्ने (तैसं० ३.२.४.२)।
११. नम इन्द्राय मखघ्ने (तैसं० ३.२.४.२)।
१२. दृढे स्थः शिथिरे समीची माँहसस्पातम् (तैसं० ३.२.४.३)।
१३. सूर्यो मा देवो दिव्यादँहसस्पातु (तैसं० ३.२.४.३)।
१४. वायुरन्तरिक्षात् (तैसं० ३.२.४.३)।
१५. अग्निः पृथिव्याः (तैसं० ३.२.४.३)।
१६. यमः पितृभ्यः (तैसं० ३.२.४.४)।
१७. सरस्वती मनुष्येभ्यः (तैसं० ३.२.४.४)।
१८. देवी द्वारौ मा मा सं ताप्तम् (तैसं० ३.२.४.४)।
१९. नमः सदसे (तैसं० ३.२.४.४)।

मन्त्रसे[१] यजमानकी, मन्त्र (नम: सखीनां) पढकर ऋत्विजोंकी तथा मन्त्रसे[२] स्वर्गकी, तथा मन्त्रसे[३] पृथिवीकी प्रार्थना का विधान किया है । इसके पश्चात् उस स्थान की प्रार्थना[४] की जाती है, जहाँ यजमान सदस्में प्रवेश करनेके उपरान्त बैठता है । अब अध्वर्यु सदस्में मैत्रावरुणकी धिष्ण्याके सामनेसे पार कर चुकनेपर इस मन्त्रके[५] साथ बैठ जाता है । अब मन्त्रके[६] द्वारा वह आकाशकी ओर पृथिवीकी ओर देखता है तथा मन्त्रसे[७] सदस्के दक्षिणी भागको देखता है ।[८]

सवनीय पुरोडाशयाग

पहले 'सवनीय पुरोडाशनिर्वाप' नामक कृत्यके अन्तर्गत पुरोडाश तैयार करनेसे सम्बन्धित सभी कृत्यों तथा पुरोडाशसे सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विधियोंका उल्लेख किया गया, प्रस्तुत प्रसंगमें पुरोडाशकी आहुतिसे सम्बन्धित कृत्यका विधान किया जाता है ।

अनुवाचन प्रैष

सर्वप्रथम अध्वर्यु प्रस्तोताको "प्रातः प्रातः सवस्येन्द्राय पुरोडाशा नामनुब्रूहि" प्रैष करता है । इसी प्रकार उच्च स्वरसे अध्वर्यु मैत्रावरुणके प्रति भी "प्रातः सवस्येन्द्राय पुरोडाशान्प्रस्थितान्प्रेष्य" प्रैष करता है ।[९]

प्रधान और स्विष्टकृत् आहुतिके उपरान्त पुरोडाश-स्थापन

अब अध्वर्यु स्विष्टकृत् और प्रधान दोनों आहुतियाँ देनेके पश्चात् होताकी धिष्ण्यामें होमसे बचे हुए महापात्रीमें रक्खे हुए पुरोडाश आदि पाँचों हवियोंको निकालकर रखता है अथवा प्राशित्र आदि तीन अवदान करके इडाके बीचमें एक

---

१. नमः सदसस्पतये (तैसं० ३.२.४.४)।
२. नमो दिवे (तैसं० ३.२.४.४)।
३. नमः पृथिव्यै (तैसं० ३.२.४.४)।
४. अहे दैधिषव्योदतस्तिष्ठान्यस्य सदने सीद योऽस्मत्पाकतरः (तैसं० ३.२.४.४)।
५. उन्निवत उदुद्वतश्च गेषम् (तैसं० ३.२.४.४)।
६. पातं मा द्यावापृथिवी अद्याह्नः (तैसं० ३.२.४.४)।
७. आगन्तु पितरः पितृमानहं युष्माभिभूयासं सुप्रजसो मया यूयं भूयास्त (तैसं० ३.२.५.५)
८. भारश्रौसू० (१३.२०.१३-१३.२१.१४)।
९. काश्रौसू० (९.९.५-६)।

और पुरोडाश पहलेका बचा हुआ अंश रखकर वह इडा ही होताके धिष्ण्यामें स्थापित करता है ।[१]

पुरोनुवाक्या तथा याज्याका पाठ

भारद्वाजके अनुसार अध्वर्यु सवनीय पुरोडाश रखकर मैत्रावरुणसे पुरोनुवाक्या कहलानेके लिए प्रैष "प्रातः प्रातः सावस्येन्द्राय पुरोडाशानामनुब्रूहि" करता है ।[२] तब मैत्रावरुण पुरोनुवाक्याका[३] पाठ करता है ।[४]

इसके पश्चात् अध्वर्यु जुहूमें नीचे घी डालकर सब आहुतियोंका भाग कम कर देता है । आमिक्षाका एक भाग करता है तथा वाजिनका भी एक भाग कम कर देता है । विकल्पके रूपमें यह भी कहा गया है कि यदि इच्छा न हो तो कम नहीं भी किया जा सकता है । इसके पश्चात् उन भागोंको अलग करके उनपर घी डालता है तथा आग्नीध्रको घोषणा करनेके लिए कहता है । जब आग्नीध्रका उत्तर मिल जाता है तो अध्वर्यु मैत्रावरुणसे याज्याके पाठके लिए प्रैष करता है— "अग्नयेऽनुब्रूहि अग्नये प्रेष्य"[५] । तब मैत्रावरुण याज्याका[६] पाठ करता है ।[७]

इसके पश्चात् होता स्विष्टकृत् आहुतिके लिए अग्निकी पुरोनुवाक्या[८] तथा याज्या[९] का पाठ करता है ।[१०]

---

१. काश्रौसू० (९.९.९-१०)।

२. भारश्रौसू० (१३.२१.१५)।

३. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् । इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः (ऋसं० ३.५२.१)।

४. श्रौतकोशः, द्वितीय ग्रन्थ (पृष्ठसं० ३०२)।

५. भारश्रौसू० (१३.२१.१९)।

६. ऐब्रा० (२.३.२४) के अनुसार याज्या मन्त्र इस प्रकार है—"हरिवाँ इन्द्रो धाना अत्त पूषण्वान् करम्भं सरस्वतीवान् भारतीवान् परिवाप इन्द्रस्यापूप इति ॥ श्रौतकोशकारने टिप्पणीमें याज्याके लिए निम्नांकित मन्त्र उद्धृत किया है—ये यजामहे इन्द्रं हरिवाँ...जुषाणो वेतु (पृष्ठसं० ३०२)॥

७. भारश्रौसू० (१३.२१.१६-१८)।

८. अग्ने जुषस्व नो हविः पुरोडाशं जातवेदः । प्रातः सावे धियावसो (ऋसं० ३.२८.१)।

९. ये यजमहेऽग्निं पुरोडाशानां जुषतां हविः इति ।

१०. श्रौतकोशः (पृष्ठसं० ३०२)।

ऐब्रा० (२.३.२४) के अनुसार "हविरग्ने वीहि"[१] स्विष्टकृत् याज्याका तीनों सवनोंमें पाठ किया जाता है।

द्विदेवत्यग्रहप्रचार

सवनीय पशु, वपा एवं पशुपुरोडाशसे सम्बन्धित कृत्य सम्पन्न होने पर द्विदेवत्यग्रहसे[२] सम्बद्ध अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि यह ग्रह ग्रहण तो किया जाता है एक पात्रमें किन्तु आहुति दी जाती है दो पात्रोंसे, एक पात्रसे अध्वर्यु आहुति देता है और दूसरे पात्रसे प्रतिप्रस्थाता।[३]

मैत्रावरुणके प्रति प्रैष

इडाको होतृधिष्ण्यामें रखकर उत्तरकी ओरसे जाकर पूर्वद्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करके खरपर रक्खे हुए ऐन्द्रवायव ग्रहको हाथसे ग्रहण करके मैत्रावरुणको "वायव इन्द्रवायुभ्यामनुब्रूहि" प्रैष करता है।[४]

भारद्वाजके अनुसार इस अवसरपर वायु और इन्द्रकी आहुतिसे सम्बद्ध पुरोनुवाक्याका[५] पाठ किया जाता है।[६]

---

१. एतामेव त्रिष्वपि सवनेषु याज्यां पठेत् (ऐब्रा० २.३.२४ पर सायणभाष्य)।

२. ऐन्द्रवारुण-मैत्रावरुणाश्विनग्रहा द्विदेवत्याः (काश्रौसू० ९.९.११ पर सरलावृत्ति)। द्वे देवते युग्मरूपे येषां ग्रहाणां ते द्विदेवत्याः। इन्द्रश्च वायुश्चेत्येकं युग्मम् मित्रश्च वरुणश्च इति द्वितीयं युग्मम् यावश्विनौ तौ तृतीय युग्मम्। त एते द्विदेवत्यग्रहाः (ऐब्रासा० २.४.२७)।

३. ऐब्रा० (२.४.२७)।

४. काश्रौसू० (९.९.१२)।

५. पहली पुरोनुवाक्या "वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्" (ऋसं० १.२.१) वायुदेवताक (वायव्या) है। दूसरी पुरोनुवाक्या इन्द्र और वायु देवताक है जो इस प्रकार है—इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋसं० १.२.४)॥ देखिये श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३०५, ऐब्रा० २.४.२६) ने इस मतका खण्डन किया है कि इन्द्रवायु वाले ग्रहोंमेंसे आहुति देते समय दो अनुष्टुप् छन्दों में और दो गायत्री छन्दोंमें याज्या पढ़ी जानी चाहिये।

६. भारश्रौसू० (१३.२२.२)।

द्विदेवत्यका अनुहोम तथा अनुवषट्कारहोम

देवयाज्ञिकके अनुसार ऐन्द्रवायवग्रहके दो वषट्कार होते हैं, दोनोंमें ही थोड़ी थोड़ी आहुति दी जाती है। पहली आहुति अध्वर्युके द्वारा वायुदेवताके लिए और दूसरे वषट्कार पर प्रतिप्रस्थाताके द्वारा इन्द्र और वायुदेवताके लिए अग्निके उत्तरभागमें दी जाती है।[१]

उक्त होमके लिए प्रतिप्रस्थाता अनुवाचन कालमें ही आदित्यपात्रके द्वारा द्रोणकलशसे मन्त्रके[२] साथ परिप्लवाके द्वारा सोम ग्रहण करता है।[३]

आदित्यस्थालीमें सिंचन तथा उसका आच्छादन

प्रतिप्रस्थाता द्वारा द्विदेवत्यग्रहकी आहुति दे चुकनेपर हुतशेषको आदित्य स्थालीमें डालकर मन्त्रका[४] वाचन करता है।[५] इसके पश्चात् आदित्यपात्रके द्वारा मन्त्रसे[६] आदित्यस्थालीको ढक देता है।[७]

भारद्वाजश्रौसू० (१३.२२.५) ने मन्त्रके[८] द्वारा सोमकी आघार आहुति उल्लेख किया है।[९]

याज्यापाठ

ऐसे स्थानपर खड़ा होकर जहाँसे आगे बढ़ना न पड़े, अध्वर्यु आग्नीध्रको घोषणा करनेके लिए कहता है। अब अध्वर्यु दक्षिणकी ओर जाकर मैत्रावरुण को याज्या पाठके लिए "वायव इन्द्रवायुभ्यां प्रैष्य" प्रेष करता है। तब मैत्रावरुण तो याज्या[१०] का पाठ करता है और होताके द्वारा वषट्कार करनेपर अध्वर्यु वायुके

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३२५)।
२. उपयामगृहीतोऽसि गृह्णामि (वासं० ८.१)।
३. काश्रौसू० (९.९.१३, शब्रा० ४.३.५.६)।
४. आदितेभ्यस्त्वा आसिंचामि (वासं० ८.१)।
५. काश्रौसू० (९.९.१८, शब्रा० ४.३.५.६)।
६. विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् (वासं० ८.१, तैसं० ३.२.१०.१-२)।
७. काश्रौसू० (९.९.१९, भारश्रौसू० १३.२३.३)।
८. अध्वरोऽयज्ञो यमस्तु देवा ओषधीभ्यः (तैसं० ३.१.९.३)।
९. भारश्रौसू० (१३.२२.६)।
१०. अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु। त्वं हि पूर्वपा असि। शतेना नो

लिए आहुति देता है इसके पश्चात् होताके द्वारा दूसरा वषट्कार किये जानेपर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों आहुति देते हैं। यजमान मन्त्रके[1] द्वारा उसका अभिगमन करता है। इस अवसरपर एक विचित्र विधान किया गया है कि यदि बड़ा चचेरा भाई उसपर आक्रमण करे तो अंगूठेको अपनी अंगुलीसे दबावे और यदि छोटा चचेरा भाई उस पर आक्रमण करे तो अंगूठेसे अंगुलीको दबावे तथा मन्त्रका[2] पाठ करे। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युके ग्रहमें अवशेष भागको और अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाताके ग्रहमें अवशेष भागको डालता है। अब प्रतिप्रस्थाता मन्त्र[3] पढ़कर सोम आदित्यस्थालीमें डालता है और अध्वर्यु मन्त्रके[4] साथ सोमके लिए होताको ग्रह दे देता है। पूर्वोक्त मन्त्रके द्वारा ही होता उस ग्रहको ग्रहण कर लेता है।[5]

अभिचार और ग्रहका ग्रहण तथा आसादन

अभिचारके निमित्त ग्रहके ग्रहण करने तथा आसादनके सम्बन्धमें आपस्तम्ब एक साधारण नियमका उल्लेख करते हुए स्पष्ट करता है कि यदि यजमान समझे कि शत्रुने उसे पराजित कर दिया है तो प्रतिप्रस्थाता पहले उस ग्रहको ले और पहले ही आहुति दे तथा पहले ही उसको रक्खे। यदि अध्वर्यु चाहे कि यजमान अपने शत्रुके समान ही बलवान बना रहे तो प्रतिप्रस्थाता और अध्वर्यु दोनों एक साथ ग्रह उठावें, एक साथ आहुति दें और एक साथ ही ग्रहको रक्खें। यदि अध्वर्यु यह चाहे कि जिस यजमानने राज्य प्राप्त कर रक्खा है, वह उससे च्युत हो जाय अथवा राज्यसे च्युत यजमान पुनः राज्य प्राप्त करे तो मन्त्रके[6] साथ ग्रह उठाया जाय,

---

अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ। इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम् (ऋसं० ४.४६.१-२)। श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३०५, ऐब्रा० २.४.२६)। याज्याके सम्बन्धमें नियम बनाया गया है कि याज्या निरन्तर पढ़ी जानी चाहिये तथा अनुवषट्कार नहीं किया जाना चाहिये (ऐब्रा० २.४८)।

१. भूरसि श्रेष्ठो रश्मीनां प्राणपाः प्राणं मे पाहि धूरसि श्रेष्ठो रश्मीनामपानपा अपानं मे पाहि (तैसं० ३.२.१०)।

२. यो न इन्द्रवायू अभिदासति (तैसं० ३.२.१०.३)।

३. देवेभ्यस्त्वा (तैसं० ३.२.१०.१)।

४. मयि वसुः पुरोवसुर्वाक्पा वाचं मे पाहि (तैसं० ३.२.१०.२)।

५. भारश्रौसू० (१३.२२.७-१५, ऐब्रा० २.४.२७, आपश्रौसू० १२.२१.५-६)।

६. इदमहममुमामुष्यायणममुष्य पुत्रममुष्या विश उदूहामि इति।

और उठाये गए उस अध्वर्युके ग्रहके स्थानपर प्रतिप्रस्थाताका ग्रह स्थापित करे तथा मन्त्रका[१] पाठ करे ।[२]

चमसोन्नयन

अब चमसोंमें सोम भरा जाता है, जिसे उन्नयन शब्दसे अभिहित किया गया है । उत्तरवेदीके पश्चिममें उन्नेता चमसाध्वर्युओंके[३] लिए नौ चमसोंमें सोमरस भरता है ।[४] सर्वप्रथम द्रोणकलशसे सोमरस भरा जाता है, जिसको उपस्तरण कहते हैं । फिर पूतभृत् से और तीसरी बार पुनः द्रोणकलशसे सोमरस चमसोंमें भरा जाता है, जिसको अभिघारण कहते हैं ।[५]

होताका चमस सबसे पहले भरा जाता है, उसके पश्चात् क्रमशः ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और आग्नीध्रका चमस भरा जाता है । अच्छावाक और उन्नेताके चमस नहीं भर जाते हैं ।[६]

कात्यायनने इस अवसरपर "उन्नीयमानेभ्योऽनुवाचयति" प्रैष प्रशास्ता के प्रति अध्वर्युके द्वारा कहलाया है ।[७] भारद्वाजने उन्नीयमान[८] सूक्तका उल्लेख किया है, जिसे मैत्रावरुण पढ़ता है ।

पढ़े जाने वाले उन्नीयमानसूक्तके सम्बन्धमें ऐब्रा० ने याज्ञिकोंके इस मतका निषेध किया है कि उन्नीयमानसूक्तके केवल सात ही मन्त्र पढ़े जाने चाहिये, नौ मन्त्र नहीं । निषेधका कारण बतलाते हुए ऐब्रा० (६.४.९) ने स्पष्ट किया है कि यदि यजमानके वीर्यकी रक्षा करनी है तो यजमानको नौ ही मन्त्र पढ़ने चाहिये, नहीं तो

---

१. इदमहममुमामुष्यायणममुष्य पुत्रममुष्यां विश सादयामि इति ।

२. आपश्रौसू० (१२.२१.१८-२२)।

३. चमसाध्वर्यु लोग यजमानके द्वारा चुने गए हुए नहीं होते हैं, अपितु वे ऋत्विजोंके द्वारा चुने गए सहायक ऋत्विज होते हैं । इनकी संख्या कुल मिलाकर दस होती है । (जैमिनि ३.७.२७) ।

४. देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३२६

५. देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३२६

६. देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३२६

७. काश्रौसू० (९.९.१९)।

८. ऋसं० (९.९.१९)।

(सात मन्त्र पढ़े जानेकी स्थितिमें) उसका वीर्य लुप्त हो जायेगा और स्वयं वह भी। उक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि उन्नीयमानसूक्तके सभी (नौ) मन्त्र पढ़े जाने चाहिये।

होत्रकचमसप्रचार

होता लोगोंकी आहुतिके निमित्त उनके चमसोंमें सोमरस भरनेके लिए निम्नांकित "प्रैतु होतुश्चमसः, प्रब्रह्मणः, प्रोद्गातॄणां, प्रयजमानस्य, प्रयन्तु सदस्यानाम्, होत्राणाम्, चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वम्, शुक्रस्याभ्युन्नयध्वम्" प्रैष करता है।[१] इसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता द्वारा घूमकर अध्वर्युओंके पात्रोंमें बचा खुचा सोम डाल दिया जाता है। अध्वर्यु उस सोमको भक्षणके लिए होताके चमसमें डाल देता है।[२] ऐब्रा० (२.४.३०) के भाष्यकार सायणने होता द्वारा द्विदेवत्यग्रहके शेषको होतृचमसमें उडेलनेका उल्लेख किया है।

कात्यायनके अनुसार प्रतिप्रस्थाताके पश्चात् चमसाध्वर्यु चुपचाप आहवनीयके पीछे खड़े होकर पूर्वकी ओर मुख करके चमसोंके द्वारा थोड़ी सोमकी आहुति देते हैं। हौत्रकचमसोंकी आहुति प्रथम वषट्कारके साथ ही दी जाती है।[३]

प्रथम प्रशास्तृचमसकी अथवा अन्तिम आग्नीध्रचमसकी आहुति सम्पन्न होनेपर मन्त्र[४] पढ़ा जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु आग्नीध्रके चमसको हाथमें लिए हुए ही सदोमण्डपके अन्दर प्रवेश करके मन्त्रके[५] साथ पश्चिमकी ओर मुख करके होताके पास आ बैठता है।[६]

---

१. काश्रौसू० (९.११.३)।
२. शब्रा० (४.२.१.२९)।
३. काश्रौसू० (९.११.२)।
४. तृम्पन्तु होत्रा (वास.७.१५)।
५. अयाडग्नीत् (वासं.७.१५)।
६. काश्रौसू० (९.११.९-१०,शब्रा० ४.२.१.३३)।

याज्यापाठ

वेदीको पार करके आग्नीध्रको घोषणाके लिए प्रेरित करके जब आग्नीध्र घोषणा कर चुके तब अध्वर्यु मैत्रावरुणको याज्या[१] पढ़नेके लिए कहता है, इसके पश्चात् ब्राह्मणाच्छंसी[२], पोता[३], नेष्टा[४] और आग्नीध्र[५]को याज्याका पाठ करनेके लिए कहता है[६] ।

द्विदेवत्य सोमभक्षण

द्विदेवत्यग्रहसे सम्बन्धित कर्मकाण्डपर विचारके पश्चात् उसके भक्षणके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाता है ।

मुख्य रूपसे होता, अध्वर्यु, नेष्टा, उन्नेता, प्रतिप्रस्थाता द्वारा द्विदेवत्यग्रहका सोमभक्षण किया जाता है, किन्तु उस समय मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जब पीनेका क्रम प्रारम्भ होता है । यह मतभेद स्पष्ट रूपसे ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है कि सर्वप्रथम कौन सोमका पान करे । निश्चित् रूपसे सर्वप्रथम सोमपानके निमित्त झगड़ा अवश्य होता होगा ।

कात्यायनने अध्वर्युको सर्वप्रथम द्विदेवत्यग्रहके सोमके भक्षणका अधिकार दिया है बल्कि यह कहकर कि होता अध्वर्युके समान नहीं होता, होताके सर्वप्रथम सोमभक्षणका निषेध किया है ।[७] भारद्वाजने होताको ही सर्वप्रथम सोम पीनेका अधिकार दिया है । उसके पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता सोमपान करते हैं ।[८] अध्वर्यु, होता, प्रतिप्रस्थाताके अतिरिक्त नेष्टा, उन्नेता भी सोमका भक्षण करते हैं, क्योंकि सोमाभिषवमें वे भी सम्मिलित होते हैं ।[९]

---

१. मित्रं वयं हवामहे (ऋसं० १.२३.४)।

२. इन्द्र त्वा वृषभं (ऋसं० ३.४०.१)।

३. मरुतो यस्य हि (ऋसं० १.८६.१)।

४. अग्ने पत्नीरिहा (ऋसं० १.२२.९)।

५. उक्षान्नाय वशान्नाय (ऋसं० ८.४३.११)।

६. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३१३)।

७. काश्रौसू० (९.११.११,१३)।

८. भारश्रौसू० (९.११.११)।

९. काश्रौसू० (९.११.११)।

होता द्वारा ग्रहभक्षण

ऐब्रा० (२.४.२७) के अनुसार होता ऐन्द्रवायवग्रहसे सोम मन्त्रसे,[१] मैत्राव-रुणग्रहसे सोम मन्त्रके[२] द्वारा और अश्विके ग्रहसे सोम मन्त्रके[३] द्वारा भक्षण करके निम्नांकित मन्त्रका[४] पाठ करता है ।[५]

होताके भक्षणके सम्बन्धमें कहा गया है कि होता पूर्वकी ओर मुख करके ग्रहके मुखको अपनी ओर करके ऐन्द्रवायवका, सामने पूर्व-मुख करके मैत्रावरुणका, और सभी दिशाओंमें घूमकर अर्थात् सिरकी प्रदक्षिणा करके आश्विन ग्रहशेषका भक्षण करता है ।[६]

अध्वर्यु द्वारा सोमभक्षण

होताके समान ही अध्वर्यु सोमका भक्षण करता है । सर्वप्रथम मन्त्रके[७] साथ अध्वर्यु होतासे ऐन्द्रवायवग्रह लेता है । इसके पश्चात् मन्त्रके[८] के साथ ऐन्द्रवायव ग्रहका शेष भक्षण करता है । दूसरी बार भक्षण करनेके लिए अध्वर्यु होताको बुलाकर उसके मुखको झुकाता है ।[९] भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्यु सूंघकर मन्त्र[१०]

१. एष वसुः पुरूवसुरिह वसुः पुरूवसुर्मयि वसुः पुरूवसुर्वाक्पा वाचं मे पाहि उपहूता वाक् सह प्राणेनोप मां वाक् सह प्राणेन ह्वयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजा उपमामृषयो दैव्यासो ह्वयन्तां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति ।

२. एष वसुर्विदद् वसुरिह वसुर्विदद् वसुर्मयि वसुर्विदद् वसुश्चक्षुष्पाश्चक्षुर्मे पाहि उपहूतं चक्षुः सहमनसोपमां चक्षुः सहमनसाह्वयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनूपावान-स्तन्वस्तपोजो उपमामृषयो दैव्यासो ह्वयंतां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति ।

३. एष वसुः संयद् वसुरिहवसुः संयद् वसुर्मयि वसुः संयद् वसुः श्रोत्रपाः श्रोत्रं मे पाहि इति ।

४. उपहूतं श्रोत्रं सहात्मनोपमां श्रोत्रं सहात्मनाह्वयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनू-पावानस्तन्वस्तपोजा उपमामृषयो दैव्यासोह्वयंतां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति ।

५. ऐब्रा० (२.४.२७) ।

६. ऐब्रा० (२.४.२७) ।

७. ओम् ऐतु वसुः इति ।

८. वाग्देवी सोमस्य तृप्यतु । इस मन्त्रका प्रयोग भारश्रौसू० (१३.२६.१५) के अनुसार सामान्य रूप से किया जाता है ।

९. काश्रौसू० (९.११.१७) ।

१०. मन्द्राभिमूतिः (तैसं० ३.२.५.१-२) ।

के साथ ऐन्द्रवायव ग्रहके शेषका भक्षण करता है ।[१] इस अवसरपर कहा गया है कि उपर्युक्त मन्त्र प्रातःसवनके समय उन ग्रहोंके सोमको पीनेके लिए भी प्रयोगमें लाया जा सकता है, जो न तो इन्द्रवायूके होते हैं और न ही नाराशंस[२] के ।[३]

अध्वर्यु द्वारा किये गए भक्षणके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह मैत्रावरुण ग्रहको अपनी आँखोंकी ओर करके पकड़े हुए पीवे, आश्विन ग्रहको घुमाकर कानके पास लाकर पीवे, तथा इन्द्रवायुके ग्रहको दो बार और शुक्र और मन्थी ग्रहको एक एक बार पीवे ।[४]

एक ही ग्रहसे अनेक ऋत्विजोंके द्वारा भक्षण करनेके सम्बन्धमें सामान्य नियम यही है कि वषट्कार करने वाला सोमभक्षण पहले करे और दूसरा बाद में । वे सभी ऋत्विज् जो सोमपान करने जा रहे होते हैं, दूसरोंकी सम्मति लेकर ही सोमपान करते हैं । इस अवसरपर सम्मतिके लिए निमन्त्रण वाक्य (श्रीअमुक जी क्या आप सहमत हैं) कहा जाता है, जिसका उसी समय उत्तर (हाँ, मैं सहमत हूँ) भी दिया जाता है ।[५]

गात्रस्पर्श

जो ऋत्विज सोमपान करते हैं तब वे सभी मन्त्रके[६] द्वारा अपने शरीरका स्पर्श करते हैं । इस अवसरपर यह भी संकेत प्राप्त होता है कि जब कभी भी सोमपान किया जाय तो शरीरका स्पर्श उपर्युक्त मन्त्रके द्वारा ही किया जाय ।[७]

---

१. भारश्रौसू० (१३.२६.१३)।

२. नाराशंसा नाम त्रयः पितृगणा ऊमा और्वा काव्यश्चेति। ते चानुसवनं यथासंख्येनाऽऽप्यायितानां चमसानां देवता भवन्तीति नाराशंसाश्चमसा भवन्तीति। (आश्वश्रौसू० नारायणवृत्ति X.७.६, पृष्ठसं० २१०)

३. भारश्रौसू० (१३.२६.१४)।

४. भारश्रौसू० (१३.२६.१६)।

५. भारश्रौसू० (१३.२७.२-४)।

६. हिन्व मे गात्रा हरिवः (तैसं० ३.२.५.३)।

७. भारश्रौसू० (१३.२७.५-६)।

ग्रहासादन

सोम पी चुकनेपर वे सब तब तक उस ग्रहसे सम्बन्ध बनाये रखते हैं जब तक कि उन ग्रहोंमें बची हुई शेष बून्दें होताके चमसमें नहीं डाल दी जाती।[१] कात्यायनके अनुसार शुक्र और मन्थी ग्रहके शेषको भी होतृचमसमें डाला जाता है।[२]

द्विदेवत्यग्रहसे होताके चमसमें सोमके बिन्दु डल चुकनेपर अध्वर्यु इन्द्रवायुग्रहमें पुरोडाशका टुकड़ा, मैत्रावरुणग्रहमें आमिक्षा तथा आश्विनग्रहमें धान डालता है।[३]

अब इन द्विदेवत्य ग्रहोंको प्रतिप्रस्थाता सदोमण्डपसे निकालकर हविर्द्धान मण्डपमें जाकर दाहिने हविर्द्धानके उत्तरी पहियेकी लीकपर पश्चिमकी ओर रखता है।[४] भारद्वाजके अनुसार सभी ग्रह इसी प्रकार रक्खे जाते हैं, जो तीसरे सवन तक ज्योंके त्यों रक्खे रहते हैं।[५]

सवनीयेडा

सर्वप्रथम अध्वर्यु सवनीय पुरोडाशके खण्ड करके होताके धिष्ण्यमें रक्खी हुई इडा होताको देता है। तत्पश्चात् इडाका आवाहन किया जाता है। इस अवसरपर सभी चमसाध्वर्यु अपने चमसोंका 'उद्यच्छन'[६] करते हैं।[७] होताका चमस इडासे स्पर्श करके ग्रहण किया जाता है।[८] यहाँ यह ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि जो इडा आवाहनसे युक्त हो चुकी है वही इडा ग्रहणकी जानी चाहिये।[९] अब अध्वर्यु अच्छावाकके लिए पुरोडाशका अंश सुरक्षित रखता है।[१०]

---

१. भारश्रौसू० (१३.२७.७)।

२. काश्रौसू० (९.११.२२)।

३. भारश्रौसू० (१३.२७.८, काश्रौसू० ९.११.२३, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८८६)।

४. काश्रौसू० (९.११.२४)।

५. भारश्रौसू० (१३.२७.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८८६)।

६. 'उत्'—ऊर्ध्वम्, यच्छन्ते-नियमयन्ति इति (गोपीनाथका भाष्य पृष्ठसं० ८८६)।

७. भारश्रौसू० (१३.२७.१३, काश्रौसू० ९.११.२६, सत्याषाढश्रौसू० ८७, पृष्ठसं० ८८६)।

८. भारश्रौसू० (१३.२७.१४)।

९. भारश्रौसू० (१३.२७.१५)।

१०. भारश्रौसू० (१३.२७.१६, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८८७)।

सर्वप्रथम इडाका भक्षण किया जाय अथवा होतृचमसका पान किया जाय, इस सम्बन्धमें ऐब्रा० (२.४.३०) ने सिद्धान्तके रूपमें इस मतका प्रतिपादन किया कि पहले इडाका ही भक्षण किया जाना चाहिए, बादमें होतृचमसका पान।

सवनमुखसोमभक्षण

इस कृत्यमें सर्वप्रथम अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता तथा होतासे आज्ञा लेकर शुक्रग्रह का शेष एक बार भक्षण करता है, इसके पश्चात् अध्वर्यु और होताकी आज्ञा लेकर प्रतिप्रस्थाता होतृचमसस्थ मन्थिशेषका एक बार, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाताकी आज्ञा लेकर प्रतिप्रस्थाता होतृचमसस्थ मन्थिशेषका दो बार, पुन: अपने चमसको रखकर ब्रह्माकी आज्ञा लेकर दो बार, होताकी आज्ञा लेकर ब्रह्मा अपने चमसका सशेष एक बार, उद्गाता लोग अपने अपने चमसका सशेष अन्य-अन्यसे पूछकर एक बार, होता यजमानचमसस्थ सोमका सशेष यजमानकी स्वीकृति लेकर दो बार, होतासे पूछकर यजमान अपने चमसस्थ सोमका सशेष एक बार, प्रशास्ता व अध्वर्युसे आज्ञा लेकर प्रशास्तृचमसस्थ सोमका सशेष भक्षण होता द्वारा एक बार, होता व अध्वर्युसे पूछकर प्रशास्ता द्वारा सशेष सोमका भक्षण एक बार, ब्राह्मणाच्छंसि चमसस्थ सोम के भक्षणके लिए उसीसे आज्ञा लेकर तथा अध्वर्युसे पूछकर वषट्कारके निमित्त एक बार, होता व अध्वर्युसे आज्ञा लेकर अपने चमसस्थ सोमके सशेषका भक्षण ब्राह्मणाच्छंसी द्वारा एक बार, पोता-अध्वर्युसे सहमति लेकर पोतृचमसस्थ सोमका सशेष भक्षण होता द्वारा एक बार, पोता-अध्वर्युसे सहमति लेकर पोतृचमसस्थ सोमके सशेष भक्षणका होता द्वारा एक बार, पोता अध्वर्यु और होतासे पूछकर, होता नेष्टा और अध्वर्युकी आज्ञा लेकर, नेष्टा होता और अध्वर्युकी स्वीकृति लेकर, आग्नीध्रचमसस्थ सोमके भक्षणके लिए आग्नीध्र और अध्वर्युकी आज्ञा लेकर होता, अपने चमसस्थ सोमके भक्षणके लिए होता और अध्वर्युसे पूछकर आग्नीध्र, और अन्तमें अध्वर्युसे पूछकर होता एक बार सोमका भक्षण करता है।[१]

भारद्वाजके अनुसार चमसी लोग अपने अपने चमसोंसे सोम ग्रहण करते हैं और मध्यत:कारी (ब्रह्मा, होता, उद्गाता और यजमान) अपने अपने चमसोंसे मन्त्रके[२] द्वारा सोम ग्रहण करते हैं। अन्य होत्रक लोगोंके द्वारा सोम पीये जानेके

---

१. काश्रौसू० (पृष्ठसं० ३५५)।

२. वसुमरुद्गणस्य सोम देव ते (तैसं० ३.२.५.२)।

साथ यह मन्त्र पढ़ा जाता है । होता सभी चमसोंसे सोम पीता है । जिन चमसोंमें सोम मिलाया गया होता है उनके निमित्त अध्वर्यु मन्त्र[१] पढ़ता है । इस अवसरपर अध्वर्यु वषट्कार करनेवालेके सामने होकर सोम पीता है । सोम पी चुकनेपर अध्वर्यु मन्त्रके[२] साथ चमसोंमें सोम भरता है ।[३] ऐब्रा० (७.५.३३) के अनुसार इस अवसरपर मन्त्रके[४] द्वारा चमसोंको आशीर्वाद दिया जाता है ।[५]

गात्र-स्पर्श

कात्यायनके अनुसार सोमपानके अनन्तर मन्त्र[६] के द्वारा सोमपान करने वाले अपने शरीरका सिरसे लेकर पैरतक स्पर्श करते हैं ।[७]

इसके पश्चात् चमसाध्वर्यु लोग चमसोंको दक्षिण हविर्द्धानके घेरेके पीछे पृथिवीपर पूर्वकी ओर मुख करके रख देते हैं ।[८]

अच्छावाकचमसप्रचार

अच्छावाक अपनी धिष्ण्याके सम्मुख सदस्से बाहर बैठता है[९] तथा अध्वर्यु पुरोडाशखण्ड लेकर 'समुपहूताः स्म' का उच्चारण करके होताके आगे जा खड़ा होता है ।[१०] तब अध्वर्यु अच्छावाकको 'आच्छावाक वदस्व यत्ते वाद्यम्' यह प्रैष करता हुआ पुरोडाशखण्ड देता है ।[११] जब अच्छावाक 'उपो अस्मान् ब्राह्मणान्

---

१. मन्द्राभिभूतिः (तैसं० ३.२.५.१-२)।

२. भारश्रौसू० (१३.२७.१७-२३)।

३. आप्यायस्व समेतु (तैसं० ३.२.५.३, ऋसं० १.९१.१६)।

४. सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः। आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व (ऋसं० १.९१.१८)।

५. ऐब्रा० (७.५.३३)।

६. "हिन्व मे गात्राणि हरिवः शिवो मे सप्त ऋषीनुपतिष्ठस्वोर्ध्वं मे नाभेः सीद मा मे वाङ्नाभिमति गा" इति।

७. काश्रौसू० (९.१२.४)।

८. काश्रौसू० (९.१२.७)।

९. भारश्रौसू० (१३.२८.१)।

१०. काश्रौसू० (९.१२.९)।

११. भारश्रौसू० (१३.२८.२, काश्रौसू० ९.१२.१०, ऐब्रा० ६.३.१४)।

ब्राह्मणा ह्वयध्वम्' मन्त्र पढ़ लेता है, तब अध्वर्यु होतासे कहता है कि 'यह अच्छावाक आपकी सहमति चाहते हैं, होता जी ! क्या आप सहमत हैं ?[१] जब अच्छावाकको होता अपनी सहमति दे देता है तो अध्वर्यु अच्छावाकको प्रैष उन्नीयमानायानुब्रूहि करता है । तब अच्छावाक मन्त्रका[२] पाठ करता है । अब अच्छावाकके भरे चमसको लेकर अध्वर्यु आग्नीध्रको घोषणा करनेके लिए कहता है और जब आग्नीध्र द्वारा घोषणा हो जाती है, तब अध्वर्यु अच्छावाकको याज्याका[३] पाठ करनेके लिए कहता है ।[४]

भारद्वाजके अनुसार अध्वर्यु वषट्कारपर आहुति देता है । अच्छावाकको सोम पीनेके लिए चमस देता है । इस समय अच्छावाक सोम पीनेके लिए किसीकी सम्मति नहीं मांगता । अच्छावाक द्वारा सोम पीये जा चुकनेपर उसका चमस नेष्टा और आग्नीध्रके चमसोंके बीचमें ला रक्खा जाता है ।[५]

इडाभक्षण

इसके पश्चात् ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, मैत्रावरुण और आग्नीध्र इडाका भक्षण करते हैं । यजमानपत्नी पत्नीशालाके बीचमें ही बैठकर इडा तथा स्मार्त अग्निमें पका हुआ हविष्यका भोजन करती है । यजमान इडाका भक्षण तो नहीं करते किन्तु सवनीय शेषका भक्षण अवश्य करते हैं ।[६]

उक्त कृत्योंसे स्पष्ट होता है कि अच्छावाक बिना सम्मति लिए ही सोमपानका अधिकार प्राप्त करता है । किन्तु यहाँ यह जान लेना चाहिये कि केवल सोमपान करना ही अच्छावाकका कार्य नहीं होता, वह ऋचाओंका पाठ भी करता

---

१. भारश्रौसू० (१३.२८.३, भारश्रौसू० ९.१२.११)।

२. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर। अरंगमाय जग्मयेऽपश्चाद्दध्वने नरे। एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम्। अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः। यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ। वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत् तंतमिदेषते। अस्माअस्मा इदन्धसो ऽध्वर्यो प्र भरा सुतम्। कुवित् समस्य जेन्यस्य शर्धतो ऽभिशस्तेरवस्परत् (ऋसं० ६.४२.१-४)।

३. प्रातर्यावभिरा गतं देवेभिर्जेन्यावसू। इन्द्राग्नी सोमपीतये (ऋसं० ८.३८.७)।

४. भारश्रौसू० (१३.२८.६ गोब्रा० २.२-२०)।

५. भारश्रौसू (१३.२८.७-१२)।

६. काश्रौसू (९.१२.१६-१७)।

है बल्कि इस कार्यके लिए योग्य भी होता है। ऐब्रा० (६.२.३६) ने स्पष्टतः अच्छावाककी योग्यता बताते हुए कहा है कि जो ब्राह्मण बहुत ऋचाएँ जानने वाला हो और वीर्यवान् हो उसीको अच्छावाकका कार्य सौंपना चाहिये।

ऋतुग्रहप्रचार

ऋतुदेवतावाले ग्रहों को ऋतुग्रह कहा जाता है। यद्यपि ये दो ही पात्र होते हैं, तथापि अध्वर्यु द्वारा छह बार और प्रतिप्रस्थाता द्वारा छह बार ग्रहण किये जानेसे ऋतुग्रहोंको 'द्वादशग्रह' भी कहा जाता है। वर्षमें बारह महीने होते हैं, इसीलिए इनको बारह बार (छह-छह करके) ग्रहण किया जाता है। किन्तु जैसे अधिकमास तेरहवाँ होता है, इसी तरह विकल्पके रूपमें तेरहवाँ ऋतुग्रह भी ग्रहण किया जाता है।[१]

इस कृत्यके अन्तर्गत न तो अनुवाक ही पढ़ा जाता है और न अनुवषट्कारकी ही आवश्यकता होती है।[२] जिन दो ऋतुग्रहोंको बारह बार ग्रहण किया जाता है, उनमें प्रथम और अन्तिमके दोनों ग्रहोंको एक साथ लिया जाता है।[३]

ये ऋतुग्रह द्रोणकलशसे ग्रहण किये जाते हैं।[४] भारश्रौसू० (१३.२९.२) के अनुसार अध्वर्यु दक्षिणी ऋतुग्रह लेता है और प्रतिप्रस्थाता उत्तरी ऋतुग्रह लेता है।

ऋतुयाग[५]

अध्वर्युके द्वारा प्रेषित मैत्रावरुण प्रैषसूक्तगत मन्त्रोंके द्वारा होता आदिको प्रैष करता है, तब उससे प्रेषित होता आदि (छह ऋत्विज्) 'ऋतुना सोम' मन्त्रसे छह आहुति देते हैं, पुनः इसी प्रकार मैत्रावरुण द्वारा किये गए प्रैषसे प्रेषित होता आदि चार ऋत्विज् 'ऋतुभिः सोमम्' मन्त्रसे चार आहुति तथा तीसरी बार इसी प्रकार दो ऋत्विज और यजमान अर्थात् अध्वर्यु और यजमान' ऋतुना सोम' इस मन्त्रसे दो

---

१. वैदिककोश (पृष्ठसं० ४०८)। चौदहवें ग्रहका भी उल्लेख प्राप्त होता है (सत्याषाढश्रौसू० ८८ पर गोपीनाथका भाष्य)।

२. शब्रा० (४.३.१८, ऐब्रा० २.४.२९) के अनुसार यदि अनुवषट्कार किया जायेगा तो वह यजमान (रोग दारिद्र्य आदि अस्वास्थ्यकर) विषमता को प्राप्त हो जायेगा।

३. काश्रौसू० (९.१३.५-६, भारश्रौसू० १३.२९.३ वैदिक कोश, पृष्ठसं० ४०८)।

४. शब्रा० (४.३.१६)।

५. मधुमाधवादय ऋतुदेवा यत्रेज्यन्ते त एत ऋतुयाजाः(ऐब्रा० २.४.२९ पर सायण भाष्य)।

आहुति देते हैं ।[१] खरपर रक्खे बिना ही ग्रहोंकी आहुति दी जाती है ।[२] आहुतिके लिए प्रत्येक बार ग्रहोंमें नया सोम भरा जाता है, जिनमें पहली आहुतिका अवशेष विद्यमान होता है ।[३]

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि द्वादश ग्रहोंमें पहला और अन्तिम ग्रह अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता एक साथ ग्रहण करते हैं । अब बीचमें जो ग्रह रह जाते हैं, उन्हें व्यत्याससे लिया जाता है अर्थात् जब अध्वर्यु ग्रह ग्रहण करके हवन करता है, तब प्रतिप्रस्थाता ग्रह ग्रहण करता है और जब प्रतिप्रस्थाता हवन करता है तब अध्वर्यु ग्रह ग्रहण करता है । अध्वर्यु जब अपने ग्रहको लेकर मण्डपसे बाहर आता है तब प्रतिप्रस्थाता हवन करके भीतर जाता है और जब प्रतिप्रस्थाता ग्रह लेकर मण्डपसे बाहर आता है तब अध्वर्यु भीतर जाता है, इस प्रकार इन दोनोंका द्वारपर ही मिलन होता है । यहाँ द्वादशग्रह बिना शेष छोड़े हवन किये जाते हैं अथवा सभी ग्रहोंका शेष छोड़कर हवन किया जाता है ।[४]

भारद्वाजके अनुसार प्रतिप्रस्थाता अपने ग्रहसे उस समय अध्वर्युको ढक लेता है, जब वह पश्चिमकी ओर जाता है और रिक्त ग्रहसे उस समय ढकता है जब वह पूर्वकी ओर जाता है ।[५]

इसके पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता अपने ग्रहोंको मन्त्रपूर्वक[६] उठाते

---

१. भारश्रौसू० (१३.२९.२, ऐब्रा० २.४.२९ पर सायणका भाष्य, तैसं० ६.५.३.२, आपश्रौसू० १२.२६.१७-१९)।

२. भारश्रौसू० (१३.३०.२)।

३. भारश्रौसू० (१३.३०.१)।

४. वैदिक कोश (पृष्ठसं० ४०८, तैसं० १.४.१४ पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० ५६६)।

५. भारश्रौसू० (१३.२९.१२)।

६. उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा मन्त्रसे अध्वर्यु और उपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वा मन्त्रसे प्रतिप्रस्थाता, उपयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वा मन्त्रसे अध्वर्यु और उपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वा मन्त्रसे प्रतिप्रस्थाता, उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वा मन्त्रसे अध्वर्यु और उपयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वा मन्त्रसे प्रतिप्रस्थाता, उपयामगृहीतोऽसीषे त्वा मन्त्रसे अध्वर्यु और उपयायगृहीतोऽसि ऊर्जे त्वा मन्त्रसे प्रतिप्रस्थाता, उपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वा मन्त्रसे अध्वर्यु और उपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वा मन्त्रसे प्रतिप्रस्थाता, उपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वा मन्त्रसे अध्वर्यु और उपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वा मन्त्रसे प्रतिप्रस्थाता ग्रह उठाता है । ये सभी ऋचाएँ वासं० (७.३०) तथा तैसं० (१.४.१४) में उल्लिखित हैं ।

हैं।[१] इस अवसरपर कहा गया है कि यदि तेरहवाँ ग्रह लेना हो तो मन्त्रसे[२] प्रतिप्रस्थाताको अध्वर्युके पात्रमें बचा खुचा छोड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहिए अथवा यह कृत्य अध्वर्यु ही करे, अर्थात् अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाताके पात्रमें बचा-खुचा छोड़ दे।[३] भारद्वाजने भिन्न मन्त्रका[४] उल्लेख किया है।[५]

भारद्वाजने आहुति देनेके सम्बन्धमें विधान किया है कि यदि तेरह ग्रह लिये जाते हैं तो प्रथम दोकी आहुति एक साथ दी जाय और यदि चौदह ग्रह लिये जाय तो प्रथम दो और अन्तिम दोकी आहुति एक साथ दी जाय।[६]

आपश्रौसू० (१२.२७.१) ने बारह, तेरह और चौदह ग्रहोंका उल्लेख किया है, अर्थात् विकल्पके रूपमें बारह ग्रह भी लिये जा सकते हैं, तेरह भी और चौदह भी।

सोमपान

अब सोमपान किया जाता है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता याज्या पढ़ने वाले ऋत्विजोंके सामने मन्त्रके[७] साथ सोमपान करते हैं। इस अवसरपर कहा गया है कि अध्वर्यु होताके सामने, प्रतिप्रस्थाता पोताके सामने, अध्वर्यु नेष्टाके सामने, प्रतिप्रस्थाता आग्नीध्रके सामने, अध्वर्यु ब्रह्माके सामने, प्रतिप्रस्थाता मैत्रावरुणके सामने, अध्वर्यु होताके सामने, प्रतिप्रस्थाता पोताके सामने, अध्वर्यु नेष्टाके सामने, प्रतिप्रस्थाता अच्छावाकके सामने, अध्वर्यु होताके सामने, और प्रतिप्रस्थाता भी होताके सामने बैठकर सोमपान करता है।[८] तात्पर्य यह है कि अध्वर्यु होता, नेष्टा और पोताके सामने और प्रतिप्रस्थाता पोता, आग्नीध्र, मैत्रावरुण, अच्छावाक और होताके सम्मुख बैठकर सोमपान करता है।

---

१. शब्रा० (४.३.१.१४-१९, भारश्रौसू० १३.२९.४, १३, काश्रौसू० ९.१३.२, आपश्रौसू० १२.२६८-११)।
२. उपयामगृहीतोऽसि अंहसस्पतये त्वा (वासं० ७.३०)।
३. शब्रा० (४.३.१.२०)।
४. उपयामगृहीतोऽसि संसर्पो सयंहस्पत्याय त्वा (तैसं० १.४.१४)।
५. भारश्रौसू० (१३.२९.१५)।
६. भारश्रौसू० (१३.२९.१७-१८)।
७. मन्द्राभिभूतिः (तैसं० ३.२.५.१)।
८. भारश्रौसू० (१३.३०.११)।

ऐन्द्राग्नग्रहग्रहण

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाताके द्वारा सोमपान किये जानेके पश्चात् ग्रहोंको वहीं नीचे रख दिया जाता है और उसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलशसे या पूतभृत् से परिप्लवाके द्वारा मन्त्रसे[१] ऐन्द्राग्नग्रह भरता है ।[२] कतिपय ग्रन्थोंमें उल्लेख है कि प्रतिप्रस्थाता उस पात्रसे ग्रह भरे जिसमेंसे सोम नहीं पिया गया हो ।[३] भट्टभास्करने ऋतुग्रहोंके द्वारा ही ऐन्द्राग्नग्रह भरनेका उल्लेख किया है ।[४] अब मन्त्रसे[५] ग्रह रख दिया जाता है ।[६]

याज्या

इस अवसरपर होता ऐन्द्राग्नग्रहके लिए याज्या[७] पाठ करता है ।[८]

शस्त्रवाचन

अग्निष्टोममें बारह स्तोत्र[९] और बारह ही शस्त्र होते हैं, जिनका पाठ किया जाता है । स्तोत्र स्वरके साथ गाया जाता है और शस्त्रका वाचन मात्र होता है । स्तोत्रका पाठ पहले और शस्त्रका वाचन उसके बाद किया जाता है ।

अग्निष्टोममें आज्यशस्त्र पहला और अग्निमारुतशस्त्र सबसे अन्तिम में है । प्रात:सवनके अन्तर्गत होताके द्वारा आज्यशस्त्रका, प्रउग शस्त्रका तथा होत्रकों द्वारा अन्य तीन आज्य शस्त्रों का पाठ किया जाता है ।[१०]

---

१. इन्द्राग्नी आगतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतो सीन्द्राग्निभ्यां त्वा गृह्णामि । एष ते योनिरिन्द्राय त्वा सादयामि (वासं० ७.३१, ऋसं० ३.१२.१)।

२. काश्रौसू० (९.१३.२१, ऐब्रा० २.५.२७, भारश्रौसू० १३.३१.१, आपश्रौसू० १२.२७८)।

३. शब्रा० (४.३.१.२१, आपश्रौसू० १२.२७८)।

४. भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठसं० ५६७)।

५. एष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा (तैसं० १.४.१५)।

६. भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठसं० ५६७)।

७. अग्नि इन्द्रश्च इति (ऋसं० ३.२५.४)

८. ऐब्रा० (२.५.३७)।

९. स्तोत्रं च उद्गातृपुरुषैस्त्रिभिः क्रियमाणः सामगानविशेषः (काश्रौसू० पृष्ठसं ३६१)।

१०. धर्मशास्त्रका इतिहास (पृष्ठसं० ५५३-५५४)।

शस्त्रवाचनके प्रकार

अग्निष्टोम कृत्यमें आज्यशस्त्र वाचनके छह या सात प्रकार है—१. मौन रूपसे जप, २. आहाव एवं प्रतिगर, ३. तूष्णीशंस, ४. निविद् या पुरोरुक्, ५. सूक्त, ६. उक्थंवाचि शब्दोंका जप एवं याज्या।[१] आश्वलायनके अतिरिक्त अन्य सूत्रकारोंने तूष्णीशंसका उल्लेख नहीं किया है।[२]

शस्त्रवाचनमें सूर्यकी गतिका अनुसरण

शस्त्रवाचनके सम्बन्धमें कहा गया है कि शस्त्रोंके पढ़नेमें सूर्यकी चालका अनुसरण किया जाना चाहिए। प्रात: कालके समय क्योंकि सूर्य धीरे-धीरे तपता है, इसीलिए प्रात:सवनमें शस्त्रोंका पाठ धीरे-धीरे किया जाता है,[३] किन्तु मध्याह्न सवनमें शस्त्रका पाठ तेज गतिसे और तृतीयसवनमें शस्त्रोंका पाठ बहुत तेजीसे किया जाता है क्योंकि सायंकालके समय सूर्यकी गति बहुत तेज होती है और बहुत शीघ्रतासे वह अस्त हो जाता है।

शस्त्रका प्रारम्भ

सर्वप्रथम होता 'शोंसावोम्' कहता है, तब अध्वर्यु 'शंसामोदैवोम्' कहता है। अन्तमें प्रात:सवनकी समाप्तिपर होता 'उक्थं वाचि' कहता है तब अध्वर्यु ओमुक्थशः कहता है।[४]

भारश्रौसू० (१३.३१.५-१५) में कहा गया है कि आगेको अपने घुटने उठाकर बैठे हुए अध्वर्युको होता शस्त्र पढ़नेके लिए कहताहै। तब अध्वर्यु दाहिने घूमकर 'शोंसा मोद इव' कहता है। होता द्वारा आधी ऋचा कहे जाने पर अध्वर्यु 'ओथामोद इव' कहता है। जब होता प्रणव कहता है तो अध्वर्यु 'ओम् ओथामोद इव' कहता है। इसके पश्चात् होता द्वारा एक मन्त्र समाप्त किये जानेपर अध्वर्यु उसे 'ओम् ओथामोद इव' कहता है। इसके उपरान्त होता द्वारा व्याहाव कहनेपर वह दोनों वाक्योंको कहता है—'शोंसामोद इव ओथामोद इव।' अब परिधानीय[५]

---

१. आश्वश्रौसू० (५.१०.२१)।

२. धर्मशास्त्रका इतिहास (पृष्ठसं० ५५३)।

३. ऐब्रा० (३.४.४४)।

४. ऐब्रा० (३.२.१२, गोब्रा० २.३.१०-११)।

५. शोंसावोम् नू नो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमद्वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं

मन्त्रके अन्तमें कहे जाने वाले प्रणवके साथ वह भी प्रणव कहता है, इसके पश्चात् आज्य शस्त्रका प्रारम्भ किया जाता है।

यज्ञतत्वप्रकाशके अनुसार शस्त्रके प्रारम्भमें होता द्वारा 'अध्वर्यो शोंसावोऽम्' कहे जाने पर अध्वर्यु 'शोंसामोद इव' इस प्रकार प्रतिगर कहता है। ऋचाके अन्तमें जब होता जोरसे प्रणवका उच्चारण करता है तब अध्वर्यु 'ओम् मोऽथामोद इव' यह प्रतिगर करता है। होताके द्वारा आधी ऋचा पढ़ी जाने पर अध्वर्यु 'ओथामोद इव' इस प्रकार प्रतिगर करता है। अब इसके पश्चात् शस्त्रका पाठ किया जाता है।[१]

आज्यशस्त्र

प्रातःसवनमें ऐन्द्राग्नग्रह ग्रहण के पश्चात् आज्यशस्त्रका[२] सर्वप्रथम पाठ किया जाता है।[३]

ऐब्रा० (२.५.३७) में कहा गया है कि जब होता बहिष्पवमानस्तोत्रके पश्चात् क्रमशः आज्यशस्त्र और प्रउगशस्त्रका पाठ करता है तो वह मानों देवोंसे रथकी आभ्यन्तर बागडोर को व्यामोहराहित्यके लिए संभाल लेता है (जैसे रश्मियोंके बिना घोड़े इधर-उधर जहाँ कहीं भी रथको ले चलते हैं, वैसा न हो, अतः होता बहिष्पवमानके पश्चात् आज्यस्तोत्रका व उसके पश्चात् प्रउगशस्त्रका पाठ करता है।)

वर्षिष्ठमनुपक्षितोऽम् (ऋसं० ३.१३.७)। श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३२३) के अनुसार उक्त ऋचा परिधानिया है, जिसके पाठके पश्चात् आज्यशस्त्र समाप्त हो जाता है।

१. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ७३)।

२. ऐब्रा० (२.५.४०) के अनुसार निम्नांकित सात मन्त्र आज्यशस्त्रके अन्तर्गत आते हैं—प्र वो देवायाग्नये बर्हिष्ठमर्चास्मै। गमद् देवेभिरा स नो यजिष्ठो बर्हिरा सदत्॥ १॥ ऋतावा यस्य रोदसी दक्षं सचन्त ऊतयः। हविष्मन्तस्तमीळते तं सनिष्यन्तोऽवसे॥ स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः। अग्निं तं वो दुवस्यत दाता यो वनिता मघम्॥ ३॥ स नः शर्माणि वीतये अग्निर्यच्छतु शन्तमा। यतो नः प्रुष्णवद् वसु दिवि क्षितिभ्यो अप्स्वा॥ ४॥ दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः। ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम्॥ ५॥ उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः। शं नः शोचा मरुद् वृधोऽग्ने सहस्रसातमः॥ ६॥ नू नो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमद् वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्॥ ७॥ (ऋसं० ३.१३.१-७)।

३. ऐब्रा० (२.५.४०)।

आज्यशस्त्रकी प्रथम व अन्तिम ऋचाका तीन बार पाठ

सात अनुष्टुप् ऋचाएँ (आज्यशस्त्रमें) हैं। उनमेंसे प्रथम तथा अन्तिम ऋचाका तीन बार पाठ किया जाता है, जिससे ग्यारह ऋचाएँ हो जाती हैं।[१]

आज्यशस्त्रपाठमें क्रम

आज्यशस्त्रपाठमें सर्वप्रथम जप[२] किया जाता है।[३] जपसे भी पहले पाँच अक्षरोंके समूह (अक्षरपंक्ति)[४] का भी पाठ किया जाता है, जिसका उल्लेख प्राप्त होता है।[५] जपके सम्बन्धमें कहा गया है कि जप उपांशु किया जाय (जिसमें मात्र ओष्ठका तो स्पन्दन हो किन्तु स्वर न सुनाई पड़े)। यह जप आहावके पूर्व किया जाता है क्योंकि आहावसे पीछे जो कुछ भी पाठ किया जाता है, वह शस्त्रसे सम्बन्धित हो जाता है।[६]

जप के पश्चात् आहाव[७] किया जाता है। होता उस समय अध्वर्युको सम्बोधित करके आहाव बोलता है जब वह होतासे परांगमुख होकर (चौपाए पशुके समान दोनों हाथोंको भूमिमें रखकर) चतुष्पदासीन होता है।[८]

---

१. ऐब्रा० (२.५.३७ पर सायणभाष्य)।

२. अध्वर्युराह्वयते येन 'शोंसावोम्' इति मन्त्रेण तस्मात् पूर्वभावी होतृजपः (ऐब्रा० २.५.३८ पर सायणभाष्य)।

३. ऐब्रा० (२.५.३८)।

४. 'सु' इत्येकमक्षरम्, मदिति द्वितीयमक्षरम् पदिति तृतीयमक्षरम्, वगिति चतुर्थमक्षरम् दे इति पञ्चममक्षरम्। तान्येतान्यक्षराणि होतृजपादौ प्रयोक्तव्यानि (ऐब्रा० २.३.२४ पर सायणभाष्य)। आदौ 'सुमत्पद्वग्दे' इति पञ्चाक्षराणि पठितव्यानि (ऐब्रा २.५.३८ पर सायणभाष्य)

५. ऐब्रा० (२.५.३८)।

६. ऐब्रा० (२.५.३८)।

७. शोंसावोम् इत्यनेन मन्त्रेण शंसनकाले होताऽध्वर्युमाह्वयति सोऽयमाहावः (ऐब्रा० २.५.३३ पर सायणभाष्य, शांखायन ब्राह्मण १४,३, आश्वश्रौसू० ५.९.१)।

८. ऐब्रा० (२.५.३८)।

आहावके पश्चात् अब अध्वर्यु दो पैरोंपर सम्मुख खड़ा हो जाता है, खड़े होकर अब मन्त्रका[१] पाठ करता है ।[२]

अब तूष्णीशंसका[३] पाठ किया जाता है ।[४] इस अवसरपर कहा गया है कि जो कोई यजमानकी जड़ खोदना चाहे वह तूष्णीशंस न पढ़े, अत: ऋत्विजोंके लाभके लिए तूष्णीशंसका पाठ अवश्य करे ।[५] तूष्णीशंस हो जानेके पश्चात् होताकी निन्दा अथवा होताको शाप नहीं देना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे हानि हो जाती है ।[६] तूष्णीशंसके पाठके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह छह पदोंके अवसानपर किया जाना चाहिए तथा इसका पाठ उपांशु करना चाहिये । शोंसावोम् इस मन्त्रसे अध्वर्युको बुलाकार होता तूष्णीशंसका पाठ करता है ।[७]

तूष्णीशंसके पश्चात् होता बारह पदों वाले निविद्[८] का पाठ करता है, जिसे पुरोरुक् कहा जाता है । निविद् का पाठ उच्चस्वरसे किया जाता है ।[९] अब होता ऋचा[१०] कहता है ।[११]

---

१. पिता मातरिश्वा च्छिद्रापदाधादछिद्रोक्था कवयः शंसन् । सोमो विश्वसंशिषद् वागायुर्विश्वायुर्विश्वमायुः क इदं शंसिष्यति स इदं शंसिष्यति वित्रीथानिनेषद्बृहस्पतिरुक्थामदानि (आश्वश्रौसू० ५.९.१) ।

२. ऐब्रा० (२.५.३८) ।

३. शोंसावो३म् भूरग्निर्ज्योतिरग्नो३म् । इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्रो३म् । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्यो३म् इति ॥ प्रातःसवनकालीन आज्य और प्रउग शस्त्रकी, मध्यसवनकालीन निष्केवल्य और मरुत्वतीयशस्त्रकी तथा तृतीयसवनकालीन वैश्वदेव और अग्निमारुतशस्त्रकी समाप्ति उक्त तूष्णीशंसके द्वारा ही की जाती है। द्रष्टव्य–(ऐब्रा० २.५.३३) ।

४. आश्वश्रौसू० (५.९.११) ।

५. ऐब्रा० (२.४.३२) ।

६. ऐब्रा० (२.४.३१ पर सायण भाष्य) ।

७. ऐब्रा० (२.५.३९) ।

८. अग्निर्देवेद्धः । अग्निर्मन्विद्धः । अग्निः सुषमित् । होता देववृतः ॥ होता मनुवृतः । प्रणीर्यज्ञानाम् । रथीरध्वराणाम् । अतूर्तो होता । तूर्णिर्हव्यवाट् । ओ देवो देवान् वक्षत् । यज्ञदग्निर्देवो देवान् । सो अध्वरा करति जातवेदो३म् (खिलम्, ५.५.१) ।

९. ऐब्रा० (२.५.३९) ।

१०. प्रातर्वाव वयमद्येमं शस्ते तूष्णींशंसे संस्थापयाम इति ।

११. ऐब्रा० (२.४.३१) ।

निविद् के पश्चात् 'प्र वो' (ऋसं० ३.१३) इत्यादि सूक्तका पाठ करता है। सूक्तके पाठके सम्बन्धमें कहा गया है कि प्रथम दो पदोंके मध्य विच्छेद करके और अन्तिम दो पदोंको मिलाकर सूक्त पढ़ा जाना चाहिये। ऐब्रा० का कहना है कि जो सूक्तका इस प्रकार पाठ करता है, उसके यज्ञमें वह (पुत्र-पौत्रादि) प्रजा और (गौ आदि) पशुओं से बढ़ता है।[१]

आज्यशस्त्रके तीन भाग

ऐब्रा० (२.५.३३) ने आज्यशस्त्रके तीन भाग किये हैं—आहाव, निविद्[२] और सूक्त।[३] इस अवसरपर कहा गया है कि यदि होता यजमानको क्षत्रिय जातिसे विमुक्त करना चाहे तो वह निविद् के मध्य सूक्तका शंसन करे, यदि यजमानको वैश्य जातिसे विमुक्त करना चाहे तो सूक्तके मध्य निविद् को कहे और यदि होता यह चाहे कि यजमान जिस जाति का है, उसी जातिमें रहे तो उसे प्रथम (शोंसावोम्) आदि आहाव, फिर (अग्निर्देवेद्ध आदि) निविद् और अन्तमें (प्र वो देवाय आदि) सूक्त का शंसन करना चाहिए।[४]

आज्यशस्त्रके सम्बन्धमें ब्रह्मवादियोंके विचार

आज्यशस्त्रके सम्बन्धमें ब्रह्मवादियोंने प्रश्न उठाया है कि सामगान करने वालोंका जैसा स्तोत्र होता है, वैसा ही (बह्वृचोंका) शस्त्र होता है। पवमान देवताक ऋचाओंमें (बहिष्पवमान नामक स्तोत्रके द्वारा) साम गान करने वाले स्तुति करते हैं, जबकि (बह्वृच) होता अग्निदेवताक ऋचाओंसे शंसन करता है तो इस होताकी पवमान देवताक ऋचाएँ कैसे उसके अनुकूल होती हैं? इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है कि वस्तुतः जो अग्नि है वह पवमान है, (अतः दोनों देवतामें परस्पर प्रीतिके

---

१. ऐब्रा० (२.५.३५)।

२. अग्निर्देवेद्ध इत्यादिभिर्द्वादशभिर्वक्ष्यमाणैः पदैः युक्ता तत्समूहरूपा निवित् (ऐब्रा० २.५.३३ पर सायणभाष्य)। प्रातः सवन में निविद् शस्त्रसे पूर्व माध्यन्दिनसवनमें निविद् 'शस्त्रके मध्य, तृतीयसवनमें निवित् शस्त्रके अन्तमें पढ़ा जाता है (ऐब्रा० ३.१.१० पर सायणभाष्य)। निवित् पढ़ने वालेको दक्षिणामें एक घोड़ा भी दिया जाता है (ऐब्रा० ३.१.११)।

३. प्र वो देवायाग्नये (ऋसं० ३.१३.१-७) इत्यादिकं सप्तर्चं सूक्तम् (ऐब्रा० २.५.३३ पर सायणभाष्य)।

४. ऐब्रा० (२.५.३३)।

कारण अग्निदेवताक सूक्तको भी पवमानमें पढ़ा जा सकता है ।) अपने इस पक्षकी सिद्धिके लिए ऐब्रा० (२.५.३७) ने मन्त्र (अग्निर्ऋषि: पवमान:) को उद्धृत् भी किया है ।

वैश्वदेवग्रहप्रचार

आज्यशस्त्र हो चुकनेपर अध्वर्यु मन्त्रके[१] साथ शुक्रपात्रके द्वारा द्रोणकलशसे परिप्लवाके द्वारा सोम ग्रहण करता है जो विश्वेदेवोंके लिए होता है ।[२]

अब ग्रह रक्खा जाता है, जिसके लिए कहा गया है कि अध्वर्यु या तो यजमानका स्पर्श किये हुए ही विश्वेदेवोंके ग्रहको रक्खे अथवा बिना स्पर्श किये हुए ही ग्रहको रक्खे ।[३]

प्रउगोत्तर वैश्वदेवग्रहभक्षण

सरलावृत्तिके अनुसार अध्वर्यु होतासे पूछकर और होता अध्वर्युसे पूछकर तथा चमसी लोग बिना किसीसे पूछे ही सोमका भक्षण करते हैं ।[४]

द्रोणकलश और पवित्रका अपने स्थानपर आसादन

द्रोणकलशस्थ सम्पूर्ण सोमको पूतभृत्में डालकर पवित्रके सहित द्रोणकलशको उचित स्थानपर रख दिया जाता है ।[५]

---

१. ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासऽ आगत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतो सि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः (वासं० ७.३३, ऋसं० १.३७, तैसं० १.४.१६) ।

२. शब्रा० (४.३.१.२७, भारश्रौसू० १३.३२,७, काश्रौसू० ९.१४.१, आपश्रौसू० १२.२८.४) । जो पात्र शुक्रग्रहका होता है, उसी पात्रसे वैश्वदेवग्रह ग्रहण किया जाता है (तैसं० १.४.१६ पर सायणभाष्य) ।

३. काश्रौसू० (९.१४.१) ।

४. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३६३) ।

५. काश्रौसू (९.१४.२) ।

सवनीय हविर्निर्वाप

उपर्युक्त सभी कृत्य सम्पन्न होनेपर आग्नीध्र माध्यन्दिन सवनके लिए पहले की ही तरह पशु-पुरोडाश सवनीय हविका निर्वाप करता है। इस अवसरपर अग्निके लिए आठ कपालोंपर पुरोडाश पकाया जाता है।[१]

आज्य स्तोत्रके लिए उद्गाताओंके प्रति अध्वर्युका प्रैष कथन

दर्भके दो तृणोंसे वैश्वदेवग्रहको छूते हुए 'उपावर्तध्वम्' इस मन्त्रसे प्रस्तोताको दोनों तृण देते हुए स्तोत्र प्रारम्भ करनेकी आज्ञा प्रदान की जाती है।[२]

प्रथम आज्यस्तोत्र

अब प्रथम आज्यस्तोत्रका पाठ किया जाता है।[३] स्तोत्र प्रारम्भ होनेसे पूर्व ब्रह्मा ऋचाका जप[४] करके स्तोमभागका[५] जप करता है।[६]

प्रउगशस्त्र

प्रउग नामक शस्त्र ग्रहोंकी स्तुति है, जिसके द्वारा खाने योग्य अन्नकी प्राप्ति होती है।[७] इसीलिए वायुके ग्रहकी स्तुतिके लिए वायु-देवताक तृचका,[८] इन्द्रवायुके ग्रहकी स्तुतिके लिए इन्द्र-वायु देवताक तृचका,[९] मित्र और वरुणके ग्रहकी स्तुतिके

---

१. काश्रौसू (९.१४.३)।

२. काश्रौसू० (९.१४.४)। देवयाज्ञिकके अनुसार यह कृत्य सदस् में प्रवेश करके किया जाता है (पृष्ठसं० ३४०)।

३. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३२८-३३२)।

४. देव सवितरेतत् ते प्राह तत् प्र च सुव प्र च यज बृहस्पतिर्ब्रह्मायुष्मत्या ऋचो मा गात तनूपात् साम्नः सत्या व आशिषः सन्तु सत्या आकूतय ऋतं च सत्यं च वदत स्तुत देवस्य सवितुः प्रसवे (तैसं० ३.२.७)।

५. प्रेतिरसि धर्माय त्वा धर्मं जिन्व (तैसं० ४.४.१, गोब्रा० २.२.१३)।

६. श्रौतकोशः (पृष्ठसं० ३३१)।

७. ऐब्रा० (३.१.१)।

८. वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। सुतसोमा अहर्विदः॥ वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे। उरूची सोमपीतये (ऋसं० १.२.१-३)।

९. इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि॥ वायविन्द्रश्च चेतथः

लिए मित्र और वरुण देवताक तृचका,[१] अश्विनोंके ग्रहकी स्तुतिके लिए अश्विनी देवताक तृचका,[२] शुक्र और मन्थी ग्रहकी स्तुतिके लिए इन्द्र देवताक तृचका,[३] आग्रयणग्रहकी स्तुतिके लिए विश्वेदेव देवताक तृचका,[४] सभी ग्रहोंकी स्तुतिके लिए सरस्वती देवताक तृचका[५] शंसन करता है।[६]

होता द्वारा यजमानके इष्ट या अनिष्टका सम्पादन

ऐब्रा० (३.१.३) में प्रश्न उठाया गया है कि होता यजमानका क्या अनिष्ट अथवा इष्ट सम्पादन कर सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है कि होता चाहे तो यजमानके इसी जन्ममें जैसा चाहे वैसा कर सकता है—यदि होता चाहे कि इस यजमानको प्राणसे वियुक्त करूँ तो होता इसके वायुदेवताक तृचमें गड़बड़ी कर देता है अर्थात् एक ऋचा अथवा ऋचाके किसी पादका पाठ नहीं करता है, इसी प्रकार इन्द्र-वायु देवताक तृचके पाठमें गड़बड़ी करके यजमानको प्राण-अपानसे, मित्र-देवताक तृचके पाठमें गड़बड़ी करके यजमानको नेत्रसे, अश्विन् देवताक तृचके पाठमें गड़बड़ी करके यजमानको कानोंसे, इन्द्र देवताक तृचके पाठमें गड़बड़ी

सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत्॥ वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्। मक्षित्था धिया नरा (ऋसं० १.२.४-६)।

१. मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥ ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥ कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम् (ऋसं० १.२.७-९)।

२. अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत् पाणी शुभस्पती। पुरुभुजा चनस्यतम्॥ अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया। धिष्ण्या वनतं गिरः॥ दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः आ यातं रुद्रवर्तनी (ऋसं० १.३.१-३)।

३. इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥ इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥ इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः(ऋसं० १.३.४-६)।

४. ओमाशसश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत। दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ (ऋसं० १.३.७)।

५. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः। चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥ महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥ (ऋसं० १.३.१०-१२)।

६. ऐब्रा० (३.१.१)।

करके यजमानको वीर्यसे, विश्वेदेव तृचके पाठमें गड़बड़ी करके यजमानको अंगोंसे, सरस्वती देवताक तृचमें गड़बड़ी करके यजमानको वाणीसे वियुक्त कर देता है किन्तु यदि यजमानको सभी अंगों और सम्पूर्ण आत्मा (देह) से समृद्ध करना चाहे तो होता प्रउगशस्त्रको जैसे गुरुमुखसे सुना था, उसी प्रकार बिना किसी अवयवको छोड़े हुए यथाविधि पाठ करता है ।

याज्या का पाठ

प्रउगशस्त्रका पाठ हो चुकनेपर अध्वर्यु ग्रह उठाता है और चमसाध्वर्यु लोग नाराशंस चमस उठाते हैं तब होता द्वारा याज्याका[1] पाठ किया जाता है ।[2]

वषट्कारपर आहुति एवं अनुवषट्कार

वषट्कारके[3] साथ आहुति दी जाती है । ऐब्रा० (३.१.५) ने अनुवषट्कार[4] मन्त्रका भी उल्लेख किया है । यह अनुवषट्कार मन्त्र धिष्ण्य अग्नियोंकी तृप्तिके लिए किया जाता है, क्योंकि धिष्ण्य अग्नियोंमें न तो हवि डाली जाती है और न वषट्कार किया जाता है, केवल अनुवषट्कार मन्त्र बोला जाता है, जो धिष्ण्य अग्नियोंकी तृप्ति के लिए होता है ।[5]

वषट्कारसे सम्बन्धित अभिचार

अभिचारके सम्बन्धमें विधान किया गया है कि यदि होता यह चाहे कि यजमानको यज्ञका फल न मिले तो उसे ऋचा और वषट्कार एक ही स्वरसे पढ़ने चाहिये । यदि वह यजमानको पापी बनाना चाहे तो उसे याज्याको उच्च स्वरसे तथा वषट्कारको धीरेसे पढ़ना चाहिये । यदि होता यजमानको प्रसन्न बनाना चाहे तो उसे याज्या मन्द्र स्वरसे तथा वषट्कार उच्चस्वरसे कहना चाहिये तथा मन्त्र और

---

१. विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना । पिबा मित्रस्य धामभिः ॥ (ऋसं० १.१४.१०) ।

२. भारश्रौसू० (१३.३२.१०, आश्वश्रौसू० ५.१०.१०) ।

३. वौषडिति मन्त्रो वषट्कारः (ऐब्रा० ३.१.५ पर सायण भाष्य) ।

४. 'सोमस्याग्ने वीहि' इत्ययं मन्त्रोऽनुवषट्कारः (ऐब्रा० ३.१.५ पर सायणभाष्य, आश्वश्रौसू० ५.१३.६) ।

५. ऐब्रा० (३.१.५) ।

वषट्कार मिला देना चाहिये। वषट्कार करते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि जिस देवताके लिए आहुति दी जाय उसका ध्यान अवश्य किया जाय।[१]

वषट्कारके तीन भेद

वषट्कार तीन होते हैं—१. वज्र, २. धामच्छद, ३. रिक्त। होता जिस मन्त्रको उच्च स्वरसे बोलता है और बलपूर्वक वषट्कार करता है, वह मन्त्ररूप वषट्कार वज्र होता है, जिसका प्रयोग शत्रुके नाशके लिए किया जाता है। जो वषट्कार याज्याके तुल्य ध्वनि वाला हो, याज्या के साथ विच्छेद रहित अर्थात् संतत हो और सम्पूर्ण याज्या-पाठसे युक्त हो, वह वषट्कार धामच्छद होता है, जिसका प्रयोग प्रजा और पशुकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। जिसके उच्चारणसे वषट्कार समृद्ध्यभाव (अर्थात् नीच-उच्चारण, धीरेसे कहने) को प्राप्त होता है, वह (उच्चध्वनियोग्य वषट्कार रिक्तप्राय होने से) रिक्त कहलाता है, जिसका प्रयोग करनेसे होता स्वयं भी दरिद्र होता है और यजमानको भी दरिद्र बनाता है। अतः रिक्त वषट्कारके प्रयोगका यह कहकर निषेध किया गया है कि रिक्त वषट्कारका प्रयोग तो दूर, उसकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये।[२]

मन्त्र द्वारा अनुमन्त्रण

वषट्कार वज्र कहा गया है, जिसका प्रक्षेप यदि बिना शान्तिके किया जाता है, तो वह वषट्कार यजमानकी मृत्युमें कारण बनता है, अतः होता मन्त्रसे[३] अनुमन्त्रण करता है, जिससे यजमानकी मृत्यु नहीं होती। उक्त अनुमन्त्रणके अतिरिक्त दो अन्य मन्त्रोंका[४] उल्लेख किया गया है, जिनसे अनुमन्त्रण करने मात्रसे ही वषट्कारका क्रोध चला जाता है, जिससे यजमान अपने प्रिय धामसे समृद्ध होता हैं।[५]

---

१. ऐब्रा० (३.१७)।

२. ऐब्रा० (३.१७)।

३. वागोजः सह ओजो मति प्राणापानौ इति (आश्वश्रौसू० १.५.१७, ऐब्रा० ३.१८ पर सायणं भाष्य)।

४. वषट्कार मा मां प्रमृक्षो, माऽहं त्वां प्रमृक्षं, बृहता मन उपह्वये, व्यानेन शरीरं प्रतिष्ठाऽसि, प्रतिष्ठां गच्छ, प्रतिष्ठां मा गमय इति तथा ओजः सह ओजः इति (ऐब्रा० ३.१८)।

५. ऐब्रा० (३.१८)।

सोमपान

भारद्वाजके अनुसार अब चमसाध्वर्यु लोग अपने अपने चमस हिलाते हैं, तदुपरान्त मन्द्राभिभूति (तैसं० ३.२.५.१) कहकर चमसोंका तथा 'नराशंसपीतस्य सोम देव ते (तैसं० ३.२.५.२) कहकर नाराशंसचमसोंका पान किया जाता है। चमसी लोग पूरा चमस पी जाते हैं, उसको पुनः पानीसे नहीं भरा जाता, बल्कि सोम पान करनेके पश्चात् उन्हें धोकर रख दिया जाता है।[1]

प्रउग शस्त्रकी समाप्ति

जिस प्रकार आज्यशस्त्रकी समाप्ति तूष्णीशंसके पाठके द्वारा की गई थी, उसी प्रकार प्रउगशस्त्रकी समाप्ति भी उसी तूष्णीशंसके पाठसे की जाती है।

उक्थ्यग्रहप्रचार

अध्वर्युके द्वारा मार्जालीयपर चमस और ग्रह धो लेने तथा उन्हें खरपर रख दिये जाने के पश्चात् उक्थ्यग्रहसे सम्बन्धित कृत्य प्रारम्भ किया जाता है।

सर्वप्रथम अध्वर्यु उक्थ्यपात्र लेकर उसमें मन्त्रसे[2] उक्थ्यस्थालीका एक तिहाई भाग सोम डालता है। फिर चुपचाप ग्रहको उक्थ्यस्थालीके उत्तरकी ओर रख देता है, भारद्वाजने आसादनसे सम्बन्धित कृत्यका मन्त्र[3] स्पष्ट किया है।[4] इसके पश्चात् उन्नेता मैत्रावरुणचमसको पहले उत्तरवेदीके पश्चिममें स्थापित करके तब होतासे लेकर आग्नीध्र पर्यन्त सबके चमसको क्रमशः स्थापित करता है। अब अध्वर्यु तृणसे उक्थ्यपात्रस्थ सोमको छूकर सदस्में जाकर उन दर्भतृणोंको प्रस्तोताको देता हुआ 'उपावर्तध्वम्' से स्तोत्रोपाकरण क्रिया करता है।[5]

---

१. भारश्रौसू० (१३.३२.१२-१४)।

२. उपयाम गृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि (वासं० ७.२३)। मिश्रभाष्यकारने निम्नांकित मन्त्रका उल्लेख किया है—उपयामगृहीतोऽसि इन्द्राय त्वा वृहद्वतेवयस्वतऽउक्थाव्यं गृह्णामि। यत्तऽइन्द्रवृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वा (वासं० ७.२२)। कात्यायन (९.१४८) ने विकल्पमें इस मन्त्रका उल्लेख किया है—देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्कायुषे गृह्णामि (वासं० ७.२२)।

३. एष ते योनिर्मित्रावरुणाभ्याम् त्वा इति।

४. भारश्रौसू० (१३.३२.१९)।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४१)।

द्वितीय आज्य स्तोत्र

इस अवसरपर ब्रह्मा स्तोमभागका[१] पाठ करता है तथा मन्त्रके[२] द्वारा स्तोत्रका अनुमन्त्रण करता है। तब उद्गाता लोग द्वितीय आज्यस्तोत्रका पाठ करते हैं।[३]

मैत्रावरुणशस्त्र

'मैत्रावरुणशस्त्रके अन्तर्गत पहले स्तोत्रिय[४] तृचका फिर क्रमशः अनुरूप[५] तृचका, परिधानीय एवं[६] याज्या[७] का पाठ किया जाता है। स्तोत्रिय तृचका तीन बार पाठ किया जाता है।[८]

मैत्रावरुणशस्त्रके अन्तमें 'ओम्' कहकर प्रतिगर[९] किया जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु पूर्वद्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करके उक्थ्यपात्र ग्रहण करता है। चमसाध्वर्यु अपने हाथोंमें चमसोंको ग्रहण करके उत्तरवेदीके पश्चिम भागमें पूर्वकी ओर मुख करके बैठते हैं। अध्वर्यु घूमकर श्रौषट् करके मैत्रावरुणको 'उक्थ्शा यज सोमानाम्' प्रैष करता है। तब वषट्कार और अनुवषट्कारपर आहुति दे दी जाती

---

१. अन्वितिरसि दिवे त्वा दिवं जिन्व (तैसं० ४.४.१, श्रौतकोश पृष्ठसं० ३३७)।

२. अन्वितिरसि दिवे त्वां दिवं जिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत (तांब्रा० १.९.३)।

३. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३३६) पर सम्पूर्ण द्वितीय आज्यस्तोत्र उल्लिखित है।

४. शोंसावो३म् आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतो३म्। उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः। द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रतो३म्। गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधो३म् (ऋसं० ३.६२.१६-१८ गोब्रा० २.३.१३)।

५. शोंसावो३म् आ नो गन्तं रिशादसा वरुण मित्र बर्हणा। उपेमं चारुमध्वरो३म्। विश्वस्य हि प्रचेतसा वरुण मित्र राजथः। ईशाना पिप्यतं धियो३म्। उप नः सुतमा गतं वरुण मित्र दाशुषः अस्य सोमस्य पीतयो३म् (ऋसं० ५.७१.१-३)।

६. शोंसावो३म् ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह। इषं स्वश्च धीमहो३म् (ऋसं० ७.६६.९)

७. आ यातं मित्रावरुणा जुषाणावाहुतिं नरा। पातं सोममृतावृधा (ऋसं० ७.६६.१९)।

८. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३३८)।

९. होता यदा यदा शस्त्राणि पठति तदा तदा तस्य तस्य प्रोत्साहनार्थम् अध्वर्योः विशिष्टशब्दोच्चारणं प्रतिगरं इत्युच्यते (यज्ञतत्वप्रकाशः पृष्ठसं० ७३)।

है। चमसाध्वर्यु और अध्वर्युके द्वारा वषट्कार और अनुवषट्कारपर आहुति दिये जाने के पश्चात् सोमका भक्षण किया जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु ग्रहशेषको मैत्रावरुणके चमसमें उडेलकर तथा ग्रहपात्रको नीचे रखकर मैत्रावरुणचमसको लेकर सदस्में चला जाता है। चमसाध्वर्यु भी अपने समस्त चमसोंको प्रशास्ताके आगे स्थापित करते हैं।[1]

सोमभक्षण

अब अध्वर्यु प्रशास्ताके चमसमें प्रशास्ताकी आज्ञा लेकर, ग्रहहोमके निमित्त तथा प्रशास्ता अपने चमसमें अध्वर्युकी आज्ञा लेकर ग्रहचमसके वषट्कारके निमित्त भक्षण करता है। इसके पश्चात् अपने चमसको रखकर आठों होताओंके चमसोंमें होताओंकी आज्ञा लेकर वषट्कारके निमित्त भक्षण करता है। अब होता आदि प्रशास्ताकी आज्ञा लेकर अपने चमसोंमें समाख्यानिमित्त भक्षण करते हैं इसी प्रकार प्रशास्ता भी अध्वर्युसे आज्ञा लेकर अपने चमसमें समाख्या निमित्त भक्षण करता है। इसके पश्चात् चमसाध्वर्यु चमसोंको मार्जालीयपर धोकर उत्तरवेदीके पीछे ब्राह्मणाच्छंसिचमसके साथ स्थापित कर देते हैं।[2]

उक्थ्यग्रहका द्वितीय बार ग्रहण

पहली बार जब उक्थ्यग्रह ग्रहण किया गया था तो उसका कर्ता अध्वर्यु था किन्तु दूसरी और तीसरी बार जब उक्थ्य ग्रहण किया जाता है तो उसका कर्ता प्रतिप्रस्थाता होता है। सर्वप्रथम वह (प्रतिप्रस्थाता) उक्थ्यपात्र लेकर तथा उक्थ्य स्थालीको हाथमें ग्रहण करके अनहुत आधा सोम उक्थ्यग्रहमें उडेलता है, जिसके लिए मन्त्रका[3] पाठ किया जाता है। इसके पश्चात् स्थालीको चुपचाप रखकर ग्रहको पोंछता है। चुपचाप ही ग्रहको स्थाली के उत्तरकी ओर रख देता है। इस अवसर पर पूतभृत् चमसका उन्नयन किया जाता है। अब प्रतिप्रस्थाता पहले की ही तरह स्तोत्रोपाकरणके लिए दर्भके दो तृणोंसे उक्थ्यपात्रमें ग्रहण किये गए सोमको छूकर 'उपावर्तध्वम्' कहकर उन दोनों तृणोंको प्रस्तोताको दे देता है।[4]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४२)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४२)।

३. इन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि (वासं० ७.२३)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति,(पृष्ठसं० ३४२)।

तृतीय आज्यस्तोत्र

स्तोत्र प्रारम्भ होनेसे पूर्व ब्रह्मा स्तोमभागका[१] तथा उसके पश्चात् मन्त्रसे[२] स्तोत्रका अनुमन्त्रण करता है ।[३] अब उद्गाता लोग तृतीय आज्यस्तोत्रका पाठ करते हैं ।[४]

ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र

ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रका पाठ ब्राह्मणाच्छंसि करता है, जिसमें सर्वप्रथम वह स्तोत्रिय तृचका[५] तीन बार पाठ करता है, उसके पश्चात् अनुरूप तृचका[६] और फिर परिधानीयाका[७] तथा अन्तमें याज्याका[८] पाठ करता है ।[९] गोब्रा० (२.३.११४) ने उक्थमुख[१०] तथा पर्यासका[११] भी उल्लेख किया है ।

ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रके अन्तमें 'ओ३म्' से प्रतिगर करके उत्तरकी ओरसे हविर्द्धानमें आकर पूर्वकी ओरसे प्रवेश करके उक्थ्यपात्रको ग्रहण करता है। चमसाध्वर्यु भी अपने अपने चमसोंको हाथमें धारण करते हैं। इसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता घूमकर और श्रौषट् करके ब्राह्मणाच्छसिंको 'उक्थशा यज सोमानाम्'

---

१. सन्धिरस्यन्तरिक्षाय त्वान्तरिक्षं जिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत (तांब्रा० १.९.४)।

२. सन्धिरस्यन्तरिक्षाय त्वान्तरिक्षं जिन्व (कासं० १७.७, तैसं० ४.४.१)।

३. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३४२)।

४. साकौसं० (२.१.१.६, साजैसं० ३.२.७-९)।

५. शोंसावोऽम् आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो ममो३म् । आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणो३म् । ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहो३म् (ऋसं० ८.१७.१-३)।

६. शोंसावो३म् आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप । पिबा सु शिप्रिन्नन्धसो३म् । आ ते सिंचामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु । गृभाय जिह्वया मधो३म् । स्वादुष्टे अस्तु सुदे मधुमान् तन्वे तव । सोमः शमस्तु ते हृदो३म् (ऋसं० ८.१७.४-६)।

७. शोंसावो३म् । स न इन्द्रः शिवः सखाऽश्ववद्गोमद्यवमत् । उरुधारेव दोहतो३म् (ऋसं० ८.९३.३)।

८. इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत पिबा वृषस्व तातृपिम् (ऋसं० ३.४०.२)।

९. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३४२)।

१०. 'अयमु त्वा विचर्षणे' इति (ऋसं० ८.१७.७-१३ तथा ऋसं० ३.४०)।

११. उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् । अस्तारमेषि सूर्यो३म् । नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा । अहिं च वृत्रहावधो३म् (ऋसं० ८.९३.१-२)।

प्रैष करता है । तथा प्रैष करते हुए वषट्कार और अनुवषट्कारके पश्चात् आहुति देता है । चमसाध्वर्यु भी अपने अपने चमसोंकी दो दो आहुतियाँ देते हैं । इसके पश्चात् ग्रहशेषका ब्राह्मणाच्छंसिचमसमें सेचन किया जाता है तथा उक्थ्यपात्रको खरपर रख दिया जाता है ।[१]

सोमभक्षण

अब प्रतिप्रस्थाता ब्राह्मणाच्छंसिकी अनुज्ञा लेकर सोमका भक्षण करता है और वह उससे पूछकर अपने चमसमें ग्रहचमसके वषट्कारके निमित्त सोमभक्षण करता है । इसके पश्चात् ब्राह्मणाच्छंसि होत्रादि चमसोंमें होत्रादिकोंसे पूछकर वषट्कारके निमित्त भक्षण करता है । होता आदि ब्राह्मणाच्छंसिसे पूछकर अपने अपने चमसोंमें समाख्या निमित्त भक्षण करते हैं । पुन: ब्राह्मणाच्छंसिसे पूछकर अपने अपने चमसोंमें समाख्यानिमित्त भक्षण करते हैं । अन्तमें पुन: ब्राह्मणाच्छंसि प्रतिप्रस्थातासे आज्ञा लेकर अपने चमसमें भक्षण करता है। इसके पश्चात् चमसाध्वर्यु भक्षण किये हुए चमसोंको मार्जालीयपर धोकर उत्तरवेदीके पीछे अच्छावाकचमसपूर्वक उदक्संस्थ उन चमसोंको स्थापित कर देते हैं ।[२]

सोमका प्रक्षेप तथा वसतीवरी व एकधनोंका अवनयन

देवयाज्ञिकके अनुसार इस अवसरपर अध्वर्यु हविर्द्धानमें पाँच ग्रावोंको अधिषवणके ऊपर आमने-सामने रखकर सोमोपनहनके द्वारा दक्षिण हविर्द्धानसे थोड़ा हटकर ग्रावोंके ऊपर सोमका प्रक्षेप करता है । इसके पश्चात् वसतीवरियोंका आधा जल मन्त्रसे[३] आधवनीयमें डालता है तथा एकधनकलशोंका आधा आधा जल आधवनीयमें डालता है ।[४]

उक्थ्यग्रहका तीसरी बार ग्रहण

दो बार ग्रहण करने के पश्चात् तीसरी बार ग्रहण करते समय प्रतिप्रस्थाता उक्थ्यपात्रको लेकर, उक्थ्यस्थालीको उठाकर उसमेंका सारा सोम मन्त्रसे

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४२)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४३)।

३. विश्वेदेवा मरुत इति ।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४३)।

उक्थ्यपात्रमें उडेल देता है। इसके पश्चात् स्थालीको चुपचाप खरपर रख दिया जाता है और ग्रहका सम्मार्जन करके चुपचाप उसको भी रख दिया जाता है। पूतभृतके समस्त सोमका विभाजन करके दसों चमसोंमें उन्नेता उन्नयन करता है।[१]

चतुर्थ आज्यस्तोत्र

पहले की तरह प्रस्तोताको दर्भके दो तृणोंको देते हुए स्तोत्रापाकरण किया जाता है, उसके पश्चात् ब्रह्मा स्तोमभागका[२] पाठ करता है, उसके पश्चात् मन्त्रसे[३] अनुमन्त्रण करता है और उद्गाता मन्त्रका[४] वाचन यजमानसे कराता है।[५] उपर्युक्त तीनों कृत्य हो चुकने पर चतुर्थ आज्यस्तोत्रका पाठ किया जाता है।[६]

अच्छावाकशस्त्र

अच्छावाकशस्त्रका पाठ अच्छावाक करता है, जिसके अन्तर्गत वह सर्व-प्रथम स्तोत्रीय तृचका,[७] फिर क्रमशः अनुरूप तृचका,[८] परिधानीयाका[९] तथा अन्तमें

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४३)।

२. प्रतिधिरसि पृथिव्यै त्वा पृथिवीं जिन्व (तैसं० ४.४.१, कासं० १७.७)।

३. प्रतिधिरसि पृथिव्यं त्वा पृथिवीं जिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत (तांब्रा० १.९.५)।

४. स्तुतस्य स्तुतमस्यूर्जस्वत्पयस्वदामास्तोत्रस्य स्तोत्रं गम्यादिन्द्रवन्तो वनेमहि भक्षीमहि प्रजामिषम (तांब्रा० १.६.३)।

५. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३४६)।

६. साकौसं० (२.१.१७, साकौसं० २.२.१.९, साजैसं० ३.२.१०-१२)।

७. शोंसावो३म् इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषितो३म्। इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः। अया पातमिमं सुतो३म्। इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे। ता सोमस्येह तृम्पतो३म् (ऋसं० ३.१२.१-३)।

८. शोंसावो३म् इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्रयन्ति धीतयः ऋतस्य पथ्या अनो३म्। इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च। युवोरप्तूर्यं हितो३म्। इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः। द्वद्वां चेति प्र वीर्यो३म् (ऋसं० ३.१२.७-९)।

९. शोंसावो३म् गोमद्धिरण्यवद्वसु यद्वामश्वावदीमहे। इन्द्राग्नी तद्वनेमहो३म् (ऋसं० ७.९४.९)।

याज्याका[१] पाठ करता है ।[२] गोब्रा० (२.३.१) ने उक्थमुख[३] तथा पर्यासका[४] भी उल्लेख किया है ।

प्रातःसवनकी समाप्ति

प्रातःसवनमें सबसे अन्तमें अच्छावाकशस्त्रका पाठ किया जाता है, इसके उपरान्त पहले की ही तरह 'ओ३म्' इस मन्त्रसे प्रतिगर, "उक्थशा यज सोमानाम्" प्रैष प्रत्येक वषट्कारपर होम तथा ग्रहशेषका अच्छावाकचमसमें सेचन होता है। इसके पश्चात् सोमका भक्षण किया जाता है। सर्वप्रथम प्रतिप्रस्थाता चमसको हाथमें लिए हुए ही सदस्में आकर अच्छावाकसे पूछकर होमाभिषवके निमित्त सोमका भक्षण करता है। फिर अच्छावाक प्रतिप्रस्थातासे पूछकर अपने चमसमें वषट्कारके निमित्त सोमका भक्षण करता है। चमसाध्वर्यु अच्छावाकसे पूछकर अपने अपने चमसमें सम्पूर्ण सोमका भक्षण करते हैं, पुनः अच्छावाक प्रतिप्रस्थाताकी आज्ञा लेकर अपने चमसोंमें समाख्या निमित्त सोमपान करता है। इसके पश्चात् भक्षण किये हुए सभी चमसोंका मार्जालीयमें प्रक्षालन किया जाता है तथा हविर्द्धानके मध्यमें उत्तरके हविर्द्धानके नीचे पहले के समान ही उन सभी चमसोंको रख दिया ज़ाता है।[५]

मूत्र-पुरीष आदिके लिए ऋत्विजोंका निष्क्रमण

सर्वप्रथम अध्वर्यु स्फ्य लेकर प्रशास्ताको 'प्रशास्तः प्रसुहि' प्रैष करता है, तब प्रशास्ता 'सर्पत' यह उच्चारण करता है। उक्त क्रिया होनेपर सभी ऋत्विज सदस्से निकलकर चात्वाल और उत्करके बीचमें होकर बहिर्वेदीसे दूर मूत्र-पुरीष आदिसे निवृत्त होकर फिर उसी मार्गसे वापिस लौट आते हैं।[६] उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि बीचमें कोई भी ऋत्विज सिद्धान्तके अनुसार मूत्र-पुरीष नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रातःसवन समाप्त हो जाता है।

---

१. इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता (ऋसं० ३.१२.१)।

२. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३४८)।

३. इन्द्राग्नि अपसस्परि इस मन्त्रको उक्थमुख माना है, जबकि उक्त ऋचा श्रौतकोशमें अनुरूप तृचके अन्तर्गत पढ़ी गई है।

४. इह इन्द्राग्नी उपह्वय-इति।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४४)।

६. काश्रौसू० (९.१४.१९-२०, भारश्रौसू० १३.३३.१४-१५)।

षष्ठ अध्याय

माध्यन्दिनसवन

आकाशके मध्यमें भगवान् भास्करके पहुँचनेपर यजमान सहित ऋत्विज लोग माध्यन्दिनसवनसे सम्बन्धित कृत्य प्रारम्भ करते हैं। माध्यन्दिनसवनके अन्तर्गत न तो ऐन्द्रवायवादि द्विदेवत्य ग्रह अनुष्ठित होते हैं और न ही ऋतुग्रह और दधिग्रह अनुष्ठित होते हैं, केवल पाँच ग्रह (शक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य और मरुत्वतीय) ही धाराके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।

संक्षेपमें माध्यन्दिनसवनके अन्तर्गत सोमाभिषव, ग्रहग्रहण, माध्यन्दिन पवमानस्तोत्रके लिए सदोनामक मण्डपमें प्रस्थान, कच्छविसर्जन, स्तोत्रकी समाप्ति-पर दधिघर्मयाग, हविभक्षण, इडाभक्षण, चमसोंका उन्नयन, पात्रासादन, सवनीय हविभक्षण आदि मुख्य कृत्योंका ही अनुष्ठान किया जाता है।[१]

बहुत सी क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनका अनुष्ठान प्रात:सवनमें भी किया जाता है और इस सवनमें भी, अत: उन क्रियाओंके अनुष्ठानका केवल संकेत दिया जायेगा, विस्तारपूर्वक व्याख्या नहीं की जायेगी।

लोकद्वार सामका पाठ

माध्यन्दिनसवन प्रारम्भ करनेसे पूर्व यजमान दक्षिणाग्निके पीछे उत्तराभि-मुख बैठकर रुद्रसम्बन्धी सामका[२] गायन करता है। तत्पश्चात् मन्त्र[३] के अनन्तर

---

१. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ७४-७५)।

२. लोकद्वारमपावा३र्णू३३। पश्येमत्वा वयं वैरा३२१११ हु३म् आ ३ज्या३यो३आ३२१११इति।

३. नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं में यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि (छांउ० २.२४८)।

'परस्तादायुषः स्वाहा' कहकर हवन करता है और अन्तमें 'अपजहि परिघम्' कहकर उठ जाता है ।[१]

यजमानको निग्राभ्याका तथा ग्रावस्तुतको उष्णीशका समर्पण

देवयाज्ञिकके अनुसार लोकद्वारसामका पाठ हो चुकनेपर तथा होम हो चुकनेपर यजमानके सहित ऋत्विजोंके द्वारा सर्पण क्रिया की जाती है, सदोमण्डपका अभिमर्शन किया जाता है ।[२] होतृचमसमें वसतीवरीका जल भरके यजमानको वह निग्राभ्या संज्ञक जल समर्पित किया जाता है ।[३] ग्रावस्तुत को पगड़ी दी जाती है ।[४] अब अध्वर्यु-यजमान-प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा-उन्नेता प्रातःसवनके समान ही अधिषवणके चारों ओर बैठते हैं ।[५] प्रातःसवनके समान ही इस अवसरपर भी यजमानसे मन्त्रका[६] पाठ कराया जाता है ।[७] देवयाज्ञिकके अनुसार सोमाभिषवके लिए आवश्यक पदार्थों (हिरण्य, ग्रावा, निग्राभ्या, संभरणी, दशापवित्र) का आहरण कर लिया जाता है ।[८]

पहलेकी ही तरह इस अवसरपर भी अध्वर्यु हाथ धोता है, हिरण्य बाँधता है, वाग्यमन तथा निग्राभ्यावाचन करता है ।[९]

महाभिषव

अध्वर्युके द्वारा जो ग्रावा 'देवस्य त्वा' मन्त्रसे ग्रहण किया गया था, उसके ऊपर मुष्टिसे सोमांशुओंका प्रक्षेप किया जाता है । प्रातःसवनके समान उपांशुपर सोम प्रक्षेप नही किया जाता । प्रातःसवनके प्रसंगमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तीन अभिषव होते हैं, उन तीन अभिषवोंमें भी तीन पर्याय होते हैं । प्रथम अभिषव

---

१. छान्दोग्य उपनिषद (२.२४.७-१०)।
२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४५)।
३. काश्रौसू० (१०.१.२)।
४. काश्रौसू० (१०.१.२, सत्याषाढश्रौसू० ९.१)।
५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४५)।
६. निग्राभ्या स्थ देवश्रुतः (तैसं० ३.१.८.१-२)।
७. भारश्रौसू० (१४.१.५, १३.६.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ९०३)।
८. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४५)।
९. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं ३४५)।

तथा अन्य दोनों अभिषवोंमें जो पहला पर्याय होता है, उसमें इहा३ इहा३ मन्त्रसे कार्य किया जाता है । कर्कके अनुसार 'मो मे:' इस मन्त्रका भी प्रयोग किया जा सकता है । तीनों अभिषवोंमें दूसरे पर्यायमें पहले पर्यायकी अपेक्षा अधिक शीघ्रतासे कार्य किया जाता है । तथा तृतीय पर्यायमें तो अन्य दोनों पर्यायोंकी अपेक्षा और भी अधिक तेजीसे मन्त्रका पाठ किया जाता है । तीनों अभिषवोंके तीनों पर्यायोंमें मन्त्रोंकी आवृत्ति ही की जाती है । तृतीय अभिषवके अविलम्ब स्थान (मध्यम पर्याय) में बृहद् बृहद् इस मन्त्रका आवृत्ति पूर्वक पाठ किया जाता है । कोई कोई आचार्योंके अनुसार आधे अभिषवमें बृहद् बृहद् मन्त्रका तथा आधे अभिषवमें इहा३ इहा३ का पाठ किया जाना चाहिये ।[१]

इहा३ इहा३ मन्त्रके सम्बन्धमें विधान किया गया है कि जब तक सोम कूटा जाय, तब तक उक्त मन्त्रका पाठ किया जाय, केवल दो बार कहकर विराम नहीं लेना चाहिये ।[२]

सत्याषाढश्रौसू० (९.१) के अनुसार प्रतिप्रस्थाता द्वारा ग्रावोंका अनुमोदन[३] (क्रीडा रूपसे लालन, क्रीडाभावनयुक्त मन्त्र पाठ) किया जाता है ।

सोमाभिषव नामक कृत्यके अन्तर्गत सोम निचोड़ते समय एक महत्वपूर्ण नियमका विधान ऐब्रा० (६.१) ने किया है कि आँखोंपर पट्टी बाँधकर ही सोम निचोड़ा जाना चाहिये तथा इस अवसरपर न तो सौ मन्त्र बोले जाएँ, न तैतीस ही, अपितु अपरिमित संख्यामें मन्त्रोंका वाचन किया जाय, साथ ही मन्त्र न तो पद-पद करके पढे जाएँ, न अक्षर-अक्षर करके ही, अपितु आधे-आधे करके मन्त्रोंका पाठ किया जाएँ ।

---

१. काश्रौसू० (१०.१.४-१०, शब्रा० ४.३.३.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ९०४, भारश्रौसू० १४.१.९-१०)।

२. सत्याषाश्रौसू० (पृष्ठसं० ९०३)।

३. देवा ग्रावाण इन्दुरिन्द्र इत्यवादिषुः। एन्द्रमचुच्यवुः। परमस्याः परावतः। आस्मात् सधस्थात्। ओरोरन्तरिक्षात्। आसुभूतसुषवुः। ब्रह्मवर्चसं म आसुषवुः। समरे रक्षांस्यवधिषुः। अपहतं ब्रह्मज्यस्य (तैब्रा० ३.७.९.२)।

ग्रहग्रहण

सोमाभिषव कृत्य सम्पन्न होनेपर उन्नेता उदञ्चनके द्वारा आधवनीयसे सोम लेकर यजमानके हाथमें स्थित होतृचमसके निग्राभ्याका सेचन करता है।[१] अब अध्वर्यु धारा-सोमसे एक साथ पाँच ग्रह (शुक्र, मन्थी, आग्रयण, मरुत्वतीय और उक्थ्य) ग्रहण करता है। सर्वप्रथम प्रातःसवनके समान ही शुक्रग्रह ग्रहण किया जाता है, इस अवसरपर न तो जलका स्पर्श किया जाता है, न ग्रहका परिमार्जन तथा न आसादन। इसके पश्चात् मन्थीग्रह ग्रहण किया जाता है, इस अवसर भी जलका स्पर्श नहीं किया जाता। सत्तुका मिश्रण अवश्य किया जाता है तथा ग्रहका आसादन भी। अब तीन धाराओंसे आग्रयणग्रह ग्रहण किया जाता है। पहली धारा वह जिसमें यजमान निग्राभ्यासे सेचन करता है, दूसरी धारा वह है जो उन्नेता आधवनीयसे उदञ्चनके द्वारा सींचता है और तीसरी धारा वह है, जिसमें प्रातःसवनमें गृहीत आग्रयणको दूसरे पात्रमें करके प्रतिप्रस्थाता सेचन करता है। इसके पश्चात् ऋतुपात्रके द्वारा मन्त्रके साथ मरुत्वतीयका ग्रहण किया जाता है, इस ग्रहका परिमार्जन भी किया जाता है तथा मन्त्रके साथ आसादन भी। अब पाचवाँ स्थालीमें ग्रहण किया जाता है, विकल्पके रूपमें उक्थ्यके पश्चात् मरुत्वतीय भी ग्रहण किया जा सकता है।[२] किन्तु शतपथब्राह्मणको मान्य नहीं है कि उक्थ्यके पश्चात् मरुत्वतीयग्रह ग्रहण किया जाय।[३] शाखान्तरमें तो प्रातः सवनके समान ही आग्रयण ग्रहके पश्चात् उक्थ्यग्रहका ग्रहण माध्यन्दिनसवनमें भी किया गया है,[४] किन्तु माध्यन्दिन शाखामें उक्थ्यग्रहका ग्रहण सबसे अन्तमें किया गया है।

माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र

प्रातःसवनमें तो बहिष्पवमानस्तोत्रका पाठ सदस् के बाहर चात्वालके समीपमें किया गया था किन्तु माध्यन्दिनसवनमें माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रका पाठ सदस् के भीतर ही किया जाता है।[५]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४६)।

२. काश्रौसू० (१०.१.११-१३, शब्रा० ४.३.३.२,४ देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३४६)।

३. शब्रा० (४.३.३.३)।

४. शब्रा० (४.३.३.३ पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ११९)।

५. काश्रौसू० (१०.१.१६)।

माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रका पाठ करनेसे सम्बद्ध ऋत्विज पश्चिमकी ओर चलते हैं । इस अवसरपर दो मन्त्र[१] कहे जाते हैं । दोनों हविर्द्धान शकटोंके उत्तरमें घूमकर और मार्जालीय धिष्ण्याके दक्षिणमें होते हुए पश्चिमी द्वारसे सदस् में पहुँचकर अध्वर्यु तो होताकी धिष्ण्याके सामने और अन्य मैत्रावरुणकी धिष्ण्याके सम्मुख बैठते हैं ।[२] देवयाज्ञिकके अनुसार उद्गाता लोग अपने स्थानपर बैठते हैं और अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता और यजमान पश्चिमकी ओर मुख करके बैठते हैं ।[३]

उद्गाताओंके द्वारा पहले जप किये जानेपर दो तृण, कुशमुष्टि अथवा तृणके बिना ही 'सोमः पवत' कहकर पवमानोपाकरण किया जाता है ।[४] ऐब्रा० (५.३४) के अनुसार माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रके पाठका आदेश मिलनेपर प्रस्तोता 'ब्रह्मन्स्तोष्यामः प्रशास्तः' कहता है, इस पर ब्रह्मा 'भुवः इन्द्रवन्तः स्तुध्वम्' कहता है। प्रातःसवनमें भी इसी प्रकारका वाक्य बोला गया था किन्तु वह इससे भिन्न था। प्रातः सवनमें "भूः इन्द्रवन्तः स्तुध्वम्" कहा गया था ।

माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र पंचदशस्तोममें[५] गाया जाता है । पंचदशस्तोम सम्पादनके लिए पहली ऋचाको तीन बार बढकर दूसरी और तीसरी ऋचाको एक-एक बार पढा जाता है, इसी को प्रथम पर्याय भी कहा जाता है । द्वितीय पर्यायमें पहली ऋचाको एक बार और दूसरी ऋचाको तीन बार तथा तीसरी ऋचाको एक बार पढा जाता है । तृतीय पर्यायमें पहली और दूसरी ऋचाको एक बार और तीसरी ऋचाको तीन बार पढा जाता है, इसी को पंचदशस्तोम कहा गया है । यहाँ स्तोम शब्द स्तोत्रगत संख्या वाचक है ।[६] अब माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र[७] प्रारम्भ किया

---

१. त्रैष्टुभः पन्था रुद्रा देवता वृकेणापरिपरेण पथा स्वस्ति रुद्रानशीयः। वागग्रेगा अग्र एत (तैसं० ३.१.१०.२)।

२. भारश्रौसू० (१४.२४-५)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७)।

५. सोमयागेषु च्छन्दोगः क्रियमाणा पृष्ठादिसंज्ञिका स्तुतिः स्तोमः। स च स्तोमः पंचदशः सप्तदश एकविंशश्च। पंचदश मन्त्राः परिमाणमस्य पंचदशः। तृचस्य पंचकृत्व आवृत्या पंचदश मन्त्रा भवन्ति। स पंचदशस्तोमः (मीमांसान्यायप्रकाशः पृष्ठ ४०)।

६. काश्रौसू० (१०.१.१६) पर सम्पादकीय टिप्पणी।

७. उच्चा ते जातमन्धसः (उत्तरार्चिक १.१८-१०) इत्यादिकं माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रम्।

जाता है ।[१] स्तोत्रपाठ होनेके समय यजमान अन्वारोह मन्त्रका[२] उच्चारण करता है ।[३]

प्रैष कथन

बहिष्पवमानकी समाप्तिपर जिस प्रकार आग्नीध्रको प्रैष किया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी माध्यन्दिनसवनमें माध्यन्दिनस्तोत्रके पाठके समाप्त होनेपर अग्नीध्रको "अग्नीदग्नीन्विहर बर्हि स्तृणीहि पुरोडाशाँ अलंकुरु" प्रैष किया जाता है । प्रतिप्रस्थाताको प्रैष "प्रतिप्रस्थातर्दक्षिणामुपावर्तय" किया जाता है । इस अवसरपर कहा गया है कि यदि अग्निष्टोम सप्रवर्ग्य हो तो उस स्थितिमें प्रैष "प्रतिप्रस्थातर्दधिघर्माय दध्याहर दक्षिणामुपावर्तय" किया जाता है ।[४] प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवनके प्रैषमें केवल इतना अन्तर है कि प्रातःसवनमें पशुके लाने से सम्बन्धित भी प्रैष किया जाता है किन्तु माध्यन्दिनसवनमें पशु लानेसे सम्बन्धित कोई प्रैष नहीं किया जाता ।[५] भारद्वाजने "प्रतिप्रस्थातर्दधिघर्मेणानूदेहि" इस प्रैषका उल्लेख किया है ।[६]

सवनीय पुरोडाशनिर्वाप

जिस प्रकार प्रातःसवनमें सवनीय पुरोडाशके लिए धान उडेला गया था[७] उसी प्रकार उक्त क्रिया माध्यन्दिनसवनमें भी होती है । प्रतिप्रस्थाता अग्निके निमित्त पुरोडाशके लिए धान उडेलता है । अन्तर इतना अवश्य है कि प्रातःसवनमें आमिक्षा भी होती है, किन्तु अन्तिम दो (माध्यन्दिन और तृतीय) सवनोंमें आमिक्षा नहीं होती ।[८]

---

१. काश्रौसू० (१०.१.१६) की सरलावृत्तिपर टिप्पणी ।
२. सुपर्णाऽसि त्रिष्टुप्छन्दाः (तैसं० ३.२.१.१) ।
३. भारश्रौसू० (१४.२.६) ।
४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७) ।
५. भारश्रौसू० (१४.२.९) ।
६. भारश्रौसू० (१४.२.९) ।
७. भारश्रौसू० (१३.१८.१) ।
८. भारश्रौसू० (१४.२.१३) ।

माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रका पाठ करनेसे सम्बद्ध ऋत्विज पश्चिमकी ओर चलते हैं। इस अवसरपर दो मन्त्र[१] कहे जाते हैं। दोनों हविर्द्धान शकटोंके उत्तरमें घूमकर और मार्जालीय धिष्ण्याके दक्षिणमें होते हुए पश्चिमी द्वारसे सदस् में पहुँचकर अध्वर्यु तो होताकी धिष्ण्याके सामने और अन्य मैत्रावरुणकी धिष्ण्याके सम्मुख बैठते हैं।[२] देवयाज्ञिकके अनुसार उद्गाता लोग अपने स्थानपर बैठते हैं और अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता और यजमान पश्चिमकी ओर मुख करके बैठते हैं।[३]

उद्गाताओंके द्वारा पहले जप किये जानेपर दो तृण, कुशमुष्टि अथवा तृणके बिना ही 'सोमः पवत' कहकर पवमानोपाकरण किया जाता है।[४] ऐब्रा० (५.३४) के अनुसार माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रके पाठका आदेश मिलनेपर प्रस्तोता 'ब्रह्मन्त्स्तोष्यामः प्रशास्तः' कहता है, इस पर ब्रह्मा 'भुवः इन्द्रवन्तः स्तुध्वम्' कहता है। प्रातःसवनमें भी इसी प्रकारका वाक्य बोला गया था किन्तु वह इससे भिन्न था। प्रातः सवनमें "भूः इन्द्रवन्तः स्तुध्वम्" कहा गया था।

माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र पंचदशस्तोममें[५] गाया जाता है। पंचदशस्तोम सम्पादनके लिए पहली ऋचाको तीन बार बढकर दूसरी और तीसरी ऋचाको एक-एक बार पढा जाता है, इसी को प्रथम पर्याय भी कहा जाता है। द्वितीय पर्यायमें पहली ऋचाको एक बार और दूसरी ऋचाको तीन बार तथा तीसरी ऋचाको एक बार पढा जाता है। तृतीय पर्यायमें पहली और दूसरी ऋचाको एक बार और तीसरी ऋचाको तीन बार पढा जाता है, इसी को पंचदशस्तोम कहा गया है। यहाँ स्तोम शब्द स्तोत्रगत संख्या वाचक है।[६] अब माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र[७] प्रारम्भ किया

---

१. त्रैष्टुभः पन्था रुद्रा देवता वृकेणापरिपरेण पथा स्वस्ति रुद्रानशीयः। वागग्रेगा अग्र एत (तैसं० ३.१.१०.२)।

२. भारश्रौसू० (१४.२४-५)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७)।

५. सोमयागेषु च्छन्दोगः क्रियमाणा पृष्ठादिसंज्ञिका स्तुतिः स्तोमः। स च स्तोमः पंचदशः सप्तदश एकविंशश्च। पंचदश मन्त्राः परिमाणमस्य पंचदशः। तृचस्य पंचकृत्व आवृत्या पंचदश मन्त्रा भवन्ति। स पंचदशस्तोमः (मीमांसान्यायप्रकाशः पृष्ठ ४०)।

६. काश्रौसू० (१०.१.१६) पर सम्पादकीय टिप्पणी।

७. उच्चा ते जातमन्धसः (उत्तरार्चिक १.१.८-१०) इत्यादिकं माध्यन्दिनपवमानस्तोत्रम्।

जाता है ।[१] स्तोत्रपाठ होनेके समय यजमान अन्वारोह मन्त्रका[२] उच्चारण करता है ।[३]

प्रैष कथन

बहिष्पवमानकी समाप्तिपर जिस प्रकार आग्नीध्रको प्रैष किया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी माध्यन्दिनसवनमें माध्यन्दिनस्तोत्रके पाठके समाप्त होनेपर अग्नीध्रको "अग्नीदग्नीन्विहर बर्हि स्तृणीहि पुरोडाशाँ अलंकुरु" प्रैष किया जाता है । प्रतिप्रस्थाताको प्रैष "प्रतिप्रस्थातर्दक्षिणामुपावर्तय" किया जाता है । इस अवसरपर कहा गया है कि यदि अग्निष्टोम सप्रवर्ग्य हो तो उस स्थितिमें प्रैष "प्रतिप्रस्थातर्दधिघर्माय दध्याहर दक्षिणामुपावर्तय" किया जाता है ।[४] प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवनके प्रैषमें केवल इतना अन्तर है कि प्रातःसवनमें पशुके लाने से सम्बन्धित भी प्रैष किया जाता है किन्तु माध्यन्दिनसवनमें पशु लानेसे सम्बन्धित कोई प्रैष नहीं किया जाता ।[५] भारद्वाजने "प्रतिप्रस्थातर्दधिघर्मेणानूदेहि" इस प्रैषका उल्लेख किया है ।[६]

सवनीय पुरोडाशनिर्वाप

जिस प्रकार प्रातःसवनमें सवनीय पुरोडाशके लिए धान उडेला गया था[७] उसी प्रकार उक्त क्रिया माध्यन्दिनसवनमें भी होती है । प्रतिप्रस्थाता अग्निके निमित्त पुरोडाशके लिए धान उडेलता है । अन्तर इतना अवश्य है कि प्रातःसवनमें आमिक्षा भी होती है, किन्तु अन्तिम दो (माध्यन्दिन और तृतीय) सवनोंमें आमिक्षा नहीं होती ।[८]

---

१. काश्रौसू० (१०.१.१६) की सरलावृत्तिपर टिप्पणी ।
२. सुपर्णाऽसि त्रिष्टुप्छन्दाः (तैसं० ३.२.१.१) ।
३. भारश्रौसू० (१४.२.६) ।
४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७) ।
५. भारश्रौसू० (१४.२.९) ।
६. भारश्रौसू० (१४.२.९) ।
७. भारश्रौसू० (१३.१८.१) ।
८. भारश्रौसू० (१४.२.१३) ।

इसके पश्चात् अन्य (सवनीय पुरोडाश प्रस्तुत करनेसे, बर्हि बिछानेसे, आहुति पूर्ण करनेसे, ग्रहावकाश मन्त्रों द्वारा प्रार्थना करनेसे और रेंगकर चलनेसे सम्बद्ध) सभी क्रियाएँ प्रात:सवनके समान ही अनुष्ठित होती हैं ।[१]

दधिघर्मप्रचार

दधिघर्मकी आहुति उस अग्निष्टोममें ही दी जाती है, जिसमें प्रवर्ग्यका भी अनुष्ठान किया जाता है, जिस अग्निष्टोममें प्रवर्ग्यका अनुष्ठान नहीं किया जाता, उसमें यह कृत्य नहीं किया जाता ।[२]

आग्नीध्राग्निसे अंगारे लेकर होताकी धिष्ण्यामें रक्खे जाते हैं । पृष्ठ्यापर पूर्वसे पश्चिमको चुपचाप बर्हिका आस्तरण किया जाता है । तब प्रतिप्रस्थाता सदस् के आगे दधिघर्म लाता है । अब उत्तरवेदीके पश्चिममें उसको रख दिया जाता है । इस अवसरपर उसका स्पर्श किया जाता है । अब सदस् के आगे लाकर शाखा-पवित्र सहित अग्निहोत्रहवनीके द्वारा मन्त्रसे[३] दधि ग्रहण की जाती है । स्थालीसे जब दधि डाली जाती है, तो होताको इस अवसरपर "होतर्वदस्व यत्ते वाद्यम्" 'इस प्रकार प्रैष किया जाता है' । इसके पश्चात् अध्वर्यु खड़ा होकर 'श्रातं हवि:' ऐसा उच्चारण करता है ।[४]

भारद्वाजने दधि गरम करनेका मन्त्र[५] भी लिखा है ।[६]

---

१. भारश्रौसू० (१३.१८.१,१३.१९.४.५.११ तथा १३.१६.१५)।

२. भारश्रौसू० (१४.३८,काश्रौसू० १०.१.१९)।

३. यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे। तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् (वासं० ३८.२६)। भारद्वाजने निम्नांकित ऋचाका उल्लेख किया है— यावती द्यावापृथिवी महित्वा (तैसं० ३.२.६.१-२)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४७)।

५. वाक् च त्वा मनश्च श्रीणीताम् । प्राणश्च त्वापानश्च श्रीणीताम् । चक्षुश्च त्वा श्रोत्रं च श्रीणीताम् । दक्षश्च त्वा बलञ्च श्रीणीताम् । ओजश्च त्वा सहश्च श्रीणीताम् । आयुश्च त्वा जरा च श्रीणीताम् । आत्मा च त्वा तनूश्च श्रीणीताम् । शृतोऽसि शृतंकृत: । शृताय त्वा शृतेभ्यस्त्वा (तैब्रा० ३.७.९)।

६. भारश्रौसू० (१४.३.१)।

दधिघर्मकी आहुति

उत्तरकी ओरसे हविर्द्धानमें यजतिदेशमें पहुँचकर श्रौषट् करके होताको "दधिघर्मस्य यज" कहा जाता है । इसके पश्चात् वषट्कार और अनुवषट्कारपर आहुति दी जाती है ।[१] भारद्वाजने इस अवसरपर आहुतिसे सम्बद्ध ऋचाका[२] भी उल्लेख किया है । दूसरे वषट्कारपर आहुति देकर कुछ भाग अवश्य बचा लिया जाता है, जिसका भक्षण किया जाता है ।[३]

याज्यापाठ

होता दधिघर्मकी आहुतिसे सम्बद्ध याज्याका[४] पाठ करता है ।[५]

दधिघर्मभक्षण

मन्त्रके[६] साथ ऋत्विज एक दूसरेकी आज्ञा लेकर दधिघर्मका भक्षण करते हैं तथा मन्त्रके[७] साथ हुतशेष दधिधर्म भक्षण किया जाता है ।[८] भारद्वाजने भक्षण से सम्बद्ध भिन्न मन्त्रका[९] उल्लेख किया है ।[१०] कात्यायनने स्पष्ट किया है कि जो

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३४८)।

२. यमिन्द्रमाहुर्वरुणं यमाहुः । यं मित्रमाहुर्यमु सत्यमाहुः । यो देवानां देवतमस्तपोजाः । तस्मै त्वा तेभ्यस्त्वा स्वाहा (तैब्रा० ३.७.९)।

३. भारश्रौसू० (१४.३.५-६)।

४. श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रातं मन्ये तदृतं नवीयः । माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः (ऋसं० १०.१७९.३)।

५. भारश्रौसू० (१४.३.४)।

६. मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः । घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह (वासं० ३८.२७)।

७. पयसो रेत आभृतं तस्य दोहमशी मह्युत्तरामुत्तरां समाम् (वासं० ३८.२८)।

८. मिश्रभाष्य, पृष्ठसं० (१३७२-१३७३)।

९. भूर्भुवः सुवः मयि त्यदिन्द्रियं महत् । मयि दक्षो मयि क्रतुः मयि धायि सुवीर्यम् त्रिशुग्घर्मो विभातु मे । आकूत्या मनसा सह । विराजा ज्योतिषा सह । यज्ञेन पयसा सह । ब्रह्मणा तेजसा सह । क्षत्रेण यशसा सह । सत्येन तपसा सह । तस्य दोहमशीमहि । तस्य सुम्नमशीमहि । तस्य भक्षमशीमहि । तस्य त इन्द्रेण पीतस्य मधुमतः । उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि (तैआ० ४.२१)।

१०. भारश्रौसू० (१४.३.७)।

दीक्षित हैं, उन्हींको ही भक्षण करनेका अधिकार है, जो अदीक्षित हैं, उन्हें भक्षण न करके केवल सूंघ लेना चाहिये ।[१]

सवनीय पशुपुरोडाशयाग

यद्यपि माध्यन्दिनसवनमें सवनीय पशुसे सम्बद्ध पुरोडाश नहीं होता[२] तथापि इससे सम्बद्ध पुरोनुवाक्या[३] व याज्याका[४] उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है ।[५]

सवनीय पुरोडाशयाग

प्रात:सवनके समान ही अध्वर्यु माध्यन्दिनसवनमें भी सवनीय पुरोडाश होताके धिष्ण्यमें रखता है ।[६]

पुरोनुवाक्या व याज्याके लिए मैत्रावरुणको प्रैषकथन

होता द्वारा याज्या[७] मन्त्र कहलानेके लिए तथा मैत्रावरुणको पुरोनुवाक्याका[८] पाठ करवानेके लिए प्रैष "माध्यंदिनस्य सवनस्येन्द्राय पुरोडाशानामनुब्रूहि ॥ माध्यंदिनस्य सवनस्येन्द्राय पुरोडाशान् प्रस्थितान् प्रैष्य" मन्त्र मैत्रावरुण के प्रति कहा जाता है ।[९]

---

१. काश्रौसू० (१०.१.२४)।

२. भारश्रौसू० (१४.३.१३)।

३. अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा । पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः(ऋसं० १.१८९.२)।

४. यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन् । एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व (ऋसं० १.७६.५)। शांखायनके अनुसार याज्या मन्त्र इस प्रकार है— प्र वः शुक्राय भानवे भरध्वं हव्यं मतिं चाग्नये सुपूतम् । यो दैव्यानि मानुषा जनूंष्यन्तर्विश्वानि विद्मना जिगाति (ऋसं० ७.४.१)।

५. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३६८)।

६. काश्रौसू० (१०.१.२५, भारश्रौसू० १४.२.९)।

७. ये यजामहे इन्द्रं हरि वां.....जुषाणो वेतु इति याज्या ।

८. माध्यन्दिनस्य सवनस्य धानाः पुराडाशमिन्द्र कृष्वेह चारुम् । प्र यत् स्तोता जरिता तूर्ण्यर्थो वृषायमाण उप गीर्भिरीट्टे (ऋसं० ३.५२.५)।

९. भारश्रौसू० (१४.३.११)।

ऐब्रा० (६.३.११) में कहा गया है कि मध्याह्नसवनमें प्रस्थित सोमके लिए प्रत्यक्ष रूपसे ऐसे याज्या मन्त्रोंको कहा जाना चाहिये जो इन्द्रके हों तथा जिनमें अभितृण् शब्द भी आया हो । प्रस्तुत कृत्यके निमित्त होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और अग्नीध्र अपनी अपनी याज्याका[१] पाठ करते हैं ।

प्रात:सवनके समान ही शुक्रामन्थीग्रहप्रचार, चमसभक्ष, चमसनिधान आदि कृत्य इस अवसरपर किये जाते हैं ।[२] सवनमुखीयचमसभक्ष भी प्रात:सवनके समान ही किया जाता है । प्रात:सवनके समान ही अध्वर्यु होतृचमसमें प्रतिप्रस्थाताके शुक्र और मन्थीग्रहके शेषका भक्षण करता है ।[३]

दसों चमसोंमें सोमका उन्नयन

प्रात:सवनमें नौ चमसोंमें सोमका उन्नयन किया गया था, किन्तु माध्यन्दिन सवनमें दस चमसोमें सोमका उन्नयन किया जाता है । अच्छावाकका चमस ही यहाँ दसवाँ चमस होता है ।[४]

ऐब्रा० के अनुसार इस अवसरपर उन्नीयमानसूक्तका[५] पाठ किया जाता है, जिसमें दस ऋचाएँ होती हैं । प्रात:सवनमें भी उन्नीयमान सूक्तका पाठ किया

---

१. पिबा सोममभि यमुग्र तर्द ऊर्वं गव्यं महि गृणान इन्द्र । वि यो धृष्णो वधिषो वज्रहस्त विश्वा वृत्रममित्रिया शवोभि:(ऋसं० ६.१७.१) यह मन्त्र मैत्रावरुण कहता है । एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भि: । आवि: सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि (ऋसं ६.१७.३) यह मन्त्र ब्राह्मणाच्छंसी पढता है । अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय । उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव न: शृणुहि हूयमान: (ऋसं० १.१०४.९) यह याज्या पोता कहता है । तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि । अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र (ऋसं० ३.३५.६) यह याज्या नेष्टा कहता है । इन्द्राय सोमा: प्रदिवो विदाना ऋभुर्येभिर्वृषपर्वा विहाया: । प्रयम्यमानान् प्रति षूगृभायेन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण: । (ऋसं० ३.३६.२) यह ऋचा अच्छावाक पढता है । आपूर्णो अस्य कलश: स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै । समु प्रिया आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् । (ऋसं० ३.३२.१५) यह याज्या आग्नीध्र पढता है ।

२. काश्रौसू० (१०.१.२६) ।

३. काश्रौसू० (१०.१.२६) की सरलावृत्तिपर सम्पादकीय टिप्पणी ।

४. काश्रौसू० (१०.२.१) ।

५. असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच । बोधामसि त्वा हर्यश्व

गया था किन्तु उसमें एक ऋचा कम होती है। तीसरे सवनमें भी नौ ऋचा वाले उन्नीयमान सूक्तका ही पाठ किया जाता है।[१]

शुक्रामन्थिग्रहप्रचार

सर्वप्रथम आधवनीयसे पूतभृतमें सोमरस भरा जाता है।[२] यहाँ उसी प्रकार प्रैष[३] किया जाता है, जिस प्रकार प्रातःसवनमें किया गया था।[४] कात्यायनने भिन्न प्रकारसे प्रैष[५] किया है।[६] जिन चमसोंमें सोम मिला दिया गया था, उन चमसोंकी आहुति दी जाती है। चमसोंमें द्रोणकलशसे ही सोम भरा जाता है। इस अवसरपर अच्छावाक अपनी याज्याका[७] पाठ करता है। अध्वर्यु अच्छावाकके लिए पुरोडाश खण्ड नहीं रखता। चमसी लोग अपने अपने चमस पी जाते हैं। जिस मन्त्रसे प्रातः

यज्ञैर्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु ॥ प्रयन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः। न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः॥ त्वमिन्द्र स्रवितवा अपस्कः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः। त्वद् वावक्रे रथ्यो न धेना रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि भीषा ॥ भीमो विवेषायुधेभिरेषामयांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्। इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि दूधोत् वि वज्रहस्तो महिना जघान ॥ न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः। स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥ अभि क्रत्वेन्द्र भूरध ज्मन् न ते विव्यङ् महिमानं रजांसि। स्वेना हि वृत्रं शवसा जघन्थ न शत्रुरन्तं विविदद् युधा ते ॥ देवाश्चित् ते असुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहांसि। इन्द्रो मघानि दयते विषह्येन्द्रं वाजस्य जोहुवन्त सातौ ॥ कीरिश्चिद्धि त्वामवसे जुहावेशानमिन्द्र सौभगस्य भूरेः। अवो बभूथ शतमूते अस्मे अभिक्षत्तुस्त्वावतो वरूता ॥ ८ ॥ सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम नमोवृधासो महिना तरुत्र। वन्वन्तु स्मा तेऽवसा समीके३ऽभीतिमर्यो वनुषां शवांसि ॥ स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति। वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयम् पात स्वस्तिभिः सदा नः (ऋसं० ७.२१.१-१०)।

१. ऐब्रा० (६.३.९)।
२. भारश्रौसू० (१४.३.१४)।
३. माध्यन्दिनस्य सवनस्य निष्केवल्य भागस्य शुक्रवतो मन्थिवतो मधुश्चुतः इति।
४. (भारश्रौसू० १४.३.१६, देखिए-भारश्रौसू० १३.२५.५)।
५. माध्यन्दिनस्य सवस्य निष्केवल्यस्य शुक्रवतो मधुश्चत इन्द्राय सोमान्प्रस्थितान्प्रेष्य इति।
६. काश्रौसू० (१०.२.२)।
७. पिबा सोममभि यमुग्र तर्द ऊर्वं गव्यं महि गृणान इन्द्र। वि यो धृष्णो वधिषो वज्रहस्त विश्वा वृत्रममित्रिया शवोभिः (ऋसं० ६.१७.१)।

सवनमें सोमपान किया गया था, उसी मन्त्रकी[1] आवृत्ति माध्यन्दिनसवनमें भी की जाती है । चमसी लोग चमसोंको अधूरा पीकर उनमें पानी मिला देते हैं ।[2] चमस भरनेके लिए प्रात:सवनमें जिस मन्त्रका पाठ किया गया था, उसी मन्त्रका[3] पाठ इस अवसरपर किया जाता है । भरे गए नाराशंसचमस दक्षिण हविर्द्धान शकटके पीछे नीचे रख दिये जाते हैं । यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जिन चमसोंमें सोमपान कर लिया गया और जिसमें कुछ लगा रहा गया, वे नाराशंस पितरोंके भाग होते हैं । चमस भरने और उनकों रखनेकी समस्त क्रियाएँ प्रात:सवनके समान ही होती हैं ।[4]

कात्यायनने केवल प्रैषका उल्लेख किया है, अन्य कोई भी क्रिया इस अवसरपर कात्यायनने वर्णित नहीं की है। भारद्वाजने कुछ विस्तारसे उक्त क्रियाओंका उल्लेख किया है ।

दक्षिणा

माध्यन्दिनसवनमें ऋत्विजोंको दक्षिणा दी जाती है। किसको कितनी दक्षिणा दी जाय, इस सम्बन्धमें एक सामान्य सिद्धान्त यह है कि प्रतिज्ञा की हुई समग्र दक्षिणाके चार भाग किये जाएँ और फिर समग्र दक्षिणाके चारों भाग अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होताको दे दिये जाते हैं । एक एक भागमें दी जाने वाली दक्षिणा भी विषम रूपमें बाँटकर दी जाती है । अर्थात् अध्वर्युको जितनी दक्षिणा दी जाती है, उसका आधा प्रतिप्रस्थाताको, अध्वर्युके भागका तृतीयांश नेष्टाको और चतुर्थांश उन्नेताको दिया जाता है ।[5] दक्षिणाके सम्बन्धमें यह समान्य नियम है ।

उदाहरणके द्वारा उक्त नियमको समझाया जाता है । माना कि १००० रुपया सोलहों ऋत्विजोंमें बाँटना है । तो उक्त राशिके चार भाग करके २५० रुपया अध्वर्युगण के लिए निर्धारित हो गया । इन २५० रुपएमें अध्वर्युको १२०, प्रतिप्रस्थाताको १२० का आधा ६०, नेष्टाको १२० का तिहाई ४० और उन्नेताको १२० का चौथाई ३० रुपया प्राप्त होगा। इसीप्रकार ब्रह्मगणमें ब्रह्माको १२०,

---

१. रुद्रवदगणस्य सोम देव ते (तैस० ३.२.५.२)।

२. भारश्रौसू० (१४.३.१५-२२)।

३. भारश्रौसू० (१३.२७.२३-२५)।

४. वैदिक कोश (पृष्ठसं० ३९९)।

५. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ७६)।

ब्राह्मणच्छंसिको ६०, आग्नीधको ४०, और पोताको ३० रुपए प्राप्त होगे। होतृगणमें भी इसी प्रकार होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत् को क्रमशः १२०, ६०,४०,३० रुपया प्राप्त होगा और अन्तमें उद्गातृगणमें उद्गाताको १२०, प्रस्तोताको ६०, प्रतिहर्ताको ४०, सुब्रह्मण्यको ३० रुपये प्राप्त होंगे।[१] यहाँ यह ध्यान अवश्य रहे कि किसी ऋत्विज् को जो विशेष दक्षिणा दी जाती है, उसमें अन्य किसीका कोई हिस्सा नहीं होता, वह उसीको प्राप्त होती है।

दक्षिणाहोम

दक्षिणा देनेसे पूर्व दक्षिणाके निमित्त चार आहुतियाँ दी जाती हैं। सर्वप्रथम शालामें जाकर ब्रह्मा और यजमान शालाद्वार्यके दक्षिणकी ओर बैठते हैं। तब अध्वर्यु प्रचरणीके द्वारा आज्यस्थालीसे चार बारमें आज्य ग्रहण करके वस्त्रमें सुवर्णको बाँधकर उसको स्रुचिमें रखकर मन्त्रसे[२] उसी शालाद्वार्यपर पहली आहुति देता है।[३] पुनः चार बारमें आज्य ग्रहण करके पहलेकी ही तरह मन्त्रसे[४] दूसरी आहुति दी जाती है।[५] अब सभी आग्नीध्रीयमें आते हैं। वहाँ अध्वर्यु एक बारमें आज्य ग्रहण करके कपड़ेमें बँधे हुए हिरण्यको लेकर मन्त्रके[६] साथ अग्निके लिए आहुति देता है, जो तीसरी आहुति होती है। इसी प्रकार चौथी आहुति मन्त्रके[७] साथ दी जाती है।[८]

---

१. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ७६)।

२. उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यं स्वाहा (वासं० ७.४१, तैसं० १.२.८,४.४३.१, तैब्रा० ३.७.११.२ तैआ० ४.११.८,२०.३)।

३. शब्रा० (४.३.४.९, काश्रौसू० १०.२.४, भारश्रौसू० १४.४.४)।

४. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा (वासं० ७.४२, तैब्रा० २.८.७.३, तैआ० १.७.६., २.१३.१, तैसं० १.४.४३.१)।

५. काश्रौसू० (१०.२.५, शब्रा० ४.३.४.१०, भारश्रौसू० १४.४.४)।

६. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। ययोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा (वासं० ५.३६)। यह मन्त्र यजमान पहले भी पढ चुका है, जब वह आग्नीध्रकी ओर जाता है।

७. अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्। अयं वाजांजयतु वाजसातावयं शत्रूंजयतु जर्हृषाणः स्वाहा (वासं० ५.३७)।

८. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३५०, काश्रौसू० १०.२.७)।

भारद्वाजके अनुसार यजमानके सम्बन्धियोंको बुलाया जाता है। सर्वप्रथम अध्वर्यु यजमानका स्पर्श करता है, तब यजमानके पुत्र-भाई यजमानपत्नीका स्पर्श करते हैं। अब अध्वर्यु उन सब सम्बन्धियोंको नया वस्त्र उढाता है तथा जो हिरण्य वस्त्रमें बाँधा गया था, उसे उस वस्त्रसे निकालता है।[१]

शतपथके अनुसार आग्नीध्र द्वारा अग्निके लिए दी गई तीसरी आहुतिपर अध्वर्यु गायकी दक्षिणा देता है तथा यह भी कहा गया है कि यदि सजे हुए अथवा बेसजे घोड़ेकी दक्षिणा भी देनी चाहे तो उसे चौथी आहुति भी देनी चाहिये।[२] चौथी आहुतिका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

दक्षिणाकी सामग्री

भारद्वाजने दक्षिणाके अन्तर्गत निम्नलिखित सामग्रियोंका उल्लेख किया है— ११२ गौवें, तिल, उड़द, भात, मन्थ (दूध मिला सत्तू), बकरा, भेड़, वस्त्र, सुवर्ण, गाडी, रथ, घोड़ा, और एक मनुष्य।[३] गौवोंके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद हैं— कुछ आचार्योंने २१, कुछ आचार्योंने २४ और कुछ आचार्योंने असंख्य गौवोंका उल्लेख किया है।[४] आपस्तम्बश्रौसू० में यह संख्या ७,६०,१००, तथा १००० दी हुई है। इस अवसरपर यह भी कहा गया है कि यदि यजमान सारी सम्पत्ति देना चाहता हो तो उसे अपने ज्येष्ठ पुत्रके भागको छोड़कर अपनी सारी सम्पत्ति दे देनी चाहिये तथा एक खच्चर भी अवश्य देना चाहये।[५] शतपथने केवल इतना कहा है कि यजमानको कमसे कम १०० गौवें तो अवश्य ही देनी चाहिये इससे कम नहीं।[६] आपस्तम्बने धान, जौं और गर्दभका भी उल्लेख किया है।[७] अत्रिगोत्रवाले ब्राह्मण को सुवर्ण देनेका विधान किया गया है किन्तु यदि अत्रि गोत्रीय ब्राह्मण उपलब्ध न

---

१. भारश्रौसू० (१४.४.१-३)।

२. शब्रा० (४.३.४.११-१३)।

३. भारश्रौसू० (१४.४.७)।

४. अंगरेजी अनुवाद युक्त भारश्रौसू० (१४.४.७) पर सम्पादकीय टिप्पणी।

५. आपश्रौसू० (१३.५.१)।

६. शब्रा० (४.३.४.३)। पञ्चविंशब्रा० (१०.१.१०-११) में गौओंकी संख्या ११२ कही गई है।

७. आपश्रौसू० (१३.५.२-४)।

हो तो अन्य किसी ब्राह्मणको वह सुवर्ण दानमें दे दिया जाता है ।[१] कात्यायनने ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्युको १२-१२ गौवें, ब्राह्मणाच्छंसि, प्रस्तोता, मैत्राव-रुण, प्रतिप्रस्थाताको ६-६ गौवें, होता, प्रतिहर्ता, अच्छावाक और नेष्टाको ४-४ गौवें और आग्नीध्र, सुब्रह्मण्या, ग्रावस्तुत् और उन्नेता को ३-३ गौवे, देनेका विधान किया है ।[२] भारश्रौसू० ने आग्नीध्रको रंगबिरंगे डोरोंसे बुने हुए तकिये, और बकरेकी दक्षिणाका विधान किया है । ब्रह्माको ऐसी दक्षिणा दी जाती है, जिससे ब्रह्माको किसी अन्य वस्तुकी चाह नहीं रह जाती । अन्तमें प्रतिहर्ताको और उसके पश्चात् प्रसर्पकोंको दक्षिणा दी जाती है । ये लोग पृष्ठ्याके दक्षिणमें सदस्में बैठे हुए होते हैं ।[३]

दक्षिणा प्राप्त करने वाले ऋत्विजोंका क्रम

कौन ऋत्विज सबसे पहले दक्षिणा ग्रहण करे इस सम्बन्धमें भी मतभेद प्राप्त होते हैं । गोब्रा० के अनुसार सर्वप्रथम अत्रि गोत्रीय ब्राह्मणको दक्षिणा मिलनी चाहिये किन्तु उसने स्वयं ही एक स्थानपर आग्नीध्रको सर्वप्रथम दक्षिणा देनेका विधान किया है । इस सम्बन्धमें कहा है कि यज्ञका मुखिया आग्नीध्र होता है,अत: उसे ही सबसे पहले दक्षिणा मिलनी चाहिये ।[४] इस सम्बन्धमें एक स्थानपर गोपथने क्रम इस प्रकारदिया है— सबसे पहले आग्नीध्र को, फिर क्रमशः ब्रह्मा, ऋत्विज्, सदस्य, सेवा करने वाले वेदवेत्ता, फिर सेवा करने वालेसे भिन्न और वेद जानने वाले से भिन्न पुरुष, फिर प्रसृप्त (सामान्य अधिकारी विशेष), दक्षिणा मांगने वाले, और अन्तमें भयके व्यवहारसे रक्षा करने वालेको भी दक्षिणा दी जाती है ।[५] शतपथके अनुसार सबसे पहले ब्रह्माको, फिर उद्गाता, होता, दोनों अध्वर्युओं को (जो हविर्द्धानमें बैठे हुए होते हैं), मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, उन्नेता, ग्रावस्तोता, सुब्रह्मण्य, और सबसे पीछे प्रस्तोताको दक्षिणा दी जाती है ।[६]

---

१. भारश्रौसू० (१४.५.५)।
२. काश्रौसू० (१०.२.२४,शब्रा० ४.३.४.२८-३२)।
३. भारश्रौसू० (१४.५.६,७-१०,१२-१३)।
४. गोब्रा० (१.२.१७)।
५. गोब्रा० (२.३.१८)।
६. शब्रा० (४.३.४.२२)।

दक्षिणासे सम्बन्धित कर्मकाण्ड

सर्वप्रथम यजमान हाथमें सुवर्णखण्ड और आज्य लेकर दक्षिणाओंके समीपमें पहुँचता है तथा पहुँचने पर दक्षिणा मन्त्रसे[१] प्राप्त करता है ।[२] मन्त्रके[३] साथ दक्षिणाका विभाजन करता है ।[४] अब अध्वर्यु प्राग्वंशके सामनेसे और सदस् के पीछेसे जाकर नेष्टा और आग्नीध्रके बीचमें उन गौवोंको ला रखता है । अब उन गौवोंको चात्वाल और अग्निशालाके बीचसे ले जाकर उत्तरकी ओर पहुँचाया जाता है । जब गौवें चली जा रही होती हैं, तब आहवनीयपर मन्त्र[५] पढा जाता है ।[६] गाड़ी, रथ, घोड़ा, या वस्त्र दिये जाते समय वरुणके निमित्त इस मन्त्रसे[७] और हाथी, मुनष्य दानमें दिये जाते समय यजमान प्रजापतिके निमित्त एक आहुति देता है ।[८]

काश्रौसू० के अनुसार १०० या ११२ गौवें निर्धारित मार्गसे[९] ले जाई जाती हैं । इसी मार्गसे मन्थ (दूध मिला सत्तू), चावल, तिल, उड़द भी ले जाया जाता है । शाला और सदोमण्डपके बीचके मार्गसे सदोमण्डपके उत्तरकी ओर आग्नीध्रको दाहिनी ओर रखता है । अब चात्वाल और उत्करके बीचसे उन निर्धारित गौवोंको निकालता है । अब यजमान मन्त्र[१०] पढ़ता हुआ आग्नीध्रदेशसे सदोमण्डपकी ओर जाता है । इसके पश्चात् मन्त्रका[११] पाठ करते हुए सदोमण्डपमें बैठे हुए सदस्योंको देता है । अब यजमान आग्नीध्रके पाससे गमन करता है, जिसके लिए मन्त्र[१२] पढ़ता

---

१. रूपेण वो रूपमभ्यैमि वयसा वयः (तैसं० १.४.४३ वासं० ७.४५)।

२. आपश्रौसू० (१३.५.९, भारश्रौसू० १४.४.८)।

३. तुथो वो विश्ववेदा वि भजतु (तैसं० १.४.४३)।

४. आपश्रौसू० (१३.५.११-१३, भारश्रौसू० १४.४.९)।

५. एतत्ते अग्ने राध एति सोमच्युतम् (तैसं० १.४.४३.२)।

६. आपश्रौसू० (१३.६.९) के अनुसार दक्षिणाका निनयन किया जाता है।

७. वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान (तैसं० १.२.८.१)।

८. भारश्रौसू० (१४.५.२)।

९. तैसं० (६.६.१) के अनुसार सदोमण्डप और गार्हपत्यके बीचसे दक्षिणा ले जाना युक्त है।

१०. वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षम् (वासं० ७.४५, तैसं० १.४.४३.२)।

११. यतस्व सदस्यैः (वासं० ७.४५)।

१२. ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणम् (वासं० ७.४६)। आपस्तम्ब (१३.६.१२) ने इस मन्त्रके द्वारा अत्रिगोत्र वाले ब्राह्मणको दक्षिणा देनेका विधान किया है।

है तथा मन्त्रके[१] द्वारा आग्नीध्रको सुवर्ण देता है ।[२]

अत्रिगोत्र वाले ब्राह्मण को सुवर्ण प्रदान

अब यजमान मन्त्र[३] पढ़कर आत्रेय ब्राह्मणके पास पहुँचकर सदोमण्डपके आगे बैठे हुए अत्रिगोत्र वाले ऋत्विजको मन्त्र[४] पढ़कर सुवर्ण देता है । सुवर्ण देनेसे पूर्व यजमान इस अवसरपर तीन बार पूछता है कि यहाँ कोई अत्रिगोत्र वाले ब्राह्मण हैं ? तब उनमेंसे अत्रिगोत्र वाला ब्राह्मण तीन बार कहता है— मैं आत्रेय हूँ । इस पर यजमान एक बार "अहालेयमवालेयमकौद्रेयमशौभ्रेययमवामरथ्यमगौपवनं कहता है, तब वह भी ऐसा ही कहता हैं ।[५]

भारद्वाजने भिन्न मन्त्रका[६] उल्लेख करते हुए अत्रिगोत्र वाले ब्राह्मणको सुवर्ण प्रदान करते हुए यह भी निर्देश दिया है कि सबसे पहले अत्रिगोत्र वाले ब्राह्मणको ही दक्षिणा देनी चाहिये । विकल्पके रूपमें यह भी कहा गया है कि अत्रिगोत्र वाले ब्राह्मणको बीचमें अथवा अन्तमें भी दक्षिणा दी जा सकती है ।[७]

मन्त्रपूर्वक अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा दक्षिणाग्रहण

प्रतिप्रस्थाता और अध्वर्यु मन्त्रके[८] द्वारा हिरण्य, मन्त्रके[९] द्वारा गौवे, मन्त्रसे[१०]

---

१. अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमा विशत (वासं० ७.४६)।
२. काश्रौसू० (१०.२८-१०.२.१९, शब्रा० ४.३.४.१४-२०)।
३. ब्राह्मणमद्येति।
४. अस्मद्राता इति।
५. काश्रौसू० (१०.२.२०)।
६. ब्राह्मणमद्य राध्यासमृषिमार्षेयम् (तैसं० १.४.४३.२)।
७. भारश्रौसू० (१४.५.४)।
८. अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे (वासं० ७.४७)।
९. रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे (वासं० ७.४७)।
१०. बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे (वा० सं० ७.४७)।

प्रवर्ग्य

वस्त्र, मन्त्रके[१] द्वारा घोड़ा और अन्य वस्तुएँ मन्त्रके[२] द्वारा ग्रहण करते हैं ।[३]

अन्तिम कृत्य

भारद्वाजके अनुसार मन्त्रके[४] द्वारा अध्वर्यु सदोमण्डपकी ओर देखता है ।[५] आपस्तम्बने आदित्य देखनेका विधान किया है ।[६] भट्टभास्करके अनुसार अध्वर्यु यजमानको आदित्य उक्तमन्त्रके द्वारा देखनेको कहता है ।[७] अब मन्त्रके[८] द्वारा सदोमण्डपमें स्थित ऋत्विज आदि सभी सदस्य उस यजमानको बैठाते हैं ।[९] भारद्वाजने उक्त कृत्यका उल्लेख नहीं किया है । कात्यायनने सदोमण्डप देखनेके लिए उक्त मन्त्रका विधान अवश्य किया है जिसको पहले बताया जा चुका है ।

अब अध्वर्यु मन्त्रके[१०] साथ जाती हुई दक्षिणाओंके पीछे पीछे कुछ दूर तक चलता है ।[११] मन्त्रसे[१२] अध्वर्यु अग्नीध्रीयमें पाँच विश्वकर्मा आहुति देता है ।[१३]

अब यजमान मन्त्रके[१४] साथ काले हरिणका सींग चात्वालमें फेंक देता है ।[१५]

---

१. यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे (वासं० ७.४७)।

२. कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते (वासं० ७.४८)।

३. काश्रौसू० (१०.२.२४-२९, शब्रा० ४.३.४.२८-३२)।

४. वि सुवः पश्य व्यन्तरिक्षम् (तैसं० १.४.४३.२)।

५. भारश्रौसू० (१४.६.३)।

६. आपश्रौसू० (१३.६.१४)।

७. भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठसं० ६१७)।

८. यतस्व सदस्यैः (तैसं० १.४.४३)।

९. भट्टभास्कर भाष्य (पृष्ठसं० ६१७)।

१०. अस्मद्द्रात्रा देवत्रा गच्छत (तैसं० १.४.४३.३)।

११. भारश्रौसू० (१४.६.४)।

१२. यज्ञपतिमृषय एनसाहुः (तैसं० ३.२.८.१-३)।

१३. भारश्रौसू० (१४.६.५)।

१४. हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् । स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् । विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ (अथर्वसं० ३.७.१-२)।

१५. भारश्रौसू० (१४.६.६)।

शतपथब्राह्मणके अनुसार इस अवसरपर "इन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीति" प्रैषके द्वारा दक्षिणासे सम्बन्धित कृत्य समाप्त किया जाता है ।[१]

मरुत्वतीय ग्रह

ग्रहग्रहणके प्रसंगमें मरुत्वतीयग्रहके ग्रहणका उल्लेख किया जा चुका है, अब दूसरी और तीसरी बार ग्रहण करना और शेष रह जाता है, क्योंकि मरुत्वतीय ग्रह तीन बार ग्रहण किया जाता है ।

सर्वप्रथम अध्वर्यु मरुत्वतीयग्रह लेकर मरुत् और इन्द्रकी आहुतिसे सम्बद्ध पुरोनुवाक्या[२] के पाठके लिए मैत्रारुणको प्रैष "इन्द्राय मरुत्वतेऽनुवाचयति" करता है ।[३] भारश्रौसू० (१४.६.७) ने अनुवाचयतिके स्थानपर अनुब्रूहि का प्रयोग किया है ।

अब प्रतिप्रस्थाता दूसरे ऋतुपात्रके द्वारा द्रोणकलश या पूतभृत् से मरुत्वतीय ग्रहको मन्त्रसे[४] ग्रहण करता है । तीसरी बार ग्रहका ग्रहण रिक्त पात्रके द्वारा किया जाता है, जो अध्वर्यु मन्त्रसे[५] ग्रहण करता है ।[६] दूसरी और तीसरी बार ग्रह ग्रहण करनेके लिए उव्वट और महीधरने दो मन्त्रोंका[७] विकल्पके रूपमें उल्लेख किया है ।[८]

---

१. शब्रा० (४.३.४.२३)।

२. इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्याते अपिबः सुतस्य । तव प्रणीती तव शूर शर्मन्ना विवासन्ति कवयः सुयज्ञाः। (ऋसं० ३.५१.७)।

३. काश्रौसू० (१०.३.१)।

४. उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे गृह्णामि (वासं० ७.३६)।

५. मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत गृह्णामि। एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते सादयामि । (वासं० ७.३६)।

६. काश्रौसू० (१०.३.३.७ भारश्रौसू० १४.२.१)।

७. सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् जहि शत्रूँ रप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय आसिंचस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रतिपत्सुतानाम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते (वासं० ७.३७-.३८)।

८. उव्वट और महीधरका भाष्य (पृष्ठसं० १२८)।

इस अवसरपर आपस्तम्बका कहना है कि यदि अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता यजमानसे द्वेष करते हों तो उन्हें चाहिये कि वे मन्त्रके बीचमें किसी अन्य दूसरे देवताका नाम बोलें ।[१]

ग्रहण करनेके पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता होम करते हैं ।[२]

सरलावृत्तिके अनुसार होमके अनन्तर अध्वर्यु और होता मरुत्वतीय भक्षण करते हैं । प्रतिप्रस्थाता बिना किसीकी अनुज्ञा लिए ही भक्षण करता है तथा इसी प्रकार बिना किसीकी आज्ञा लिये हुए ही होता नाराशंसका भक्षण करते हैं ।[३]

भारश्रौसू० (१४.६.१०) के अनुसार श्रौषट्के अनन्तर याज्याके[४] लिए प्रैष "इन्द्राय मरुत्वते प्रेष्य" किया जाता है ।[५]

अब मरुत्वतीयग्रहकी दूसरी आहुति दी जाती है । इस अवसरपर यह मतभेद प्राप्त होता है कि किस वषट्कारके साथ दूसरी आहुति दी जाय । भारद्वाजने उल्लेख किया है कि कुछ आचार्योंके अनुसार दूसरे वषट्कारके साथ आहुति दी जानी चाहिये, कुछ आचार्योंके अनुसार आहुति नहीं दी जानी चाहिये अपितु पहले वषट्कारके साथ ही आहुति दी जानी चाहिये ।[६]

अब अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाताके ग्रहमें और प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युके ग्रहमें बूँद डालता है ।[७] अध्वर्युके जिस ग्रहमें सोमकी कुछ बूँदें बची हुई होती है, उस ग्रहमें मन्त्रके[८] द्वारा अध्वर्यु तृतीय मरुत्वतीयग्रहसे सोम ग्रहण करता है ।[९]

---

१. आपश्रौसू० (१३.२.५)।

२. काश्रौसू० (१०.३.४-५)।

३. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३७५) तथा भारश्रौसू० (१४.६.१४) के अनुसार होता, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता ये तीनों ही प्रतिप्रस्थाताके ग्रहसे सोमपान करते हैं।

४. उव्वट और महीधरने जिस ऋचाका उल्लेख विकल्पके रूपमें मरुत्वतीय ग्रहके ग्रहण के अन्तर्गत किया है, वही याज्या भी है, जो (ऋसं० ३.४७.२) में प्राप्त है।

५. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३८१)।

६. भारश्रौसू० (१४.६.११-१२)।

७. भारश्रौसू० (१३.३०.९, १४.६.१३)।

८. मरुत्वां इन्द्र रणाय (तैसं० १.४.१९)।

९. भारश्रौसू० (१४.६.१५)।

मरुत्वतीयशस्त्र

मरुत्वतीयग्रह ग्रहण करनेके पश्चात् मरुत्वतीय[१] शस्त्रका पाठ किया जाता

---

१. सर्वप्रथम प्रतिपत्तृचका पाठ होता है— अध्वर्यो शोंसावो३म् आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि। तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पतोऽम्। तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते। आ पप्राथ महित्वनोम्। यस्य ते महिना महःपरिज्मायन्तमीयतुः। हस्ता वज्रं हिरण्ययो३म्॥ (ऋसं ८.६८.१-३)। अब प्रतिपतृचके पश्चात् अनुचरस्तृचका पाठ होता है— शोंसावोऽम् इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् अनाभयिन् ररिमा तो३म्। नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषो३म् तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादो३म् (ऋसं० ८.२.१-३)। अब इन्द्रनिहव प्रगाथका पाठ किया जाता है– शोंसावो३म् इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः। आ शंतम शंतमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभो३म् आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिम्। कृधि प्रजास्वाभगो३म् प्र सूतिरा शचीभिर्ये त उक्थिनः क्रतुं पुनत आनुषको३म् (ऋसं० ८.५३.५-६)। इन्द्रनिहव प्रगाथके पश्चात् ब्राह्मणस्पत्य प्रगाथका पाठ होता है— प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरो३म् (ऋसं० १.४०.५)। शोंसावो३म् त्वं सोम कृतुभिः सुक्तुभूः। तं दक्षः सुदक्षो विश्ववेदो३त्वा वृषा वृषत्वेभिमहित्वा। घुम्नेभिघुम्नये भवो वृचक्षऽम् (ऋसं १.९१.२)। शोंसावो३म् पिन्वंत्यपो मरुतः सुदानवः। पयो घृतवद्विदथेष्वाभुवो३म् अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्। उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितो३म् (ऋस० १.६४.६)। ऐब्रा० (३.५.१८) ने पिन्वत्यपो के स्थानपर निम्न मन्त्रका उल्लेख किया है— तान् वो महो मरुत एव यान् वो विष्णोरेषस्य प्रभृथे हवामहे। हिरण्यवर्णान् ककुहान् यतसुचो ब्रह्मण्यन्तः शंस्यं राध ईमेहे (ऋसं० २.३४.११)। अब मरुत्वत प्रगाथका पाठ किया जाता है प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत। वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणो३म् अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित् ते असद्बृहत् अर्षन्त्वापो जवसा वि मातरो हनो वृत्रं जया स्वो३म् (ऋसं० ८.८९.३,४)। मरुत्वतीय प्रगाथके पश्चात् निविद्धानीय सूक्तका पाठ किया जाता है– जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानो३म् अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा द्रुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः। पुरूशंसेन वावृधुष्ट इन्द्रो३म् अभीवृतेवता महापदेन। ध्वान्तात् प्रपित्वादुदरन्त गर्भो३म् ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगासि। अवर्धन् वाजा उत ये चिदत्रो३म् त्वमिन्द्रे सालावृकान्त्सहस्रम्। आसन् दधिषे अश्विना ववृत्यो३म् समना तूर्णिरुप यासि यज्ञमा नासत्या सख्याय वक्षि। वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राऽश्विना शूर ददतुर्मघानि मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्। आभिर्हि माया उप वस्युमागात्। मिहः प्र तम्रा अवपत तमो३म् सनामाना चिद्ध्वसयो न्यस्मा। अवाहन्निन्द्र उषसो यथानो३म् ऋष्वैरगच्छः

है,[१] जो प्रात: सवनकी अपेक्षा माध्यन्दिनसवनमें अधिक तेजी के साथ पढ़ा जाता है।[२]

मरुत्वतीयशस्त्रका पाठ प्रारम्भ करनेसे पूर्व होता छह अक्षर वाले "अध्वर्यु-शोंसावोम्" का उच्चारण करता है, जिसपर अध्वर्यु पाँच अक्षरों वाले "शंसामोदैवोम्" का प्रतिगरके रूपमें उच्चारण करता है। इसी प्रकार माध्यन्दिन सवनके अन्तमें होता सात अक्षरों वाले "उक्थं वाचि इन्द्राय" का उच्चारण करता है, जिस पर अध्वर्यु प्रतिगरके चार अक्षरों वाले 'ओमुक्थाशा:' का उचारण करता है।[३]

अभिचार प्रयोग

ऐब्रा० (३.२.१९) में अभिचारके प्रयोगका विधान करते हुए कहा गया है कि जो यजमान चाहे कि क्षत्रियसे वैश्यका हनन करूँ तो होता सूक्त (के आदि,

---

सखिभिर्निकामैः। साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थो३म् (ऋसं १०.७३.१-६)। निविद्धानीय सूक्तके पश्चात् निवित् का पाठ होता है— इन्द्रो मरुत्वास सोमस्य पिब्तु। मरुत्स्तोत्रो मरुदगणः। मरुत्सेसा मरुदेवघः। घ्नन वृत्र सृजदपः। मरुताभोजेसा सह यह मैन देवा अन्वमदन। अप्तूर्ये वृत्रतूर्ये। शम्बरहत्ये गविष्टो। अचेन्त गुहया पदा। परमस्या परावति। आदी ब्रह्माणि अधयन्। धनाघृष्टा न्योजसा। कृण्वन देवेभ्यो दुवः। मेरुद्धिः सविभिः सह। इन्द्रो मरुत्वां इह श्रवदिह सोमस्य पिवतु। प्रेमां देवो देवहेतिभवतु देव्या किया। वह प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम् प्रेम सुन्वन्तं यजमानभवतु। चित्रश्चित्राभिरुतिभिः। श्रवदेब्रह्माण्यावसा गमो३म् (खिलम् ५.५.२) त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युम्। दासं कृण्वान ऋषये विमायो३म् त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्। पथो देवत्राञ्जसेव यानो३म् त्वमेतानि पप्रिषे वि नाम। ईशान इन्द्र दधिषे गभस्तो३म अनुत्वा देवाः शवसा मदन्ति। उपरिबुध्नान् वनिनश्चकर्थो३म् चक्रंयदस्याप्स्वा निषत्तम्। उतो तदस्मै मध्विच्छद्यो३म् पथिव्यामतिषितं यदूधः। पयो गोष्वदधा ओषधीषो३म् अश्वादियायेति यद्वदन्ति। ओजसो जातमुत मन्य एनो३म् मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ। यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेदो३म् (ऋसं० १०.७३.७-१०) अब अन्तमें परिधानीयाका पाठ होता है— शोंसावो३म् वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रम्। प्रियमेधा ऋषयो नाधमानो३म् अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुः। मुमुग्ध्यस्मान् निधियेव बद्धो३म् (ऋसं० १०.७३.११)। इस मन्त्रके साथ ही मरुत्वतीय शस्त्र समाप्त हो जाता है। ऐब्रा० में कहा गया है कि होता जिस अन्धकारसे अपनेको आवृत माने उस अन्धकार से दूर हट रहा हूँ, ऐसा ध्यान करते समय हाथसे आँखोंको पुनः पुनः मलता है।

१. आश्वश्रौसू० (५.१४.२, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ३८३)।

२. ऐब्रा० (३.४.४४)।

३. ऐब्रा० (३.२.१२)।

मध्य और अन्त) में तीन टुकड़े करके निवित् पदोंका विच्छेदरूपमें शंसन करे। यदि यजमान चाहे कि वैश्यसे क्षत्रियका हनन करूँ तो निवित् (पदोंके आदि, मध्य और अन्तमें) तीन भाग करके सूक्तका विच्छेदरूपमें शंसन करे। यदि होता चाहे कि इस यजमानको दोनों ओरसे (पुत्र, पिता, चाचा आदि रूप) प्रजासे पृथक् करूँ तो निवित् के (आदि और अन्तमें) दोनों ओर आहाव (शोंसावोम्) मन्त्र पढ़े।

सोमभक्षण

अब अध्वर्यु अपने ग्रहको उठाता है, चमसाध्वर्यु लोग नाराशंसचमस उठाते हैं। होता याज्या[१] का पाठ करता है, वषट्कारपर आहुति दी जाती है। चमसाध्वर्यु लोग अपने अपने चमस हिलाते हैं। मन्त्र[२] पढकर सोमपान किया जाता है, चमसी लोग मन्त्रके[३] साथ अपने अपने चमस पी जाते हैं।[४] मन्त्रके साथ अधूरे पिये हुए चमसोंमें सोम भरा जाता है। जिन नाराशंसचमसोंको भर दिया जाता है, वे दक्षिण हविर्द्धान शकटके पीछे नीचकी ओर रख दिये जाते हैं।[५]

तूष्णीशंसके साथ मरुत्वतीयशस्त्रकी समाप्ति की जाती है।

माहेन्द्रग्रह ग्रहण तथा निष्केवल्य शस्त्र

मरुत्वतीयग्रहके पश्चात् शुक्रपात्रके द्वारा द्रोणकलशसे माहेन्द्रग्रहका ग्रहण अध्वर्यु मन्त्र पढ़कर[६] करता है।[७]

---

१. ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन् ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ। ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः (ऋसं० ३.४७.४)।

२. रुद्रवद्गणस्य सोम देव ते (तैसं० ३.२.५.२)।

३. नराशंसपीतस्य सोम देव ते (तैस० ३.२.५.२)।

४. आ प्यायस्व समेतु ते (तैसं० ३.२.५.३)।

५. भारश्रौसू० (१४.६.१८-२५)।

६. महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः। अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वा गृह्णामि। एष ते योनि र्महेन्द्राय त्वा सादयामि (वासं० ७.३९)। भारश्रौसू (१४.७.१) के अनुसार महाँ इन्द्रो य ओजसा (तैसं० १.४.२०)।

७. काश्रौसू० (१०.३.११, भारश्रौसू० १४.७.१, शब्रा० ४.३.३.१८, आपश्रौसू० १३.८.४)।

माहेन्द्रग्रहग्रहणके अवसरपर प्रथम पृष्ठस्तोत्र[1] तथा निष्केवल्य शस्त्रका[2]

---

१. द्रोणकलशस्थं सर्वं सोमं पूतभृत्कलशे निनीय अभि त्वा शूर नोनुम। (ऋसं० ५.३.२१) इत्याद्यासु तिसृषु ऋक्षु गीयमानं महेन्द्रस्तोत्रं पृष्ठमित्युच्यते (काश्रौसू० १०.३.१२ पर सरलावृत्ति)। श्रौतकोश (पृष्ठसं० ३८८, साकौसूं० २.१.१.११, २.२.१.१२, साजैस० ३.४.१-२)।

२. अध्वर्यो शोंसावो३म् अभि त्वा शूर नोनुमो5दुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषो३म् न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते5श्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनः। गव्यन्तस्त्वा हवामहो३म् (ऋसं० ७.३२.२२-२३)। यह स्तोत्रीय प्रगाथ है। वृहत्पृष्ठकी ऋचा (६.४६.१-२) है। शोंसावो5म् अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः। समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यो३ मस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवः। मदे सुतस्य विष्णवो३म् मदे सुतस्य विष्णव्येद्या तमस्य महिमानमायवः। अनुष्टुवन्ति पूर्वथो३म् (ऋसं० ८.३.७-८) यह अनुरूप प्रगाथ है। शोंसावो३म् यद्वावान पुरुतमं पुराषाट्। वा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्रो३म् अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्। यदीमुश्मसि कर्तवे करत् ततो३म् (ऋसं० १०.७४.६)। यह धाय्या है। शोंसावो३म् पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः। आपिर्नो बोधि। सधमाद्यो वृधेस्मां अवन्तु ते धियो३म् भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नः स्तरभिमातये। अस्मांचित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामयो३म् (ऋसं० ८.३.१-२)। यह सामप्रगाथ है। शोंसावो३म् इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्। यानि चकार प्रथमानि व्रजो३म् अहन्नहिमन्वपस्ततर्द। प्रवक्षणा अभिनत् पर्वतानो३म् अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम्। त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्षो३म् वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमानाः। अंजः समुद्रमव जग्मुरापो३म् वृषायमाणो5वृणीत सोमम्। त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्यो३म् आ सायकं मघवादत्त वज्रम्। अहन्नेनं प्रथमजामहीनो३म् यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनाम्। आन्मायिनाममिनाः प्रोत मायो३म् आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीला शत्रुं न किला विवित्से। अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसभिन्द्रो वज्रेण द्यामुषासम्। तादीला शत्रुं न किला विवित्सो३म् अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम्। इन्द्रो वज्रेण महता वधेनो३म् स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा। अहिः शयत उपपृक् पृथिव्यो३म् अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे। महावीरं तुविबाधमृजीषो३म् नातारीदस्य समृतिं वधानाम्। सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रो३म् अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रम्। आस्य वज्रमधि सानौ जघानो३म् वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्। पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तो३म् नदं न भिन्नममुया शयानम्। मनो रुहाणा अति यन्त्यापो३म् याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्। तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूवो३म् (ऋसं० १.३२.१-८) यह निविद्धानीय सूक्त है। शोंसावो३म् इन्द्रो देवः सोमं पिबतु। एकजानां वीरतमः भूरिजानां तवस्तमः। हर्योः स्थाता पृश्नेः प्रेता। वज्रस्य भर्ता। पुरां दमा। अपां स्रष्टा। अपां नेता। सत्वनां नेता। निजघ्निदरिश्रवा

पाठ किया जाता है ।[१]

याज्या एवं उससे सम्बन्धित अभिचार

निष्केवल्यशस्त्रके लिए तैंतीस अक्षरों वाली विराटछन्दस्क याज्या[२] स्वीकार की गई है । याज्याके सम्बन्धमें अभिचारके कुछ प्रयोग ऐब्रा० (३.२.२२) ने बताये हैं— जिस यजमानको होता चाहे कि वह गृहादि आश्रयविहीन हो जाय, तो वह विराट् के अतिरिक्त गायत्री या त्रिष्टुभ् अथवा किसी अन्य छन्दसे युक्त याज्याका पाठ करके वषट्कार करे, इस प्रकारके प्रयोगसे यजमान निश्चय ही आयतनविहीन हो जायेगा । किन्तु यदि यजमानको होता आयतनविहीन न करना चाहे तो उसे चाहिये कि वह विराट् छन्दस्क याज्यासे यजन करे, इस प्रकार यजमान आयतनसे युक्त हो जायेगा ।

उपमाजिकृद्दंसनावान् । इहोशन् देवो वभूवान् । इन्द्रो देव इह श्रवदिह सोमं पिबतु । प्रमां देवो देवहूतिमवतु देव्या धिया । प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षेत्रम् । प्रेमं सुन्वन्तं यजमानमवतु । चित्रश्चित्राभिरूतिभिः श्रवद् ब्रह्मण्यावसा गमो३म् (खिलम् ५.५.३)। नीचावया अभवद् वृत्रपुत्र । इन्द्रो अस्या अव वधर्जभारो३म् उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् । दानुः शये सहवत्सा न धेनो३म् अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम् । काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरो३म् वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापोः। दीर्घं तम आशय दिन्द्रशत्रो३म् दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् । निरुद्धा आपः पणिनेव गावो३म् । अपां बिलमपिहितं यदासीद् । वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववारो३म् अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र । सृके यत् त्वा प्रत्यहन् देव एको३म् अजयो गा अजयः शूर सोमम् । अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धो३म् नास्मै विद्युन्न तन्यतुः । सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं चो३म् इन्द्रश्च यद् ययुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये । अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषो भीरगच्छो३म् । नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः। श्येनो न भीतो अतरो रजांसो३म् (ऋसं० १.३२.९-१४)। शोंसावो३म् इन्द्रो यातो वसितस्य राजा । शमस्य च शृंगिणो बज्रबाहो३म् सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम् अरान् न नेमिः परि ता इस बभूवो३म् (ऋसं० १.३२.१५)

१. आश्वश्रौसू० (५.१५.१, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ३६२-३६५)।

२. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः । सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा (ऋसं० ७.२२.१)।

शस्त्रपाठके सम्बन्धमें सावधानी

ऐब्रा० (३.२.२४) में शस्त्रपाठके[१] सम्बन्धमें विधान किया गया है कि स्तोत्रिय[२] तृच मध्यम[३] स्वरसे, अनुरूप प्रगाथ[४] उच्चस्वरसे, धाय्या बहुत नीचे स्वरसे[५] प्रगाथ[६] स्वर सहित तथा सूक्तशंसन द्रुत-विलम्बित आदि दोषोंसे रहित तथा प्रतिष्ठिततम वाणीसे किया जाना चाहिये।

प्रैषकथन

माहेन्द्रग्रह ग्रहण करनेके तथा पृष्ठ-स्तोत्रोपाकरणके अनन्तर अध्वर्यु प्रैष रूप वाणीका उत्पादन करता है। शब्रा० (४.४.३.१९) के अनुसार प्रैष इस प्रकार है— "अभिषोतारोऽभिषुणुत, औलूखलानुद्वादयत, अग्नीदाशिरं विनय, सौम्यस्य वित्तात्"। भारश्रौसू० (१४.७.३) ने भी इसी प्रकारके प्रैषका उल्लेख किया है।

सायंकालमें अनुष्ठित होने वाले तृतीयसवनके लिए माध्यन्दिनसवनमें ही सोमके लिए मूसली चलाई जाती, आग्नीध्रके द्वारा दही बिलोई जाती तथा सोमके लिए चरु पकाया जाता है।[७] भारश्रौसू० ने दोनों मतोंका उल्लेख किया है अर्थात् सोम कूटनेसे सम्बद्ध, सवनीय पुरोडाशके लिए सौम्य चरु पकानेसे सम्बद्ध, भात पकानेके लिए धान उडेलनेसे सम्बद्ध, जमी हुई दही मथनेसे सम्बद्ध सभी कृत्य माध्यन्दिनसवनमें भी किये जा सकते हैं और तृतीयसवनमें भी।[८]

---

१. आहावः शोंसावोमिति मन्त्रः। स्तोत्रिये तृचे प्रथममध्यमोत्तमाः तिस्र ऋचः। याज्यान्ते पठितव्यो वषट्कारः तदेत्पंचकं शस्त्रस्वरूपम् (ऐब्रा० ३.२.२३)।

२. अभि त्वा शूर नोनुमः इत्यस्मिन् प्रगाथे तृचं संपाद्य सामगाः स्तुवन्ति (द्र० सायणकृत सामवेदभाष्योपक्रमणिका, पृष्ठसं० ८८) सोऽयं स्तोत्रियस्तृचः तमादौ शंसेत् (ऐब्रा० ३.२.२४ पर सायणभाष्य, आश्वश्रौसू० ५.१५.१-३)।

३. यां दीक्षितविमितदेशस्थ एव शृण्वन्ति सा मध्यमा वाक् इति भट्ट भास्करः।

४. स्तोत्रियतृचसमानच्छन्दः प्रमाणलिंगदेवतार्षस्तृचोऽनुरूपः। स्तोत्रियेण तृचेन सदृशतृचो अनुरूपः(ऐब्रा० ३.२.२४ पर सायणभाष्य, आश्वश्रौसू० ५.१५.१-३)।

५. यां दीक्षितविमितस्थानस्था अपि न शृण्वन्ति सा नीचतरा वाक् इति भट्टभास्करः

६. द्वयोः ऋचोः समूहः प्रगाथः (ऐब्रा० ३.२.१७ पर सायण भाष्य)। तृचाः प्रतिपदनुचराः द्वृचाः प्रगाथाः इति (आश्वश्रौसू० ५.१४.७)।

७. शब्रा० (४.३.३.१९)।

८. भारश्रौसू० (१४.७.४, १४.९.९, ११.१०.२)।

आहुति तथा सोमपान

अब अध्वर्यु अपना ग्रह और चमसाध्वर्यु अपने नाराशंसचमस लेते हैं। अतिग्राह्यग्रहोंको भी ले लिया जाता है। प्रतिप्रस्थाता अग्निके लिए, इन्द्र वाले ग्रहको नेष्टा और सूर्य वाले ग्रहको उन्नेता लेता है। होता द्वारा वषट्कार किये जानेपर अध्वर्यु आहुति देता है। चमस हिलाये जाते हैं। मन्त्रके[१] साथ अलग-अलग तीन अतिग्राह्यग्रहोंकी आहुति दी जाती है। फिर मन्त्रके[२] साथ सोमपान किया जाता है। समन्त्रक[३]ही अतिग्राह्यग्रहोंका पान किया जाता है। नाराशंसचमस भी समन्त्रक[४] ही पीये जाते हैं। इस अवसरपर चमस भरे नहीं जाते अपितु उनको माँज दिया जाता है।[५]

शुष्काभिषव

कात्यायनने इस अवसरपर शुष्काभिषवका उल्लेख किया है।[६] प्रतिप्रस्थाता अधिषवणके उत्तरकी ओर तथा नेष्टा व उन्नेता अधिषवणके दक्षिणकी ओर बैठते हैं। तीनों हाथ धोते हैं तथा सोना अंगुलीमें बाँधते हैं। अब जलसे सींचे बिना तीन तीन पर्यायमें तीन अभिषव किये जाते हैं। प्रतिप्रस्थाता समस्त ऋजीषको आधवनीयमें रखता है। सोम छाननेका वस्त्र द्रोणकलशस्थ शुक्र (सोम) में न डालकर पूतभृत्में डाल दिया जाता है, क्योंकि तीसरे सवनमें शुक्र (द्रोणकलशस्थ सोम) का निषेध है।[७]

उक्थ्यग्रहप्रचार

मार्जालीयमें माहेन्द्रग्रह धोने, पादप्रक्षालन आदि कृत्य करनेके उपरान्त प्रातःसवनके समान प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसि तथा अच्छावाक "इन्द्राय त्वा देवाव्यं

---

१. अग्ने तेजस्विन् (तैसं० ३.३.१)।
२. रुद्रवद्गणस्य सोमदेव ते (तैसं० ३.२.५.२)।
३. मयि मेधां मयि प्रजाम् (तैसं० २.३.१.३)।
४. नाराशंसपीतस्य सोम ते ।
५. भारश्रौसू० (१४.७.५,६-१४)।
६. सोमके सूखा होनेके कारण तथा उसपर निग्राभ्या जलका सेचन न होनेसे यह अभिषव शुष्काभिषव कहलाता है (वैदिक कोश पृष्ठसं० ४०९)।
७. काश्रौसू० (१०.३.१८)।

यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (वासं० ७.८२) मन्त्रके साथ उक्थ्यस्थालीस्थ सोमके तीन भाग करके ग्रहण करते हैं।[१]

प्रथम विग्रह अध्वर्युकर्तृक होता है, जिसमें अध्वर्यु उक्थ्यपात्रको बाएँ हाथमें लेकर उक्थ्यस्थालीको दाएँ हाथसे उठाकर उक्थ्यपात्रमें सोमका तृतीय भाग डालता है। उक्थ्यस्थालीको चुपचाप यथास्थान रखता है। चुपचाप ही ग्रहका आसादन किया जाता है, इसके पश्चात् प्रशास्तृचमस पूर्वक चमसोन्नयन, दो तृणोंसे ग्रहका स्पर्श करके स्तोत्रोपाकरण किया जाता है, तब प्रशास्ता द्वितीय पृष्ठस्तोत्रका[२] पाठ करता है। स्तोत्रके अन्तमें मैत्रावरुणशस्त्रका[३] पाठ होता है, जिसमें अध्वर्युके द्वारा प्रतिगर किया जाता है, तब ग्रहादान, चमसाध्वर्युओंका चमसादान और प्रैष "उक्थशा यज सोमानाम्" किया जाता है। प्रैषके अनन्तर प्रत्येक वषट्कारपर ग्रहचमस होम किया जाता है। ग्रहशेषका प्रशास्तृचमसमें सेचन तथा पात्रको हविर्द्धानके मध्यमें रख दिया जाता है। अब अध्वर्यु और प्रशास्ता दोनों ग्रहशेष भक्षण करते हैं। प्रशास्ता भी अपने चमसका पान करता है, यह भक्षण समस्त सोमका होता है, कुछ छोड़ा नहीं जाता, तब पात्रोंका मार्जालीयमें मार्जन किया जाता है। देवयाज्ञिकके अनुसार इस प्रकार उक्थ्यस्थालीस्थ सोमका प्रथम विग्रह किया जाता है।[४]

द्वितीय विग्रह प्रतिप्रस्थाताकर्तृक होता है, जिसकी क्रियाएँ भी पूर्ववत् हैं किन्तु इस अवसरपर तृतीय पृष्ठस्तोत्रका[५] तथा ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रका[६] पाठ किया

---

१. काश्रौसू० (१०.३.२१ तथा भारश्रौसू० १४७.१६)।

२. साकौसं० (१.२.२.३.५, २.१.१.१२, साजैसं० ३.४.३-५, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ३९८)।

३. मैत्रावरुणशस्त्रके अन्तर्गत स्तोत्रीय तृच (ऋसं० ४.३१.१-३), अनुरूपस्तृच (ऋसं० ८.९३.१९-२१), प्रगाथ (ऋसं० ७.३२.१४-१५), परिधानीया (ऋसं० ४.१९.११) तथा याज्या "उशन्नु षुणः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः। पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन (ऋसं० ४.२०.४) का पाठ किया जाता है।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३५८)।

५. साकौसं० (१.३.१.५.४, २.१.१.१३, १.३.१.५.३, २.२.१.१३, साजैसं० ३.४६-७, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ४०३)।

६. ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रके अन्तर्गत स्तोत्रिय प्रगाथ (ऋसं० ८८८.१-२), अनुरूप प्रगाथ (ऋसं० ८.३.९-१०), प्रगाथ (ऋसं० ८.३.१५-१६), परिधानीया (ऋसं० ७.२३.६), तथा याज्या "ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा। युक्त्वा हरिभ्यामुप

जाता है। तृतीय उक्थ्यविग्रहके अवसरपर चतुर्थ पृष्ठस्तोत्र[1] तथा अच्छावाक शस्त्रका[2] पाठ होता है।[3] शब्रा० (४.२.३.१५) ने चरकाध्वर्युओंके विग्रहणका तो

यासदर्वाङ् माध्यंदिने सवने मत्सदिन्द्रः (ऋसं० ५.४०.४) का पाठ किया जाता है। बृहत्पृष्ठमें स्तोत्रिय प्रगाथ (ऋसं० ८.४९.१-२), अनुरूप प्रगाथ (ऋसं० ८.५०.१-२) प्रगाथ (ऋसं० ८.३.१५-१६), परिधानीया (ऋसं० ७.२३.६) का पाठ किया जाता है। बृहत्पृष्ठ में याज्या वही है, जो रथन्तरपृष्ठ में है। गोब्रा० (२.४.२) ने उक्थमुखम् और पर्यासका भी उल्लेख किया है।

१. साकौसं० (१.३.१.५.५., २.१.१.१४, साजैसं० ३.४८-९)।

२. सर्वप्रथम स्तोत्रिय प्रगाथका तीन बार पाठ किया जाता है— तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये। बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणं न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धसो३म् य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यो३म् (ऋसं० ८.६६.१-२)। इसके बाद शोंसावो३म् तरणिरित् सिषासति वाजं पुंरध्या युजा। आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रवो३म् न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशतो३म् सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत् पार्ये दिवो३म् (ऋसं० ७.३२.२०)। इस अनुरूप प्रगाथका पाठ किया जाता है। अनुरूप प्रगाथके पश्चात् प्रगाथका पाठ होता है— उदिन्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः। य इन्द्रो हरिवान् न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमनो३म् मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वां। पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवो३म् (ऋसं० ७.३२.१२-१३)। अब परिधानीयाका पाठ होता है— शोंसावो३म् शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्। अस्मिन् भरे नृतमं वाजसातो३म् शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु। घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानो३म् (ऋसं० ३.३६.११) परिधानीयाके पश्चात् याज्याका पाठ किया जाता है— पिबा वर्धस्व तव घा सुतास इन्द्र सोमासः प्रथमा उतेमे। यथापिबः पूर्व्याँ इन्द्र सोमाँ एवा पाहि पन्यो अद्या नवीयान् (ऋसं० ३.३६.३)। गोब्रा० (२.४.३) ने उक्थ्यमुख तथा पर्यासका भी उल्लेख किया है। उक्थ्यमुख के अन्तर्गत निम्नांकित ऋचाएँ हैं— भूय इद्वावृधे वीर्यायँ। एको अजुर्यो दयते वसूनो३म् प्ररिरिचे दिव इन्द्रः पृथिव्याः। अर्धमिदस्य प्रति रोदसी उभो३म् अधा मन्ये बृहदसुर्यमस्य यानि दाधार नकिरा मिनातो३म् दिवे दिवे सूर्यो दर्शतो भूत्। वि सद्मान्युर्विया सुक्रतुर्धो३म् अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनाम्। यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्रो३म् नि पर्वता अद्मसदो न सेदुः। त्वया दृळ्हानि सुक्रतो रजांसो३म् सत्यमित् तन्नं त्वावाँ अन्यो अस्ति। इन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायो३म् अहन्नहिं परिशयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम्। त्वमपो विदुरो विषूचीरिन्द्र दृळ्हमरुजः पर्वतस्यो३म् राजाभवो जगतश्चर्षणीनाम्। साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासो३म् (ऋसं० ६.३०)। ऋसं० (३.३६.१-९) ऋचाओंका भी पाठ किया जाता है।

३. श्रौतकोश (पृष्ठ सं० ३९८-४१५)।

उल्लेख किया है किन्तु चरकाध्वर्युओंके द्वारा किये गए विग्रहणको स्वीकृति नहीं दी है।

भारश्रौसू० (१४.७.१९-२०) में इस अवसरपर षोडशीग्रहके ग्रहणका उल्लेख किया गया है तथा निम्नांकित प्रैष "उत्तमाँश्चमसानुन्नय द्रोणकलशं पूतभृत्यवनय सर्वं राजानं चमसेषून्नय दशाभिः कलशो मृष्ट्वा न्युब्ज" का उल्लेख किया गया। अब आहुति मन्त्रके[1] साथ दी जाती है। आहुतिके पश्चात् प्रशास्ताको ऋत्विजोंके सदस्से बाहर चले जानेके लिए प्रैष "प्रशास्तः प्रसुहि" कहा जाता है।[2] कात्यायनके अनुसार उक्त प्रैष उक्थ्य विग्रहके अनन्तर ही किया जाता है, क्योंकि कात्यायन श्रौतसूत्रकारने इस अवसरपर भारद्वाजके समान षोडशीग्रहके ग्रहणका विधान नहीं लिखा है।

सवनकी समाप्ति

अब सभी ऋत्विज सदस्से बाहर जाकर शौचादि करके पुनः आकर बैठ जाते हैं।[3] इस प्रकार माध्यन्दिनसवनसे सम्बद्ध सभी कृत्य सम्पन्न हो जाते हैं।

---

१. विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मान् (तैसं० ३.१.९.२)।

२. भारश्रौसू० (१४.७.२१-२३)।

३. काश्रौसू० (१०.३.२४)।

सप्तम अध्याय

तृतीयसवन

तृतीयसवनमें आदित्य, सावित्र, वैश्वदेव, पात्नीवत और हारियोजन इन पाँच ग्रहोंसे सम्बद्ध अनुष्ठान किया जाता है। ग्रहोंके अतिरिक्त दो स्तोत्रों आर्भव पवमान तथा अग्निष्टोमाख्य यज्ञायज्ञीयस्तोत्र तथा दो शस्त्रों वैश्वदेव तथा अग्निमारुतशस्त्रका पाठ किया जाता है। आदित्यग्रह सबसे पहले लिया जाता है। मुख्य क्रिया प्रायः प्रातःकालकी तरह ही होती है। तृतीयसवनमें नवोंके साथ पुराने सोमपर्वोंका भी प्रयोग होता है। सबसे अन्तमें हारियोजन ग्रहकी आहुति दी जाती है। शस्त्रोंमें अग्निमारुतशस्त्रका पाठ सबसे अन्तमें तथा स्तोत्रोंमें यज्ञीयज्ञीय स्तोत्रका पाठ सबसे अन्तमें होता है। जैसा कि प्रातः कालीन कृत्य प्रातःसवन के नामसे प्रसिद्ध है, उस प्रकार सायंकालीन कृत्य सायंसवनके नामसे अभिहित नहीं किया जाता है बल्कि उक्त कृत्यकी तृतीयसवन ही संज्ञा है। तृतीयसवनको सायंसवन कहना अशास्त्रीय है।

आदित्यग्रहप्रचार

सर्वप्रथम अध्वर्यु यजमानको "एहि यजमान" प्रैष करता है। अब अध्वर्यु, यजमान, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र और उन्नेता पूर्वद्वारसे हविर्द्धानमें प्रवेश करते हैं। पत्नी दूसरे द्वारसे प्रवेश करती है।[१]

हविर्द्धानके दोनों द्वारोंको बन्द करके अध्वर्यु आदित्यस्थाली अथवा आदित्यपात्र लेकर पूतभृत् के ऊपर बाएँ हाथसे आदित्यपात्रको ग्रहण करके दक्षिण हस्तसे मन्त्रके[२] द्वारा आदित्यस्थालीसे सोमकी बून्दें आदित्यपात्रमें डालता है।[३]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३५९)।

२. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वा गृह्णामि (वासं० ८.२ तैसं० १.४.२२)।

३. काश्रौसू (१०.४.३, शब्रा० ४.३.५.१०, आपश्रौसू० १३.९.५-१०)।

भारश्रौसू० (१४.८.२-८) में कहा गया है कि जब बहुतसे लोग अन्तर्वेदीमें हों तब आदित्यग्रहण किया जाना चाहिये। यदि यजमानका कोई शत्रु सोमयाग कर रहा हो तो यजमान उसकी महावेदीसे तब तक बाहर रहता है जब तक आदित्यग्रह ले लिया नहीं जाता। यदि अन्य लोगोंके साथ कोई शत्रु भी महावेदीमें चला आया हो तो अध्वर्यु उसके महावेदीमें रहते हुए ही आदित्यग्रह ग्रहण कर लेता है। भारद्वाजके अनुसार आदित्यग्रहमें तृतीय भाग सोम ही ग्रहण किया जाता है।[१]

इस अवसरपर शब्रा० (४.३.५.११) ने "उपयामगृहीतोऽसि" कहकर आदित्यग्रह ग्रहण करनेका निषेध किया है, किन्तु भट्टभास्करने उपयामगृहीतोऽसि आदित्येभ्यस्त्वा मन्त्रके द्वारा आदित्यग्रह ग्रहण करनेका उल्लेख किया है (पृष्ठसं० ५७९)।

आदित्यग्रहका पुनर्ग्रहण

धारासे अलग करके पुन: इसी प्रकार मन्त्रके[२] द्वारा आदित्यग्रह ग्रहण किया जाता है।[३] कतिपय सूत्रोंमें उक्त मन्त्रका विनियोग आदित्यग्रहके पुनर्ग्रहणमें न किया जाकर दधिके ग्रहणमें किया गया हैं।[४]

दधिग्रहण

आहुतिके लिए सोम पर्याप्त नहीं होता इसलिए सोमकी पूर्तिके लिए मन्त्रके[५] द्वारा ग्रहके पश्चिममें दधि ग्रहण की जाती है![६] "कदा चन" इत्यादि दो

---

१. भारश्रौसू० (१४८.५)।

२. कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी। तुरीयादित्य सवनं तइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा गृह्णामि (वासं० ८.३)। तैसं० (१.४.२२) में उक्त मन्त्रके अन्तिम शब्द दिव्यादित्यभ्यस्त्वा गृह्णामिके स्थानपर केवल दिवि है। भट्टभास्करने मन्त्रके साथ इतनी ऋचा और बढाई है— उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा जुष्टं गृह्णामि इति (पृष्ठसं० ५८०)।

३. काश्रौसू० (१०.४.४)। भारश्रौसू० ने ऐसा कोई विधान नहीं किया किन्तु सत्याषाढश्रौसू० ने सोमग्रहण के लिए उक्त मन्त्रका विनियोग किया है (पृष्ठसं० ९१६)।

४. सत्याषाढश्रौसू० (९.३, भारश्रौसू० १४८.६)।

५. यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादं होश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा श्रीणामि (वासं० ८.४ तैसं० १.४.२२)।

६. काश्रौसू० (१०.४.५)।

मन्त्रोंके द्वारा ग्रहण किये गए आदित्यग्रहके मध्यमें दधिग्रहणका यद्यपि शब्रा० (४.३.५.१३) ने निषेध किया है, तथापि तैत्तिरीयश्रुति (६.५.६.४) ने ऐसा विधान किया है। शब्रा० को तैत्तिरीयश्रुति द्वारा प्रतिपादित विधान मान्य नहीं है।

जिस मन्त्रका विधान माध्यन्दिन शाखामें दधिग्रहणके लिए किया गया है, उस मन्त्रका विधान तैत्तिरीय शाखामें सोमग्रहण के लिए किया गया है।[१]

दही और सोमका मिश्रण

अवशिष्ट सोमके साथ आदित्यस्थालीको यथास्थान छोड़कर अध्वर्यु उपाशुंसवनके द्वारा मन्त्रसे[२] दही और सोमको मिलाता है।[३] शब्रा० (४.३.५.१७) के अनुसार इस अवसरपर ग्रहको न तो झालरसे छुआ ही जाता है और न पवित्रेसे क्योंकि तृतीयसवन सोमसे शून्य होता है।

प्रैषकथन

अध्वर्यु उन्नेताको उपांशुसवन देता हुआ प्रैष "आसृज ग्राव्ण" करता है। तब उन्नेता पाँचों ग्रावा यत्नसे आधवनीयमें बीचमें रखकर पुन: वहाँसे निकालकर फिर अधिषवणचर्मपर रखता है।[४] भारद्वाजके अनुसार आदित्यग्रहके ऊपर उपां-शुसवन रखा जाता है, फिर ग्रहको उठाकर भावी वृष्टिका चिह्न ज्ञात किया जाता है अर्थात् यदि उछलता हुआ सोमरस शीघ्र नीचे गिरता है तो समझा जाता है कि वर्षा होगी और यदि सोमरस देरसे गिरता है तो समझा जाता है कि वर्षा नहीं होगी। इसके पश्चात् ग्रहको रक्खे बिना ही अध्वर्यु मन्त्रके[५] साथ ग्रहको लेकर खड़ा हो जाता है।[६] देवयाज्ञिकके अनुसार ग्रहका परिमार्जन करके हाथसे अथवा आदित्य-स्थालीसे ग्रहको ढककर बन्द हविर्द्धानके दोनों दरवाजोंको खोल दिया जाता है।

---

१. आपश्रौसू० (१३.९.६, सत्याषाढश्रौसू० ९.३)।

२. विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व (वासं० ८.५, तैसं० १.४.२२)।

३. काश्रौसू० (१०.४.६, भारश्रौसू० १४८८., सत्याषाढश्रौसू० ९.३, आपश्रौसू० १३.९.७)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३५८)।

५. सूर्यो मा देवो देवेभ्य: पातु (तैसं० ३.५.५.१)।

६. भारश्रौसू० (१४८.९-१० सत्याषाढश्रौसू० ९.३)।

इस अवसरपर यजमान अध्वर्युको छूता है। दोनों हविर्द्धानसे निकलते हैं।[१] भारद्वाजके अनुसार इस अवसरपर ऋचाका[२] पाठ किया जाता है।[३]

पुरोनुवाक्याका पाठ

अब अध्वर्यु पुरोनुवाक्याके लिए मैत्रावरुणसे प्रैष करता है— "आदित्येभ्यः प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो मह स्वसरस्य पतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्योऽनुब्रूहि"।[४] कात्यायनके अनुसार "आदित्येभ्यः प्रेष्य" अथवा "आदित्यो- ऽनुब्रूहि" कहा जाता है।[५] प्रैषके अनन्तर पुरोनु[६]वाक्याका पाठ किया जाता है।

पुरोनुवाक्याके पश्चात् यजमान मन्त्रके[७] साथ आदित्यग्रहका अन्वारम्भण करके मन्त्रके[८] द्वारा कुशसे ग्रहको हिलाता है।[९]

याज्या पाठ

अब याज्याका[१०] पाठ किया जाता है।[११]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३५९)।

२. कविर्यज्ञस्य वि तनोति पन्थाम् (तैसं० ३.५.५.३)।

३. भारश्रौसू० (१४.९.३)।

४. भारश्रौसू० (१४.८.११), सत्याषाढश्रौसू० (९.३) के अनुसार "आदित्येभ्यः प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो महस्व सरस्वपतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्योऽनुब्रूह्यादित्येभ्यः प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो महस्व सरस्वपतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्यः प्रेष्येति ॥

५. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३७९)।

६. आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शंतमेन। अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमं यज्ञं दधतु श्रोषमाणाः (ऋसं० ७.५१.१)।

७. अहं परस्तादहमवस्तात् (तैसं० ३.५.५.१)।

८. आ समुद्रादान्तरिक्षात् (तैसं० ३.५.५.२)।

९. भारश्रौसू० (१४.९.१-२)।

१०. आदित्यासो आदितिर्मादयन्तां मित्रो अर्यमा वरुणो रजिष्ठाः। अस्माकं सन्तु भुवनस्य गोपाः पिबन्तु सोममवसे नो अद्य (ऋसं० ७.५१.२)।

११. भारश्रौसू० (१४.९.४, आपश्रौसू० १३.१०.१, ऐब्रा० ३.३.२९)।

होम

मन्त्रके[१] द्वारा अग्निमें कुशा डाल दिये जानेके पश्चात् वषट्कारपर आहुति दी जाती है । इस अवसरपर अनुवषट्कारका निषेध किया गया है तथा न ही ग्रहको देखनेका विधान किया गया है ।[२] ऐब्रा० (३.३.२९) ने सोमपानका भी निषेध किया है । वर्षाकी इच्छा होनेपर ऋचाके[३] पाठका विधान भारद्वाजने किया है । यह मन्त्रपाठ आहुतिके समय किया जाता है ।[४]

हवन करनेके पश्चात् आदित्यग्रहका शेष तथा आदित्यस्थालीका शेष प्रतिप्रस्थाताको दिया जाता है तथा ग्रहको खरपर ले जाकर रख दिया जाता है ।[५]

लोकद्वारीय साम

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार तो लोकद्वारीय सामका गायन तृतीयसवन प्रारभ करनेसे पूर्व होना चाहिये किन्तु देवयाज्ञिकने इस अवसरपर उक्त सामके गायनका विधान किया है ।

आहवनीयाग्निके पीछे पहले ही उत्तराभिमुख हुए यजमानसे "लो३क द्वारमपावा३र्णू ३३ । पश्येम त्वा वयंस्वारा ३३३३३ हु३म् आ ३३ ज्या ३यो ३ आ ३२१११" आदित्य सम्बन्धी लोकद्वारीय सामका पाठ कराया जाता है । इसके पश्चात् वही यजमान विश्वेदेव सम्बन्धी "लो३क द्वारमपावा ३र्णू ३३ । पश्येमत्वा वयंसाम्रा ३३३३३ हु३म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११" सामगान करके "नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दतैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि" मन्त्रके द्वारा तथा "परस्तादायुषः स्वाहा" मन्त्रके द्वारा आहुति देकर "अपहत परिघम्" कहकर खड़ा हो जाता हैं ।[६]

---

१. यास्ते विश्वाः समिधः सन्त्यग्ने (तैसं० ३.५.५.३) ।

२. भारश्रौसू० (१४.९.६, आपश्रौसू० १३.९.११) । सर्वत्रानुवषट्कारो द्विदेवत्यर्तुग्रहादित्यसावित्रपत्नीवतवर्जम् (आश्वश्रौसू० १२.२४.२) ।

३. उन्नम्भय पृथिवीम् (तैसं० ३.५.५.२) ।

४. भारश्रौसू० (१४.९.८, सत्याषाढश्रौसू० ९.३) ।

५. भारश्रौसू० (१४.९.९, काश्रौसू० १०.४.१२) ।

६. छान्दोग्योपनिषद् (२.२४.११-१५, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ४१५) ।

ग्रहग्रहण

प्रात:सवनमें जिस प्रकार होताके चमसको वसतीवरीके जलसे भरा गया था और यजमानसे उस जलको निग्राभ्या बनानेके लिए जिस मन्त्रका[१] पाठ किया गया था, उसी मन्त्रका पाठ इस अवसरपर भी किया जाता है और उसी प्रकार होताके चमसको वसतीवरीके जलसे भरा जाता है ।[२]

उपांशुग्रहसे सोमकी एक डंठल सोमकी तलछटमें अध्वर्यु डालता है तथा प्रात:सवनके समान ही सोमसवन किया जाता है ।[३] प्रात:सवनके प्रसंगमें पहले ही यह कहा जा चुका है कि उपांशुग्रहके भीतर जो सोमकी एक डंठल फेंकी गई है, वह तीसरे सवन तक विद्यमान रहेगी ।[४] तृतीयसवनके लिए प्रात: सवनमें ही सोम कूटा जाए, सोमके लिए भात पकाया जाए, धान निकालकर गिराएँ जाएँ, जमा हुआ दूध मथा जाए, अथवा एक मत यह भी है कि उक्त क्रियाएँ प्रात:सवनमें न की जाकर तृतीय सवनमें ही की जाए ।[५] जिस प्रकार प्रात: सवनमें अध्वर्यु सोम सवनके लिए पूर्वकी ओर, प्रतिप्रस्थाता दक्षिणकी ओर, नेष्टा पश्चिमकी ओर तथा उन्नेता उत्तरकी ओर बैठे थे, उसी प्रकार इस अवसपर भी बैठते हैं ।[६] आपश्रौसू० (१२.१२.२) के अनुसार अध्वर्यु पश्चिमकी ओर और नेष्टा पूर्वकी ओर बैठता है । प्रात:सवनके समान ही उन्नेता उदञ्चनके द्वारा आधवनीयकलशसे सोम लेकर होताके चमसमें डालता है ।[७] इस अवसरपर शुक्र और मन्थी ग्रह नहीं भरे जाते ।[८]

---

१. निग्राभ्या: स्थ देवश्रुत आयुर्मे तपर्यत प्राणं मे तर्पयतापानं मे तर्पयत व्यानं में तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयत मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयतांगानि मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गृहान् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत सर्वगणं मा तर्पयत मा गणा मे मा वि तृषत् (तैसं० ३.१.८.१-२)।

२. भारश्रौसू० (१३.६.१०, १४.९.१०)।

३. भारश्रौसू० (१४.९.११)।

४. भारश्रौसू० (१३.११.१०)।

५. भारश्रौसू० (१४.७.४)।

६. भारश्रौसू० (१३.१२.१)!

७. भारश्रौसू० (१४.९.१२, १३.१३.१)।

८. भारश्रौसू० (१४.९.१३)।

आग्रयणग्रह

चार धाराओंमें आग्रयणग्रह भरा जाता है । ऊनी पवित्रेके द्वारा गिरते हुए सोमसे आग्रयणस्थालीस्थ सोमको दूसरे पात्रमें करके अध्वर्यु स्वयं सींचता है, यह पहली धारा हुई, फिर नेष्टा आग्रयणस्थालीस्थ सोमको दूसरे पात्रमें रखता है और इस पात्रको लेकर अध्वर्यु पूतभृत् के ऊपर रक्खे हुए दशापवित्रपर आसिंचन करता है, यह दूसरी धारा हुई, इसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता आदित्यग्रह और आदित्यस्थालीमें शेष संस्रवोंको लेकर आसिंचन करता है, यह तीसरी धारा हुई और अन्तमें उन्नेता आधवनीयसे चमसके द्वारा अथवा उदञ्चनके द्वारा सोमका आसिंचन करता है, यह चौथी धारा हुई । इस प्रकार चार धाराओंके द्वारा मन्त्रके[१] साथ आदित्यस्थाली भरी जाती है ।[२]

एक धाराके द्वारा उक्थ्यस्थालीसे उक्थ्यग्रह भी भरा जाता है ।[३] देवयाज्ञिकके अनुसार प्रतिप्रस्थाता आदि वाग्विसर्जन करते हैं, उसके पश्चात् परिमार्जन और आग्रयणका आसादन किया जाता है ।

पूतभृत् पर आशिरका आसिंचन तथा अवेक्षण

अब [४]मन्त्रके साथ अध्वर्यु पूतभृत् पर आशिर (मथी हुई दहि) का आसेचन करता है और यजमानपत्नी मन्त्रके[५] साथ आशिर सहित उस पूतभृत् का अवेक्षण करती है ।[६] भारद्वाजने पूतभृत् में मथी हुई दहि डालनेके लिए भिन्न मन्त्रका[७] विधान

---

१. ये देवास इति ॥
२. काश्रौसू० (१०.५.१, भारश्रौसू० १४.९.१४-१५, शब्रा० ४.३.५.२२) ।
३. काश्रौसू० (१०.५.२) ।
४. आशीर्म ऊर्जमुत सुप्रजास्त्वमिषं दधातु द्रविणं सुवर्चसम् । संजयन् क्षेत्राणि सहसाऽहमिन्द्र कृण्वानोऽन्याधरान्त्सपत्नान् ॥ (द्र० काश्रौसू० १०.५.४) ।
५. श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः । पुमान्पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहाऽरपऽएधते गृहे ॥ (वासं० ८.५) ।
६. काश्रौसू० (१०.५.४) ।
७. अस्मे देवासो वपुषे चिकित्सत (तैसं० ३.२.८.४-५) ।

किया है ।[१] यह दहि यजमान और उसकी पत्नी मथती है, अथवा आग्नीध्रशालामें बैठकर केवल यजमानपत्नी ही दहिका मन्थन करती है ।[२]

हविर्द्धानसे बहिर्निष्क्रमण

जिस प्रकार अध्वर्यु आदि हविर्द्धानसे माध्यन्दिनसवनके समय निकले थे, उसी प्रकार अब भी अध्वर्यु आदि ऋत्विज हविर्द्धानसे निष्क्रमण करते हैं ।[३]

आर्भवपवमान

बहिष्पवमानके प्रसंगमें यह कहा ही जा चुका है कि सप्तहोतृ मन्त्रके साथ एक आहुति दे चुकनेपर सब ऋत्विज नीचे झुककर उत्तरकी ओर बहिष्पवमानस्तोत्र पढ़नेके लिए सरक कर निकल जाते हैं, इसी प्रकार तृतीय सवनमें झुककर आर्भवपवमान[४] स्तोत्रके लिए सरककर निकल जाते हैं ।[५]

बहिष्पवमानके प्रसंगमें उत्तरकी ओर झुककर रेंगते हुए चले थे किन्तु तृतीय सवनमें आर्भवपवमानके प्रसंगमें (धरती चाटते हुएसे) रेंगकर पश्चिमकी ओर झुककर चलते हैं ।[६] कुशाके गुच्छोंको हिलाता हुआ अध्वर्यु मन्त्रके[७] साथ पहले रेंगता हुआ निकलता है और मन्त्रका[८] पाठ करता है ।[९]

माध्यन्दिनसवनमें जिस प्रकार अध्वर्यु बैठा था, उसी प्रकार दोनों हविर्द्धा-नोंके उत्तरसे घूमकर और मार्जालीय धिष्ण्याके दक्षिणमें होते हुए पश्चिमी द्वारसे सदनमें पहुँचकर होताकी धिष्ण्याके सामने अध्वर्यु बैठता है, अन्य लोग मैत्रावरु-

---

१. भारश्रौसू० (१४.१०.४)।

२. भारश्रौसू० (१४.१०.२-३)।

३. काश्रौसू० (१०.५.५)।

४. साकौसं० (१.५.२.४.२, २.१.१.१५, १.६.२.४.१, १.६.२.३.१, २.१.१.१७, १.६.२.१.१, २.१.१.१८, १.६.२.२.१, २.१.१.१९, १.६.२.३.१, २.१.१.१७, साजैसं० ३.५.१-३, ३.५.४, ३.५.५, ३.५.६-८, ३.५.९-११), श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४२०-४३१)।

५. भारश्रौसू० (१४.१०.५, १३.१६.१५)।

६. भारश्रौसू० (१४.१०.६)।

७. जागतः पन्था आदित्या देवतावृकेणापरिपरेण पथा स्वस्त्यादित्यानशीय ॥ इति

८. वागग्रेगा अग्र एतु (तैसं० ३.१.१०.२)।

९. भारश्रौसू० (१४.१०.६)।

णकी धिष्ण्याके सामने जाकर बैठते हैं ।[१] देवयाज्ञिकके अनुसार अध्वर्यु, प्रतिप्र-स्थाता और यजमान उद्गाताओंके आगे पश्चिमकी ओर मुख करके और ब्रह्मा प्रशास्ताके दक्षिणमें बैठता है ।[२]

ऐब्रा० (५.५.३४) के अनुसार स्तोत्र पढनेका आदेश प्राप्त होनेपर प्रस्तोता "ब्रह्मन्त्स्तोष्याम: प्रशास्त:" कहता है तब ब्रह्मा "स्व: इन्द्रवन्त: स्तुध्वम्" कहता है । देवयाज्ञिकके अनुसार प्रथम प्रस्तावकालमें यजमान "असतो मा सद्गमय" इस यजुष् का शतपथस्वरसे एक बार पाठ करता है ।[३]

जब स्तोत्र गाया जा रहा होता है, तब यजमान अस्फुट स्वरसे अन्वारोह मन्त्रका[४] पाठ करता है ।[५]

प्रैषकथन

प्रात:सवनमें अध्वर्युने जिस प्रैषमन्त्रका कथन किया था, उसमें प्रतिप्रस्थाताके प्रति कहे गए प्रैषमें[६] इस अवसरपर परिवर्तन किया जाता है, आग्नीध्रको किया गया प्रैष ज्योंका त्यों ही होता है ।[७]

स्तोत्रके अन्तमें प्रैष किये जानेपर आग्नीध्र अग्निसे जलते हुए अंगारे लाकर धिष्ण्याओंमें लाकर रखता है ।[८] इस प्रकार आर्भवपवमानसे सम्बद्ध सभी कृत्य समाप्त हो जाते हैं ।

सवनीय पशुहविर्याग

सर्वप्रथम जलती हुई शलाकाओंसे धिष्ण्याओंमें अध्वर्यु अग्निस्थापन करता है । यह क्रिया ऐच्छिक भी हो सकती है । प्रात:सवनके समान अध्वर्यु सवनीय पुरोडाश बनानेके लिए धान और जौं उडेलता है । इन्द्रके लिए १२ कपालोंपर

---

१. भारश्रौसू० (१४.१०.७, १४.२.५) ।
२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३६१) ।
३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३६१) ।
४. सघासि जगतीछन्दा: (तैसं० ३.२.१.१) ।
५. भारश्रौसू० (१४.१०.८) ।
६. प्रतिप्रस्थात: पशो संवदस्व इति ।
७. भारश्रौसू० (१३.१७.१३) ।
८. भारश्रौसू० (१३.१७.१५, १४.१०.११, देवयाज्ञिकपद्धति, पृष्ठसं० ३६१) ।

पुरोडाश तैयार करता है, ११ कपालोंपर भी इन्द्रके लिए पुरोडाश तैयार किया जा सकता है । आग्नीध्र पृष्ठ्यापर बर्हि बिछाता है तथा सभी प्रकारकी आहुतियोंकी सामग्री पूर्णतः तैयार करता है । ब्रह्मा-अध्वर्यु और यजमान सदस् में जाने वाले हों तो वे सोमसे भरे हुए पात्रोंको देखते हैं ।[१] सत्याषाढश्रौसू० (८.५) के अनुसार प्रतिप्रस्थाता भी सदस् में प्रवेश करता है ।

इसके पश्चात् पशुकी आहुति दी जाती है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि पशुके अंग तीनों सवनोंमें भी पकाये जा सकते हैं अथवा तृतीयसवनमें भी पशुके अंगोंको पकाया जा सकता है ।[२]

श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४३१) के अनुसार पशुकी आहुतिसे सम्बद्ध पुरोनुवाक्या[३] तथा याज्याका[४] भी पाठ किया जाता है ।

सवनीय पुरोडाशयाग

अब सवनीय पुरोडाशकी आहुति दी जाती है । इस अवसरपर अध्वर्यु मैत्रावरुणको "तृतीयस्य सवनस्येन्द्राय पुरोडाशानामनुब्रूहि" प्रैष करता है ।[५] तब मैत्रावरुण पुरोनुवाक्या[६] का तथा होता याज्याका[७] पाठ करता है ।[८]

---

१. भाश्रौसू० (१४.१०.१२,१४.११.१२,१३.१८.१,१३.१९.४-५,१४.११.३,१३.१९.११, १४.११.३)।

२. भाश्रौसू० (१४.११.४-५)।

३. पाहि नो अग्ने पायुभिरजस्रैरुत प्रिये सदन आ शुशुक्वान् । मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदन्मापरं सहस्वः (ऋसं० १.१८९.४)। शांब्रा० के अनुसार- अग्ने त्वमस्मद् युयोध्यमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः। पुनरस्मभ्यं सुविताय देव क्षां विश्वेभिरमृतेभिर्यजत्र (ऋसं० १.१८९.३)।

४. प्र कारवो मनना वच्यमाना देवद्रीचीं नयत देवयन्तः। दक्षिणावाड् वाजिनी प्राच्येति हविर्भरन्त्यग्नये घृताची (ऋसं० ३.६.१)।

५. भारश्रौसू० (१४.११.७७)।

६. तृतीये धानाः सवने पुरुष्टुत पुरोडाशमाहुतं मामहस्व नः। ऋभुमन्तं वाजवन्तं त्वा कवे प्रयस्वन्त उप शिक्षेम धातिभिः(ऋसं० ३.५२.६)।

७. ऐब्रा० (६.६१२) के अनुसार "ऋभुभिर्वाजवद्भिः" का पाठ किया जाता है ।

८. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४३२)।

इसके बाद स्विष्टकृत् और इडाकी आहुति दी जाती है।[१] श्रौतकोशमें स्विष्टकृत् पुरोनुवाक्या[२] तथा उन्नीयमानसूक्तका[३] उल्लेख हुआ है।[४]

सवनमुखयाग

इस कृत्यके अन्तर्गत उन्नेता सोमको आधवनीयसे पूतभृत् में भरता है। होताका चमस लिये जानेपर अध्वर्यु "तृतीयस्य सवनस्यर्भुमतो विभुमतः प्रभुमतः परिमुभतो वाजवतः सवितृवतो बृहस्पतिवतो विश्वदेव्यावतस्तीव्राँ आशीर्वत इन्द्राय सोमान् प्रस्थितान् प्रेष्य" प्रैष करता है।[५] कात्यायनने संक्षिप्त प्रैषका उल्लेख किया है।[६] इस अवसरपर याज्याका[७] पाठ किया जाता है।[८]

---

१. भारश्रौसू० (१४.११८)।

२. अग्ने तृतीये सवने हि कानिषः पुरोडाशं सहसः सूनवाहुतम्। अथा देवेष्वध्वरं विपन्यया धा रत्नवन्तममृतेषु जागृविम् (ऋसं० ३.२८.५)।

३. उन्नीयमान सूक्त इस प्रकार है— इहोप यात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप भूत। अस्मिन् हि वः सवने रत्नधेयं गमन्त्विन्द्रमनु वो मदासः॥ आगन्नृभूणामिह रत्नधेयमभूत् सोमस्य सुषुतस्य पीतिः। सुकृत्यया यत् स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा॥ व्यकृणोत चमसं चतुर्धा सखे वि शिक्षेत्यब्रवीत। अथैतं वाजा अमृतस्य पन्थां गणं देवानामृभवः सुहस्ताः॥ किंमयः स्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो विचक्र। अथा सुनुध्वं सवनं मदाय पात ऋभवो मधुनः सोम्यस्य॥ शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्। शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः॥ यो वः सुनोत्यभिपित्वे अह्नां तीव्रं वाजासः सवनं मदाय। तस्मै रयिमृभवः सर्ववीरमा तक्षत वृषणो मन्दसानाः॥ प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते। समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीर्याँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या॥ ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येना इवेदधि दिवि निषेद। ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः॥ यत् तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः। तदृभवः परिषिक्तं व एतत् सं मदेभिरिन्द्रियेभिः पिबध्वम् (ऋसं० ४.३५)।

४. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४३२)।

५. भारश्रौसू० (१४.११.११)।

६. काश्रौसू० (१०.५.९)।

७. ऋसं० (३.६०.५)।

८. ऐब्रा० (६.३.१२)।

वषट्कारपर मन्त्रसे[१] आहुति दी जाती है तथा वे चमसाध्वर्यु भी इस अवसरपर आहुति देते हैं, जिन्होंने अपने चमस उठा लिये होते हैं। दूसरे वषट्कारपर मन्त्रके[२] साथ दूसरी आहुति दी जाती है।[३]

हौत्रकचमसप्रचार

चमसाध्वर्युओंके द्वारा आहुति दिये जानेके पश्चात् होत्रकों द्वारा आहुति दिये जानेका उपक्रम किया जाता है। सर्वप्रथम चमसोंमें सोम मिलाया जाता है, फिर मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और आग्नीध्र अलग अलग मन्त्रसे[४] चमसोंकी आहुतियाँ देते हैं।[५] सभी आहुतियोंके साथ मन्त्र[६] बोला जाता है।[७]

याज्यापाठ

मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक तथा आग्नीध्र अपनी अपनी याज्याका[८]

---

१. श्येनाय पत्वने स्वाहा (तैसं० ३.२.८.१)।

२. वट् त्स्वयमभिगूर्ताय नमः (तैसं० ३.२.८.१)।

३. भारश्रौसू० (१४.११.१२-१३)।

४. मैत्रावरुण "विष्टम्भाय धर्मणे स्वाहा वट्त्स्वयमभिगूर्ताय नमः" (तैसं० ३.२.८.१) इस मन्त्रसें आहुति देता है। ब्राह्मणाच्छंसी "परिधये जनप्रथनाय स्वाहा वट्त्स्वयमभिगूर्ताय नमः" (तैसं० ३.२.८.१) इस मन्त्रसे आहुति देता है। पोता "होत्राणां स्वाहा वट् त्स्वयमभिगूर्ताय नमः" (तैसं० ३.२.८.१) इस मन्त्रसे आहुति देता है। नेष्टा "पयसे होत्राणां स्वाहा वट्त्स्वयभमिगूर्ताय नमः" (तैसं० ३.२.८.१) इस मन्त्र से आहुति देता है। अच्छावाक "प्रजापतये मनवे स्वाहा वट्त्स्वयमभिगूर्ताय नमः" (तैसं० ३.२.८.१) इस मन्त्रसे आहुति देता है।। आग्नीध्र "ऋतमृतपाः सुवर्वाट्त्स्वाहा वट्त्स्वयमभिगूर्ताय नमः (तैसं० ३.२.८.१) इस मन्त्रसे आहुति देता है।

५. भारश्रौसू० (१४.११.१४)।

६. तृम्पन्तां होत्रा मधोर्घृतस्य (तैसं० ३.२.८.२)।

७. भारश्रौसू० (१४.११.१५)।

८. मैत्रावरुण "इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रता। युवो रथो अध्वरं देववीतये प्रति स्वसरमुप याति पीतये (ऋसं० ६.६८.१०) इस ऋचाका पाठ करता है। ब्राह्मणाच्छंसी "इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्" (ऋसं० ४.५०.१०) इस

पाठ करते हैं ।[१] याज्यापाठके अनन्तर इडाका भक्षण किया जाता है ।[२]

सवनमुखसोमभक्षण

अब चमसपान किया जाता है अर्थात् वे ऋत्विज जिनके पास चमस होते हैं, अपने अपने चमसोंसे सोम ग्रहण करते हैं ।[३] शांखायनके मतमें मन्त्रके[४] साथ चमसाप्यायन किया जाता है ।[५]

सब ऋत्विज लोग पुरोडाशके तीन भाग अपने अपने चमसोंके पास धरतीपर रखनेके लिए रोके रखते हैं और नाराशंसचमसोंको छोड़कर इस अवसरपर सोमपानके लिए [६]मन्त्रका पाठ करते हैं । अन्तमें जिन चमसोंको भरा जाता है, उन्हें दक्षिण हविर्धान शकटके पीछे नीचे रख देते हैं ।[७]

पिण्डदान

हौत्रकचमसप्रचार तथा सवनसुखसोमभक्षण नामक कृत्यका विवरण कात्यायनने नहीं दिया है किन्तु पिण्डदान नामक कृत्यका उल्लेख कात्यायनने अवश्य किया है ।

याज्याका पाठ करता है । पोता "आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः । सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः" (ऋसं० १.८५.६) इस याज्याका पाठ करता है । नेष्टा "अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन । अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्‌गणः" (ऋसं० २.३६.३) इस याज्याका पाठ करता है । अच्छावाक "इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य दस्रा जठरं पृणेथाम् । आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्नुप ब्रह्माणि शृणुतं हवं मे (ऋसं० ६.६९.७) इस याज्याका पाठ करता है । अन्तमें आग्नीध्र "इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया । भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव" (ऋसं० १.९४.१) इस याज्याका पाठ करता है ।

१. ऐब्रा० (६.३.१२) ।

२. काश्रौसू० (१०.५.९) ।

३. भारश्रौसू० (१४.११.१६, १३.२७.१७) ।

४. सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः (तैसं० ४.२७.४) ।

५. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४३५) ।

६. आदित्यवद्गणस्य सोम देव ते (तैसं० ३.२.५.३) ।

७. भारश्रौसू० (१४.११.१७-१८) ।

चमसभक्षणके उपरान्त हविर्द्धानमें पीछेकी ओर नीचे सब चमसोंके रख दिये जानेपर उन चमसोंमेंसे पुरोडाशके टुकडे निकालकर उन चमसोंके आगे रखे जाते हैं, जिनको वे चमसी लोग पितरोंको लक्ष्य करके अपसव्य होकर दक्षिणकी ओर मुख करके पीतृतीर्थसे तर्पणके लिए प्रयोगमें लाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ऋत्विज लोग यजमानके पितरोंको ही लक्ष्य करे, पुरोडाशका प्रक्षेपण करें क्योंकि फलका अधिकार केवल यजमानको ही है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिनके पितर जीवित हैं, उन्हें पिण्डदान न किया जाय।[१]

सावित्रग्रहप्रचार

सवनीय पुरोडाश तथा इडाभक्षणके उपरान्त हविर्द्धानमें प्रवेश करके अध्वर्यु आग्रयणसे उपांशुके द्वारा अथवा अन्तर्यामके द्वारा सावित्रग्रह मन्त्रके[२] साथ ग्रहण करता है।[३] तैत्तिरीय श्रुति (६.५.७) ने केवल अन्तर्यामपात्रका ही उल्लेख किया है, उपांशुपात्रका नहीं।

ग्रहण करनेके पश्चात् सावित्रग्रह भूमिपर नहीं रक्खा जाता।[४]

अब अध्वर्यु मैत्रावरुणको "देवाय सवित्रेऽनुब्रूहि" प्रैष करता है।[५] तब पुरोनुवाक्याका[६] पाठ किया जाता है। शब्रा० (४.४.१.७) के अनुसार श्रौषट् के अनन्तर प्रैष "देवाय सवित्रे प्रेष्य" किया जाता है। ऐब्रा० (३.२९) के अनुसार

---

१. काश्रौसू० (१०.५.११-१२)।

२. वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः। वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम। उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधाऽसि चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञ जिन्वं यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे गृह्णामि (वासं० ८.६-७, तैसं० १.४.२३)।

३. काश्रौसू० (१०.५.१३, भारश्रौसू० १४.१२.४, आपश्रौसू० १३.१३.१, शब्रा० ४.४.१.४)।

४. शब्रा० (४.४.१.७, भारश्रौसू० १४.१२.५, तैसं० ६.५.७)।

५. शब्रा० (४.४.१.७, भारश्रौसू० १४.१२.६, काश्रौसू० १०.६.१)।

६. अभूद् देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः। वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् (ऋसं० ४.५४.१)।

याज्या[१] का पाठ किया जाता है। अब वषट्कारपर आहुति दी जाती है। इस अवसरपर अनुवषट्कार नहीं किया जाता।[२]

वैश्वदेवग्रहग्रहण

बिना भक्षण किये हुए ही सावित्रग्रहके द्वारा पूतभृत्से मन्त्रके[३] साथ विश्वेदेवोंके लिए ग्रह भरता है।[४]

वैश्वदेवशस्त्र

अब वैश्वदेवशस्त्रका[५] उपक्रम किया जाता है।[६] सर्वप्रथम होता "अध्वर्यो शोंसावो३म्" कहता है, तब अध्वर्यु "शंसामोदैवो३म्" कहता है।[७] इसके पश्चात् वैश्वदेवशस्त्रके अन्तर्गत सबसे पहले तीन ऋचाओंका[८] पाठ होता है, जिन्हें प्रतिपत्तृच कहा गया है। इसके पश्चात् निवित्[९] का पाठ होता है। प्रात:सवनमें तो

---

१. अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु नो होता यक्षद्देवं सवितारं दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्ना दक्ष पितृभ्य आयुनि। पिबात्सोमं ममदन्नेनमिष्टयः परिज्माचिद रमते अस्य धर्मणि (आश्वश्रौसू० ५.१८,ऐब्रा० ३.३.२९ पर सायण भाष्य)।

२. भारश्रौसू० (१४.१२८,शब्रा० ४.४.१.७,ऐब्रा० ३.३.२९,कात्श्रौसू० १०.६.१)।

३. उपयाम गृहीतोऽसि सुशर्माऽसि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः। एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः सादयामि (वासं० ८८,तैसं० १.४.२६)।

४. शब्रा० (४.४.१.८, कात्श्रौसू० १०.६.२, भारश्रौसू० १४.१२.९, आपश्रौसू० १३.१३.४-५)।

५. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४४०)।

६. आश्वश्रौसू० (५.१८.२)।

७. ऐब्रा० (३.१२)।

८. अध्वर्यो शोंसावो३म् तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहो३म् अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यो३म् स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः। तं भागं चित्रमीमहो३म् (ऋसं० ५.८२.१-३)।

९. सविता देवः सोमस्य पिबतु। हिरण्ययाणिः सुजिह्वः। सुबाहुः। स्वंगुरिः। त्रिरहन् सत्यसवनः। यत्रासुवद्वसुधिती उभे जोष्ट्री सवीमनि। श्रेष्ठं सावित्रमासुवन। दोग्ध्रीं धेनुं। वोल्होरमनड्वाहम्। आशुं सप्तिम्। जिष्णुं रथष्ठाम्। पुरंधिं योषाम्। समेय युवानम्। परीमीवां साविषत् पराघशंसम्। सविता देव इह श्रवदिह सोमस्य मत्सत्। प्रेमा देवो देवहूतिमवतु देव्या धिया। प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम्। प्रेमं सुन्वन्तं यजमानमवतु। चित्रश्चित्राभिरूतिभिः। श्रवद् ब्रह्माण्यावसा गमो३म् (खिलभाग ५.५.४)।

वायुदेवताक बहुत सी ऋचाओंका[१] पाठ किया गया था किन्तु तृतीयसवनमें इस अवसरपर निवित्के पश्चात् वायुदेवताक केवल एक ऋचाका[२] पाठ किया जाता है। पाठ हो चुकनेपर द्यावापृथिवी देवताक सूक्त[३]का पाठ किया जाता है। पश्चात् आर्भव सूक्तका[४] पाठ किया जाता है।

अब धाय्याका पाठ होता है।[५] धाय्याके सम्बन्धमें निर्देश दिया गया है कि ऋतुसूक्तके पहले और बादमें सुरूपकृत्नुम्[६] और अयं वेन[७] इन दो अनिरुक्त (जिनमें देवोंका उल्लेख नहीं है) और प्रजापति देवताक धाय्याका शंसन किया जाय। सायणके अनुसार "येभ्यो माता मधुमत्[८] और "एवा पित्रे विश्वदेवाय[९]" ये

---

१. वायुरग्रेगाः इत्यादि (आश्वश्रौसू० ५.५.३, वासं० २७.३१)।

२. शोंसावो३म् एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या चो३म् तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च। नियुद्भिर्वायविह ता विमुंचो३म् (आश्वश्रौसू० ५.१८.५)।

३. प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा। मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसो३म् देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंससा। इत्था धिया वार्याणि प्रभूषतो३म् उत मन्ये पितुरद्रुहो मनः। मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभो३म् सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुः उरु प्रजाया अमृतं वरीमभो३म् ते सूनवः स्वपसः सुदंससः। मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तयो३म् स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि। पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनो३म् ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसः। जामी सयोनी मिथुना समोकसो३म् नव्यंनव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि। समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयो३म् (ऋसं० १.१५९.१-४)।

४. तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसः। तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसो३म् तक्षन् पितृभ्यामृभवो युवद्वयः। तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवो३म् आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वयः क्रत्वे दक्षाय सुप्रजावतीमिषम्। यथा क्षयाम सर्ववीरया विशा तन्नः शर्धाय धासथा स्विन्द्रियो३म् आ तक्षत सातिमस्मभ्यमृभवः। सातिं रथाय सातिमर्वते नरो३म् सातिं नो जैत्रीं सं महेत विश्वहा जामिमजामिं पृतनासु सक्षणो३म् ऋभुक्षणमिन्द्रमा हुव ऊतय। ऋभून् वाजान् मरुतः सोमपीतयो३म् उभा मित्रावरुणा नूनमश्विना। ते नो हिन्वन्तु सातये धिये जिषो३म् (ऋसं० १.१११.१-४)।

५. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवो३म् (ऋसं० १.४.१)। अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा। ज्योतिर्जरायू रजसो विमानो३म् इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्तो३म् (ऋसं० १०.१२३.१)।

६. यह धाय्या सूक्तसे पहले पढी जाती है (ऐब्रा० ३.३.३० पर सायण भाष्य)।

७. इस धाय्याका पाठ सूक्तके पश्चात् किया जाता है (ऐब्रा० ३.३.३० पर सायण भाष्य)।

८. ऋसं० (१०.६३.३)।

९. ऋसं० (४.५०.६, आश्वश्रौसू० ५.१८.५)।

दोनों धाय्या "अयं वेन" से पूर्व पढ़ी जाती है ।[१] इसके उपरान्त विश्वदेवदेवताक सूक्तका[२] पाठ किया जाता है । सूक्तके पश्चात् परिधानीया[३] का पाठ किया जाता है । परिधानीयाके पाठके सम्बन्धमें निर्देश दिया गया है कि अन्तिम मन्त्र पाद-पादके अवसानपर बोला जाय तथा तृतीय आवृत्तिमें मन्त्रको एक बार अर्धर्चके अवसानपर बोला जाय, क्योंकि इससे यजमानकी प्रतिष्ठा स्थिर होती है (ऐब्रा० ३.३.३१) परिधानीयाके पश्चात् पांचजन्य मन्त्रसे[४] शस्त्रका समापन किया जाता है अर्थात् शस्त्र पढ़ते हुए भूमिका स्पर्श किया जाता है । अन्तमें वैश्वदेवी याज्याका[५] पाठ किया जाता है ।[६]

---

१. ऐब्रा० (३.३.३०) पर सायणभाष्य ।

२. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः । अदब्धासो अपरीतास उद्भिदो३म् देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नाप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवो३म् देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम् । देवानां रातिरभि नो नि वर्ततो३म् देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् । देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसो३म् तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयम् । भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधो३म् अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करो३म् तन्नो वातो मयोभु वातु भेजषम् । तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यो३म् तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवः । तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवो३म् तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम् । धियंजिन्वमवसे हूमहे वयो३म् पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे । रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तयो३म् स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदो३म् स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातो३म् पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः । शुभंयावानो विदथेषु जग्मयो३म् अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसः । विश्वे नो देवा अवसा गमन्निहो३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रो३म् स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः । व्यशेम देवहितं यदायो३म् (ऋसं० १८९.१-८) ।

३. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् । अदितिर्माता स पिता स पुत्रो३म् विश्वे देवा अदितिः पंच जनाः (ऋसं० १८९.१०) । होता उक्त मन्त्रका पाठ करके वैश्वदेवशस्त्रका समापन करता है ।

४. विश्वे देवा अदितिः पंचजनाः इत्युक्त्वात् इयमृक् पंचजनीया (ऐब्रा० ३.३.३१ पर सायण भाष्य) ।

५. विश्वे देवाः शृणुतेमं हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यविष्ठ । ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन बर्हिषि मादयध्वम् (ऋसं० ६.५२.१३) ।

६. ऐब्रा० (३.३.३१) ।

याज्यापाठके अनन्तर होता ग्यारह अक्षरका "उक्थं वाचि इन्द्राय देवेभ्यः" वाक्य कहता है, तब अध्वर्यु एक अक्षरका केवल "ओम्" कहता है ।[१]

प्रसंगतः उन बातोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है, जिन बातोंका वैश्वदेव शस्त्रके पाठके समय ध्यान रक्खा जाता है । पहले यह बताया जा चुका है कि ज्यों ज्यों दिन ढलता है, त्यों त्यों शस्त्रपाठ क्रमशः तेजीसे होता चला जाता है अर्थात् प्रातःसवनमें शस्त्रपाठ धीरे धीरे, माध्यन्दिन सवनमें मध्यम गतिसे । इस अवसरपर तृतीयसवनमें वैश्वदेवशस्त्रका पाठ बहुत तेजीसे किया जाता है, अपितु यहाँ तक कहा गया है कि आदिसे अन्त तक वैश्वदेवशस्त्रका पाठ तेजीके साथ ही पढ़ा जाना चाहिय क्योंकि उस समय मुखके सामने सूर्य बहुत तेज चमकता है ।[२] निवित् के सम्बन्धमें कहा गया है कि तृतीयसवनमें निवित् शस्त्रके पीछे रक्खे जाएँ, निवित् पढ़ने वालेको यजमान एक अश्व दानमें दे । ये निवित् बहुत सावधानीके साथ पढ़े जाते हैं, इसीलिए कहा गया कि निवित् पढ़ने वालेको निवित् के टुकड़े टुकड़े करके पढना चाहिये, किसी भी पदको नहीं छोड़ना चाहिये और न ही निवित् के पदोंको मिलाना ही चाहिये, केवल "प्रेदं क्षत्रं प्रेदं ब्रह्म" इस विषयमें अपवाद हैं अर्थात् इन दोनों पदोंको अवश्य मिलाया जाता है 'सूक्त' के सम्बन्धमें विधान किया गया है कि निवित् के लिए तीन मन्त्रोंसे अधिकका सूक्त निश्चित करना चाहिये । निवित् एक मन्त्रके शेष रहनेपर पढ़ा जाए, ऐसा कहा गया है ।[३] धाय्याके सम्बन्धमें कहा गया है कि प्रत्येक धाय्याके प्रारम्भ और अन्तिममें "शोंसावो३म्" अवश्य कहा जाना चाहिये । वैश्वदेवशस्त्रपाठ करनेसे पूर्व होताको चाहिये कि वह उन दिशाओंका तो चिन्तन अवश्य करे, जिनमें उसका कोई शत्रु नहीं होता किन्तु उस दिशाका वह चिन्तन न करे जिसमें उसका शत्रु रहता है ।[४]

अब प्रतिप्रस्थाता द्विदेवत्य ग्रहोंको माँजकर खरपर रखता हैं ।[५] इस अवसरपर कहा गया है कि अध्वर्यु जब होता द्वारा पढ़े गए इस मन्त्रको[६] सुने तो

---

१. ऐब्रा० (३.२.१२)।

२. ऐब्रा० (३.४४)।

३. ऐब्रा० (३.१०-११)।

४. ऐब्रा० (३.३.३१)।

५. तैआ० (१.११८, भारश्रौसू० १४.१२.११)।

६. प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा। देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंससेत्था धिया वार्याणि प्रभूषतः (ऋसं० १.१५९.१)।

व्याहाव[१] (शोंसावो३म्) तक उसका उत्तर दे, जिसके एक भागमें "मदा मोद इवोथा मोद हव" होता है ।[२] कात्यायनके अनुसार उक्त मन्त्रके तीन मध्यावसानोंमें "मदामो देव" ये तीन प्रतिगर होते हैं ।[३] आपस्तम्ब के अनुसार ऋचाके प्रथम आधे भागके प्रारम्भमें "मदा मोद इव" और अन्तमें "मोदा मोद इव" तथा दूसरी आधी ऋचाके प्रारम्भमें "मदा मोद इव" तथा अन्तमें "ओथा मोद इव" ये चार प्रतिगर होते हैं ।[४]

आहुति व सोमपान

शस्त्रपाठका उत्तर दिये जा चुकनेपर अध्वर्यु अब ग्रह उठाता है और चमसाध्वर्यु अपने नाराशंसचमस उठाते हैं । वषट्कारपर आहुति दी जाती है । चमस हिलाये जाते हैं, ग्रहोंके पीनेसे सम्बद्ध मन्त्रका[५] पाठ किया जाता है । नाराशंसचमस पीये जाते हैं । चमसी लोग चमसको पूरा पीकर जलसे भरकर माँजकर यथास्थान रखते हैं ।[६]

सौम्य चरुयाग

तृतीय सवनमें सोमके लिए चरु (भात) बनाया जाता है, जिसकी आहुति दी जाती है ।[७]

प्रैषकथन

सर्वप्रथम अध्वर्यु धान लाकर उडेलता हैं ।[८] उसके पश्चात् स्रुवामें बचे हुए आज्यको लेकर वेदी पार करके अध्वर्यु आग्नीध्रसे घोषणा करनेके लिए कहता है और उसका उत्तर पा जानेपर होताको "घृतस्य यज" प्रैष करता है ।[९] तब होता

---

१. शोंसावो३म् इति शब्दो व्याहावः (आपश्रौसू० १३.१३.११ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

२. भारश्रौसू० (१४.१२.१२)।

३. काश्रौसू० (१०.६.५)।

४. आपश्रौसू० (१३.१३.८)।

५. सावित्रवैश्वदेवैः पीतस्य इति (भारश्रौसू० १४.१२.१७)।

६. भारश्रौसू० (१४.१२.१३-२०)।

७. शब्रा० (४.४.२.१-३)।

८. भारश्रौसू० (१४.१३.१)।

९. भारश्रौसू० (१४.१३.२)।

घृतकी याज्याका[1] पाठ करता है ।[2]

घृताहुति

वषट्कारके पश्चात् आज्यकी आहुति दी जाती है । इसके पश्चात् घीकी एक तह लगाकर चरुके दो भाग किये जाते हैं तथा ऊपरसे भी घी लगा दिया जाता है ।[3] भारश्रौसू० (१४.१३.४) के अनुसार अपसव्य होकर चरुका एक भाग हाथसे तथा दूसरा भाग मेक्षणसे अलग किया जाता है । आपश्रौसू० (१३.१३.१७) ने भारद्वाजके विपरीत यह विधान किया है कि पहला भाग मेक्षणसे और दूसरा भाग हाथसे अलग किया जाना चाहिये ।

याज्यापाठ

अब हविष्यपर घी डालकर और पूर्वकी ओर लांघकर आग्नीध्रको घोषणाके लिए प्रेरित करके और उसका उत्तर पाकर सोमके लिए चरुकी आहुतिसे सम्बद्ध याज्याके लिए "सौम्यस्य यज" प्रैष किया जाता है ।[4] अब सोमके लिए चरुकी आहुतिसे सम्बद्ध याज्याका[5] पाठ किया जाता है ।[6] याज्यापाठके पश्चात् चरुकी आहुति दी जाती है ।

---

१. ऐब्रा० (३.३.३२)के अनुसार घृतकी दो याज्या हैं । पहली याज्या आग्नेयी, जिसका पाठ सौम्य चरुकी आहुतिके पूर्व किया जाता है । दूसरी याज्या वैष्णवी, जिसका पाठ घृताहवनो घृतपृष्ठो अग्निर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम । घृतप्रुषस्त्वा हरितो वहन्तु घृतं पिबन्यजसि देव देवान् (आश्वश्रौसू० ५.१९.३) । वैष्णवी याज्या इस प्रकार है— उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि घृतं घृतयोने पिब प्रज्ञपतिं तिरेति (आश्वश्रौसू० ५.१९.३) । सायणके अनुसार चरुकी आहुतिके पूर्व आग्नेयी याज्याके द्वारा प्रथम घृतयाग और वैष्णवी याज्या के द्वारा चरुकी आहुतिके पश्चात् दूसरा घृतयाग किया जाता है (ऐब्रा० ३.३.३२) पर सायण भाष्य । शांखायनके अनुसार याज्या इस प्रकार है– घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम । अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् (ऋसं० २.३.११) । श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४४९) ।

२. ऐब्रा० (३.३.३२) ।

३. शब्रा० (४.४.२.५) ।

४. भारश्रौसू० (१४.१३.७, काश्रौसू० १०.६.११) ।

५. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् (ऋसं० ८.४८.१३) ।

६. भारश्रौसू० (१४.१३.७, ऐब्रा० ३.३.३२, औश्वश्रौसू० ५.१९.३) ।

व्याहाव[१] (शोंसावो३म्) तक उसका उत्तर दे, जिसके एक भागमें "मदा मोद इवोथा मोद हव" होता है ।[२] कात्यायनके अनुसार उक्त मन्त्रके तीन मध्यावसानोंमें "मदामो देव" ये तीन प्रतिगर होते हैं ।[३] आपस्तम्ब के अनुसार ऋचाके प्रथम आधे भागके प्रारम्भमें "मदा मोद इव" और अन्तमें "मोदा मोद इव" तथा दूसरी आधी ऋचाके प्रारम्भमें "मदा मोद इव" तथा अन्तमें "ओथा मोद इव" ये चार प्रतिगर होते हैं ।[४]

आहुति व सोमपान

शस्त्रपाठका उत्तर दिये जा चुकनेपर अध्वर्यु अब ग्रह उठाता है और चमसाध्वर्यु अपने नाराशंसचमस उठाते हैं । वषट्कारपर आहुति दी जाती है । चमस हिलाये जाते हैं, ग्रहोंके पीनेसे सम्बद्ध मन्त्रका[५] पाठ किया जाता है । नाराशंसचमस पीये जाते हैं । चमसी लोग चमसको पूरा पीकर जलसे भरकर माँजकर यथास्थान रखते हैं ।[६]

सौम्य चरुयाग

तृतीय सवनमें सोमके लिए चरु (भात) बनाया जाता है, जिसकी आहुति दी जाती है ।[७]

प्रैषकथन

सर्वप्रथम अध्वर्यु धान लाकर उडेलता हैं ।[८] उसके पश्चात् स्रुवामें बचे हुए आज्यको लेकर वेदी पार करके अध्वर्यु आग्नीध्रसे घोषणा करनेके लिए कहता है और उसका उत्तर पा जानेपर होताको "घृतस्य यज" प्रैष करता है ।[९] तब होता

---

१. शोंसावो३म् इति शब्दो व्याहावः (आपश्रौसू० १३.१३.११ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

२. भारश्रौसू० (१४.१२.१२)।

३. काश्रौसू० (१०.६.५)।

४. आपश्रौसू० (१३.१३.८)।

५. सावित्रवैश्वदेवैः पीतस्य इति (भारश्रौसू० १४.१२.१७)।

६. भारश्रौसू० (१४.१२.१३-२०)।

७. शब्रा० (४.४.२.१-३)।

८. भारश्रौसू० (१४.१३.१)।

९. भारश्रौसू० (१४.१३.२)।

घृतकी याज्याका[१] पाठ करता है ।[२]

घृताहुति

वषट्कारके पश्चात् आज्यकी आहुति दी जाती है । इसके पश्चात् घीकी एक तह लगाकर चरुके दो भाग किये जाते हैं तथा ऊपरसे भी घी लगा दिया जाता है ।[३] भारश्रौसू० (१४.१३.४) के अनुसार अपसव्य होकर चरुका एक भाग हाथसे तथा दूसरा भाग मेक्षणसे अलग किया जाता है । आपश्रौसू० (१३.१३.१७) ने भारद्वाजके विपरीत यह विधान किया है कि पहला भाग मेक्षणसे और दूसरा भाग हाथसे अलग किया जाना चाहिये ।

याज्यापाठ

अब हविष्यपर घी डालकर और पूर्वकी ओर लांघकर आग्नीध्रको घोषणाके लिए प्रेरित करके और उसका उत्तर पाकर सोमके लिए चरुकी आहुतिसे सम्बद्ध याज्याके लिए "सौम्यस्य यज" प्रैष किया जाता है ।[४] अब सोमके लिए चरुकी आहुतिसे सम्बद्ध याज्याका[५] पाठ किया जाता है ।[६] याज्यापाठके पश्चात् चरुकी आहुति दी जाती है ।

---

१. ऐब्रा० (३.३.३२) के अनुसार घृतकी दो याज्या हैं । पहली याज्या आग्नेयी, जिसका पाठ सौम्य चरुकी आहुतिके पूर्व किया जाता है । दूसरी याज्या वैष्णवी, जिसका पाठ घृताहवनो घृतपृष्ठो अग्निर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम । घृतप्रुषस्त्वा हरितो वहन्तु घृतं पिबन्यजसि देव देवान् (आश्वश्रौसू० ५.१९.३) । वैष्णवी याज्या इस प्रकार है— उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि घृतं घृतयोने पिब प्रज्ञपतिं तिरेति (आश्वश्रौसू० ५.१९.३) । सायणके अनुसार चरुकी आहुतिके पूर्व आग्नेयी याज्याके द्वारा प्रथम घृतयाग और वैष्णवी याज्या के द्वारा चरुकी आहुतिके पश्चात् दूसरा घृतयाग किया जाता है (ऐब्रा० ३.३.३२) पर सायण भाष्य । शांखायनके अनुसार याज्या इस प्रकार है– घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम । अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् (ऋसं० २.३.११) । श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४४९) ।

२. ऐब्रा० (३.३.३२) ।

३. शब्रा० (४.४.२.५) ।

४. भारश्रौसू० (१४.१३.७, काश्रौसू० १०.६.११) ।

५. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् (ऋसं० ८.४८.१३) ।

६. भारश्रौसू० (१४.१३.७, ऐब्रा० ३.३.३२, औश्वश्रौसू० ५.१९.३) ।

घृताहुति

जिस प्रकार पहले वषट्कारके पश्चात् घृतकी आहुति दी गई उसी प्रकार दूसरी और पुन: घीकी आहुति दी जाती है ।[१]

इस अवसरपर संकेत दिया गया है कि सौम्य[२] चरु[३] के दोनों ओर अर्थात् आगे और पीछे घृतसाध्य दो याग किये जाने चाहिये,[४] विकल्पके रूपमें घीकी एक आहुतिका भी विधान किया गया है ।[५]

उद्गाताको चरुप्रदान

अध्वर्यु द्वारा प्रदत्त हुतशेष सोमके चरुको होता लेकर उस चरुके मध्य सिक्त घृतमें अपना प्रतिबिम्ब मन्त्रके[६] द्वारा देखता है । यह होता वही है, जो वषट्कार करता तथा प्रथमत: हवि:शेषका भक्षण करता है, इसके पश्चात् सोमका चरु उद्गाताओंको दिया जाता हैं ।[७] भारद्वाजने इस अवसरपर उल्लेख किया है कि यदि होता उद्गाताओंमें बहुत वृद्ध हों तो मन्त्रके[८] द्वारा होताको घीमें अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहिये ।[९] श्रौतकोशमें वह मन्त्र[१०] दिया गया है, जिसका विनियोग उस स्थितिमें किया जाता है, जब होता घीमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं देखता ।[११]

---

१. शब्रा० (४.४.२.६, भारश्रौसू० १४.१३८)।

२. सौम्यो नाम कर्मविशेष:, चरु हविष्क: सोमदेवत्य: (आश्वश्रौसू० ५.१९.३ पर वृत्ति)।

३. अनवस्रावित: तण्डुलपक्व ओदन: चरु इत्युच्यते (यज्ञतत्वप्रकाश, पृष्ठसं० ८०)।

४. ऐब्रा० (३.३.३२ पर सायण भाष्य, पृष्ठ सं० ४९४)।

५. शब्रा० (४.४.२.६)।

६. सत्रो त एतद्यदु त इह (मैसं० ४.७.२)।

७. ऐब्रा० (३.३.३२ पर सायणभाष्य)।

८. यन्मे मन: परागतं यद्वा मे अपरागतम् । राज्ञा सोमन तद्वयस्मासु धारयामसि (तैसं० ६.६.७.२)

९. भारश्रौसू० (१४.१३.१२)।

१०. भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा: । स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायु: (ऋसं० १८९८)।

११. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४५०)।

भक्षण

अध्वर्यु होताको बुलाकर एक बारमें सशेष भक्षण करता है तथा होता अध्वर्युको बुलाकर दो-बारमें सशेष भक्षण करता है, चमसी लोग बिना बुलाए ही सब चमसोंका भक्षण करते हैं ।[१]

भारद्वाजने उन व्यक्तियोंके भी चरुभक्षणका उल्लेख किया है, जो रोगग्रस्त हो, अथवा भोजनकी इच्छा वाला हो अथवा भोजन कर सकनेकी शक्ति होने पर भी न खा सकने वाला हो । ये तीनों व्यक्ति भी चरु भक्षण कर सकते हैं ।[२]

इस प्रकार चरुकी आहुतिके पूर्व अग्नेयी याज्याके द्वारा तथा चरुकी आहुति के पश्चात् वैष्णवी याज्याके द्वारा घृतयाग करके तथा हुतशेष चरुमें अपना दर्शन करनेके तदुपरान्त उद्गाताओंको वह समर्पण करके चरुयागसे सम्बन्धित समस्त कर्मकाण्ड समाप्त कर दिया जाता है । शब्रा० (४.४.२.३) ने सौम्य चरुयागके प्रसंगमें अनुवाक पढ़नेका निषेध किया है ।

धिष्ण्याओंमें जलती हुई शलाकाओंके ऊपर आज्यकी आहुतियाँ

पात्नीवतग्रह ग्रहण करनेसे पूर्व अध्वर्यु चार बारमें आज्य ग्रहण करके फिर उसके आठ विभाग करके आठों धिष्ण्याओंपर आठ मन्त्रोंके[३] द्वारा जलती हुई नौ नौ शलाकाओंके ऊपर आज्यकी आहुतियाँ देता है ।[४] देवयाज्ञिकके अनुसार सर्वप्रथम अध्वर्यु पूर्वद्वारसे आग्नीध्रशालामें प्रवेश करके धिष्ण्याके आगे बैठकर आग्नीध्रीय धिष्ण्यामें "विभूरसि" मन्त्रसे, फिर पूर्वद्वारसे आग्नीध्रशालासे निकल कर पूर्वद्वारसे सदोमण्डपमें प्रवेश करके पश्चिमकी ओर मुखकरके होताकी धिष्ण्यामें "वह्निरसि" मन्त्रसे, फिर पूर्वसे औदुम्बरीकी ओर जाकर पश्चिमकी ओर मुँह करके प्रशास्तृ धिष्ण्यामें "श्वात्रोऽसि" मन्त्रसे, फिर उसी प्रकार लौटकर ब्राह्मणाच्छंसीधिष्ण्यामें "तुथोऽसि" मन्त्रसे, फिर पोतृधिष्ण्यामें "उशिगसि" इस मन्त्रसे, फिर नेष्टाकी धिष्ण्यामें "अंघारिरसि" मन्त्रसे तथा फिर अच्छावाककी धिष्ण्यामें "अवस्यूरसि" मन्त्रसे तथा अन्तमें पूर्वद्वारसे सदोमण्डपमेंसे निष्क्रमण

---

१. काश्रौसू० (१०.६.७. पर सरलावृत्ति)।

२. भारश्रौसू० (१४.१३.१३)।

३. धिष्ण्याओंके निवपनमें इन मन्त्रोंका उल्लेख किया जा चुका है ।

४. भारश्रौसू० (१४.१३.१४, काश्रौसू० १०.६.१४, शब्रा० ४.४.२.७)।

करके मार्जालीयसे जाकर पश्चिमकी ओर ही मुख करके "शुन्ध्यूरसि" मन्त्रसे आहुति देता है । आहुति देनेके पश्चात् उसी प्रकार लौटकर पश्चिमसे हविर्द्धान और आग्नीध्रीयके दक्षिणसे जाकर उत्तरवेदीकी ओर चलते हैं । इस अवसरपर किन्हीं आचार्यका यह मत भी दिया गया है कि पुन: आग्नीध्रीय्रमें चुपचाप आहुति दी जानी चाहिये ।[१] शब्रा० (४.४.२.८) ने पुन: आग्नीध्रीयमें आहुति देनेका निषेध करके अन्तमें मार्जालीयमें ही आहुति देनेके लिए आग्रह किया है । आपश्रौसू० (१३.१४.५-६) ने आग्नीध्रीयमें पुन: आहुति देनेके लिए विधान करते हुए उल्लेख किया है कि यदि आग्नीध्रकी इच्छा हो तो अध्वर्युको ९ उपप्लवा आज्य भरकर प्रथम और अन्तिम आहुति आग्नीध्रीय धिष्ण्यामें ही देनी चाहिये । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आपस्तम्बोक्त विधान तो आग्नीध्रीयमें ही प्रथम और अन्तिम आहुति देनेके लिए है किन्तु शब्रा० के अनुसार इसका निषेध प्राप्त है । कात्यायनने विकल्पके रूपमें ही उक्त कृत्यका उल्लेख करके विधि और निषेधसे परे होनेका परिचय दिया है ।[२]

पात्नीवतग्रहप्रचार

प्रत्येक धिष्ण्याओंमें जलते हुए नौ-नौ अंगारों (शलाकाओं) के ऊपर इधर तो आहुतियाँ दी जा रही होती हैं और उधर प्रतिप्रस्थाता हविर्द्धानमें प्रवेश करके आग्रयणसे उपांशु और अन्तर्यामपात्रोंके मध्यमें पहले जिस पात्रसे सावित्रग्रहका ग्रहण नहीं किया गया था, उस पात्रसे मन्त्रके[३] द्वारा पात्नीवतग्रहका ग्रहण है ।[४] भट्टभास्कर ने उपांशुपात्रका उल्लेख किया है,[५] कात्यायनने उपांशु तथा अन्तर्याम दोनों पात्रोंका उल्लेख किया है ।[६] आपस्तम्बके अनुसार यह पात्र न तो रक्खा ही जाता है और न अनुवषट्कार ही किया जाता है ।[७]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३६६)।
२. काश्रौसू० (१०.६.१५)।
३. उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तइन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ ऋध्यासम् (वासं० ८.९)। तैत्तिरीय ऋचा इस प्रकार है— बृहस्पतिसुतस्य त इन्द्रो इन्द्रियावतः पत्नीवन्तं ग्रहं गृह्णामि (तैसं० १.४.२७)।
४. काश्रौसू० (१०.६.१६, शब्रा० ४.४.२.१२, आपश्रौसू० १३.१४.७)।
५. तैसं० (१.४.२७) पर भट्टभास्करका भाष्य (पृष्ठसं० ५८९)।
६. काश्रौसू० (१०.६.१६)।
७. आपश्रौसू० (१३.१४.९-१०, शब्रा० १६.६, कासं० २८.८, मैसं० ४.७.४, ऐब्रा० ६.३)।

पात्नीवतयाग

इस अवसरपर"अग्नीत्पात्नीवतस्य यजेत्" प्रैष होताके प्रति किया जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[१] साथ आहवनीय अग्निके उत्तरार्द्धमें ग्रहकी आहुति देता है।[२] भारद्वाजके अनुसार पात्नीवतग्रहकी आहुतिसे सम्बद्ध याज्याका पाठ किया जाता है।[३] ऐब्रा० (६.१.३) के अनुसार पात्नीवतग्रहके मन्त्रका पाठ आग्नीध्र धीरे धीरे उपांशु स्वरसे करता है।

प्रैषकथन

देवयाज्ञिकके अनुसार सशेष पात्र लेकर आग्नीध्रके पास जाकर और वहाँ बैठकर अध्वर्यु "अग्नीदुपह्वयस्व" उच्चारण करता है। इसके पश्चात् 'उपहूत' ऐसा कहकर आग्नीध्र अध्वर्युके प्रति "उप माह्वयस्व" कहता है। तब अध्वर्यु "उपहूत" ऐसा कहकर आग्नीध्रके पास बैठकर प्रैष करता है—- "अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद, नेष्टः पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं माऽतिरीरिच"।[४] भारद्वाज ने लम्बा प्रैष उद्धृत् किया है—"अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः पत्नीमुदानयोन्नेतर्होतृचमसमुख्याँश्चमसानुन्नय होतृचमसे ध्रुवायावकाशं कुरु सर्वं राजानं चमसेषून्नय दशाभिः कलशौ मृष्ट्वा न्युब्जोद्गात्रा पत्नीं संख्यापयाप उपप्रवर्तय"। इसी प्रैषके अनुसार सभी ऋत्विज अपने कार्योंका सम्पादन करते हैं।[५]

ग्रहभक्षण

ग्रहभक्षणके अन्तर्गत सर्वप्रथम अध्वर्यु और उसके पश्चात् आग्नीध्र सोमपान करता है।[६] भारद्वाज (१४.१४.४) के अनुसार आग्नीध्र नेष्टा और उसकी धिष्ण्याके बीचमें रेंगते हुए सोमपान करता है।

---

१. अग्ना३ इपत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा (वासं० ८.१०)।

२. काश्रौसू० (१०.६.१९, शब्रा० ४.४.२.१६, भारश्रौसू० १४.१३.१७)।

३. याज्याके लिए भारद्वाज (१४.१३.१६) ने प्रैष किया है, किन्तु याज्या कौन सी है, यह उल्लेख किया नहीं।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३६७, काश्रौसू० १०.६.२०)।

५. भारश्रौसू० (१४.१४.१-२)।

६. काश्रौसू० (१०.६.२४)।

सोमपान करनेके पश्चात् आग्नीध्र पात्नीवतग्रहको मार्जालीयपर धोकर खरपर स्थापित करता है ।

अग्निष्टोमस्तोत्र

पात्नीवतग्रहको खरपर रख देनेके पश्चात् धिष्ण्याओंकी अग्नियाँ प्रज्ज्वलित कर दी जाती हैं तथा अग्निष्टोम[1] स्तोत्रका उपक्रम किया जाता है ।[2] इस अवसरपर ऋत्विज और यजमान अपने उत्तरीयसे कान तकके शरीरको ढक लेते हैं तथा नाभि खुली रखते हैं ।[3] आपश्रौसू० (१३.१५.१५) के अनुसार कान नहीं भी ढके जा सकते हैं ।

पत्नी द्वारा अपनी जांघपर जलका अभिसिंचन

अब यजमानपत्नी अपनी दाहिनी जांघसे कपड़ा हटाकर उसपर अभिसिंचन करती है, यह जल पूर्व या उत्तरकी ओर बहने दिया जाता है, विकल्पके रूपमें ईशानकी ओर भी जल बहानेका विधान है ।

अग्निमारुतशस्त्र

तृतीयसवनमें सबसे अन्तमें अग्निमारुतशस्त्रका पाठ किया जाता है । यह अग्निमारुतशस्त्र वैश्वानर[4] सूक्तसे प्रारम्भ किया जाता है । वैश्वानरसूक्तके

---

१. यज्ञायज्ञा वो अग्नये इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम यज्ञायज्ञीयं (ऊ० गान १.१.१४)। साम्ना नेनाग्निष्टोमस्य समाप्यमानत्वादग्निष्टोमसामेत्युच्यते (ऐब्रा० ३.२.१४. पर सायण भाष्य)। देवा वै______ ते देवा यज्ञायज्ञीयमपश्यस्तेषां यज्ञायज्ञा वो अग्नये इति (तांब्रा० ८.६.१-५, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ४५३)।

२. भारश्रौसू० (१४.१४.४)।

३. भारश्रौसू० (१४.१४.५) तथा सरलावृत्तिके अनुसार "प्रोर्णुते" क्रिया एकवचन होनेसे केवल अध्वर्युका प्रावरण समझा जाना चाहिये ।

४. वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे । अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत् ॥ अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः । क्षयं बृहन्तं परि भूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः ॥ केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः । अपांसि यस्मिन्नधि संदधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके ॥ पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम् । आ विवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः ॥ चन्द्रमाग्निं चन्द्ररथं हरिव्रतं वैश्वानरमप्सुषदं स्वर्विदम् । विगाहं तूर्णिं

सम्बन्धमें कहा गया है कि पहली ऋचा बिना साँस छोड़े ही बोली जाय तथा पूरे सूक्तका उच्चारण शुद्धतासे किया जाय, किसी ऐसे व्यक्तिकी नियुक्ति इस अवसर की जानी चाहिये जो होता द्वारा पढ़े गए वैश्वानरसूक्तकी अशुद्धि दूर कर सके ।[१] वैश्वानरसूक्तके पश्चात् योनि[२] (स्तोत्रिय)[३], उसके पश्चात् अनुरूप[४] प्रगाथ[५],

---

तविषीभिरावृतं भूर्णिं देवास इह सुश्रियं दधुः ॥ अग्निर्देवेभिर्मनुषश्च जन्तुभिस्तन्वानो यज्ञं पुरुपेशसं धिया । रथीरन्तरीयते साधदिष्टिभिर्जीरो दमूना अभिशस्तिचातनः ॥ अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुन्यूर्जा पिन्वस्व समिषो दिदीहि नः । वयांसि जिन्व बृहतश्च जागृव उशिग्देवानामसि सुक्रतुर्विपाम् ॥ विश्वपतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजं च वाघताम् । अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्र शंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे ॥ विभावा देवः सुरणः परि क्षितीरग्निर्बभूव शवसा सुमद्रथः । तस्य व्रतानि भूरिपोषिणो वयमुप भूषेम दम आ सुवृक्तिभिः ॥ वैश्वानर तव धामान्या चके येभिः स्वर्विदभवो विचक्षण । जात आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना ॥ वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहदरिणादेकः स्वपस्यया कवो३म् उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावापृथिवी भूरिरेतसो३म् (ऋसं० ३.३.१-११)।

१. ऐब्रा० (३.३.३५)।

२. यज्ञायज्ञा वः इत्येकः प्रगाथः। देवो वः इति द्वितीयः। तत्र प्रथमे प्रगाथः तृचः सम्पद्यते। सोऽयं स्तोत्रियः तस्मिन् तृचे सामगैः स्तूयमानत्वात्। अत एवासौ द्वयोर्मध्ये प्रथमभावित्वाद् योनिः इत्युच्यते (ऐब्रा० ३.३.३५) पर सायणभाष्य ।

३. योनिके अन्तर्गत ऋचाओंका पाठ किया जाता है— शोंसावोऽम् यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे। प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषो३म् ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुः। दाशेम हव्यदातयो३म् भुवद् वाजेष्वविता भुवद् वृध। उत त्राता तनूनो३म् (ऋसं० ६.४८.१-२,)। गंगाप्रसाद उपाध्यायने ऐब्रा० के हिन्दी अनुवादमें भिन्न मन्त्र दिये हैं (पृष्ठसं० २०१)।

४. द्वितीय प्रगाथे समुत्पन्नस्तृचोऽनुरूपः(ऐब्रा० ३.३.३५ पर सायण भाष्य, आश्वश्रौसू० ५.२०.६)।

५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्यासिचम्। उद्वासिंचध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहतो३म् तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं। वह्निं देवा अकृण्वतो३म् दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषो३म् (ऋसं० ७.१६.११-१२)। उपर्युक्त स्तोत्रिय तथा अनुरूपका शंसन वैश्वानरीय और अग्निमारुतीय इन दो सूक्तोंका शंसन करके किया जाता है (ऐब्रा० ३.३.३५)।

जातवेद देवताक सूक्त[१] जलका सूक्त[२] अहिर्बुध्न्य[३] का मन्त्र,[४] देवपत्नीका[५] मन्त्र,[६]

---

१. प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे। अपां नपाद् यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः॥ स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी आरोचयत्॥ अस्य त्वेषा अजरा अस्य मानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः। भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥ यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥ न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः। अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून् त्स वना न्यृञ्जते॥ कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद् वसुष्कुविद् वसुभिः काममावरत् चोदः कुवित् तुतुज्यात् सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे॥ घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते। इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम्॥ अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मो३म् अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टे। अनिमिषद्भिः परि पाहि नो जो३म् (ऋसं० १.१४३.१-८)।

२. शोंसावो३म् आपो हिष्ठा मयोभुवः ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसो३म् यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरो३म् तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नो३म् (ऋसं० १०.९.१-३)।

३. सायणके अनुसार अहि और बुध्न्य अग्निके विशेषण हैं (ऐब्रा० ३.३.३६ पर सायण भाष्य)। अहिरयनात् एत्यन्तरिक्षेऽयम् (मेघः) इति (विद्युदग्निः) इति च। (निरुक्त २.१.३, १०.४७)। अहिश्चासौ बुध्न्यश्चेत्यहिर्बुध्न्यः इति (सायणभाष्य, ऋसं० ७.३४.१७)। तदेवं मेघसहचरवैद्युतो अग्निरेवाहिर्बुध्न्योऽवगम्यते।

४. शोंसावो३म् उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु। अज एकपात् पृथिवी समुद्रो३म् विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः। स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तो३म् (ऋसं० ६.५०.१४)। इस मन्त्रके पढते हुए अथवा पढ़े जा चुकने पर प्रतिप्रस्थाता होताके चमसमें ध्रुवस्थाली उडेलता है, तथा भूतमसि भूते मा धा (तैसं० ३.२.८.४) मन्त्र पढता है (भारश्रौसू० १४.१४.११)। आपश्रौसू० (१३.१६.२-५) के अनुसार शस्त्रपाठ के पूर्वमें या पाठके बीचमें या पाठके अन्तमें या जब अन्तिम छन्द दूसरी या तीसरी बार पढा जा चुका हो तब उपर्युक्त मन्त्रका पाठ प्रतिप्रस्थाता द्वारा किया जाना चाहिये।

५. देवानां पत्नीः इत्यनेन देवतावाचकेन शब्देन तत्प्रतिपादकम् ऋग्द्वयं (ऋसं० ५.४६.७-८) विवक्षितं (ऐब्रा० ३.३.३७ पर सायण भाष्य)। देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु न इति द्वे (आश्व श्रौसू० ५.२०.६)।

६. शोंसावो३म् देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः। प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातयो३म् याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते। ता नो देवीः सुहवाः। शर्म यच्छतो३म् उत ग्ना व्यन्तु

राकाका[१] मन्त्र,[२] पावीरवीका[३] मन्त्र,[४] यमका[५] मन्त्र[६] काव्योंका[७] मन्त्र,[८] पितरोंके तीन मन्त्र[९] इन्द्रके अनुपानके[१०] मन्त्र, [११] विष्णु और

देवपत्नीः। इन्द्राण्यग्नायश्विनी रो३म् आ रोदसी वरुणानी शृणोतु। व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनो३म् (ऋसं० ५.४६.७-८)।

१. सम्पूर्णचन्द्रमण्डलयुक्ता पौर्णमासी राका। तदभिमानिदेवतायाः प्रतिपादिका ऋगपि "राका" इत्युच्यते (ऐब्रा० ३.३.३७ पर साणभाष्य)।

२. शोंसावो३म् राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे। शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मनो३म् सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यो३म् यास्ते राके सुमतयः सुपेशसः याभिर्ददासि दाशुषे वसूनो३म् ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणो३म् (ऋसं० २.३२.४-५)।

३. येयं वागभिमानिनी "सरस्वती" देवता सैव "पावस्य" शोधनस्य हेतुत्वात् पावीरवी (ऐब्रा० ३.३.३७ पर सायणभाष्य)।

४. शोंसावोम् पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धो३म् ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषाः। दुराधर्षं गृणते शर्म यंसो३म् (ऋसं० ६.४९.७)।

५. यमः पितृणां राजा (तैसं० २.६.६)।

६. शोंसावोम् इमं यम प्रस्तरमा हि सीद। अंगिरोभिः पितृभिः संविदानो३म् आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्तु। एना राजन् हविषा मादयस्वो३म् (ऋसं० १०.१४.४)।

७. काव्याः देवानां स्तोतारः केचिदधमजातिविशेषाः पितृभ्योऽप्युत्तमजातीयाः (ऐब्रा० ३.३.३७ पर सायणभाष्य)।

८. शोंसावो३म् मातली कव्यैर्यमो अंगिरोभिः। बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानो३म् याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्। स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्तो३म् (ऋसं० १०.१४.३)

९. शोंसावो३म् उदीरतामवर उत् परासः। उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासो३म् असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञाः। ते नोऽवन्तु पितरो हवेषो३म् (ऋसं० १०.१५.१)। शोंसावो३म् आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि। नपातं च विक्रमणं च विष्णो३म् बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठो३म् (ऋसं० १०.१५.३) शोंसावो३म् इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयो३म्। य पार्थिवे रजस्या निषत्ताः ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षो३म् (ऋसं० १०.१५.२)। प्रत्येक मन्त्रके प्रारम्भमें शोंसावो३म् ऐब्रा० (३.३.३७) के अनुसार लगाया गया है।

१०. भोजनादूर्ध्वं यत्पानं तत्पश्चाद्भावित्वाद् अनुपानं तत्स्थानीया एता ऋचः (ऐब्रा० ३.३.३८ पर सायणभाष्य)।

११. शोंसावो३म् स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं। तीव्रः किलायं रसवाँ उतायो३म् उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं। न कश्चन सहत आहवेषो३म् अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस। यन्येन्द्रो

वरुणका[१] मन्त्र,[२] विष्णुका मन्त्र[३] अनिरुक्त प्रजापतिका[४] मन्त्र[५] पढता है ।[६]

अनिरुक्त प्रजापतिके मन्त्रका पाठ करनेके उपरान्त होता निम्नांकित मन्त्रका[७] पाठ करके अग्निमारुत शस्त्रकी समाप्ति[८] करता है। इसी अवसपर प्रतिप्रस्थाता मन्त्र[९] पढकर ध्रुवस्थालीसे होताके चमसमें सोम उडेलता है ।[१०] भारश्रौसू० (१४.१५.१-२) के अनुसार प्रतिप्रस्थाता सामने खड़े होकर पश्चिमकी

वृत्रहत्ये ममादो३म् पुरूणि यश्च्यौला शम्बरस्य । वि नवतिं नव च देह्यो३म् शोंसा वो३म् अयं मे पीत उदियर्ति वाचम् । अयं मनीषामुशतीमजीगो३म् अयं षळुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे अयं अयं स यो वरिमाणं पृथिव्याः। वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सो३म् अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु । सोमो दाधारो र्वन्तरिक्षो३म् (ऋसं० ६.४७.१-४)। भारश्रौसू० (१४.१४.१०) के अनुसार "स्वादुष्किलायं" मन्त्र पढे जानेके बाद अध्वर्यु शस्त्रपाठके उत्तरमें मदा, मोद इव मोदा मोद इव कहता है । अध्वर्युणा मद्वत्प्रतिगीयं मदिधातुयुक्तं प्रतिगरणं पठनीयम् । मदामो देव इत्ययं मदिधातयुक्तः प्रतिगरणमन्त्रः (ऐब्रा० ३.३.३८ पर सायण भाष्य ।) स्वादुष्किलायं इति चतस्रो मध्ये चाह्वानंमदा मोदैव मोदा मोदवोमित्यासां प्रतिगरः (आश्वश्रौसू० ५.२०.६) ।

१. विष्णुर्वरुणश्च मिलित्वा देवता यस्या ऋचः सा वैष्णुवारुणी (ऐब्रा० ३.३.३८ पर सायण भाष्य) ।

२. शोंसावो३म् ययोरजसा स्कभिता रजांसि । वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठो३म् या पत्येते अप्रतीता सहोभिः । विष्णू अगन्वरुणा पूर्वहूतो३म् (आश्वश्रौसू० ५.२०.६) ।

३. विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सदस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः (ऋसं० १.१५४.१) ।

४. अस्यामृचि काचिदपि देवता साक्षाद्वाचकशब्देन नोक्ता तस्माद् इयम् अनिरुक्ता (ऐब्रा० ३.३.३८ पर सायणभाष्य) ।

५. तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि । ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतो३म् अनुल्बणं वयत जोगुवामपः । मनुर्भव जनया दैव्यं जनो३म् (ऋसं० १०.५३.६) ।

६. ऐब्रा० (३.३.३५-३८) ।

७. शोंसावो३म् एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी करत् सत्या चर्षणीधृदनर्वा । त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रो३म् (ऋसं० ४.१७.२०) ।

८. अग्निमारुतशस्त्रकी समाप्तिपर भूमिका स्पर्श किया जाता है ।

९. ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममव नयामि । अथा नऽइन्द्रऽद्विशोऽसपत्नाः समन सस्करत् (तैसं० ३.२.८.६) ।

१०. काश्रौसू० (१०.७.६) ।

ओर मुख करके ध्रुवस्थालीसे होताके चमसमें सोम डालता है । एक मतके अनुसार प्रतिप्रस्थाता पूर्वकी ओर मुँह करे, पश्चिममें बैठकर स्वाभाविक रूपसे सोम उडेले अर्थात् उडेलते हुए प्रतिप्रस्थाता ध्रुवस्थालीको नीचेकी ओर ले जाता रहे । उक्त मतका भी उल्लेख भारद्वाजने ही किया है ।

याज्या

शस्त्रका उत्तर दे चुकने पर अध्वर्यु होताके चमसको उठाता है और चमसाध्वर्यु भी अपने अपने चमस उठा लेते हैं। इसी अवसरपर अग्निमारुत देवताक याज्याका[१] पाठ करता है ।[२]

आहुति व सोमपान

याज्यापाठके अनन्तर वषट्कारके बाद आहुति दी जाती है ।[३] दूसरे वषट्कारका भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके बाद आहुति दी जाती है ।[४] इसके पश्चात् चमसी लोग अपने अपने चमस पी जाते हैं । सोम पीनेसे सम्बद्ध मन्त्रका[५] पाठ किया जाता है ।[६] आपश्रौसू० (१३.१६.८) में भिन्न मन्त्र[७] पढा गया है ।[८]

आदित्य व आहवनीयकी प्रार्थना

भारद्वाज (१४.१५.८) के अनुसार मन्त्रके[९] साथ आदित्यकी अथवा आहवनीय अग्निकी प्रार्थना की जाती है । आपश्रौसू० (१३.१६.९-१०) ने आदित्य

---

१. अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः पावकेभिर्विश्वमिन्वेभिरायुभिर्वैश्वानर प्रदिवा केतुना सजूः (ऋसं० ५.६०.८)।

२. भारश्रौसू० (१४.१५.४-५)।

३. भारश्रौसू० (१४.१५.६)।

४. आपश्रौसू० (१३.१६.७)।

५. अग्निना वैश्वानरेण पीतस्य ।

६. भारश्रौसू० (१४.१५.७)।

७. सुभूरसि श्रेष्ठो रश्मीनां प्रियो देवानां संसदनीयः। तं त्वा सुभव देवा अभिसंविशन्त्विषोऽसि त्वेषोऽसि नृम्णोऽसि यह्वोऽसि व्रतोऽसि स्वोऽसि वारणोऽसि तस्य त इषस्य त्वेषस्य नृम्णस्य यह्वस्य व्रतस्य स्वस्य वारणस्य शूद्रस्य चार्यस्य च भुक्षिषीय ।

८. आपश्रौसू० (१३.१६.८)।

९. सुभूरसि श्रेष्ठो रश्मीनामायुर्धा (तैसं० १.६.६.१)।

तथा आहवनीय अग्नि दोनोंकी प्रार्थनाका उल्लेख करके दोनोंका मन्त्र[१] उल्लिखित किया है ।

हारियोजनग्रहप्रचार

अग्निमारुतशस्त्रसे सम्बन्धित समस्त कर्मकाण्ड पूरा होनेके पश्चात् आहवनीय अग्निके चारों ओर परिधियाँ[२] रक्खी जाती हैं । अग्निमें समिधा लगा देनेके उपरान्त उन्नेता द्रोणकलशमें आग्रयणसे हारियोजनको[३] मन्त्र[४] पढकर ग्रहण करता है ।[५] देवयाज्ञिकके अनुसार स्रुग् विमोकानन्तर वेदीका स्पर्श करके हाथ धोकर तथा हविर्द्धानमें प्रवेश करके अध्वर्यु तब द्रोणकलशमें आग्रयणसे सोमको डालता हैं ।[६] जब होता 'शम्य' ऐसा कहे तभी हारियोजन लिया जाना चाहिये, ऐसा उल्लेख शब्रा (४.४.३.३) ने किया है

प्रैष कथन, याज्या व पुरोनुवाक्याका पाठ तथा आहुति

देवयाज्ञिकके अनुसार द्रोणकलशके ऊपर दो दर्भतृण पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण रखकर मन्त्रके[७] साथ सोममें बहुत सा लौकिक धाना (भुना हुआ जौ) मिलाया जाता है । फिर परिमार्जन किया जाता है, इस समय आसादन क्रिया नहीं होती । तब उन्नेता सिरपर द्रोणकलश रखकर प्रशास्ताको प्रैष करता है— धानासोमेभ्योऽनुब्रूहि इति ।[८] भारद्वाजके अनुसार प्रैष किया जाता है— "इन्द्राय

---

१. आदित्यकी प्रार्थनाके लिए यथा-त्वं सूर्यासि विश्वदर्शत एवमहं विश्वदर्शतो भूयासम् तथा आहवनीयकी प्रार्थना के लिए यथा-आयुर्म इन्द्रियं धेह्यदो म आगच्छतु ।

२. पलाश आदिकी समिधाओंको परिधि कहा जाता है (वैदिककोश, पृष्ठसं० ३९४)। कार्ष्मर्याः परिधयः(काश्रौसू० ८.१.१०)।

३. द्रोणकलशे आग्रयणाद्यो रसो गृहीतः स एव हारियोजनसंज्ञको भवति (काश्रौसू० १०.८.१ पर सरलावृत्ति)।

४. उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा गृह्णामि (वासं० ८.११) । तैसं० (१.४.२८) में मन्त्र इस प्रकार है— "हरिरसि हारियोजनो हर्योः स्थाता वज्रस्य भर्ता पृश्नेः प्रेता तस्य ते देव सोमेष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्य हरिवन्तं गृह्णामि ।"

५. काश्रौसू० (१०.८.१, भारश्रौसू० १४.८.११, आपश्रौसू० १३.१७.१)।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७०)।

७. हर्योधानास्थ सहसोमा इन्द्राय (वासं० ८.११) हरीः स्थ हर्योर्धानाः (तैसं० १.४.२८)।

८. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७०)। भारश्रौसू० (१४.१८.१३) ने मन्त्रका विनियोग

हरिवते धानासोमानामनुब्रूहि" (१४.१८.१०)। प्रैषके अनन्तर प्रशास्ता (मैत्रावरुण) पुरोनुवाक्या[1] का पाठ करता है।[2]

पुरोनुवाक्याके प्रश्चात् श्रौषट् करके प्रैष किया जाता है— धानासोमान् प्रस्थितान्प्रेष्य इति।[3] प्रैषके अनन्तर याज्याका[4] पाठ होता है।[5] अब तिरछा होकर सिरपर रक्खे हुए द्रोणकलशसे प्रत्येक वषट्कारपर धाना (भुने हुए जौ) से मिश्रित सोमकी आहुति देता है। समस्त सोम तथा समस्त धानाकी आहुति दे दी जाती है।[6] भारद्वाज (१४.१८.१३) ने आहुतिके लिए निम्नांकित मन्त्रका[7] विनियोग किया है। शब्रा० (४.४.३.९) के अनुसार अनुवषट्कारपर भी आहुति दी जाती है। भारद्वाज (१४.१८.१४) के अनुसार आहुतिके उपरान्त दो मन्त्रोंसे[8] यजमान अनुमन्त्रण क्रिया करता है।

श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४६७) में सूक्तवाक प्रैषका[9] उल्लेख किया गया है, जिसके पश्चात् आश्वश्रौसू० (१.९.१, ५.३.१०-११) की रीतिके अनुसार

आहुति में किया है, जबकि आपश्रौसू० (१३.१७.२) ने मन्त्रका विनियोग आहुतिमें न करके जौ मिलानेके निमित्त किया है।

१. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। यत्रा रथस्थ बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् (ऋसं० ३.५३.६)।

२. भारश्रौसू० (१४.१८.१०, श्रौतकोश, पृष्ठसं० ४६८)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७०)। भारश्रौसू० (१४.१८.१२) ने प्रैष इस प्रकार लिखा है— इन्द्राय हरिवते धानासोमान् प्रस्थितान् प्रेष्य इति।

४. युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्रयाहि दधिषे गभस्त्योः। उत् त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषुः पूषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्यामदः (ऋसं० १.८२.६)।

५. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४६८)।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७०)।

७. हरीः स्थ हर्योर्धानाः सह सोमा इन्द्राय स्वाहा (तैसं० १.४.२८)। भट्टभास्कर (पृष्ठ संख्या ५६४) तथा आपश्रौसू० (१३.१७.३) के अनुसार हरीः स्थ हर्योधानाः इतनी ऋचाका विनियोग सोममें जौ मिलानेके निमित्त किया गया है, केवल सह सोमा इन्द्राय स्वाहा इतनी ऋचाका पाठ आहुतिके लिए किया जाता है।

८. यन्म आत्मनो मिन्दाभूत् (तैसं० ३.२.५.४)।

९. अग्निमद्य होतारमवृणीतोयं.........सूक्ता ब्रूहि (खिलम् ५.७.४)

सूक्तवाकका[१] पाठ किया जाता है ।

धानाभक्षण

अब समस्त ऋत्विज मन्त्रके[२] साथ सोमरसमें भीगे हुए धान्यका भक्षण करते हैं, शेष धानाओंको उत्तरवेदीमें डाल दिया जाता है ।[३] भारद्वाजने अवशिष्ट धान्यों के निवपनके लिए मन्त्रका[४] भी उल्लेख किया है ।[५] गिरिधर भाष्यके अनुसार धानाओंका प्रत्यक्ष भक्षण न करके केवल सूंघ लिया जाता है,[६] इसी प्रकारका उल्लेख अन्य श्रौतसूत्रोंमें भी किया गया है कि धानाओंको बिना तोड़े, बिना दबाए

---

१. "इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूदार्ध्म सूक्तवाकमुत नमोवाकमृध्यास्म सूक्तोच्यमग्ने त्वं सूक्तवागसि। उपश्रुती दिवस्पृथिव्योरोमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम्। शंगयी जीरदानू अत्रस्नू अप्रवेदे उरुगव्यूती अभयंकृतौ। वृष्टिद्यावा रीत्यापा शंभुवौ मयोभुवा ऊर्जस्वती पयस्वती सूपचरणा च स्वधिचरणा च तयोराविदि। अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। सोम इदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। वनस्पतिरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। इन्द्रो वसुमानिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। इन्द्रो रुद्रवानिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। इन्द्र आदित्यवानृभुमान् विभुमान् वाजवान् बृहस्पतिवान् विश्वदेव्यायानिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। देवा आज्यपा आज्यमजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽकृत। अग्निर्होत्रेणेदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अस्यामृधेद्धोत्राया देवंगमायामाशास्तेऽयं यजमानः अमुकशर्मा (व्यावहारिकं नामोच्चार्य नाक्षत्रनामापि उच्चारणीयम्)। आयुराशास्ते सुप्रजास्त्वमाशास्ते रायस्पोषमाशास्ते सजातवनस्यामाशास्त उत्तरां देवयज्यामाशास्ते भूयो हविष्करणमाशास्ते दिव्यं धामाशास्ते विश्वं प्रियमाशास्ते यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवा रासन्तां तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनते वयमग्नेर्मानुषाः। इष्टं च वित्तं चोभे च नो द्यावापृथिवी अंहसस्पातामेह गतिर्वामस्येदं नमो देवेभ्यः ॥ (श्रोतकोश पृष्ठसं० ४६७)।

२. यस्तेअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि (वासं० ८.१२)।

३. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० ३०२, काश्रौसू० १०.८.६, शब्रा० ४.४.३.११)।

४. आपूर्याः स्था मा पूरयत (तैसं० ३.२.५.५)।

५. भारश्रौसू० (१४.१९.१)।

६. गिरिधरभाष्य (पृष्ठसं० ३११)।

तथा बिना शब्द किये चबाये जाएँ ।[१] धानाभक्षणका मन्त्र भारद्वाजने दूसरा[२] लिखा है ।[३] देवयाज्ञिकके अनुसार यजमान सहित सोलहों ऋत्विज द्रोणकलशसे तीन तीन धाना ग्रहण करके सदस् में ही उन धान्योंका अवधाण करके उत्तरवेदीमें फेंक देते हैं ।[४]

यज्ञिय वृक्षखण्डकी आहुति

यूपका निर्माण करते समय जो यज्ञिय वृक्ष (यूप) के कुछ टुकड़े बच गए थे उन यूपशकलोंको एक एक मन्त्रके[५] साथ आहवनीय अग्निमें अध्वर्यु डाल देता है ।[६] भारद्वाजने तीन-तीन यूपशकलोंकी आहुतिका विधान किया है ।[७]

चमस-स्पर्श

चात्वालके पीछे स्थापित चमसोंको जलसे भरकर तथा उनके ऊपर हरित दर्भ स्थापित करके यजमान सहित सभी ऋत्विज चमसोंका अभिमर्शन करते हैं जिसके लिए मन्त्र[८] पढ़ा जाता है । भारद्वाजने चमसोंको सूंघनेका विधान मन्त्रके[९] द्वारा किया है ।[१०] यद्यपि चमसस्पर्श करनेका कृत्य चात्वालके पीछे ही किया जाता है, किन्तु आपस्तम्बके अनुसार यह कृत्य आस्ताव (बहिष्पवमान देश) पर भी किया जा सकता है ।[११] जैसा कि पहले लिखा गया है कि सभी ऋत्विज और यजमान

---

१. भारश्रौसू० (१४.१८.१५)।

२. कृष्यै क्षेमाय रय्ये पोषाय (मैसं० ४.७.४)।

३. भारश्रौसू० (१४.१८.१५, आपश्रौसू० १३.१७.७)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७०-३७१)।

५. देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि॥ आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि॥ एनस एनसोऽवयजनमसि॥ यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि (वासं० ८.१३ तैसं० ३.२.५.७)।

६. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० ३०३, काश्रौसू० १०.८.७)।

७. भारश्रौसू० (१४.१९.२)।

८. सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा संशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनु मार्ष्टुतन्वो यद्विलिष्टम् (वासं० ८.१४)।

९. अप्सुधौतस्य सोम देव ते (तैसं० ३.२.५.७)।

१०. भारश्रौसू० (१४.१९.३)।

११. आपश्रौसू० (१३.१७.९)।

सूक्तवाकका[1] पाठ किया जाता है।

धानाभक्षण

अब समस्त ऋत्विज मन्त्रके[2] साथ सोमरसमें भीगे हुए धान्यका भक्षण करते हैं, शेष धानाओंको उत्तरवेदीमें डाल दिया जाता है।[3] भारद्वाजने अवशिष्ट धान्यों के निवपनके लिए मन्त्रका[4] भी उल्लेख किया है।[5] गिरिधर भाष्यके अनुसार धानाओंका प्रत्यक्ष भक्षण न करके केवल सूंघ लिया जाता है,[6] इसी प्रकारका उल्लेख अन्य श्रौतसूत्रोंमें भी किया गया है कि धानाओंको बिना तोड़े, बिना दबाए

---

१. "इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूदार्ध्म सूक्तवाकमुत नमोवाकमृध्यास्म सूक्तोच्यमग्ने त्वं सूक्तवागसि। उपश्रुती दिवस्पृथिव्योरोमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम्। शंगयी जीरदानू अत्रस्नू अप्रवेदे उरुगव्यूती अभयंकृतौ। वृष्टिद्यावा रीत्यापा शंभुवौ मयोभुवा ऊर्जस्वती पयस्वती सूपचरणा च स्वधिचरणा च तयोराविदि। अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। सोम इदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। वनस्पतिरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। इन्द्रो वसुमानिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। इन्द्रो रुद्रवानिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। इन्द्र आदित्यवानृभुमान् विभुमान् वाजवान् बृहस्पतिवान् विश्वदे्व्यायानिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। देवा आज्यपा आज्यमजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽकृत। अग्निर्होत्रेणेदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अस्यामृधेद्धोत्राया देवंगमायामाशास्तेऽयं यजमानः अमुकशर्मा (व्यावहारिकं नामोच्चार्य नाक्षत्रनामापि उच्चारणीयम्)। आयुराशास्ते सुप्रजास्त्वमाशास्ते रायस्पोषमाशास्ते सजातवनस्यामाशास्त उत्तरां देवयज्यामाशास्ते भूयो हविष्करणमाशास्ते दिव्यं धामाशास्ते विश्वं प्रियमाशास्ते यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवा रासन्तां तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनते वयमग्नेर्मानुषाः। इष्टं च वित्तं चोभे च नो द्यावापृथिवी अंहसस्पातामेह गतिर्वामस्येदं नमो देवेभ्यः ॥ (श्रोतकोश पृष्ठसं० ४६७)।

२. यस्तेअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि (वासं० ८.१२)।

३. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० ३०२, काश्रौसू० १०.८.६, शब्रा० ४.४.३.११)।

४. आपूर्याः स्था मा पूरयत (तैसं० ३.२.५.५)।

५. भारश्रौसू० (१४.१९.१)।

६. गिरिधरभाष्य (पृष्ठसं० ३११)।

तथा बिना शब्द किये चबाये जाएँ ।[१] धानाभक्षणका मन्त्र भारद्वाजने दूसरा[२] लिखा है ।[३] देवयाज्ञिकके अनुसार यजमान सहित सोलहों ऋत्विज द्रोणकलशसे तीन तीन धाना ग्रहण करके सदस् में ही उन धान्योंका अवधाण करके उत्तरवेदीमें फेंक देते हैं ।[४]

यज्ञिय वृक्षखण्डकी आहुति

यूपका निर्माण करते समय जो यज्ञिय वृक्ष (यूप) के कुछ टुकड़े बच गए थे उन यूपशकलोंको एक एक मन्त्रके[५] साथ आहवनीय अग्निमें अध्वर्यु डाल देता है ।[६] भारद्वाजने तीन-तीन यूपशकलोंकी आहुतिका विधान किया है ।[७]

चमस-स्पर्श

चात्वालके पीछे स्थापित चमसोंको जलसे भरकर तथा उनके ऊपर हरित दर्भ स्थापित करके यजमान सहित सभी ऋत्विज चमसोंका अभिमर्शन करते हैं जिसके लिए मन्त्र[८] पढ़ा जाता है । भारद्वाजने चमसोंको सूंघनेका विधान मन्त्रके[९] द्वारा किया है ।[१०] यद्यपि चमसस्पर्श करनेका कृत्य चात्वालके पीछे ही किया जाता है, किन्तु आपस्तम्बके अनुसार यह कृत्य आस्ताव (बहिष्पवमान देश) पर भी किया जा सकता है ।[११] जैसा कि पहले लिखा गया है कि सभी ऋत्विज और यजमान

---

१. भारश्रौसू० (१४.१८.१५)।
२. कृष्यै क्षेमाय रय्ये पोषाय (मैसं० ४.७.४)।
३. भारश्रौसू० (१४.१८.१५, आपश्रौसू० १३.१७.७)।
४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७०-३७१)।
५. देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ एनस एनसोऽवयजनमसि ॥ यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि (वासं० ८.१३ तैसं० ३.२.५.७)।
६. मिश्रभाष्य (पृष्ठसं० ३०३, काश्रौसू० १०.८.७)।
७. भारश्रौसू० (१४.१९.२)।
८. सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा संशिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनु मार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् (वासं० ८.१४)।
९. अप्सुधौतस्य सोम देव ते (तैसं० ३.२.५.७)।
१०. भारश्रौसू० (१४.१९.३)।
११. आपश्रौसू० (१३.१७.९)।

इस कृत्यमें सम्मिलित होते हैं किन्तु जिन ऋत्विजोंका चमस नहीं होता वे ऋत्विज अपने निकट चमसका अभिमर्शन कर सकते हैं, ऐसा देवयाज्ञिकने प्रतिपादन किया है।[१]

अब जो जल बचा हुआ होता है, उसको या तो अन्तर्वदीमें अथवा चात्वालमें मन्त्रके[२] साथ फेंक दिया जाता है तथा उसके पश्चात् यजमान मन्त्रका[३] पाठ करता है।[४] कात्यायनने इस कृत्यका विवरण नहीं दिया है। अपितु यह कहा कि सब चमसी लोग अपने मुखका स्पर्श करते हैं।[५]

दधिभक्षण

यजमान सहित सभी ऋत्विज आग्नीध्रशालामें दधि भक्षण करते हैं जिसके लिए मन्त्रका[६] पाठ किया जाता है।[७] रुद्रदत्तके अनुसार केवल चमसियोंको ही भक्षण करना चाहिये अन्य ऋत्विजोंको नहीं।[८] इस प्रकार रुद्रदत्तने चमसियोंके अतिरक्त अन्योंके दधिभक्षणका निषेध कर दिया, जिसकी छूट कात्यायनने दे दी थी।

पत्नीसंयाज आहुति

देवयाज्ञिकके अनुसार आग्नीध्रीयके उत्तरसे तथा पत्नीशालाके पीछेसे शालाद्वार्यमें जाकर पशुवत् पत्नीसंयाज आहुति दी जाती हैं।[९]

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७१)।
२. समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छतारिष्टास्तन्वो भूया स्म मापरा सेचिनो धनम् (लाट्यायनश्रौसू० २.१.७)।
३. अच्छायं वो मरुतः श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिक्तपामवोभिः। उत प्रजायै गृणते वयो धुर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (ऋसं० ७.३६.९)।
४. भारश्रौसू० (१४.१९.४-५)।
५. आपश्रौसू० (१३.१८.१) पर रुद्रदत्तकी टीका।
६. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत् (वासं० २३.३२, ऋसं० ४.३९.६)।
७. काश्रौसू० (१०.८.१०)।
८. काश्रौसू० (१०.८.९)।
९. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७१)।

दक्षिणाग्निमें आहुतिद्वय होम तथा समिष्ट[1] यजुसे नौ आहुति

देवयाज्ञिकने दक्षिणाग्निमें दो आहुति देनेका तथा दर्भमुष्टि बाएँ हाथमें ग्रहण करके ध्रुवाके द्वारा अध्वर्युसे खड़े हुए ही समिष्ट यजुओंसे[2] नौ आहुति दिलवानेका विधान किया है ।[3]

विष्णवतिक्रम मन्त्रोंका पाठ

भारद्वाज (१४.१९.१२) के अनुसार यजमान तीन विष्णवतिक्रम[4] मन्त्र पढता है । इस सन्दर्भमें यह अवश्य ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि ये मन्त्र धीरे-धीरे ही पढ़े जाएँ । आपस्तम्बने कहा है कि यदि इच्छा हो तो चौथा मन्त्र भी पढ़ा जा सकता है ।[5]

तृतीयसवनकी समाप्ति

अब मन्त्रसे[6] एक आहुति देकर अध्वर्यु प्रशास्ताको प्रैष करता है— "प्रशास्तः प्रसुहि" । तब प्रशास्ता "सर्पत" कहता है ।[7]

---

१. सम्यग्यजनं समिष्टम्, युज्यन्ते प्रयुजन्त इति "धाता रातिः" इत्यादयो मन्त्राः यजूँषि (तैसं० १.४.४४) पर सायणभाष्य ।

२. समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः संसूरिभिर्मघवन्त्संस्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां स्वाहा ॥ संवर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा संशिवेन । त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥ सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः । भरमाणा वहमाना हवींष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥ याँ आवह उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे । जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽसुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥ वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्स्वाहा ॥ देवा गातुविदो गातुं वित्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः ॥ यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा । एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा (वासं० ८.१५.१६-२३)। तैसं० (१.४.४४) में भी ये मन्त्र आए हैं किन्तु उनका क्रम माध्यन्दिनसे भिन्न है ।

३. देवयाज्ञिक पद्धति (पृष्ठ सं० ३७१, भारश्रौसू० १४.१९.१०, आपश्रौसू० १३.१८.४)।

४. अग्निना देवेन पृतना जयामि (तैसं० ३.५.३.१)।

५. आपश्रौसू० (१३.१८.९)।

६. इदं तृतीयं सवनं कवीनाम् (तैसं० ३.१.९.२)।

७. भारश्रौसू० (१४.१९.१३-१५)।

अष्टम अध्याय

अवभृथ

ह्री धातुमें अव उपसर्ग लगानेसे अवभृथ शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है-सोमको जलके पास ले जाना।[1] अवभृथका अर्थ दूर करना भी हो सकता है अर्थात् यज्ञक्रियाओंकी भूलें अवभृथसे दूर होती है, इसलिए भी अवभृथ नाम पड़ा।[2] ब्राह्मणग्रन्थोंमें यद्यपि प्रतीकात्मक अवभृथका यत्र-तत्र उल्लेख है, उदाहरणके लिए अग्निहोत्रके प्रसंगमें जब यजमान हाथ-पैर धो लेता है, तो वह भी अवभृथ कहलाया।[3] अग्निष्टोमके अन्तर्गत पशुयागमें जब हृदयशूलको जलाशयके पास गीली व सूखी मिट्टीकी सन्धिमें गाड़ा जाता है अथवा यूपके सामने जल डालकर गीली और सूखी मिट्टीके मेलपर गाड़ा जाता है, तब यजमान पापसे मुक्ति पानेके लिए वरुणसे प्रार्थना करता है, यह भी अवभृथ माना गया।[4] किन्तु यह प्रतीकात्मक अवभृथ वास्तविक नहीं, वास्तविक अवभृथ तो सोमयागके अन्तमें ही होता है, जिसके अन्तर्गत सोमसे लिप्त पात्रों, राजासन्दी, उलूखल, मूसल, ऋजीषकुम्भ आदि को उस जलके ही समीप ले जाया जाता है, जहाँ अवभृथेष्टि सम्पन्न होती है।[5]

अवभृथके लिए चात्वालकी ओर राजासन्दी आदिका आहरण

बर्हिहोम किये बिना ही अध्वर्यु कुछ पदार्थोंको चात्वालकी ओर ले जाता है जो निम्नांकित हैं—राजासन्दी,[6] औदुम्बरी-शाखा, उलूखल, मूसल, द्रोणकलश,

---

१. तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः (शब्रा० ४.४.५.१)।

२. दि सैकरिफाइस इन दि ब्राह्मण टैक्स्ट् (पृष्ठसं० १७१)।

३. षड्विंश ब्राह्मण (४.१.१०, तैब्रा० २.१.४९, जैब्रा० १.४)।

४. शब्रा० (३.८.५.८)।

५. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ८१)।

६. यागार्थं क्रीतस्सोमो यागात् पूर्वं यत्र स्थापित आसीत्, सा राजासन्दी। राजा सोमः,

अवभृथ

स्थाली, पूतभृत्, आधवनीय, ऋजीषकुम्भ, हविर्द्धान, पवित्र, ग्रावा, अधिषवणचर्म, उदंचन और परिप्लवा।[१] भारद्वाजने कुछ अन्य पदार्थोंका भी उल्लेख किया है-स्फ्य, उपप्लवाके साथ वेद, पुरोडाश, विभिन्न स्रुवोंमें घी, ऋजीष,[२] दोनों अधिषवण ग्रावा, खरकी मृत्तिका तथा (अभिषव-ग्रहण-होम कालमें जिन जिन पात्रोंमें सोमरसका प्रयोग किया गया, वे सब) सोमपात्र। चार स्थालियों (आग्रयण, उक्थ्य, आदित्य और ध्रुव) को छोड़ दिया जाता है, जिनमें सोम लिया गया था।[३] चात्वालकी ओर ऐष्टिक पात्रोंको नहीं ले जाया जाता।[४]

शब्रा० (४.४.५.२) ने इस अवसरपर समिष्टयजुओंकी आहुति देनेका विधान किया है। भारश्रौसू० के अनुसार अध्वर्यु वेद तैयार करता, अग्निपरिस्तरण करके हाथ धोता, पात्र क्रमसे लगाता, उलपराजी बिछाता, पवित्रा तैयार करता, यजमानको मौन होनेके लिए कहता, तब यजमान मौन होकर पात्रोंका स्पर्श करता, वरुणके लिए एक कपालपर पुरोडाशके लिए धान उडेलता, पुरोडाश पकाता, धोवनका पानी बिछी हुई कुशाओं पर गिराता, हाथमें स्फ्यको सीधा लेकर आग्नीध्रको प्रोक्षणीमें जल रखनेके लिए, उपप्लवा व स्रुवाको साफ कर रखनेके लिए तथा घी लेकर आनेके लिए प्रैष[५] करता, पुरोडाश उतार लेनेके पश्चात् मन्त्रसे[६] आहवनीयमें घीकी आहुति देता, यजमान मन्त्र[७] पढ़कर उदुम्बरका दण्ड खींचकर निकालता तथा मन्त्रोंको[८] पढ़कर ऋजीषपर ही दही डालता।[९]

तत्स्थापनाय या आसन्दी सा राजासन्दी (यज्ञतत्वप्रकाश पृष्ठसं० ६२ व ८१)।

१. काश्रौसू० (१०.८.१३-१४)।

२. निष्पीड्य गृहीतरसं निस्सारं सोममित्यर्थः (यज्ञतत्वप्रकाश, पृष्ठसं० ८१)।

३. भारश्रौसू० (१४.२०.११)।

४. यज्ञतत्वप्रकाश (पृष्ठसं० ८१)।

५. प्रोक्षणीरासादय स्रुवं च स्रुचश्च संमृड्ढ्याज्येनोदेहि इति (भारश्रौसू० १४.२०.७)।

६. आयुर्दा अग्ने हविषो जुषाणः (तैसं० ३.३.८.१)।

७. उपसृजन् धरुणं मात्रे मातरं धरुणो धयन्। रायस्पोषमिषमूर्जमस्मासु दीधरत्॥

८. यत्ते ग्राव्णा चिच्छिदुः सोम राजन् (तैब्रा० ३.७.१३.१)। श्रौतकोशमें ऋजीषप्रोक्षणके निमित्त पढ़े जाने वाले मन्त्रका भी उल्लेख किया गया है (पृष्ठ ४८१)।

९. भारश्रौसू० (१४.२०.२-१४.२१.१)।

कृष्णविषाणादिका चात्वालपर प्रक्षेप

मन्त्रके[१] साथ अध्वर्यु चात्वालपर कृष्ण विषाण तथा मेखला फेंकता है तथा पत्नीको जो पहले कण्डुनिवारणके लिए शंकु दिया गया था, उसे प्रतिप्रस्थाता बिना मन्त्रके ही (चुपचाप) फेंकता है ।[२] भारद्वाजने इस कृत्यके लिए भिन्न मन्त्रका[३] उल्लेख किया है ।[४]

यजमान द्वारा मन्त्रपाठ

जो यजमान अवभृथकर्मके लिए चलते हुए चात्वालके समीपमें पूर्वकी ओर मुख किये हुए होता है, उससे अध्वर्यु मन्त्रका[५] पाठ कराता है ।[६]

प्रैषकथन

अब जलके समीपमें (अर्थात् आधे मार्गमें) अध्वर्यु प्रस्तोताको प्रैष "साम गाय" अथवा "प्रस्तोत: साम ब्रूहि" करता है ।[७] शब्रा० (४.४.५.६) ने "प्रस्तोत: साम ब्रूहि" इस प्रैषका निषेध किया है ।शब्रा० (४.४.५.७-८) के अनुसार तब प्रस्तोता अतिच्छन्दमें अग्निदेवताक ऋचाका[८] पाठ करता है ।

यजमानके सहित पत्नी तथा ऋत्विज (अवभृथ) सामके[९] अन्तिम भागका तीन बार पाठ करते हैं। तीन स्थानोंपर सामगान किया जाता है-पहली बार महावेदीके सिरेपर, दूसरी बार मध्यमार्गमें (जलके समीपमें) और तीसरी बार जलाशयके समीप ।[१०]

---

१. माहिर्भूर्मा पृदाकु:(वासं० ८.२३)।

२. काश्रौसू० (१०.८.१५-१६)।

३. अव ते हेडो वरुण नमोभि:(तैसं० १.५.१.३)।

४. भारश्रौसू० (१४.२१.३)।

५. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाउ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् (वासं० ८.२३)।

६. साकौसं० (१.५.२.३.९)।

७. काश्रौसू० (१०.८.१८)।

८. अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावोऽहाव: ।

९. श्रौतकोशमें अवभृथसाम दिया गया है (पृष्ठसं० ४७८)।

१०. भारश्रौसू० (१४.२१.६, काश्रौसू० १०.८.१९-२०)।

स्नानके लिए गमन

शतपथके अनुसार चात्वालके पीछे, आग्नीध्रके आगे और महावेदीके उत्तरकी ओर चलते हैं।[१] भारद्वाजने इस अवसरपर मन्त्रका[२] उल्लेख किया है।[३] आपश्रौसू० (१३.२०.२) के अनुसार चात्वालसे भी गमन किया जा सकता है।

कात्यायनके अनुसार जो सामग्री चात्वालपर ले जाई गई थी, उन सब सामग्रियोंको बहते जलके पास अथवा स्थिरजलके पास ले जाया जाता है।[४]

भारद्वाजने विधान किया है कि स्नान करने योग्य जलके पास पूर्व या उत्तर अथवा ईशान कोणमें अथवा दक्षिणमें अथवा पश्चिममें जाना चाहिये। एक विचित्र बात यह भी कि जिस दिशामें सब प्रस्थान करते हों, उसी दिशाको पूर्व दिशा मान लिया जाता है।[५]

यजमान द्वारा मन्त्रपाठ

ज्यों ही जलके दर्शन होते हैं, त्यों ही अध्वर्यु यजमानसे मन्त्रका[६] पाठ कराता है।[७]

जलमें प्रवेश

जब यजमान जलमें प्रवेश करता है तब अध्वर्यु यजमानसे मन्त्रका[८] पाठ कराता है।[९] भारद्वाजके अनुसार सभी ऋत्विज मन्त्रके[१०] साथ जलके किनारे खड़े

---

१. शब्रा० (४.४.५.१)।

२. उरुं हि राजा वरुणश्चकार (तैसं० १.४.४५.१)।

३. भारश्रौसू० १४.२१७, आपश्रौसू० (१३.२०.२) के अनुसार अवभृथ के लिए चात्वाल और उत्करके बीचसे निष्क्रमणके निमित्त उक्त मन्त्रका पाठ किया जाता है।

४. काश्रौसू० (१०.८.२१ शब्रा० ४.४.५.१०)।

५. भारश्रौसू० (१४.२१८-९)।

६. शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम् (तैसं० १.४.४५)।

७. भारश्रौसू० (१४.२१.१०, आपश्रौसू० ८.७.२५)।

८. नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः (वासं० ८.२३)।

९. शब्रा० (४.४.५.११, काश्रौसू० १०.८.२३)।

१०. अभिष्ठितो वरुणस्य पाशः (तैसं० १.४.४५)।

हो जाते हैं ।[१] इसी अवसरपर हृदयशूल डाल देनेका विधान प्राप्त होता है ।[२]

जलमें डाली गई समिधाओंके ऊपर आहुति

चार भागमें आज्य लेकर जलमें समिधाओंको डालकर उनके ऊपर मन्त्रसे[३] आहुति देता है ।[४] देवयाज्ञिकके अनुसार ब्रह्मा और यजमान दोनों जलके मध्यमें दक्षिणकी ओर खड़े होकर आज्य पुरोडाशादि सब कुछ हाथमें धारण किये हुए ही उक्त आहुतिका कृत्य सम्पन्न करते हैं, जिसके अन्तर्गत अध्वर्यु जलका परिस्तरण करके हाथमें धारणकी हुई स्थालीसे जुहूमें चार बारमें आज्य ग्रहण करके जलमें समिधा डालता है ।[५] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सभी आहुतियाँ जलके मध्यमें ही दी जाय ।

अब पुनः आज्यस्थालीसे चुपचाप चार बारमें आज्य ग्रहण करके तथा आग्नीध्रसे श्रौषट् कहलाकर अध्वर्यु "समिधो यजेत्" प्रैष करता है, तब बर्हिकी आहुतिको छोड़कर चार आहुतियाँ जलमें छोड़ी जाती हैं ।[६] ये चार प्रयाज आहुतियाँ हैं ।

प्रधान वरुणयाग

वरुणके लिए एक कपालका पुरोडाश बनाया जाता है, जिसके दो भाग किये जाते हैं, एक भाग प्रधानयागके लिए और एक भाग स्विष्टकृद्यागके लिए। सिद्धान्ततः तो सम्पूर्ण पुरोडाशकी आहुति दी जानी चाहिये किन्तु यहाँ अपवाद है क्योंकि पुरोडाशके एक खण्डसे स्विष्टकृत् आहुति दी जानी है अतः पुरोडाशके दो भाग कर लिये जाते हैं, एक प्रधान आहुतिके लिये और एक भाग स्विष्टकृत् आहुतिके लिए। अध्वर्यु पुरोडाशके दो भाग करते समय प्रैष "वरुणायानुब्रूहि" करता है । तब पुरोडाशपर घी चुपड़कर वषट्कारके साथ एक आहुति देता है ।[७]

---

१. भारश्रौसू० (१४.२१.११, आपश्रौसू० ८.७.२६)।

२. भारश्रौसू० (१४.२१.१२)।

३. अग्नेरनीकमप आ विवेशापां नपात्प्रतिरक्षन्नसुर्यम् । दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत्स्वाहा (वासं० ८.२४ तैसं० १.४.४५)।

४. काश्रौसू० (१०.८.२४, शब्रा० ४.४.५.१२, भारश्रौसू० १४.२२.१, आपश्रौसू० ८.८.३)।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७२)।

६. काश्रौसू० (१०.८.२५-२६, शब्रा० ४.४.५.१४, भार श्रौसू० १४.२२.७, तैसं. ६.६.३)।

७. शब्रा० (४.४.५.१५-१६, काश्रौसू० १०.८.२७, भारश्रौसू० १४.२२.८)।

प्रधानयागकी यह पाँचवी आहुति हुई। वरुणयागमें पुरोडाशके साथ ऋजीषके भी दो भाग किये जा सकते हैं,[१] किन्तु शब्रा० (४.४.५.१६) ऋजीषके दो भाग करनेका निषेध करता है।

स्विष्टकृद्याग

आज्यका उपस्तरण करके जुहूमें प्रधानयागसे अवशिष्ट पुरोडाशको छोड़ता हुआ "अग्निवरुणाभ्यामनुब्रूहि" कहता है, तब श्रौषट् कहलाकर "अग्नीवरुणौ यज" प्रैष करता है, इसके पश्चात् उत्तरार्द्धमें प्रधानयागसे बचे हुए एक भाग पुरोडाशकी आहुति अग्नि-वरुणके लिए दे देता है।[२] यही स्विष्टकृत् आहुति है।

इस अवसरपर कात्यायनने कहा है कि यदि प्रधान वरुणयागमें ऋजीषका अवदान किया हो तो स्विष्टकृद्यागमें भी ऋजीषका एक अवदान करे।[३] इस प्रकार ऋजीषके तीन अवदान सिद्ध होते हैं—एक अवदान स्विष्टकृद्यागमें और दो अवदान प्रधान यागमें।[४]

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि कुल मिलाकर छह आहुतियाँ दी जाती हैं—चार प्रयाज आहुतियाँ, एक प्रधानयागकी आहुति और एक स्विष्टकृद्यागकी आहुति। वाजसनेयि लोग तो छह आहुति देनेका ही विधान प्रमाणिक मानकर तदनुसार कृत्यका सम्पादन करते हैं किन्तु इस अवसरपर दस आहुति देनेका भी विधान प्राप्त होता है। देवयाज्ञिकके अनुसार यदि यजमानकी दस आहुतियाँ देनेकी इच्छा हो तो उसे अध्वर्युके प्रति "मम पक्षान्तरं कुर्विति" कहना चाहिये। ऐसा कहे जानेपर अध्वर्यु दस आहुति देनेका अनुष्ठान करता है। दस आहुतियोंमें आज्य-भागके लिए दो, प्रयाजके लिए चार, अनुयाजके लिए दो और अग्निवरुण.के लिए दो आहुतियाँ होती है।[५] कात्यायनने विकल्पके रूपमें उक्त कृत्यका संकेत किया है।[६]

---

१. काश्रौसू० (१०.८.२८)।

२. शब्रा० (४.४.५.१७, काश्रौस० १०.८.२९)।

३. काश्रौसू० (१०.८.३०)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७३)।

५. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७३)।

६. काश्रौसू० (१०.८.३२)।

प्रैषकथन

भारद्वाजने विधान किया है कि अवभृथक्रिया प्रारम्भ करनेके लिए जिस समय यजमान आदि सभी व्यक्ति जलमें प्रवेश करके खड़े हों, उसी समय अध्वर्यु (जलमें पड़े हुए तिनके आदिको हटाकर) जल शुद्ध करनेके लिए आग्नीध्रको एक बार प्रैष करता है—"अग्निदप: सकृत् संमृड्ढि ।" तब आग्नीध्र मन्त्रके[१] साथ एक बार जलको स्वच्छ करता है ।[२]

ऋजीषकुम्भका प्लावन, उपस्थान तथा मज्जन

मन्त्रके[३] के साथ अध्वर्यु ऋजीषकुम्भको इस प्रकार जलमें छोड़ता है, जिससे वह तैरने लगे । इसके पश्चात् मन्त्रके[४] साथ तैरते हुए कुम्भको छोड़कर खड़ा होता है और मन्त्रका[५] पाठ करके ऋजीषकुम्भको डुबो देता है ।[६]

ग्रहचमस आदि पात्रोंमें लगेहुए सोमका जलमें प्रक्षेप

अभिषव-ग्रहण व होमके समय जिन ग्रहचमसोंमें सोम लग गया था, वह सबका सब सोम इस अवसरपर जलमें डाल दिया जाता है ।[७] भारद्वाजके अनुसार मन्त्रके[८] साथ अध्वर्यु ऋजीषसे भरे हुए स्रुवाको जलपर पटकता है और जहाँ कहीं सोमकी बून्द ऊपर आती है, उसे मन्त्रके[९] साथ या तो खा लेता है अथवा खानेमें

---

१. आपो वाजजितो वाजं वः ससस्रुषीर्वाजं जिग्युषीर्वाजिनीर्वाजजितो वाजजित्यायै संमार्ज्म्यपो अन्नादीरन्नाद्याय इति ॥

२. भारश्रौसू० (१४.२२.११) ।

३. समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः । यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहा (वासं० ८.२५) ।

४. देवीरापएष वो गर्भस्तं सुप्रीतं सुभृतं बिभृत । देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व (वासं० ८.२६) ।

५. अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि (वासं० ८.२७) ।

६. काश्रौसू० (१०.९.२-३, शब्रा० ४.४.५.२११-२२, तैसं० १.४.४५ पर भट्टभास्करका भाष्य; भारश्रौसू० १४.२३.१) ।

७. काश्रौसू० (१०.९.६) ।

८. समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः (तैसं० १.४.४५.१) ।

९. अप्सु धौतस्य सोम देव ते (तैसं० १.४.४५.१) ।

असमर्थ होने पर केवल सूंघ भर लेता है तथा मन्त्रका[१] पाठ करके जल खंघालता है ।[२]

जलमें घुसकर यजमान व यजमानपत्नी द्वारा जलका अभिषेक

यजमान और उसकी पत्नी जलमें घुसकर बिना डुबकी लगाए जलसे अपने सिरपर अभिषेक करके मन्त्रके[३] साथ दोनों परस्पर एक दूसरेकी पीठ मलकर धोते हैं ।[४] कात्यायनके अनुसार यजमान उस कृष्णाजिनको भी हाथसे ग्रहण करके जलमें डुबोता है, जिसका प्रयोग उसने दीक्षाकालमें किया था । कृष्णाजिनके अन्तभागको जलमें डुबोनेके पश्चात् वह कृष्णाजिन अपने पुत्रको देकर पत्नीके साथ स्नान करना प्रारम्भ करता है ।[५] देवयाज्ञिकके अनुसार दोनों मार्जन करते हुए स्नान करते हैं । यजमान अपनी पत्नीके पृष्ठप्रदेश का और पत्नी यजमानके पृष्ठप्रदेशका प्रक्षालन करती है । अध्वर्यु इस अवसरपर सोमलिप्त तथा उलूखल आदिका जलमें प्रक्षेप करता है ।[६] वरुणप्रघास नामक यागके अन्तमें होने वाले अवभृथके अन्तर्गत कात्यायनने परिहितवासके दानका तो उल्लेख किया किन्तु इस अवसरपर संकेत दिया है कि सोमयागके अवभृथमें परिहितवासका दान किसी को नहीं दिया जाए ।[७]

जलसे निष्क्रमण

यजमान तथा उसकी पत्नी एवं सब ऋत्विज जब स्नान कर लेते हैं तब उन्नेता यजमानको तथा उसकी पत्नीको बाहुसे ग्रहण करके मन्त्रके[८] साथ जलसे

---

१. अवभृथ निचंपुण (तैसं० १.४.४५) ।

२. बौश्रौसू० (८.२०, आपश्रौसू० १३.२०.१०-११) ।

३. सुमित्रा न आप ओषधयः सन्तु (तैसं० १.४.४५) ।

४. भारश्रौसू० (१४.२२.१८-१९, काश्रौसू० ५.५.३०-३१) ।

५. काश्रौसू० (१०.९.४-५) ।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७४) ।

७. काश्रौसू० (१०.९.७ पर सरलावृत्ति) ।

८. उद्वयं तमसस्परि स्वः पशयन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् (वासं० २०.२१ । भारद्वाजश्रौसू० (१४.२३.८) के अनुसार "उदेत प्रजामुत वर्चो दधाना युष्मान् राय उत यज्ञा असृक्षत । गायत्रं छन्दोऽनुसँरभध्वमथास्या अथ सुरभयो गृहेषु (मैसं० १.३.३९) मन्त्र पढ़कर उन्नेता या तो सबसे पहले होता को जलसे बाहर निकालता है अथवा यजमानको आगे करके फिर सबको बाहर निकालता है ।

बाहर निकालता है, इसी मन्त्रसे वही उन्नेता उन सब ऋत्विजोंको भी जलसे बाहर निकालता है।[१]

दीक्षा सम्बन्धी चिह्नोंकी समाप्ति

यजमान मन्त्रके[२] द्वारा अपनी मेखला और मन्त्रके[३] द्वारा यजमानपत्नी अपनी रस्सी (योक्त्र) खोलती है। अन्य भी जो दीक्षा सम्बन्धी चिह्न होते हैं, उनकी समाप्ति की जाती है।[४]

नये वस्त्रोंका धारण

अब यजमान और उसकी पत्नी दोनों नये वस्त्रोंको पहनते हैं तथा उस वस्त्रको भी पहनते हैं, जिससे पहले सोम बाँधा गया था और यजमानपत्नी उस वस्त्रको पहनती है, जिससे सोम ढका गया था।[५] आपस्तम्बके अनुसार यजमान सोमोष्णीश[६] तथा यजमानपत्नी सोमोपनहन[७] अथवा सोमपरिश्रयण[८] वस्त्र पहनती है।[९]

प्रैष कथन

नये वस्त्र पहन चुकनेपर उन्नेताको अध्वर्यु प्रैष करता है-"उन्नेतर्वसीयो न उन्नयामि"। प्रैष होनेके पश्चात् उन्नेता मन्त्रका[१०] पाठ करता है।[११] यह प्रैष होता

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७४)। बाहर निकलने वाले लोग मन्त्र पढ़कर जलको किनारेकी ओर उछालते हैं— प्रतियुतो वरुणस्य पाशः (तैसं० १.४.४५.३)।

२. विचृत्तौ वरुणस्य पाशः (मैसं० ४८.५)।

३. इमं विष्यामि वरुणस्य पाशम् (मैसं० ४८.५)।

४. भारश्रौसू० (१४.२३.४-५)।

५. भारश्रौसू० (१४.२३.२-३)।

६. क्षौमेणोपसंगृहीतः सोमो येन वेष्ट्यते तत्सोमोष्णीशम् (आपश्रौसू० १३.२२.३ पर रुद्र दत्तकी टीका)।

७. यत्र मितः सोम उपनह्यते तत्सोमोपनहनम् (आपश्रौसू० १३.२२.३ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

८. येनान्ततः पर्याणह्यते तत्सोमपरिश्रयणम् (आपश्रौसू० १३.२२.३ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

९. आपश्रौसू० (१३.२२.३)।

१०. उदुत्ते मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते। सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव। कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धितमानशुः (मैसं० १.३.३९)

११. भारश्रौसू० (१४.२३.७)।

आदि ऋत्विजों एवं यजमानके जलसे बाहर निकलनेके पूर्व किया जाता है। कात्यायनने प्रैषका उल्लेख नहीं किया।

आमहीय संज्ञक ऋचाका पाठ करते हुए देवयजनमें प्रवेश

अब आमहीय संज्ञक "अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम। देवान् किं नून मस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य" (ऋसं० ८.४८.३) ऋचाका पाठ करतेहुए सब देवयजनमें चात्वाल और उत्करके बीचसे आकर प्रवेश करते हैं।[१]

समिदाधान

यजमान तो मन्त्रसे[२] आहवनीयमें और यजमानपत्नी चुपचाप गार्हपत्य (शालाद्वार्य) में समिदाधान करती है।[३]

स्रुवाहुति

देवयजनमें प्रवेश करनेके उपरान्त आहवनीयमें यजमानके द्वारा और गार्हपत्यमें यजमानपत्नीके द्वारा समिदाधान किये जा चुकनेपर यजमान पत्नीशा-लामें जाकर शालाद्वार्यके पीछे कृष्णाजिनको गोदमें लेकर बैठता है, तब अध्वर्यु शालाद्वार्यमें आज्यको संस्कृत करके अतिप्रणीत अग्निमें स्रुवाके द्वारा आहुति देता है,[४] जिसके लिए मन्त्र[५] पढ़ा जाता है।

देवयाज्ञिकके अनुसार स्रुवाहुतिके पश्चात् यजमान कृष्णाजिनको किसी सुरक्षित स्थानपर रख देता है।[६] इसीके साथ अवभृथ सम्बन्धी सभी कृत्य परिपूर्ण हो जाते हैं।

---

१. काश्रौसू० (१०.९.८)।

२. देवानां समिदसि (वासं० ८.२७)। भारश्रौसू० (१४.२३.११) के अनुसार यजमान आहवनीयमें "एधो स्येधिषीमहि (तैसं० १.४.४५) मन्त्र पढ़कर समिदाधान करके" अपो अन्वचारिषम् (तैसं० १.४.४५) ऋचाका पाठ करके खड़ा हो जाता है।

३. काश्रौसू० (५.५.३४-३५)।

४. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७५)।

५. मामैन्द्रियं ज्यैष्ट्यं श्रेष्ठ्यमग्निर्दधातु स्वाहा इति।

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७५)।

नवम अध्याय

अन्तिम कृत्य

अवभृथके पश्चात् चार कृत्य मुख्यरूपसे और करने शेष रह जाते हैं—उदयनीयेष्टि, अनुवन्ध्या याग, उदवसानीयेष्टि तथा देविकाहवींषि ।

उदयनीयेष्टि

अवभृथसे लौटकर सबसे पहले उदयनीयेष्टि नामक कृत्यका अनुष्ठान किया जाता है ।[१] प्रायणीयेष्टिका अनुष्ठान जिस प्रकार किया गया था उसी प्रकार उदयनीयेष्टिकी जाती हैं क्योंकि दोनोंके देवता (अदिति) एक समान हैं तथा आहुतियोंकी संख्या भी एक समान ही है[२] किन्तु आहुतियोंके क्रममें भेद है । प्रायणीयेष्टिमें पहली आहुति पथ्यास्वस्तिके लिए होती है और उदयनीयेष्टिमें पथ्यास्वस्तिकी आहुति चौथी होती है ।[३] उदयनीयेष्टिमें पाँचों आहुतियोंका क्रम इस प्रकार है—अग्नि, सोम, सविता, पथ्यास्वस्ति तथा अन्तिम आहुति अदिति के लिए[४] ।

इस कृत्यके अन्तर्गत बर्हि तथा स्रुवाको आगमें डाला जाता, स्थालीको माँजकर अलग रख दिया जाता, किसी ऋत्विजकी मृत्यु हो जाय तो उसी समय किसी दूसरे ऋत्विजकी नियुक्ति कर ली जाती,[५] जिस स्थालीमें प्रायणीयेष्टिका पुरोडाश तैयार किया जाता उसी स्थालीमें उदयनीयेष्टिका भी पुरोडाश तैयार किया

---

१. शब्रा० (४.५.१.२)।

२. शब्रा० (३.२.३.२२)।

३. काश्रौसू० (१०.९.१२)।

४. शब्रा० (४.५.१.४)।

५. शब्रा० (३.२.३.२२)।

जाता,[१] उदयनीयेष्टिमें न तो चरुको खुरचकर निकाला जाता और न ही षड्ढोतृ मन्त्रके साथ वेदीपर ही रक्खा जाता है ।[२]

भारद्वाजने विधान किया है कि प्रायणीयेष्टिमें अर्पित किए गए चरुका शेष भाग जिस पात्रमें बचा रह गया था, उसीमें से ही अध्वर्यु उदयनीयेष्टिसे सम्बद्ध धान डालता है, यह इष्टि शालामुखीय अग्निपर की जाती है ।[३]

उदयनीयेष्टिकी याज्या व पुरोनुवाक्या

सभी श्रौतसूत्रों व ब्राह्मणग्रन्थोंमें यह विधान किया गया है कि प्रायणीयेष्टिमें विशिष्ट आहुतियोंसे सम्बद्ध जो पुरोनुवाक्याएँ हैं, वे उदयनीयेष्टिमें याज्या हो जाती हैं और प्रायणीयेष्टिमें विशिष्ट आहुतियोंसे सम्बद्ध जो याज्याएँ हैं, वे उदयनी[४]येष्टि में पुरोनुवाक्या हो जाती हैं ।[५]

अनुवन्ध्यायाग

उदयनीयेष्टिके अनन्तर मित्रावरुण देवताक अनुवन्ध्या[६] गौ ग्रहण की जाती है, किन्तु यदि वन्ध्या गौ उपलब्ध नहीं होती तो उसके अभावमें बैल और बैलके भी अभावमें पयस्याका ग्रहण किया जाता है ।[७]

सरलावृत्तिके अनुसार पराशरस्मृति (१.३१) में कलियुगके समय गवालम्भका निषेध होनेसे अनुवन्ध्या गौके स्थानपर पयस्याका ही याग करना चाहिये ।[८]

---

१. ऐब्रा० (१.२.११)।

२. भारश्रौसू० (१४.२४.३)।

३. भारश्रौसू० (१४.२४.२,४)।

४. उदयनम् उत्थानम् । तदनया क्रियत इत्युदयनीया (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३९२)।

५. भारश्रौसू० (१४.२४.४, ऐब्रा० १.२.११ शांब्रा. ७.७८, तैसं० ६.१५.५, मैसं० ३.६.२ कासं० २३.९, कपिसं० ३६.६)।

६. यज्ञमनु यज्ञसमाप्तिमनु बध्यते इत्यनूबन्ध्या । सा च गौः (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३९३)।

७. काश्रौसू० (१०.९.१६)।

८. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३९३)। देवयाज्ञिकके अनुसार पयस्येष्टि दो प्रकार की है-सकलेष्टि तथा खण्डेष्टि, इन दोनों इष्टियोंमें सकलेष्टि सुगम बताई गई है। देवयाज्ञिकने पयस्याका उल्लेख तो किया ही साथ ही अनुवन्ध्याके अभावमें अजाका उल्लेख किया है (पृष्ठ सं० ३७६-७७)। बह्वृच् ब्राह्मणमें आमिक्षा यागका विधान किया

अनुवन्ध्यायागमें सवनीय पशुमें जिस प्रकार पात्र-प्रोक्षण आदिसे प्रारम्भ करके आज्यासादन पर्यन्त कार्य किये जाते हैं, वे सभी कार्य करने चाहिये अथवा विकल्पके रूपमें यह भी निर्देश दिया गया है कि उक्त कार्य नहीं भी किये जा सकते हैं।[१]

अनुवन्ध्या प्रायश्चित्त

शतपथमें कहा गया है कि सर्वप्रथम वशा(वन्ध्या गौ) का आलभन करते हैं तत्पश्चात् अध्वर्यु शमिताको "वपामुत्खिदेत्" प्रैष करता है। जब शमिता वपा निकाल चुकता है तो अध्वर्यु शमिताको "वपामनुमर्श गर्भमेष्टवै" कहता है। तब शमिता वन्ध्या गायके गर्भको खोजनेका प्रयत्न करता है, यदि गर्भ नहीं प्राप्त होता तो प्रायश्चित्त नहीं किया जाता किन्तु यदि संयोगवश गर्भ मिल जाता है तो उस स्थितिमें प्रायश्चित्त किया जाता है। गर्भ रहते हुए भी उसको वन्ध्या समझकर अनुवन्ध्यायाग करनेका निषेध किया गया है।[२]

गौके उदरसे गर्भका निष्कासन व आहुति

वशाके उदरमें गर्भकी उपस्थिति देखकर उस गर्भको निकाला जाता है, जिसके लिए अध्वर्यु शमिताको "निरूहैतं गर्भं" ऐसा कहता है तब शमिता गौके उदरसे गर्भको निकालता है। इस अवसरपर मन्त्रसे[३] पशुका अभिमन्त्रण किया जाता है।[४] गर्भके कण्ठका छेदन करके उसके रसको स्थालीमें टपकाते हैं। वशाके अवदान किये जाते हैं। इसके पश्चात् वशाके अंगोंका तथा गर्भरसका पाक पशुश्रपणपर करते हैं। गर्भको एक अंगोछेमें चारों ओरसे लपेटकर वहीं पशुश्रव-

---

गया, जो इष्टि रूपमें किया जाता है। इस अवसरपर आमिक्षा का सम्पादन उसी प्रकार किया जाता है, जिस प्रकार चातुर्मास्यके प्रथम पर्वमें किया जाता है (यज्ञतत्वप्रकाश, पृष्ठसं० ८२)।

१. काश्रौसू० (१०.९.१३-१४ पर सरलावृत्ति, पृष्ठसं० ३९२-३९३)।

२. शब्रा० (४.५.२.१-२)। यहीं "स्थालीं चैवोष्णीशं चोपकल्पयितवै" यह प्रैष भी किया गया है।

३. एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह (वासं० ८.२८)।

४. काश्रौसू० (२५.१०.४-५, शब्रा० ४.५.२.१-५)।

णपर रख देते हैं। वशाके अंगोंकी आहुति दी जाती है, इसके पश्चात् मन्त्रसे[१] गर्भरक्तकी आहुति दी जाती है, तब अध्वर्युके द्वारा स्विष्टकृत् होम किये जानेके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता स्रुचिमें सम्पूर्ण गर्भरसको लेकर मन्त्रसे[२] गर्भरसकी आहुति दे देता है। समष्टियजुर्होमके अन्तमें शामित्र-अग्निमें ही बिना स्वाहाकारके मन्त्रके[३] द्वारा उष्णीशमें लिपटे हुए गर्भकी आहुति दे दी जाती है। इसके पश्चात् शामित्र-अग्निमें क्षिप्त उस गर्भको अंगारोंसे ढक दिया जाता है[४] जिसके लिए मन्त्र पढ़ा जाता है।[५]

वपायाग तथा केश-श्मश्रु-वपन

भारद्वाजके अनुसार वपाहोम किया जाता है तथा उसके पश्चात् यजमान वेदीके दक्षिण श्रोणी प्रान्तमें स्थित एक बाड़ेमें बैठकर अपने सिर व दाढ़ीके बाल मुंडवाता है।[६] उस स्थितिमें पहले ही सिर व दाढ़ीके बाल मुंडवा लिये जाते हैं, जब यजमान पशुकी इच्छासे प्रेरित होकर मित्रावरुणोंको अनुवन्ध्या गौके स्थानपर आमिक्षा समर्पित करता है।[७]

याज्या व पुरोनुवाक्या

इस अवसरपर वपायागसे सम्बद्ध याज्या[८] व पुरोनुवाक्याका[९] पाठ किया

---

१. यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी। अंगान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमं स्वाहा (वासं० ८.२९)। यदि गर्भ मादा हो तो "यस्य" के स्थानपर "यस्यै" और तं के स्थानपर तां कहा जाता है (शब्रा० ४.५.२.१०)।

२. पुरुदस्मो विषुरूप, इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः। एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्तां स्वाहा (वासं० ८.३०)।

३. मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः(वासं० ८.३१)।

४. काश्रौसू० (२५.१०.६-१९, शब्रा० ४.५.२.१२-१८)।

५. मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः(वासं० ८.३२)।

६. भारश्रौसू०, (१४.२४.१४)।

७. भारश्रौसू० (१४.२५.१-२)।

८. युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः। अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे (ऋसं० १.१५२.१)।

९. आ वां मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं नमसा देवाववसा ववृत्याम्। अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्या अस्माकं वृष्टिर्दिव्या सुपारा (ऋसं० १.१५२.७)।

जाता है ।[१]

याज्या व पुरोनुवाक्याके पाठके पश्चात् स्विष्टकृत् आहुति तथा इडा होती है । सदस् और हविर्धानके निर्मित होनेपर जो पहली गाँठ लगाई गई थी, उसे खोला जाता है, हविर्द्धानको उत्तरकी ओर सरकाया जाता है । मन्त्रके[२] साथ आहवनीयमें कुशा जलायी जाती है, इस अवसरपर यह भी कहा गया है कि यदि यजमानने मिश्रित (दरिद्रता और समृद्धि के) भावसे काम किया हो तो उसे चाहिये कि वह अंजलिमें जौके आटेकी आहुति रखकर मन्त्रसे[३] अग्निमें आहुति दे ।[४] आपश्रौसू० (१३.२४.१७) में कहा गया है कि यजमान अग्निसे उठे हुए धुएँके पीछे पीछे चलता हुआ मन्त्रका[५] पाठ करे । इसके पश्चात् आहवनीयकी, वायुकी और आदित्यकी प्रार्थना[६] करता है । इस अवसरपर यह भी कहा गया है कि जब यजमान यूपकी प्रार्थना कर चुके तब वह प्राजहित और दक्षिणाग्निको विभिन्न अग्नियोंमें डाल देता है, यदि यजमान गतश्री हो तो अध्वर्यु उस स्थितिमें शालामुखीय अग्निका भी समारोपण करता है ।[७]

अतिमोक्षमन्त्रोंका पाठ

यजमान तथा अन्य लोग चात्वाल और उत्करके बीचसे जाते हुए अस्फुट स्वरमें अतिमोक्षमन्त्रोंका[८] पाठ करते हैं ।[९] आपश्रौसू० (१३.२५.१-२) के अनुसार यजमान वेदको अपनी गोदमें लेकर वेदीमें बैठता है और तब अतिमोक्ष मन्त्रोंका पाठ करता है ।

---

१. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ४९७)।

२. युत्कुसीदमप्रतीत्तं मयि (तैसं० ३.३.८.१-२)।

३. विश्वलोप विश्वदावस्य त्वा संजुहोमि (तैसं० ३.३.८.२)।

४. भारश्रौसू० (१४.२५.७-९)।

५. यदाकूतात् (तैसं० ५.७.७.१)।

६. अयं नो नभसा पुरः इस मन्त्रसे आहवनीयकी, स त्वं नो नभसस्पते' मन्त्रसे वायुकी तथा 'देव सस्फान' मन्त्रसे आदित्यकी प्रार्थना करता है (तैसं० ३.३.८.२-३)।

७. भारश्रौसू० (१४.२५.११)।

८. ये देवा यज्ञहन (तैसं० ३.५.४.१)।

९. भारश्रौसू० (१४.२५.१२, ४.२२.१)।

उदवसानीयेष्टि

ज्योतिष्टोमांगभूत 'उदवसानीयेष्टि' के अन्तर्गत अग्निके लिए पाँच या आठ कपालों पर पुरोडाश बनाया जाता है ।[१] यदि आठ कपालोंपर पुरोडाश बनाया जाता है तो याज्या व पुरोनुवाक्याका पाठ पंक्ति छन्दमें और यदि पाँच कपालों पर अग्निके लिए पुरोडाश बनाया जाता है तो गायत्री छन्दस्क पाठ किया जाता है ।[२] शब्रा० (४.५.१.१४) ने पाँच कपालोंपर ही पुरोडाश बनानेका विधान किया है ।

दक्षिणा

सोना अथवा बैल उदवसानीयेष्टिकी दक्षिणा कही गई है ।[३] भारश्रौसू० ने बैलसे युक्त गाड़ीका उल्लेख किया,[४] जिसके मूल्यके बदले सोना भी दिया जा सकता है ।[५] शतपथ ब्राह्मण (४.५.१.१६) ने तो यहाँ तक कहा है कि इस अवसरपर जितनी अधिक दक्षिणा दी जा सके उतनी अधिक दक्षिणा यजमानके द्वारा दी जानी चाहिये ।

दक्षिणाका महत्व

तांब्रा० (१६.१.१३) में कहा गया है कि जिस प्रकार बिना बन्धनोंके रथ नहीं चलता, उसी प्रकार बिना दक्षिणाके यज्ञ नहीं होता । जिस प्रकार अनेक प्रकारके बन्धनोंसे युक्त रथ अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँचता है, उसी प्रकार यज्ञकर्त्ता भी दक्षिणाके द्वारा इच्छित फल प्राप्त करता है । तांब्रा० (१६.१.१४) में कहा गया है कि दक्षिणा यज्ञका अलंकार है, अर्थात् दक्षिणाके द्वारा यजमान यज्ञका सौन्दर्य बढ़ाता है । गोब्रा० (२.३.१७) ने कहा है कि दक्षिणा स्वर्ग ले जाने वाले यज्ञके पुलको दृढ़ करती है । अग्निमें आहुति देनेसे देवता और दक्षिणा देनेसे ब्राह्मण व

---

१. काश्रौसू० (१०.९.१८, शब्रा० ४.५.१.१३, भारश्रौसू० १४.२६.१)। यज्ञतत्वप्रकाशमें कहा गया है कि अग्निके लिए आठ कपालपर पुरोडाश बनानेके स्थानपर विष्णु देवताक एक आहुति भी दी जा सकती है (पृष्ठसं० ८२)।

२. भारश्रौसू० (१४.२६.२)।

३. काश्रौसू० (१०.९.१९, शब्रा० ४.५.१.१५)।

४. भारश्रौसू० (१४.२६.३)।

५. आपश्रौसू० (१३.२५.६)।

ऋत्विज प्रसन्न होते हैं और अन्तमें स्वर्ग देकर चले जाते हैं (शब्रा० ४.३.४.६ तथा १.९.३.१)। उपर्युक्त ब्राह्मण-सन्दर्भ दक्षिणाकी महिमा सिद्ध करते हैं।

यज्ञमें काम करने वाले ऋत्विजोंका पारिश्रमिक दक्षिणा ही होता है, जिसके न देनेपर यजमानका यज्ञ नष्ट हो जाता है। गोब्रा० (२.२.५) में कहा गया है कि मन्त्र, क्रिया और दक्षिणा ठीक न होने पर यज्ञ रूपी पोतमें छिद्र हो जाता है, अतः दक्षिणा देनेमें कोई भूल नहीं करनी चाहिये। जैब्रा० (२.११६) में कहा गया है कि बिना दक्षिणा वाले यज्ञ नष्ट हो जाते हैं। जैसे बिना बैलोंके गाड़ी व्यर्थ होती है, उसी प्रकार बिना दक्षिणाका यज्ञ व्यर्थ होता है (ऐब्रा० ६.३५)। बिना दक्षिणाके यज्ञ करनेपर यजमानको पापका भागी होना पड़ता है (शब्रा० १.२.३.४)।

ब्राह्मणों व सूत्रग्रन्थोंमें उल्लिखित दक्षिणा ही यजमान दे, ऐसा कोई नियम नहीं है, दक्षिणा तो यजमान अपनी सामर्थ्यके अनुसार ही देता है, अतः कहा गया कि दक्षिणा चाहे कितनी ही कम क्यों न हो, देनी अवश्य चाहिये (ऐब्रा० ६.३५)।

आहवनीयमें आहुति

हड़बड़ीमें होनेपर अध्वर्यु जुहूमें चार उपप्लवा आज्य भरकर आहवनीयमें[1] मन्त्रसे आहुति देता है।[2] आपश्रौसू० (१३.२५.७) ने चार उपप्लवाके स्थानपर तेरह उपप्लवा आज्यका उल्लेख किया है।

सायंकालीन अग्निहोत्र

रातमें उदवसानीयेष्टि किसी भी समय समाप्त हो, यजमानको तत्काल सायंकालीन अग्निहोत्र करना चाहिये।[3] यह सायंकालीन अग्निहोत्र सोमयागका अंग नहीं माना गया अपितु प्रातः आहुतिका श्रवण होनेसे तथा अपनेकालमें अनुष्ठित होनेसे यह नित्य आहुति मानी गई है।[4] रातको अग्निहोत्रकरने पर फिर प्रातः अग्निहोत्र यजमान विधिके अनुसार उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार वह सोमयाग प्रारम्भ होनेके पूर्व करता था।

---

१. उरु विष्णो वि क्रमस्व (तैसं० १.३.४.१)।

२. भारश्रौसू० (१४.२६.५)।

३. भारश्रौसू० (१४.२६.७ काश्रौसू० १०.७.२१)।

४. काश्रौसू० (१०.९.२३)।

देविका हवींषि

छन्दोंके श्रमपरिहारके लिए यज्ञके अन्तमें देविका-हवियोंका निर्वपन किया जाता है ।[१] ये कुल पाँच हवि हैं-जिनमें सबसे पहले धातृ[२] नामक देवके लिए बारह कपालोंमें संस्कृत पुरोडाशका निर्वपन करके क्रमशः अनुमति[३] (चतुर्दशी मिश्रित पूर्णिमा), राका,[४] सिनीवाली[५] और कुहूके[६] लिए चरु दिया जाता है ।[७]

छन्दोंके श्रमपरिहारार्थ देविकाके लिए प्रदत्त हविष् पंचकके सम्बन्धमें पूर्वपक्षके रूपमें कुछ लोगोंका यह मत ऐब्रा० (३.५.४७) ने प्रकट किया है कि अनुमति आदि स्त्रीदेवताकी आहुतिके पूर्व-पूर्वमें (पुरुषदेवतारूप) धाताकी ही एक-एक आज्याहुति दी जानी चाहिये किन्तु ऐब्रा० (३.५.४७) ने उक्त मतका निरादर करते हुए यही प्रतिपादन किया कि अनुमतिके पूर्वमें जो एक धाताके लिए बारह कपालोंपर संस्कृत पुरोडाशकी आहुति दी जाती है, वही दी जानी चाहिए, प्रत्येक आहुतिके पूर्व धाताकी आहुति देनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भारद्वाजने धाताकी आहुतिका उल्लेख तो किया है किन्तु क्रममें भिन्नता है, भारद्वाजके अनुसार धाताकी आहुति अन्य चार आहुतिके पश्चात् दी जाती है ।[८]

देवी नामक देवताके लिए आहुति

इसके अन्तर्गत पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, सर्वप्रथम सूर्यके लिए एक कपालपर संस्कृत पुरोडाशका निर्वपन किया जाता है, इसके पश्चात् द्यौ, उषा, गाय और पृथिवीके लिए चरु दिया जाता है ।[९]

---

१. यज्ञस्यावसाने योऽयं 'पशुः' अनुबन्ध्याख्यः पशुबन्धः तस्य पशोः सम्बन्धी मित्रावरुणदेवताको यः पुरोडाशः, तम् अनु तस्मिन्ननुष्ठिते पश्चान्निर्वपेत् (ऐब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ५५६)।

२. योऽयं धातृ नामको देवः, स वषट्कारस्वरूपः (ऐब्रा० ३.५.४७ पर सायणभाष्य)।

३. चतुर्दशीमिश्रा पूर्णिमा अनुमतिशब्दवाच्या (ऐब्रा० ३.५.४७ पर सायणभाष्य)।

४. या राका सा त्रिष्टुप् (ऐब्रा० ३.५.४७)।

५. सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली (ऐब्रा० ३.५.३७ पर सायणभाष्य)।

६. सा नष्टेन्दुकला कुहूः (ऐब्रा० ३.५.४७ पर सायणभाष्य)।

७. ऐब्रा० (३.५.४७)।

८. भारश्रौसू० (१४.२४.१६)।

९. ऐब्रा० ३.५.४८

देविका और देवी हवियोंके निर्वपनका अधिकारी

(अनूचानोंके मध्य) गतश्री[१] व्यक्ति ही प्रजोत्पादनकी कामना से (देवी और देविका) दोनोंके लिए निर्वपन कर सकता है, केवल धनकी इच्छासे उक्त दोनों आहुतियोंके देनेका निषेध किया गया है ।[२]

अग्निष्टोमकी समाप्ति

इस प्रकार धाताको बारह कपालोंपर संस्कृत पुरोडाशकी तथा अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहूको चरुकी आहुति देकर तथा एक कपालपर सूर्यको संस्कृत पुरोडाशकी तथा द्यौ, उषा गाय और पृथिवीको चरु प्रदान करके अन्तमें एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन करानेका संकल्प करके बर्हिका आदीपन करके घरके लिए प्रस्थान करता है । इस प्रकार सप्त सोमसंस्थाओंके, अन्तर्गत समस्त सोमयागोंकी प्रकृतिभूत अग्निष्टोम कृत्यका समापन किया जाता है ।[३]

उपसंहार

भारतीय अध्यात्म साधनाएँ दो भागोंमें विभक्त होकर सम्पूर्णताको प्राप्त हुई हैं । एक निगम (अर्थात् वेद) का आश्रयण करती है और दूसरी उसी प्रकार आगमका अवलम्बन करती है । फलत: भारतीयसाधना निगमागममूलक है । प्रथम साधनाके लिए वेदका ज्ञान यदि परमावश्यक है तो द्वितीय साधनाके लिए आगमका ज्ञान अपेक्षित है । एक साधना बहिरंग है और दूसरी साधना अन्तरंग है । दोनोंके मंजुल समन्वयके ऊपर ही वह शोभन वस्तु आधारित है, जिसे हम "भारतीय संस्कृति" के नामसे पुकारते हैं ।

---

१. त्रयो वै गतश्रियः शुश्रुवान्, ग्रामणी, राजन्यः (तैसं० २.५.४.४) । शुश्रुवान्-वेदतदर्थयोः श्रुतवान्, ग्रामणी:-वैश्य परिवृढः, राजन्यः-श्रौत्रियः-इति' गता प्राप्तोः श्रीर्येन स गतश्रीः-इत्यादि चाह रुद्रदत्तः (आपश्रौसू० १.१४.९) । गता प्राप्ता श्रीर्येनासौ गता श्रीर्यमिति वा-इति च याज्ञिकदेवः (काश्रौसू० ४.११.५) । शांखाश्रौसू० (२.६.५) सांगोपांग चतुर्वेद्युक्तो विप्रस्तु शुश्रुवान् । वृत्तवान् कोटिसारश्च ग्रामणीर्वैश्यजातिकः ॥ नृपो भिषिक्तो निर्लोभो राजन्य इति ते त्रयः (गतश्री)-षड्गुरुशिष्यः ।

२. ऐब्रा० (३.५.४८) ।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० ३७९, काश्रौसू० १०.९.२६, ऐब्रा० ३.५.१८) ।

इस विशाल भारतीय संस्कृतिका विश्लेषण करनेपर प्रतीत होगा कि इसके विभिन्न अंश हैं और अंग-प्रत्यंगके रूपमें विभिन्न विभाग। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें वैदिक साधना ही प्रधान है और वह यज्ञ-यागादिके अनुष्ठानके रूपमें सदा प्रतिष्ठित होती आई है।

यज्ञोंकी परम्परा न केवल अतिप्राचीन, बल्कि सार्वभौम भी है। एशिया, अफ्रीका, यूरोपमें सर्वत्र यज्ञोंका किसी न किसी रूपमें अनुष्ठान होता रहा है।

परम्परासे वैदिक यज्ञोंका प्रचलन अविच्छिन्न रहा है। वाजपेय, राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहा। कालान्तरमें अन्य प्रकारके यज्ञ तो समाप्त हो गए परन्तु अश्वमेधकी परम्परा १२ वीं शताब्दीमें जयचन्द गहडवालके राज्यकाल तक चलती रही। अश्वमेध करने वाले प्राचीन राजाओंमें राम, युधिष्ठिर, जनमेजय, वसुदेव, दक्ष, सगर, बलि, वेन और ब्रह्मा आदिकी गणना पुराणोंके आधार पर की जा सकती है। ऐतिहासिक कालमें अश्वमेध पुष्यमित्र, शुंग, समुद्रगुप्त आदि ने किया। नागोंने दस-दस अश्वमेधकर गंगाके किनारे काशीमें जो दस बार अवभृथ स्नान किए तो वहाँके प्रसिद्ध घाटका नाम ही दशाश्वमेध पड़ गया।

त्रेतायुगमें यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करना ही मुख्य धर्म था, किन्तु द्वापरमें देवताओंकी अर्चना ही मुख्य रूपसे प्रधान रही और कलियुगमें केवल नामसंकीर्तनकी महिमा बलवती हुई। महाभारतसे ज्ञात होता है कि जब पाण्डवों ने राजसूययज्ञ करने का विचार किया तब यज्ञके अनुष्ठानके लिए आवश्यक धनकी व्यवस्था करनेमें उन्हें बड़ी कठिनाई हुई थी। सोमयागके सम्बन्धमें तो दो बड़ी कठिनाई हैं, एक तो सोमलता की दुष्प्राप्यता तथा दूसरी दक्षिणा एवं यज्ञीयपदार्थों के सम्पादनके लिए धनकी अधिक आवश्यकता। पुराणोंमें सोमयाग करने वाले मेधातिथि, शर्याति, ब्रह्मा आदि पुण्यात्मा महापुरुषोंके कुछ नाम अवश्य आये हैं, जिससे सोमयागानुष्ठानकी प्राचीन परम्पराका ज्ञान होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें नौ अध्यायोंमें पाँच दिनतक चलने वाले अग्निष्टोमके सम्पूर्ण कर्मकाण्डका संहिताग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रग्रन्थों तथा भाष्यों व पद्धतियोंके आधारपर विस्तृत व क्रमबद्ध निरूपण किया गया है।

पहले दिन यजमानकी दीक्षा होती है। यह दीक्षा वेदिके मध्यमें ही दी जाती है, इष्टियाग तथा पशुयागमें दीक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। इसके पश्चात् इष्टियाग किया जाता है, इसके लिए एक ऐष्टिक वेदी और सोमयागके लिए महावेदी भी बनाई जाती है। दर्शपूर्णमास यज्ञके लिए तो वेदी घरपर बना ली जाती है किन्तु

सोमयागके लिए गृहस्थानसे बाहर नए उपयुक्त स्थानपर नई यज्ञशाला शास्त्रीय ढंगसे बनायी जाती है ।

दूसरे दिन सवेरे ही एक इष्टियाग होता है, जिसे प्रायणीयेष्टि कहते हैं । इसके पाँच देवता हैं-पथ्या, अग्नि, सोम, सविता और अदिति । इसमें अदिति को चरु और शेष चारों देवताओंको आज्य दिया जाता है ।

तीसरे दिन दोपहरको सोमयागके लिए महावेदी बनाई जाती है । चौथे दिन सवेरे-सवेरे ही दो बार प्रवर्ग्य और दो बार उपसत् करके अन्य कार्य प्रारम्भ किये जाते हैं । पहले अग्निप्रणयन होता है । ऐष्टिक वेदीकी आहवनीयसे अग्नि लाकर उत्तरवेदीकी नाभिमें रखी जाती है फिर यही अग्नि सोमयागकी आहवनीय समझी जाती है । पुरानी आहवनीय गार्हपत्य कहलाती है । फिर हविर्धानप्रवर्तन प्रारम्भ होता है । यह हविर्धान दो छप्परकी बैलगाड़ी है । अग्निष्टोमकी प्रधानहवि सोम है वही सोम इस गाड़ीपर रखा जाता है, इसीलिए इस गाड़ीको हविर्द्धान कहते हैं । यजमानकी पत्नी गाड़ीके धुरेपर आज्यका लेप करती है इसके पश्चात् एक गाड़ी को अध्वर्यु और दूसरीको प्रतिप्रस्थाता महावेदीकी ओर ले चलता है । इसी दिन मुख्यकृत्य पशुयाग भी किया जाता है ।

इस प्रकार आयोजन करते-करते चार दिन बीत जाते हैं, पाँचवें दिन सोमलता कूटकर उसका रस निकालकर रख लिया जाता है । फिर उस रसमें जल मिलाया जाता है । इस सम्पूर्ण (कूटकर रस निकालनेकी) क्रियाको “अभिषव” कहा जाता है । सवेरे, दोपहर तथा शाम तीनों समय तीन बार सोमका अभिषव तथा सोमकी आहुति दी जाती हैं । सोमाभिषव और सोमाहुति और उसके साथ होने वाले सम्पूर्ण कर्मोंका नाम “सवन” है । इन तीनों सवनोंके अन्तर्गत बारह स्तोत्रों एवं बारह ही शस्त्रोंका भी पाठ किया जाता है । आज भी पशुयाग होता है, इसीको सवनीय याग कहा गया है । तीनों सवनोंमें तीन पशुयाग नहीं होते अपितु दिनभरमें पशुके अंगोंका विभाग करके तीनों सवनोंमें आहुति दी जाती है । पशुयागके साथ पुरोडाशयाग भी किया जाता है । सबसे अन्तमें अवभृथस्नान किया जाता है । जिस प्रकार यज्ञके प्रारम्भमें प्रायणीयेष्टि की गई थी, उसी प्रकार यज्ञके अन्तमें उदयनीयेष्टि क्रिया की जाती है । इस प्रकार सम्पूर्ण अंगोंके साथ पाँच दिनतक चलने वाला अग्निष्टोम सम्पन्न हो जाता है । इसीके कर्मकाण्डका विस्तारसे इस ग्रन्थमें विवेचन किया गया है और किस क्रियाके साथ किस मन्त्रका प्रयोग किया जाता है वे मन्त्र भी यथास्थान दे दिये गए हैं ।

प्रथम परिशिष्ट

प्रवर्ग्य

प्रवर्ग्यक्रियाका विवरण ऐतरेय, कौषीतकि, शतपथ एवं गोपथब्राह्मणमें मिलता है । ऐब्रा० (१.१८-२२) और कौषीतकि (८.३-७) ब्राह्मणमें होता द्वारा गाये जाने वाले ऋक्सूक्त और उनकी व्याख्या प्राप्त होती है । गोपथब्राह्मण (२.२.६) में ऐब्रा० का संक्षेपीकरण है । विस्तृत विवरण शतपथ (१४.१.२.१) में दिया गया है । तैब्रा० में इस कृत्यकी कोई चर्चा ही नहीं है और इसका विवरण तैआ० (४ व ५) के लिए छोड़ दिया गया है ।

पृथक् क्रियाके रूपमें प्रवर्ग्य

शतपथब्राह्मणमें इस क्रियाका विवरण उचित स्थानपर न देकर ग्रन्थके अन्तमें वृहदारण्यकोपनिषद्के ठीक प्रारम्भमें दिया गया है । ऋग्वेदके ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणमें यद्यपि यह क्रिया सोमयागके वर्णनमें उचित स्थानपर दी गई है और यही बात अथर्ववेदके गोपथब्राह्मणके साथ भी लागू है । सामवेदके ब्राह्मणोंमें प्रवर्ग्यकी चर्चा ही नहीं है, इससे यह संकेत अवश्य प्राप्त होता है कि यह क्रिया तभी प्रारम्भ हुई होगी जब सोमयज्ञकी सारी प्रक्रिया निश्चित हो गई होगी । मूलतः यह क्रिया स्वतन्त्र और भिन्न रही होगी जिसका संकेत इस सन्दर्भसे भी प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि प्रथम अग्निष्टोम प्रवर्ग्यरहित ही किया जाय और उसके पश्चात् समस्त सोमयागोंमें सोमयागांगभूत प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाय ।[१]

---

१. वैदिककोश (पृष्ठसं० ४०५)।

पुनरावृत्ति न हो पावे इसलिए अधिकांश सूत्रकारोंने एक स्थानपर सम्पूर्ण प्रवर्ग्यका वर्णन किया है ।[1] समस्त सोमयागोंकी प्रकृति ज्योतिष्टोम होनेसे भारद्वाजने ज्योतिष्टोमके मध्यमें ही प्रवर्ग्यका उल्लेख किया है ।[2]

प्रवर्ग्यरहित प्रथम अग्निष्टोम

प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य नहीं किया जाता किन्तु विकल्पके रूपमें यह अवश्य कहा गया है कि श्रोत्रिय प्रथम अग्निष्टोममें भी प्रवर्ग्यका अनुष्ठान कर सकता है ।[3] आपश्रौसू० (१३.४.३-५) ने प्रत्येक अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य आवश्यक नहीं माना है ।

अग्निष्टोममें आतिथ्येष्टिके पश्चात् प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाता है ।[4] सायणने तैत्तिरीयारण्यकमें दो मत प्रस्तुत किए हैं—एक पक्षके अनुसार सोमयागसंकल्प आदि करके दीक्षणीयेष्टिके पहले ही प्रवर्ग्यसाधन महावीरादिकका सम्पादन कर लिए जाते हैं, दूसरे मतके अनुसार दीक्षा समाप्त होनेपर ही प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाता है । प्रथम पक्षमें सावित्र होम भी किया जाता है किन्तु दूसरे पक्षके अनुसार यदि प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाता है तो सावित्र होमकी कोई आवश्यकता नहीं, केवल मन्त्रपाठ कर लिया जाता है ।[5]

श्रौतकोशमें अवान्तर दीक्षाके पश्चात् प्रवर्ग्यसम्भरणका तथा आतिथ्येष्टिके पश्चात् प्रवर्ग्यानुष्ठानका उल्लेख किया गया है ।[6]

---

१. आपश्रौसू० (१५.५ काश्रौसू० २६.१-७, बौश्रौसू० ९.६, सत्याषाढश्रौसू० २४.१-८)।

२. भारश्रौसू० (११.१-४)।

३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६४, गोब्रा० २.२.६)।

४. भारश्रौसू० में आतिथ्येष्टिके पश्चात् प्रवर्ग्यका विधान किया गया है । यद्यपि कात्यायन ने प्रवर्ग्यका स्वतन्त्र विधान किया है तथापि सूत्र (८.२.१४-१५) से यह सिद्ध हो जाता है कि कात्यायनके अनुसार भी आतिथ्येष्टिके पश्चात् उपसदिष्टिसे पूर्व प्रवर्ग्यका अनुष्ठान करना चाहिए । श्रौतकोशमें भी आतिथ्येष्टिके पश्चात् प्रवर्ग्यका उल्लेख है । केवल प्रवर्ग्यसंम्भरणका उल्लेख अवश्य ही अवान्तर दीक्षाके पश्चात् किया गया है ।

५. तैआ० (४.२ पर सायणभाष्य)।

६. श्रौतकोश (पृष्ठ सं० ९ तथा ७१)।

प्रवर्ग्यका उद्भव

एक आख्यायिकाके अनुसार तीन सिरों वाले धनुषके सहारे खड़े हुए विष्णुपर देव जब आक्रमण न कर सके तो उपदीका चींटीने उसके धनुषकी डोरी काट दी, जिससे धनुषके सिरे उछल गए और विष्णुका सिर 'धुंग' ऐसा शब्द करके गिर पड़ा, इसीलिए यह 'प्रवर्ग्य' हुआ।[१] एक आख्यायिकासे[२] यह भी संकेत मिलता है कि अश्विनी कुमारोंने प्रवर्ग्य क्रियाको यज्ञमें मूर्धन्य स्थान दिया और उसका संस्कार किया। इन्हीं अश्विनी कुमारों ने दध्यङ् अर्थवणसे वह विद्या प्राप्त की थी, जिससे विष्णुका कटा हुआ सिर पुनः जुड़ गया था, वस्तुतः यह विद्या प्रवर्ग्य के अतिरिक्त कुछ नहीं थी।[३] तांब्रा० (७.५.६) में विष्णुके सिरके बदले यज्ञके सिरका उल्लेख है।

जिस प्रकार सूर्य संसारका शीर्ष है, उसी प्रकार प्रवर्ग्य यज्ञका सिर माना गया है। इसी आधारपर सम्भवतः प्रवर्ग्यको सूर्यसे जोड़ा भी गया है, प्रवर्ग्यके नियम[४] भी इस तथ्यको प्रामाणित करते हैं।

प्रवर्ग्यकी व्युत्पत्ति

इस कृत्यमें तपते हुए घृतमें दूधका प्रक्षेप किया जाता है, इसीलिए इस कृत्यका नाम प्रवर्ग्य नामक कर्मविशेष हुआ।[५]

प्रवर्ग्यके प्रारम्भमें शान्तिपाठ

आध्यात्मिक विघ्न ज्वर आदि, आधिभौतिक विघ्न रोगोपद्रव आदि तथा आधिदैविक विघ्न यक्ष-राक्षसोपद्रव आदिकी शान्तिके लिए प्रवर्ग्य प्रारम्भ करनेसे पूर्व यजुर्वेदका ३६ वाँ अध्याय अथवा तैआ० के चतुर्थ प्रपाठके प्रथम अनुवाकका पाठ किया जाता है।[६] देवयाज्ञिकके अनुसार शान्तिपाठसे पूर्व शालाद्वारके

---

१. शब्रा० (१४.१.१.१०)।

२. गोब्रा० (२.२.६, ऐब्रा० १.१८)।

३. शब्रा० (१४.१.१.२४, ऋसं० १.११६.१२)।

४. शब्रा० (१४.१.१.२८-३३)।

५. तप्ते घृते पयः प्रक्षेपः प्रवृंजनम्। तद्यस्मिन्कर्मविशेषे विद्यते सोऽयं प्रवर्ग्यः (सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र, पृष्ठसं० ८४७)

६. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६५, आपश्रौसू० १५.५.४ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

तीनों द्वार बन्द कर दिये जाते हैं क्योंकि यह कृत्य किसीको दिखाया नहीं जाता। यजमानकी पत्नी तथा अवैदिक और शूद्र आदिकोंके लिए प्रवर्ग्यका दर्शन निषिद्ध है।[१] ब्रह्मा-यजमान-होता-अध्वर्यु-आग्नीध्र-प्रतिप्रस्थाता तथा प्रस्तोता सभी मिल-कर शान्तिपाठ करते हैं।[२] शान्तिपाठके अनन्तर ब्रह्मा दक्षिणाग्निके पश्चिममें अथवा आहवनीयके दक्षिणकी ओर बैठता है।[३]

बौधायन (९.१-४) ने महावीर-निष्पत्तिके पूर्व तथा आपस्तम्ब (१५.५.४) ने उस समय महावीर-निष्पत्तिके पश्चात् शान्तिपाठका विधान किया, जिस समय प्राग्वंशके द्वार बन्द कर दिये जाते हैं, पत्नीके पीछे होता, आगे अध्वर्यु, दक्षिणकी ओर ब्रह्मा और उत्तरकी और यजमान तथा प्रस्तोता बैठ चुके होते हैं तथा प्रतिप्रस्थाता ओर आग्नीध्र मदन्ती (गरम जल) का स्पर्श कर चुके होते हैं।

प्रवर्ग्य संभार

महावेदीके पश्चिम प्रान्त अन्तःपात्यमें महावीर बनानेके लिए सामग्रियोंको इकट्ठा करके रक्खा जाता है-कुम्भकारके द्वारा शुद्धकी हुई अत्यधिक चिकनी तथा भाण्डके योग्य उपयुक्त मृत्तिका, वल्मीकमृद्, वराहके द्वारा खोदी हुई मृत्तिका, पूतीक (रोहिष पुष्प), अजादुग्ध, गवेधुक् इत्यादि। इन सबको पूर्वसे पश्चिम अथवा उत्तरसे दक्षिण रखकर इनके उत्तरमें कृष्णाजिन तथा अभ्रि रक्खी जाती है।[४]

गोपीनाथके अनुसार प्रवर्ग्य सम्भार जुटानेसे पूर्व प्रवर्ग्यके लिए संकल्प, आचमन, सोमयागके ही ऋत्विजोंका वरण तथा अग्निका विहरण इतने कृत्य सम्पन्न कर लिये जाते हैं।[५]

महावीरनिर्माण

शान्तिपाठके पश्चात् तथा सम्भारोंके एकत्र करने के पश्चात् महावीर पात्रका निर्माण किया जाता है, जिसके अन्तर्गत बहुतसे कृत्य सम्मिलित हैं।

---

१. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६५, काश्रौसू० २६.२.३-४)।
२. काश्रौसू० (२६.७.५८ पर सरलावृत्ति)।
३. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६५)।
४. काश्रौसू० (२६.१.२-३)।
५. गोपीनाथका भाष्य (पृष्ठसं० ८४८)।

अभ्रिग्रहण तथा अभिमन्त्रण

मन्त्रसे[१] बाएँ हाथमें अभ्रि ग्रहण करके मन्त्रसे[२] अभ्रिका अभिमन्त्रण दाएँ हाथसे स्पर्श करके किया जाता है ।[३] अन्य ग्रन्थोंमें अभिमन्त्रणके लिए भिन्न मन्त्रका[४] विनियोग किया गया है ।[५] भारद्वाजने अभिमन्त्रणका उल्लेख नहीं किया । जिस 'युंजते मन' ऋचाका विनियोग कात्यायनने अभिमन्त्रणके लिए किया, उसी मन्त्रका विनियोग सावित्र होम के लिए भी प्राप्त होता है, जिसके लिए अदीक्षित व्यक्ति अमावस्या या पूर्णिमाको अथवा शुक्लपक्षमें किसी पुण्य (पुष्य आदि) नक्षत्रमें बिना मन्त्र पढ़े ही चुपचाप काँटे वाली बेल, विकंकतकी समिधा लेकर (स्त्रुचिके द्वारा) जुहूमें चार बारमें आज्य ग्रहण करके आहवनीयमें आहुति दी जाती है ।[६] इस अवसरपर यह यह भी कहा गया है कि यदि दीक्षित यजमान हो तो आहुति न देकर केवल काँटे वाली समिधा ही उक्त मन्त्रके द्वारा आहवनीयमें ही डाली जाती है ।[७] बौधायनने दोनों ही क्रियाओं (समिधा रखने तथा आहुति देने) का निषेध करके केवल मन्त्रपाठ करनेका आदेश दिया है ।[८]

ब्रह्माका आवाहन

अभ्रिग्रहण तथा अभिमन्त्रणके पश्चात् अध्वर्यु मन्त्रके[९] द्वारा ब्रह्मा का आवाहन करता है अर्थात् मृत्खननदेशके प्रति प्रस्थान करनेके निमित्त अध्वर्यु प्रार्थना करता है । तब ब्रह्मा अपने स्थानसे उठकर अध्वर्युके समीप आकर अध्वर्युके साथ स्वयं भी ऋचाका[१०] पाठ करता है ।[११]

---

१. देवस्य त्वा सवितुः (वासं० ३७.१, तैआ० ४.२)।
२. युञ्जत मन (वासं० ३७.२)।
३. काश्रौसू० (२६.१.४, शब्रा० १४.१.२८)।
४. अभ्रिरसि नारिरसि (तैआ. ४.२)।
५. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८४९, आपश्रौसू० १५.१.३)।
६. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ८४७, भारश्रौसू० ११.१.१, आपश्रौसू० १५.१.१)।
७. भारश्रौसू० (११.१.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८४९, आपश्रौसू० १५.१.२)।
८. बौश्रौसू० (९.६)।
९. उत्तिष्ठन् ब्रह्मणस्पते (तैआ० ४.२.१)।
१०. उपप्रयन्तु मरुतः सुदानवः इन्द्र प्राशूर्भवा सचा (तैआ० ४.२.१)।
११. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८५०, भारश्रौसू० ११.१.५-६)।

मृत्तिकाग्रहण तथा सम्भारोंका स्थापन

दक्षिणकी ओर दाहिने हाथ से तथा अभ्रिकी[१] सहायता से तथा उत्तरकी ओर केवल बाएँ हाथसे मन्त्रके[२] द्वारा मृत्तिका ग्रहण की जाती है ।[३] मृत्तिका ग्रहण करनेसे पूर्व उसे खोदा जाता है, जिसके लिए सूत्रग्रन्थोंने ऋचाका[४] विधान किया है ।[५] मृत्तिका खननसे पूर्व मृत्तिका खनन देशके प्रति प्रस्थान किया जाता है । यह स्थान पूर्वकी ओर होता है, जहाँ जानेके लिए घोड़ेको भी साथमें आगे करके ले जाया जाता है । खननदेशके लिए प्रस्थान करते समय ऋचाका[६] पाठ किया जाता है ।[७]

ग्रहणकी हुई मृत्तिका पूर्वकी ओर ग्रीवावाले तथा उत्तरकी ओर बाल वाले कृष्णमृगचर्म पर उत्तरकी ओर चुपचाप बिना मन्त्र पढ़े ही रख दी जाती है ।[८] प्रवर्ग्य पात्रोंके लिए तीन बार तो समन्त्रक ही मिट्टी ग्रहण की जाती है, चौथी बार उतनी मृत्तिका ग्रहण कर ली जाती है, जितनी मिट्टीकी आवश्यकता होती है, चौथी बार मृत्तिका ग्रहणके लिए मन्त्र नहीं पढ़ा जाता ।[९]

सत्याषाढ़ने कृष्णाजिनपर मृत्तिका डालनेके लिए मन्त्रका[१०] उल्लेख किया है ।[११] गोपीनाथने मन्त्रका विनियोग विकल्पके रूपमें मृत्खनन देशके अभिमन्त्रणके

---

१. खदिरौवदुम्बरीं 'वैष्णवीं' वैकंकती वा अभ्रिं व्याममात्रीं वा अरत्निमात्रीं (तैआ० ५.२.६-७)।

२. देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.३)।

३. काश्रौसू० (२६.१.५, शब्रा० १४.१.२.९)।

४. ऋध्यासमद्य (तैआ ४.२.२)।

५. आपश्रौसू० (१५.१.१०), भारश्रौसू० (११.१.१४) ने मन्त्रमें इतना और अधिक अंश बढ़ाया है—'मखस्य शिरः'।

६. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः (तैब्रा० ४.२.२)।

७. भारश्रौसू० (११.१ १०, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ८५०)।

८. काश्रौसू० (२६.१.६, भारश्रौसू० ११.१.१६)।

९. भारश्रौसू० (११.१.१७-१८)।

१०. मखस्य त्वा शीर्ष्णे इति (तैआ० ४.२.१)।

११. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८५०)।

रूपमें भी स्वीकार किया है ।[१] मूल रूपमें उक्त मन्त्र द्यावापृथिवीके अभिमन्त्रण के निमित्त है ।[२]

मृत्खननदेशके प्रति गमन, मृत्तिका-खनन, कृष्णाजिनपर मृत्तिका स्थापन ये तीनों कृत्य सम्पन्न होनेपर कृष्णाजिनके ऊपर ही मृत्पिण्डके उत्तरकी ओर मन्त्रका[३] पाठ करके मौन होकर वल्मीकवपाको[४] रखता है ।[५] अन्य सूत्रग्रन्थोंके अनुसार मन्त्रसे[६] वल्मीकवपाका अभिमन्त्रण करके फिर मन्त्रसे[७] वल्मीकवपा ग्रहण करके कृष्णाजिनपर चार बार वल्मीकवपा स्थापित करता है ।[८]

अब मन्त्रका[९] पाठ करके वराहके द्वारा उखाड़ी गई मृत्तिकाको चुपचाप चर्मपर वल्मीकवपाके उत्तरमें स्थापित करता है ।[१०] कुछ सूत्रग्रन्थोंके अनुसार पहले की ही तरह वराहविहत भी कृष्णाजिनपर चार बार स्थापित की जाती है किन्तु अभिमन्त्रणके लिए मन्त्र[११] का पाठ किया जाता है, अन्य क्रियाएँ पूर्वोक्त मन्त्रोंके ही द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं ।[१२]

---

१. आपश्रौसू० (१५.१.१०, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ८५०)।

२. भारश्रौसू० (११.१.१३), अनेन मन्त्रेण मृत्खनं वा अभिमन्त्रयते (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५१)।

३. देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.४)।

४. उपदीकोमृत्संचयो वल्मीकस्तस्य वपेव वपा (महीधर, पृष्ठसं० ५८६)।

५. काश्रौसू० (२६.१.७, शब्रा० १४.१.२.१०)।

६. देवीर्वम्रीः (तैआ० ४.२.३)।

७. मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (तैआ.४.२.२)।

८. भारश्रौसू० (२६.१.८, शब्रा० १४.१.२.११)।

९. इयत्यग्र आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.५, कासं० ७.१२)।

१०. काश्रौसू (२६.१.८, शब्रा० १४.१.२.११)।

११. इयत्यग्र आसीः (तैआ. ४.२.३)।

१२. भारश्रौसू० (११.२.१, आपश्रौसू० १५.२.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५१)।

मृत्तिकाग्रहण तथा सम्भारोंका स्थापन

दक्षिणकी ओर दाहिने हाथ से तथा अभ्रिकी[१] सहायता से तथा उत्तरकी ओर केवल बाएँ हाथसे मन्त्रके[२] द्वारा मृत्तिका ग्रहण की जाती है ।[३] मृत्तिका ग्रहण करनेसे पूर्व उसे खोदा जाता है, जिसके लिए सूत्रग्रन्थोंने ऋचाका[४] विधान किया है ।[५] मृत्तिका खननसे पूर्व मृत्तिका खनन देशके प्रति प्रस्थान किया जाता है । यह स्थान पूर्वकी ओर होता है, जहाँ जानेके लिए घोड़ेको भी साथमें आगे करके ले जाया जाता है । खननदेशके लिए प्रस्थान करते समय ऋचाका[६] पाठ किया जाता है ।[७]

ग्रहणकी हुई मृत्तिका पूर्वकी ओर ग्रीवावाले तथा उत्तरकी ओर बाल वाले कृष्णमृगचर्म पर उत्तरकी ओर चुपचाप बिना मन्त्र पढ़े ही रख दी जाती है ।[८] प्रवर्ग्य पात्रोंके लिए तीन बार तो समन्त्रक ही मिट्टी ग्रहण की जाती है, चौथी बार उतनी मृत्तिका ग्रहण कर ली जाती है, जितनी मिट्टीकी आवश्यकता होती है, चौथी बार मृत्तिका ग्रहणके लिए मन्त्र नहीं पढ़ा जाता ।[९]

सत्याषाढ़ने कृष्णाजिनपर मृत्तिका डालनेके लिए मन्त्रका[१०] उल्लेख किया है ।[११] गोपीनाथने मन्त्रका विनियोग विकल्पके रूपमें मृत्खनन देशके अभिमन्त्रणके

---

१. खदिरौवदुम्बरीं 'वैष्णवीं' वैकंकती वा अभ्रिं व्याममात्रीं वा अरत्निमात्रीं (तैआ० ५.२.६-७)।

२. देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.३)।

३. काश्रौसू० (२६.१.५, शब्रा० १४.१.२.९)।

४. ऋध्यासमद्य (तैआ ४.२.२)।

५. आपश्रौसू० (१५.१.१०), भारश्रौसू० (११.१.१४) ने मन्त्रमें इतना और अधिक अंश बढ़ाया है—'मखस्य शिरः'।

६. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः (तैब्रा० ४.२.२)।

७. भारश्रौसू० (११.१ १०, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ८५०)।

८. काश्रौसू० (२६.१.६, भारश्रौसू० ११.१.१६)।

९. भारश्रौसू० (११.१.१७-१८)।

१०. मखस्य त्वा शीर्ष्ण इति (तैआ० ४.२.१)।

११. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८५०)।

रूपमें भी स्वीकार किया है ।[१] मूल रूपमें उक्त मन्त्र द्यावापृथिवीके अभिमन्त्रण के निमित्त है ।[२]

मृत्खननदेशके प्रति गमन, मृत्तिका-खनन, कृष्णाजिनपर मृत्तिका स्थापन ये तीनों कृत्य सम्पन्न होनेपर कृष्णाजिनके ऊपर ही मृत्पिण्डके उत्तरकी ओर मन्त्रका[३] पाठ करके मौन होकर वल्मीकवपाको[४] रखता है ।[५] अन्य सूत्रग्रन्थोंके अनुसार मन्त्रसे[६] वल्मीकवपाका अभिमन्त्रण करके फिर मन्त्रसे[७] वल्मीकवपा ग्रहण करके कृष्णाजिनपर चार बार वल्मीकवपा स्थापित करता है ।[८]

अब मन्त्रका[९] पाठ करके वराहके द्वारा उखाड़ी गई मृत्तिकाको चुपचाप चर्मपर वल्मीकवपाके उत्तरमें स्थापित करता है ।[१०] कुछ सूत्रग्रन्थोंके अनुसार पहले की ही तरह वराहविहत भी कृष्णाजिनपर चार बार स्थापित की जाती है किन्तु अभिमन्त्रणके लिए मन्त्र[११] का पाठ किया जाता है, अन्य क्रियाएँ पूर्वोक्त मन्त्रोंके ही द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं ।[१२]

---

१. आपश्रौसू० (१५.१.१०, सत्याश्रौसू० पृष्ठसं० ८५०)।

२. भारश्रौसू० (११.१.१३), अनेन मन्त्रेण मृत्खनं वा अभिमन्त्रयते (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५१)।

३. देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.४)।

४. उपदीकोमृत्संचयो वल्मीकस्तस्य वपेव वपा (महीधर, पृष्ठसं० ५८६)।

५. काश्रौसू० (२६.१.७, शब्रा० १४.१.२.१०)।

६. देवीर्वम्रीः (तैआ० ४.२.३)।

७. मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (तैआ.४.२.२)।

८. भारश्रौसू० (२६.१.८, शब्रा० १४.१.२.११)।

९. इयत्यग्र आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.५, कासं० ७.१२)।

१०. काश्रौसू (२६.१.८, शब्रा० १४.१.२.११)।

११. इयत्यग्र आसीः (तैआ. ४.२.३)।

१२. भारश्रौसू० (११.२.१, आपश्रौसू० १५.२.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५१)।

मृत्तिका, वल्मीकवपा तथा वराहविहतके उत्तर उत्तर स्थापित करनेके पश्चात् मन्त्रका[१] पाठ करके कृष्णाजिनके ऊपर वराहविहतके[२] उत्तरमें पूतीक (रोहिष पुष्प, आदार वृक्ष) को चुपचाप स्थापित करता है ।[३] मन्त्रसे[४] अभिमन्त्रण किया जाता है ।[५]

पूतीककी स्थापना हो चुकनेपर मन्त्रके[६] द्वारा कृष्णाजिनके ऊपर पूतिकके उत्तरमें चुपचाप बकरीका दूध और उसके पश्चात् गवेधुक् तृण रखता है ।[७] गवेधुक् का उल्लेख कात्यायनने ही किया है, भारद्वाज तथा सत्याषाढने उसके स्थानपर अज और कृष्णाजिनके लोमका उल्लेख किया, जिसको मन्त्रके[८] द्वारा मिलाया जाता है ।[९]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णाजिनके लोमप्रान्त (मध्यवर्ती भाग) पर पाँच सम्भार स्थापित किए जाते हैं । एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि कात्यायनके पांच सम्भारोंमें चार सम्भारोंका उल्लेख भारद्वाज तथा आपस्तम्ब और सत्याषाढ़ने किया है, केवल एक सस्भार कात्यायनसे भिन्न है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है । सम्भारोंकी संख्यामें साम्य तो है किन्तु क्रममें भिन्नता है—कात्यायनके अनुसार क्रमशः निम्नांकित सम्भारोंको कृष्णाजिनपर स्थापित किया जाता है-मृत्तिका, वल्मीकवपा, वराहविहत, पूतीक तथा गवेधुक् । भारद्वाज, सत्याषाढ और आपस्तम्बने पाँच सम्भारोंके स्थापित करनेका यह क्रम अपनाया है—मृत्तिका; वराहविहत, वल्मीकवपा, पूतीक, अज-कृष्णाजिन लोम ।

---

१. इन्द्रस्यौज स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.६)।

२. वराहो दंष्ट्र्या यं मृद्विशेषं संपादयति, तन्मृत्स्वरूपं वराहविहतम् (तैआ.४.२ पर सायण भाष्य, पृष्ठसं० २२९)।

३. काश्रौसू० (२६.१.९, शब्रा० १४.१.२.१२)।

४. इन्द्रस्योजोऽसि (तैआ.४.२)।

५. भारश्रौसू० (११.२.५)।

६. मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.६)।

७. काश्रौसू० (२६.१.१०, शब्रा० १४.२.१.१३)।

८. अग्निजा असि प्रजापते रेत (तैआ.४.२)।

९. भारश्रौसू० (११.२.७, आपश्रौसू० १५.२.१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५१-८५२)।

अश्व द्वारा सम्भारोंका अवघ्रापण

पूर्वोक्त पाँचों सम्भारोंको मन्त्रके[१] द्वारा अश्वसे सुंघवाया जाता है ।[२] कात्यायनने उक्त कृत्यका वर्णन नहीं किया है, जबकि सत्याषाढ, भारद्वाज तथा आपस्तम्बमें उक्त कृत्यका उल्लेख है ।

अजादुग्धदोहन

अब मन्त्रके[३] द्वारा उन पाँचों सम्भारोंके ऊपर बकरीका दूध दूहा जाता है ।[४] यह कृत्य अश्व-अवघ्रापणसे पूर्व भी किया जा सकता है ।[५] कात्यायनने इस कृत्यका उल्लेख नहीं किया है । गोपीनाथके अनुसार यह अजा पुंछगला[६] होती है ।[७]

पदार्थोंका स्पर्श

मन्त्रसे[८] सम्भारोंको स्पर्श किया जाता है ।[९]

परिवृत्तकी ओर प्रस्थान

सम्भारोंका स्पर्श हो चुकनेपर अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा और उन्नेता संभार सहित कृष्णाजिनचर्मको हाथसे ग्रहण करके उत्तरकी ओरसे परिवृत्तकी[१०] ऋचाका[११] पाठ करते हुए प्रस्थान करते हैं ।[१२]

---

१. आयुर्धेहि प्राणं धेहि (तैआ. ४.२.३)।

२. सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठ सं० ८५२, भारश्रौसू० ११.२.१०, आपश्रौसू० १५.२.२)।

३. मधु त्वा मधुला करोतु (तैआ० ४.२.३)।

४. भारश्रौसू० (११.२.१०, आपश्रौसू० १५.२.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५२)।

५. आपश्रौसू० (१५.२.३, भारश्रौसू० ११.२.११)।

६. छगलो अजायास्तनन्धयः। स पुमान् यस्याः सा पुंछगला (पृष्ठसं० ८५२)।

७. पुंछगलया अभिदोग्धि (सत्याषाढ़ श्रौसू० पृसं० ८५२)

८. मखाय त्वा (वासं० ३७.६)।

९. काश्रौसू० (२६.१.१२, शब्रा० १४.२.१.१४)।

१०. पंचारत्निमितः समचतुरस्रः प्राग्द्वारः सिकतोपकीर्णः पूर्वमेव कृतः सप्तभूसंस्कार-संस्कृतश्छादितप्रदेशः परिवृत्त उच्यत इति (महीधर, पृष्ठसं० ५८७)।

११. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सुनृता। अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः (वासं० ३७.७, ऋसं० १.४०.३)।

१२. काश्रौसू० (२६.१.१३, शब्रा० १४.२.१.१५)।

परिवृत्तमें खरका निर्माण

परिवृत्तके मध्यमें एक अंगुल ऊँचा तथा अट्ठारह अंगुल चौकोर खरका निर्माण करके तथा वहाँ अधिकद्वय पंचभूसंस्कारकरके सिकता बिछाकर उन संभारोंको स्थापित किया जाता है, जिनको कि कृष्णमृगचर्मके साथ लाया गया है ।[१] इसके पश्चात् अध्वर्यु वल्मीकवपा वराहविहत तथा पूतीकके साथ मृत् पिण्डको मिला देता है ।[२] कतिपय सूत्रोंमें मन्त्रके[३] द्वारा सम्भारमें मदन्ती जलके मिश्रणका विधान किया गया है ।[४] तैत्तिरीय आरण्यक (५.२.३२-३५) ने कुछ ऐसी वस्तुओंके भी नाम गिनाए हैं, जिनको महावीर पात्रकी दृढ़ताके लिए मिलाया जाता है । ये पदार्थ निम्नांकित हैं—घरमें पकानेके लिए काममें आने वाले ग्राम्यपात्रोंके कपाल, अर्म[५] कपाल, शर्करा (क्षुद्र पाषाण), अजलोम, कृष्णाजिनलोम ।

मृत्तिकाग्रहण तथा महावीर आदि पात्रोंका निर्माण

चटाई आदिसे आच्छादित देशमें महावीर बनानेके लिए सर्वप्रथम मन्त्रसे[६] मृत्तिका ग्रहण की जाती है ।[७] महावीरपात्रके लिए उस वेणु (काष्ठ) का प्रयोग किया जाता है, जिसकी सहायतासे कुम्भकार कुम्भका निर्माण करता है । वेणुसे भिन्न दारुका महावीरपात्र बनानेके लिए प्रयोग नहीं किया जाता ।[८] मृत्तिका ग्रहण करके उसको कूटकर मन्त्रसे[९] उसका एक पिण्ड बनाया जाता है ।[१०] अब मन्त्रसे[११]

---

१. शब्रा० (१४.१.२.१६, काश्रौसू० २६.१.१४)।

२. काश्रौसू० (२६.१.१५)। महीधरके अनुसार गवेधुक् तथा अजादुग्ध मृत्तिकामें नहीं मिलाया जाता (पृष्ठसं० ५८७)।

३. मधु त्वा मधुला करोतु (तैआ.४.२.३)।

४. सत्याषाढश्रौसू० (२४.१, भारश्रौसू० ११.२.१४, आपश्रौसू० १५.२.६)।

५. अर्म शब्देन चिरंतने जीर्णग्रामदेशेऽवस्थिता भाण्डांशा उच्यन्ते (तैआ० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २३३)।

६. मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७७)।

७. शब्रा० (१४.१.२.१६)।

८. तैआ० (पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २३३)।

९. मखस्य शिरोऽसि (तैआ.४.२.५)।

१०. भारश्रौसू० (११.२.२२, सत्याषाढश्रौसू० २४.१, आपश्रौसू० १५.२.१४)।

११. यज्ञस्य पदे स्थः (तैआ.४.२.६)।

मृत्पिण्डको दोनों अंगूठोंसे पकड़कर तीन मन्त्रोंसे[१] तीन महावीरोंका[२] निर्माण किया जाता है।[३] इस महावीरमें तीन कक्षाएँ (त्रयुद्धि)[४] होती हैं। विकल्पके रूपमें अपरिमित (पाँच, सात, नौ) कक्षाओंका भी उल्लेख प्राप्त होता है।[५] अब मन्त्रसे[६] महावीरके मध्यप्रदेशमें अथवा बिलके समीपमें रास्ना करता है फिर मन्त्रसे[७] वेणुपर्वके द्वारा बिल बनाया जाता है और उसके पश्चात् मन्त्रके[८] द्वारा बिलके समीप ग्रीवाका निर्माण किया जाता है।[९] इस प्रकार महावीर पात्रोंका निर्माण कर लिये जानेपर उनको मन्त्रके[१०] द्वारा सिकतापर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।[११]

प्रतिष्ठित तीनों महावीरपात्रोंका मन्त्रसे[१२] अवेक्षण किया जाता है।[१३]

---

१. गायत्रेण त्वा छन्दसा करोमि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा करोमि। जागतेन त्वा छन्दसा करोमि (तैआ० ४.२.६)।

२. यत्र घर्मस्तप्यते स महावीरः, मृन्मय ऊर्ध्वमुखपात्रविशेषः (सत्याषाढकी व्याख्या, पृष्ठ सं० ८५४)।

३. भारश्रौसू० (११.२.२४, सत्याषाढ़श्रौसू० ८५४, आपश्रौसू० १५.३.१)।

४. भाण्डस्योपरि भाण्डान्तरप्रक्षेपे यादृश आकारो भवति तादृश आकार उद्धिरित्युच्यते। ऊर्ध्वाधोभावेनावस्थितभाण्डत्रयवत्रिविधा उद्ध्यो यस्य महावीरस्य सोऽयं त्र्युद्धि (तैआ. पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २३६)। उद्धिः उच्छितावयवविशेषः (आपश्रौंसू० १५.२.१४ पर रुद्रदत्तकी टीका)।

५. सत्याषाढ़की प्र० टी० (पृष्ठसं० ८५४)।

६. मखस्य रास्नासि (तैआ० ४.२)।

७. अदितिस्ते बिलं गृह्णातु। पांक्तेन छन्दसा (तैआ० ४.२.६)।

८. परिग्रीवं करोति धृत्यै (तैआ० ५.३.१५)।

९. तैआ० (४.३.६ पर सायणभाष्य, पृष्ठ सं० २३८)।

१०. सूर्यस्य हरसा श्राय (तैआ० ४.३.६)।

११. भारश्रौसू० (११.३.२, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५५)।

१२. मखोऽसि (तैआ० ४.३.६)।

१३. आपश्रौसू० (१५.३.७)। आपश्रौसू० (१५.३.८) के अनुसार इसी प्रकार दूसरे व तीसरे महावीरका ईक्षण किया जाता है। सत्याषाढश्रौसू० (पृष्ठसं० ८५५) के अनुसार ईक्षण नहीं किया जाता अपितु उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रण किया जाता है, साथ ही यह भी विधान किया गया है कि अभिमन्त्रणके लिए मखोऽसि मन्त्रके बदले मखाय त्वा मन्त्रका प्रयोग किया जाय इन दोनों मन्त्रोंके अतिरिक्त तीन और मन्त्रोंका उल्लेख किया गया जिनसे तीनों महावीरोंका अभिमन्त्रण किया जाता है—१. गायत्रेण इति, २. त्रैष्टुभेन इति, ३

महावीर[१] पात्रोंके अतिरिक्त दो पिन्वन[२] पात्र, रौहिण पुरोडाशके लिए वर्तुलाकार दो रौहिण कपाल तथा दो दोहनी बनाई जाती हैं, बड़ी दोहनी अध्वर्युकी और छोटी दोहनी प्रतिप्रस्थाताकी होती है। इसके अतिरिक्त आज्यस्थालीका भी निर्माण किया जाता है।[३] बाकी बची हुई मिट्टी[४] प्रायश्चित्तके लिए सुरक्षित रख ली जाती है।[५]

महावीर संस्कार

बिछाए गए मृगचर्मके लोमप्रान्त (मध्यवर्ती भाग) पर पाँच सम्भारोंके रखने, परिवृत्तमें बने हुए खरपर स्थापित करने तथा वहाँ वेणुपर्वके द्वारा महावीर पात्रोंका निर्माण कर चुकने पर अब महावीरका संस्कार किया जाता है।

गवेधुक् घाससे पात्रको चिकनाना

सर्वप्रथम महावीरपात्रको मन्त्रके[६] द्वारा गवेधुक् घाससे चिकना करके उसे सुकोमल बनाता है।[७] इस कार्यके लिए गवेधुक् घासके अतिरिक्त क्लीतका (यष्टिमधुक) के बीज, बाँसकी खपाची, आज्य, तथा वर और स्त्रीके नये वस्त्रोंका प्रयोग किया जाता है।[८]

जागतेन इति ॥ अन्य पात्रोंका चुपचाप ही अभिमन्त्रण किया जाता है। कात्यायनने न तो देखनेका और न ही अभिमन्त्रणका उल्लेख किया है।

१. महीधर (पृष्ठसं० ५८७) के अनुसार महावीर प्रादेश मात्र ऊँचा, गड्ढे वाला, मेखला से युक्त, बीचमें ऐसा संकुचित जो मुट्ठी में भी आ सके, मेखला से ऊपर तीन अंगुल ऊँचा होता है। सरलावृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि प्रादेशके ऊपरी भाग में तीन अंगुल बचाकर तब उसके नीचे मेखला का निर्माण करना चाहिये क्योंकि मेखला तीन अंगुल ऊपर होती है (पृष्ठसं० ३२४)।

२. दूध दोहनेका पात्र।

३. सत्याषाढश्रौसू० (प्र० टी० पृष्ठसं० ७५६, आपश्रौसू० १५.३.१२)।

४. यही बची हुई मृत्तिका उपशय नामसे कही गई है—(काश्रौसू० २६.१.२२)।

५. शब्रा० (१४.१.२.१८)।

६. मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७८)।

७. काश्रौसू० (२६.१.२३, शब्रा० १४.१.२.१९)।

८. भारश्रौसू० (११.३.९, आपश्रौसू० १५.३.१६)।

महावीर-धूपन

दक्षिणाग्निमें जलती हुई घोड़ेकी लीदमेंसे तीन बारमें सात सात घोड़ेकी लीद लेकर तीन मन्त्रोंसे[१] तीनों महावीरोंको धूपित करता है।[२] इसी प्रकार दोनों पिन्वन तथा दोनों रौहिण कपालोंको भी चिकना करता है तथा बिना मन्त्र पढ़े ही उन्हें धूप देता है।[३] भारद्वाजके अनुसार महावीरको शफ (संडासी) से पकड़कर गार्हपत्यमें प्रक्षिप्त घोड़ेकी लीदसे मन्त्रके[४] द्वारा धूप देता है। इसी प्रकार दोनों महावीरोंको भी धूपित किया जाता है। बिना मन्त्र पढ़े ही पिन्वन और रौहिण कपालोंको भी धूपित किया जाता है। शफसे महावीर पात्रोंको ही धूप देनेके पश्चात् भी पकड़े रक्खा जाता है, न तो उसे हाथसे ग्रहण किया जाता है और न भूमिपर ही गिरने दिया जाता है। अन्य प्रवर्ग्यपात्र शफसे नहीं ग्रहण किये जाते, केवल महावीर पात्रके लिए शफ (संडासी) का प्रयोग किया जाता है।[५]

पात्रोंको गड्ढेमें रखना

गार्हपत्यके सामने एक हाथ चौकोर गड्ढा खोदकर उसमें ईन्धनकी सामग्री भरकर मन्त्रके[६] द्वारा प्रथम महीवीरको, मन्त्रसे[७] दूसरे महावीरको तथा मन्त्र[८] पढ़कर तीसरे महावीरको तथा बिना मन्त्र पढ़े चुपचाप अन्य पिन्वन तथा रौहिणकपालोंको उस गड्ढेमें स्थापित करता है।[९] इन पात्रोंका पकाना है अतः पकानेसे पूर्व इन पात्रोंको गड्ढेमें रखना आवश्यक होता है। सत्याषाढ़ने तीन मन्त्रोंका उल्लेख न करके केवल

---

१. अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः॥ (वासं० ३७.९)।

२. महीधरका भाष्य (पृष्ठसं० ५८७)।

३. शब्रा० (१४.१.२.१९)।

४. वृष्णो अश्वस्य निष्पदिसि (तैआ० ४.३.१)।

५. भारश्रौसू० (११.३.१०, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५६)।

६. अर्चिरसि (तैआ० ४.५.६)।

७. शोचिरसि (तैआ० ४.५.६)।

८. ज्योतिरसि तपोऽसि(तैआ० ४.५.६)।

९. भारश्रौसू० (११.३.१४-१५)।

एक भिन्न मन्त्रका[१] उल्लेख किया है, जिसके द्वारा प्रथम महावीरको गड्ढेमें रक्खा जाता है, अन्य दोनों महावीरपात्र तथा पिन्वन व रौहिणकपाल बिना मन्त्रके ही चुपचाप रक्खे जाते हैं।[२] कात्यायनने उक्त क्रियाका उल्लेख नहीं किया।

महावीरदहन

अब गार्हपत्यके आगे खुदे हुए अवट (गड्ढे) में रक्खे हुए तीनों महावीर पात्रों, दोनों पिन्वनपात्रों तथा रौहिणकपालोंके चारों ओर मन्त्रसे[३] पूर्वकी ओर, दक्षिणकी ओर मन्त्रसे,[४] मन्त्रसे[५] पश्चिमकी ओर तथा मन्त्रसे[६] उत्तरकी ओर आग लगाकर उनको तपाया जाता है।[७] कात्यायनने दक्षिणाग्निके द्वारा तपाये जानेका उल्लेख किया है।[८] पात्रोंके तपते हुए उपचारक्रिया[९] भी की जाती है।

महावीरनिष्कासन

अध्वर्यु पहले बनाए हुए प्रथम महावीर को मन्त्रसे,[१०] दूसरे महावीर पात्रको मन्त्रसे[११] तथा तीसरे महावीरको मन्त्रसे[१२] उस गड्ढेमें से निकालता है, जिसमें वे पकाए गए थे। दोनों पिन्वनों तथा रौहिणकपालको बिना मन्त्रके ही गड्ढेसे निकालता

---

१. देव पुरश्चर सध्यासं त्वा (तैआ० ४.३.३.१०)। आपश्रौसू० (१५.४.१) ने भारद्वाजके ही अनुसार कृत्यका उल्लेख किया है। तैआ० (४.३.१०) में सायणने उक्त मन्त्रका महावीरको गड्ढेमें रखनेमें विनियोग नहीं किया है।

२. सत्याषाढ़श्रौसू० (पृष्ठ सं० ८५७-८५८)।

३. अर्चिषे त्वा (तैआ० ४.३.२)।

४. शोचिषे त्वा (तैआ० ४.३.२)।

५. ज्योतिषे त्वा (तैआ० ४.३.२)।

६. तपसे त्वा (तैआ० ४.३.२)।

७. भारश्रौसू० (११.३.१६, सत्याषाढश्रौसू० २४.१.२०)।

८. काश्रौसू० (२६.१.२६) में उक्त क्रियाके लिए मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे मन्त्रका उल्लेख है, जो कि भारद्वाज द्वारा प्रयुक्त किये गए मन्त्रसे भिन्न है।

९. शकृत्काष्ठप्रक्षेपादिस्तदर्थो व्यापार उपचारः। उत्तरया इति आपस्तम्बः (सत्याषाढ श्रौसू० पर प्र० टी० पृष्ठसं० ८५७)।

१०. ऋजवे त्वा (वासं० ३७.१०)।

११. साधवे त्वा (वासं० ३७.१०)।

१२. सुक्षित्यै त्वा (वासं० ३७.१०)।

है ।[१] उक्त कृत्यके लिए भारद्वाजने भिन्न मन्त्रोंका[२] उल्लेख किया है ।[३] पात्र निकालनेसे पूर्व उनके ऊपरसे धृष्टिके द्वारा मन्त्रसे[४] राख हटाता है ।[५] राख हटानेके पश्चात् महावीरपात्रोंको ग्रहण करके उनको रेतपर स्थापित किया जाता है तथा स्थापित करनेके उपरान्त उनको देखा जाता है, दोनों क्रियाओंके लिए मन्त्रोंका[६] पाठ किया जाता है ।[७] अब प्रदक्षिण क्रमसे मन्त्रके[८] द्वारा उनके चारों ओर बालू डाला जाता है ।[९] मन्त्रके अन्तर्गत 'अमुमामुष्यायण' शब्द आया है, जिसके लिए भाष्यकारोंने विधान किया है कि 'अमुग्गमुष्यायण' के स्थानपर या तो यजमानके गोत्रका अथवा यजमानके पिताका नाम लिया जाना चाहिये ।[१०]

प्रभूत अजादुग्धका सेचन

उद्वपनके अनन्तर इष्टका (इक्षु-पर्ण करीष आदि) द्रव्यों से सुपक्व खण्ड-कृष्णादि दोषसे रहित लोहितवर्ण वाले तप्त महावीरपर मन्त्रसे[११] बकरीका दूध

---

१. काश्रौसू० (२६.१.२७, शब्रा० १४.१.२.२३-२४)।

२. देवस्त्वा सवितौद्वपतु (तैआ० ४.३.२)। इसी मन्त्रसे अन्य दोनों महावीर पात्रोंको निकाला जाता है।

३. भारश्रौसू० (११.४.४, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठ सं० ८५७, आपश्रौसू० १५.४.७)।

४. सिद्धये त्वा (तैआ० ४.३.२)।

५. भारश्रौसू० (११.४.४)।

६. अपद्यमानः पृथिव्यामाशा दिश आपृण (तैआ० ४.३.२)। सूर्यस्य त्वा चक्षुषान्वीक्षे (तैआ० ४.३.२)।

७. भारश्रौस० (११.४.५-६, सत्याषाढश्रौसू० २४.१.२२)। कात्यायनने इन क्रियाओंका कोई उल्लेख नहीं किया है।

८. इदमहममुमामुष्यायणं विशा पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन पर्यूहामि (तैआ० ४.३.३)। भारद्वाज (११.४.१०) के अनुसार क्षत्रियके यज्ञमें 'विशा' और वैश्यके यज्ञमें 'पशुभिः' का उच्चारण किया जाता, है। तात्पर्य यह है कि क्षत्रियके यज्ञमें 'पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन' तथा वैश्यके यज्ञमें "विशा ब्रह्मवर्चसेन" इतने मन्त्र भागका परित्याग कर दिया जाता है (तैआ० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० २४२)।

९. भारश्रौसू० (११.४.९, आपश्रौसू० १५.४.९)।

१०. सत्याषाढश्रौसू० (२४.१.२२ पर प्र० टी० पृष्ठसं० ८५८)।

११. मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे (वासं० ३७.१०)।

छिड़का जाता है ।[१] भारद्वाजने तीन मन्त्रोंका[२] उल्लेख किया है, जिनसे तीनों महावीरोंके ऊपर सेचन किया जाता है, इन मन्त्रोंके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी उल्लेख किया गया है, जिसके लिए निर्देश दिया गया है कि पहले महावीर पात्रपर प्रथम-चतुर्थ-सप्तम मन्त्रसे,[३] द्वितीय महावीरपर द्वितीय-पंचम और अष्टम मन्त्रसे[४] और तृतीय महावीरपर तृतीय-षष्ठ और नवम मन्त्रसे[५] अजा दुग्धका सेचन किया जाय ।[६] विकल्पके रूपमें समस्त मन्त्रोंका विनियोग उक्त कृत्यके लिए किया गया है ।[७] अन्य दोनों पिन्वनों तथा कपालोंपर अमन्त्रक ही सेचनकी क्रियाकी जाती है ।[८]

कृष्णाजिनमें पात्रोंको बाँधना

तीनों महावीरपात्र, पिन्वन और रौहिणकपालोंको कृष्णाजिनमें बाँधकर किसी ऊँचे स्थानपर रख दिया जाता है, रख दिये जानेके पश्चात् मन्त्रका[९] पाठ किया जाता है । रखनेसे पूर्व भी मन्त्रका पाठ किया जा सकता है ।[१०] कात्यायनने उक्त क्रियाका उल्लेख नहीं किया है ।

अब तक मुख्यरूपसे तीन कृत्योंका अनुष्ठान किया गया-प्रवर्ग्य सम्भारोंका सम्भरण, महावीरपात्रोंका निर्माण तथा उनका संस्कार । इतने कृत्योंके अनन्तर मूल रूपमें 'प्रवर्ग्य' का अनुष्ठान किया जाता है । प्रवर्ग्यानुष्ठान प्रारम्भ करनेसे पूर्व प्राग्वंशके सब द्वार बन्द कर दिये जाते हैं । पत्नी प्रवर्ग्यका दर्शन कर पा सकनेमें असमर्थ रहे इस प्रकारसे प्रवर्ग्यस्थानका आच्छादन किया जाता है । उत्तरकी ओर खरको छोड़कर पश्चिमकी ओर होता, आगे अध्वर्यु, दक्षिणकी ओर ब्रह्मा, यजमान

---

१. काश्रौसू० (२६.१.२८, शब्रा० १४.१.२.२८) ।
२. गायत्रेण त्वा छन्दसाच्छृणदिम् ॥ त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाच्छृणदिम् । जागतेन त्वा छन्दसाच्छृणदिम् (तैआ० ४.३.३) ।
३. गायत्रेण त्वा छन्दसाच्छृणदिम् । छृणत्तु त्वा वाक् । छृन्धि वाचम् (तैआ० ४.३.३) ।
४. त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाच्छृणदिम् । छृणत्तु त्वोर्क । छृन्ध्यूर्जम् । (तैआ० ४.३.३) ।
५. जागतेन त्वा छन्दसाच्छृणदिम् । छृणत्तु त्वा हविः । छृन्धे हविः (तैआ० ४.३.३) ।
६. सत्याषाढश्रौसू० (२४.१.२२) ।
७. भारश्रौसू० (११.४.११) ।
८. शब्रा० (१४.१.२.२६) ।
९. देव पुरश्चर सध्यासं त्वा (तैआ० ४.३.३) ।
१०. भारश्रौसू० (११.४.१३.१४, सत्याषाढश्रौसू० २४.१.२२) ।

और प्रस्तोता और उत्तरकी ओर प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र बैठते हैं । यजमान और ऋत्विज सभीका घर्मकी ओर मुख होता है, इसीलिए उक्त नियमसे सभी बैठ जाते हैं । अब मदन्तीका स्पर्श करके शान्तिपाठ[1] करते हैं ।[2]

आतिथ्येष्टिके पश्चात् उपसद्यागसे पूर्व तानूनप्त्र-स्पर्शनादि कृत्य करके जब अध्वर्यु प्रवर्ग्यानुष्ठान करना प्रारम्भ करता है, तब उस समय यागके अयोग्य असंस्कृत पात्रोंके संस्कारार्थ पात्रासादन नामक कृत्य सम्पन्न किया जाता है ।[3]

पात्रासादन

गार्हपत्यके आगे कुशा बिछाकर उसपर पात्रोंको स्थापित किया जाता है । कात्यायनने निम्नांकित पदार्थोंका उल्लेख किया है-उपयमनी,[4] महावीर, परीशास, पिन्वन, रौहिणकपाल, रौहिणहवनी, स्रुचा, स्थूणा,[5] मयूख,[6] धृष्टि,[7] सौ रत्ती चाँदी, सौ रत्ती सोना, शरतृण और बीस शकल, स्रुवा, मुंजमय वेद (कुशमुष्टि), बाहुमात्र परिधि, धवित्रा,[8] गौ और अजाके पैरोंके बाँधनेमें काम आने वाली सन्दान (रज्जु), यजमानके स्कन्धप्रमाण वाली बल्वजमय विवान (रज्जु) से युक्त आसंदी, खरनि-वापार्थ सिकता, अभ्रि स्फ्य, पवित्रछेदन, पवित्रा,[9] अग्निहोत्रहवनी, आज्यस्थाली, प्रभूत-आज्य, शूर्प, पात्री, पिष्ट,[10] उपसर्जनीपात्र, उपशय, अन्य दो महावीर पात्र,

---

१. प्रवर्ग्यके प्रारम्भमें जिस शान्तिपाठका उल्लेख किया गया है, वही शन्तिपाठ इस अवसरपर किया जाता है ।

२. सत्याषाढश्रौसू० (२४.२.३, भारश्रौसू० ११.५.४) ।

३. शब्रा० (१४.१.३.१ पर सायणभाष्य) ।

४. महावीरस्याधः धारणार्था औदुम्बरी द्राघीयसी स्रुक् उपयमनी (सायण) ।

५. गोबन्धनार्था स्थूणा स्तम्भः । भाषायां खंटुवा खुंटा इति (सायण) ।

६. मयूखः अजाबन्धनार्थं स्तम्भः (सायण) । मयूखाः शंकवः, ते च त्रयोदश (प्र० टी० पृष्ठ संख्या, ८६२) ।

७. धृष्टि अंगाराधिवर्तनार्थकाष्ठविशेषः (सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८६२) ।

८. कृष्णाजिनेन कृतानि धवित्राणि व्यजनान्यग्नेरुपवीजनसमर्थानि । तेषां धवित्राणि वैणवा दण्डा बाहुमात्रा बाहुपरिमिता भवन्त्यथवौदुम्बरदण्डा औदुम्बरदण्डानि इति अपरं इति आपस्तम्बः (सत्याषाढपर प्र० टी० पृष्ठसं० ८६३) ।

९. समे अप्रच्छिन्नाग्रे मौंजकृते प्रादेशमात्रे पवित्रे तूष्णीं क्रियेते (सत्याषाढपर प्र० टी०, पृ० संख्या, पृ. ८६४) ।

१०. अफलीकृतानां तुषविमोचनमात्रेणावहतानां तण्डुलानां पिष्टानि (प्र० टी० ८६४) ।

हौतृषदन, मूंज, कूर्च, आदि ।[१] शब्रा० (१४.१.२.१) में दश वस्तुएँ गिनाई गई हैं—उपयमनी एक, महावीर, एक, दो लकड़िया, दो पिन्वन, दो रौहिणकपाल, दो स्रुचि ।

सत्याषाढ़के अनुसार सम्राडासन्दीके[२] आगे राजासन्दी[३] स्थापित की जाती है । कौनसी आसन्दी बड़ी बनाई जाय, कौन सी छोटी, इस विषयमें मतभेद है अर्थात् कोई सी भी बड़ी और कोई सी भी छोटी बनाई जा सकती है ।[४]

सत्याषाढ़ने प्रोक्षणीधानी,[५] व्रस्क,[६] अभिधानी[७] तथा विशाखदामका[८] उल्लेख किया है ।[९] देवयाज्ञिकने घर्मपात्रोंके अतिरिक्त जिन सम्भारोंका उल्लेख किया है, उनमें दो कृष्णाजिनका भी नाम है ।[१०]

प्रैषकथन

पात्रासादनके पश्चात् प्रोक्षणीधानीमें प्रोक्षणीजलको शुद्ध (संस्कृत) करके अध्वर्यु ब्रह्मा, होता, आग्नीध्र और प्रतिप्रस्थाताको प्रैष "ब्रह्मन्प्रवर्ग्येण प्रचरिष्यामः । होतर्घर्ममभिष्टुहि । अग्नीद्रौहिणौ पुरोडाशावधिश्रय । प्रतिप्रस्थातर्विहर । प्रस्तोतः सामानि गाय" करता है ।[११] कात्यायनने संक्षिप्त प्रैषका उल्लेख इस प्रकार

---

१. काश्रौसू० (२६.२.९-२४) ।

२. मंजुमयीभी रज्जुभिः प्रोतां सम्राडासन्दीं कुर्यात् (सत्याषाढश्रौसू० २४.२.४ पर व्याख्या) ।

३. राजासन्द्याः क्रीतः सोमो यस्यामासंद्यां आस्ते सा राजासन्दी (शब्रा० १४.१.३.८ पर सायण भाष्य) ।

४. सत्याषाढश्रौसू० (२४.२.४) की व्याख्या, सायणके अनुसार सम्राडासन्दी राजासन्दीसे ऊँची बनाई जाती है (शब्रा० १४.१.३.८ पर सायणभाष्य) ।

५. प्रोक्षण्यो यस्यामाधीयन्ते सा प्रोक्षणीधानी (सत्याषाढश्रौसू० २४.२.५ पर व्याख्या) ।

६. व्रस्को महावीरग्रहणोपयोगी छिद्रप्रदेश विशेषः (सत्याषाढश्रौसू० २४.२.५ पर व्याख्या) ।

७. अभिधानी धेनुबन्धानार्था रज्जुः ।

८. वत्सादिबन्धनार्थानि द्विशिरस्कानि दामानि विशाखदामानि ।

९. सत्याश्रौसू० (२४.२.५-६) ।

१०. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६५) ।

११. भारश्रौसू० (११.६.१, ऐब्रा० ४.१.१८, सत्याषाढश्रौसू० २४.२.७, आपश्रौसू० १५.६.१) ।

किया है—"ब्रह्मन् प्रचरिष्यामो होतरभिष्टुहि प्रस्तोतः सामानि गाय ।"[१] तैत्तिरीय आरण्यकमें प्रैषमन्त्रमें पाठान्तर भी दिखाया गया है, जो कात्यायन द्वारा प्रोक्त प्रैषसे भी संक्षिप्त है—"ब्रह्मन्प्रचरिष्यामः । होतर्घर्ममभिष्टुहि" ।[२]

महावीरप्रोक्षण

सर्वप्रथम ब्रह्मा मन्त्रका[३] उपांशुस्वरसे तथा ऋचाका[४] उच्चस्वरसे पाठ करता है ।[५]

इसके पश्चात् ब्रह्मासे अनुज्ञा लेकर अपनी हथेली ऊपर करके अध्वर्यु वाक्यत्रयात्मक मन्त्रसे[६] तीनों महावीरोंका प्रोक्षण करता है ।[७] पूर्वकी ओर रक्खे हुए उपयमनी आदि सभी घर्मपात्रोंपर चुपचाप प्रोक्षण किया जाता है ।[८] तैआ० (५.४.३) ने प्रोक्षणके लिए मदन्ती द्रव्यका उल्लेख किया है । तैआ० (५.४.५) के अनुसार यह प्रोक्षण तीन बार किया जाता है ।

स्थूणा-निखनन

घर्मदुघा गौके बन्धनके लिए अध्वर्यु प्राग्वंशके पूर्वी द्वारसे स्थूणा और मयूख ले जाकर प्राग्वंशके दक्षिण भागमें गड्ढा खोदकर स्थूणा गाड़ देता है । यह खूँटा इस प्रकार गाड़ा जाता है, जिससे होताको उस समय दिखाई पड़ता है, जिस समय वह मन्त्रोंका पाठ करता है ।[९]

---

१. काश्रौसू० (२६.२.२५)।

२. तैआ० (४.५.१)।

३. यजुर्युक्तं सामभिराक्तखं त्वा । विश्वैर्देवैरनुमतं मरुद्भिः । दक्षिणाभिः प्रततं पारयिष्णुम् स्तुभो वहन्तु सुमनस्यमानम् । स नो रुचं धेह्यहृणीयमानः । भूर्भुवःस्वः(तैआ० ४.४.१)।

४. ओमिन्द्रवन्तेः प्रचरत (तैआ० ४.४.१)।

५. भारश्रौसू० (११.६.२)।

६. यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे (वासं० ३७.११) यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य हरसे त्वा (तैआ० ४.५.१)।

७. काश्रौसू० (२६.२.२६, शब्रा० १४.१.३.४, भारश्रौसू० ११.६.५)।

८. काश्रौसू० (२६.२.२८)।

९. काश्रौसू० (२६.२.२९, शब्रा० १४.१.३.७)।

भारद्वाजके अनुसार प्रतिप्रस्थाता मेथी, मयूख और तीन विशाख रस्सियाँ लेकर होताके सामनेसे और गार्हपत्यके पीछेसे होते हुए दक्षिण द्वारसे निकल जाता है। तब प्रतिप्रस्थाता दक्षिणद्वारके दक्षिणमें मेथीको ऐसे स्थानपर रखता है, जहाँ से होता उसको देखता है, उसी द्वारके पूर्वकी ओर गौके बछड़ेके लिए खूँटा गाड़ता है तथा दूसरे द्वारके दक्षिणमें बकरीके लिए तथा उत्तरमें भीतरकी ओर बकरीके बच्चेके लिए खूँटी बाँधता है। इन खूँटियोंपर तीन सिरों वाली रस्सियाँ बाँध दी जाती हैं, जो उचित समयपर उन जानवरोंके गलेमें भी बाँध दी जाती हैं।[१]

सम्राडासन्दीकी स्थापना

अब प्रतिप्रस्थाता आहवनीयके बिल्कुल समीपसे पूर्वकी ओर लाकर सोमासन्दीके सामने सम्राडासन्दी उत्तरकी ओर रखता है। उसपर कृष्णाजिन बिछाता है तथा दूसरे व तीसरे महावीरको उसपर रखता है। ये दोनों पात्र प्रयोगमें नहीं लाये जाते। आसन्दीके ऊपर स्थापित उन दोनों महावीरोंके ऊपर वस्त्र ढका भी जा सकता है, नहीं भी। यह सम्राडासन्दी उदुम्बरसे बनी हुई, बाल्वज नामक तृणोंसे बुनी हुई, यजमानके कन्धेके बराबर ऊँची और राजासन्दीसे अधिक उन्नत होती है।[२]

महावीरांजन

होता द्वारा "अंजनन्ति यं प्रथयन्तो" (ऋसं० ५.४३.७) ऋचा पढ़ी जानेपर अध्वर्यु विधिपूर्वक आज्यसंस्कार करके महावीरके बाहर और भीतर भलीप्रकार आज्यका लेपन मन्त्रके[३] साथ करता है।[४]

रजतशतमान रुक्मका प्रक्षेप

गार्हपत्यके उत्तर दिशामें बने हुए बालुके चतुरस्र (चौकोर) खरके ऊपर महावीरके अधोभागमें मन्त्रके[५] साथ सौ रत्तीके रुक्मको[६] स्थापित करता

---

१. भारश्रौसू० (११.६.१०.१४)।

२. काश्रौसू० (२६.२.३२-३६, भारश्रौसू० ११.६.८, शब्रा० १४.१.३.९-११)।

३. देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु (वासं० ३७.११, तैआ० ४.५.१)।

४. भारश्रौसू० (११.७.६, काश्रौसू० २६.२.३८, शब्रा० १४.१.३.१३)।

५. पृथिव्याः संस्पृश (वासं० ३७.११)।

६. रुक्मो नामाऽऽभरणविशेषो वृत्ताकारः (आश्वश्रौसू० ३.४.पर नारायणवृत्ति, पृष्ठसं०

है ।[१] भारद्वाजके अनुसार या तो सौ रत्तीके चाँदीके रुक्मके ऊपर महावीर रक्खा जाता है अथवा महावीर किसी दूसरे को दे दिया जाता है ।[२]

अब प्रस्तोता सामगान करता है ।[३]

घर्मका दर्शन न हो इस हेतु यजमानपत्नी आँख सहित अपने सिरको ढक लेती है ।[४]

महावीरस्थापन

कात्यायनके अनुसार दो गुना शरतृण गार्हपत्यमें प्रदीप्त करके अध्वर्यु खरके चारों ओर प्रज्वलित करता है, इस अवसरपर होता मन्त्रका[५] पाठ करता है ।[६] भारद्वाजने विस्तारपूर्वक उक्त कृत्यका विधान किया है । सर्वप्रथम अध्वर्यु मूंजके दो गुच्छे लेकर अग्निपर उस मूंजके दाहिनी ओरके भागके ऊपरी सिरेको मन्त्रसे,[७] दाहिनी भागके ऊपरी सिरोंसे ही उत्तरी सिरोंके नीचेकें भागको[८] मन्त्रसे, दक्षिणके नीचेके सिरोंको मन्त्रसे,[९] नीचेके ही सिरोंसे उत्तरी भागके ऊपरके सिरोंको मन्त्रसे[१०] जलाता है । अब दोनों मूंजके गुच्छोंको उलटकर मन्त्रसे[११] उन गुच्छोंको रुक्मपर प्रस्थापित करता है, इस अवसरपर दाहिने हाथके पात्रको बाएँ वाले पात्रके ऊपर

---

३७९) सुवर्णरजतो च रुक्मो (बौश्रौसू० ९.५) कण्ठे धृतः सन्नुरसि लम्बमानः। सौवर्ण आभरणविशेषो रुक्म शब्दार्थः(जैमिनीय न्यायमाला विस्तर,५.२.१२,पृष्ठ२८५)। द्वौ रुक्मौ रजतसुवर्णौ। शतमानो भवतः (भारश्रौसू० ११.५.१९-२०)। सुवर्णनिर्मितः फलकाकार आभरणविशेषो रुक्मः(काण्वसंहिता १३.१.१ पर सायण भाष्य)।

१. काश्रौसू० (२६.२.३९,शब्रा० १४.१.३.१४)।
२. भारश्रौसू० (११.७.७)।
३. साकौसं० (आरण्य २.६)। देखिए- श्रौतकोश (पृष्ठसं० ८८)।
४. काश्रौसू० (२६.३.२)।
५. संसीदस्व महा असि (ऋसं० १.३.६.९)।
६. काश्रौसू० (२६.३.३)।
७. अर्चिषे त्वा(तैआ० ४.३.१)।
८. शोचिषे त्वा (तैआ० ४.३.१)।
९. ज्योतिषे त्वा (तैआ० ४.३.१)।
१०. तपसे त्वा (तैआ० ४.३.१)।
११. अर्चिरसि शोचिरसि (तैआ० ४.५.२)।

रख दिया जाता है, अब महावीरपात्रको मन्त्र[१] पढ़कर स्थापित किया जाता है तथा मन्त्र[२] पढ़कर महावीरमें आज्य भरा जाता है। विकल्पके रूपमें आपस्तम्ब (१५.७.५) घी भरनेके स्थानपर आज्यका लेप करनेका विधान करता है। अब यजमान अपने अंगूठे और तर्जनीके बालिश्तको पूर्वकी ओर संकेत करते हुए विभिन्न दिशाओंमें घुमाता है किन्तु महावीरको स्पर्श नहीं करता, इस अवसरपर मन्त्रका[३] पाठ किया जाता है।[४] उक्त मन्त्रका पाठ कात्यायनके अनुसार यजमान उस अवसरपर करता है, जब वह महावीरके ऊपर प्रादेशको धारण करता है।[५] (शब्रा० १४.१.३.१९) में यह भी विधान प्राप्त होता है कि उक्त मन्त्रके पाँच भाग किये जाएँ, जिसमें पहले भागका[६] विनियोग महावीरके समीप प्रादेशको धारण करते समय, दूसरे भागका[७] विनियोग दक्षिण दिशामें प्रादेशको धारण किये हुए, तीसरे भागका विनियोग[८] महावीरके पश्चिमकी ओर यजमानके द्वारा प्रादेशको धारण करते हुए और चौथे भागका[९] पाठ महावीरके उत्तरकी ओर प्रादेश धारण करते हुए यजमानसे कराया जाय। अन्तमें मन्त्रके पाँचवें भागका[१०] पाठ यजमानसे उस अवसरपर कराया जाता है, जब वह ऊर्ध्वदिशामें प्रादेशको धारण करता है।[११]

---

१. संसीदस्व महा असि (तैआ० ४.५.२)।

२. अंजन्ति यं प्रथयन्तः (तैआ० ४.५.२)।

३. अनाधृष्या पुरस्तात्। अग्नेराधिपत्ये। आयुर्मे दाः। पुत्रवती दक्षिणतः। इन्द्रस्याऽऽधिपत्ये प्रजां मे दाः। सुषदा पश्चात्। देवस्य सवितुराधिपत्ये। प्राणं मे दाः। आश्रुतिरुत्तरतः। मित्रावरुणयोराधिपत्ये। श्रोत्रं मे दाः। विधृतिरुपरिष्टात्। बृहस्पतेराधिपत्ये। ब्रह्म मे दाः क्षत्रं मे दाः। तेजो मे धा वर्चो मे धाः। यशो मे धास्तपो मे धाः। मनो मे धाः (तैआ० ४.५.३.४)।

४. भारश्रौसू० (११.७.७-१५ आपश्रौसू० १५.७.६, सत्याषाढश्रौसू० २४.३.२)।

५. काश्रौसू० (२६.३.५)।

६. अनाधृष्टा पुरस्तात् (वासं० ३७.१२)।

७. पुत्रवती दक्षिणतः (वासं० ३७.१२)।

८. सुषदा पश्चात् (वासं० ३७.१२)।

९. आश्रुतिरुत्तरतः (वासं० ३७.१२)।

१०. विधृतिरुपरिष्टात् (वासं० ३७.१२)।

११. काश्रौसू० (२६.३.६)।

पाँचों दिशाओंमें प्रादेशकरणानन्तर महावीरके दक्षिण देशमें भूमिपर यजमान मन्त्रके[१] साथ अपना दाहिना हाथ उत्तान करके रखता है।[२] इसके पश्चात् मन्त्रसे[३] महावीरके उत्तरमें पृथिवीका स्पर्श किया जाता है।[४]

अंगारोंके ऊपर समिधाओंका निक्षेप

सर्वप्रथम मन्त्रके[५] द्वारा धृष्टि उठाई जाती है, फिर मन्त्रके[६] द्वारा महावीरके चारों ओर अंगारे प्रस्थापित किये जाते हैं। इसके पश्चात् विकंकतके बने हुए तेरह शकल चारों ओर लगाए जाते हैं जिसका विधान इस प्रकार किया गया है—सर्वप्रथम दो शकल मन्त्रसे[७] महावीरके दक्षिणसे उत्तरकी ओर, दो शकल मन्त्रसे[८] पूर्व और पश्चिमकी ओर उत्तरकी ओर सिरे करके रखता है। कात्यायनने एक ही मन्त्र[९] दिया है। शेष समिधाएँ चुपचाप दो-दो करके पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण रख दी जाती हैं। तेरहवीं समिधा दक्षिणकी ओर मन्त्रके[१०] द्वारा रक्खी जाती है। कात्यायनके अनुसार कोई मन्त्र नहीं पढ़ा जाता।[११]

महावीरके ऊपर रुक्मका स्थापन

महावीरपात्रके चारों ओर तेरह शकलोंकी स्थापनाके अनन्तर अब मन्त्र[१२] से महावीरके ऊपर सौ रत्तीके रुक्मका स्थापन करता है।[१३] भारद्वाजमें भिन्न मन्त्र[१४]

---

१. मनोरश्वासि (वासं० ३७.१२)। मनोरश्वासि भूरिपुत्राः (तैआ० ४.५.४)।
२. काश्रौसू० (२६.३.८ भारश्रौसू० ११.७.१६)।
३. विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि (वासं० ३७.१२)।
४. काश्रौसू० (२६.३.७, शब्रा० १४.१.३.२४)।
५. तपो अग्ने अन्तरा अमित्रान् (तैआ० ४.५.५)।
६. चितः स्थ परिचितः (तैआ० ४.५.५)।
७. मा असि (तैआ० ४.५.५)।
८. प्रभा असि(तैआ० ४.५.५)।
९. स्वाहा मरुद्भिः परि श्रीयस्व (वासं० ३७.१३)।
१०. अन्तरिक्षस्यान्तर्धिरसि (तैआ० ४.५.६)।
११. काश्रौसू० (२६.३.९)।
१२. दिवः संस्पृशस्पाहि (वासं० ३७.१३)।
१३. काश्रौसू० (२६.३.९, शब्रा० १४.१.२९)।
१४. दिवं तपसस्त्रायस्व (तैआ० ४.५.६)।

उल्लिखित है ।[१] इस अवसरपर प्रस्तोता समागान[२] करता है ।[३]

अग्नि प्रज्वलित करनेके लिए पंखा करना

अध्वर्यु मन्त्रके[४] द्वारा अग्निमें ज्वाला उत्पन्न करनेके लिए तीन धवित्रोंसे[५] हवा करता है । उक्त मन्त्रसे तीन बार हवा कर चुकनेपर अध्वर्यु एक धवित्रा प्रतिप्रस्थाताको और एक धवित्रा आग्नीध्रको सौंपता है । तब तीनों (अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता तथा आग्नीध्र) एक एक धवित्रासे उल्टी प्रदक्षिणा करते हुए हवा करते हैं, यह प्रदक्षिणा तीन बार की जाती है । इसके पश्चात् सीधे क्रमसे तीन बार प्रदक्षिणा करते हुए वे ही तीनों हवा करते हैं । इस प्रकार कुल छह परिक्रमाएँ होती हैं । इसके पश्चात् लौकिक पिष्ट लेकर रौहिणाख्य दो पुरोडाश अग्निपर पकाते हैं ।[६] भारद्वाजके अनुसार धवित्रा ग्रहण करनेके समय मन्त्रका[७] पाठ किया जाता है ।[८]

हवा करनेके पश्चात् तथा रौहिण पुरोडाश पकानेके पश्चात् अध्वर्यु महावीरके पूर्वमें प्रतिप्रस्थाता दक्षिणमें और आग्नीध्र उत्तरमें बैठ जाता है ।[९]

प्रैषकथन

धवित्रोंके द्वारा अग्नि प्रज्वलित किये जाने पर जब होता "अप्नस्वतीमश्विना" (ऋसं० १.११२.२४) ऋचाका पाठ करता है तो उसी समय अध्वर्यु अपने आसनसे उठता हुआ प्रस्तोताके प्रति 'रुचितो घर्म' प्रैष करता है ।[१०] प्रैष करनेसे

---

१. भारश्रौसू० (११८.६)।

२. साकौसं० (१.२.२.१.३)।

३. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ८९)।

४. मधुमधुमधु(वासं० ३७.१३)।

५. कृष्णाजिननिर्मितानि व्यजनानि दंडवंति धवित्राणि उच्यन्ते (शब्रा० पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ४९)।

६. शब्रा० (१४.१.३.३१-३२)।

७. गायत्रमसि ॥ त्रैष्टुभमसि ॥ जागतमसि ॥ (तैआ० ४.५.७)।

८. भारश्रौसू० (११८.८)। तैआ० (४.५.१६) में महावीरके अभिमन्त्रणके निमित्त मन्त्रोंका उल्लेख है, जिसका विनियोग भारद्वाज (११८.७) ने स्पष्ट किया है ।

९. भारश्रौसू० (११८.१२)।

१०. काश्रौसू० (२६.४.११, शब्रा० १४.१.३.३३, भारश्रौसू० ११८.१६)।

पूर्व अध्वर्यु सुवर्णशतमान रुक्मको उस समय स्वीकार करता है, जब महावीरके चारों ओर ज्वाला उत्पन्न हो चुकी होती है ।[१]

घर्म[२] के चमकनेका सम्बन्ध यजमानकी उन्नति-अवन्नतिसे जोड़ा गया है । इस अवसरपर शब्रा० (१४.१.३.३३) में कहा गया है कि यदि घर्म बहुत अधिक लाल हो जाता है तो समझना चाहिये कि यजमानको अतिशय सुकृत् प्राप्त होगा और यदि घर्म बिल्कुल भी नहीं चमकता तो जानना चाहिये कि यजमान अतिशय पापसे ग्रस्त हो जायेगा और यदि घर्म न अधिक चमकता है और न बिल्कुल चमकता है अर्थात् मध्यम स्थितिमें रहता है तो यजमानके विषयमें भी जानना चाहिये कि वह न तो अधिक उन्नति प्राप्त करेगा और अधिक अवन्नति ही प्राप्त करेगा ।

इस अवसरपर प्रस्तोता घर्मतनूसामका[३] गायन करता है ।[४]

सम्राडासन्दीपर धवित्रोंकी स्थापना

अब अध्वर्युको आगे करके प्रस्तोता और आग्नीध्र बिना पंखा झेले बाईं ओर तीन बार घूमते हैं । अध्वर्यु अपना और प्रतिप्रस्थाताका धवित्रा तथा आग्नीध्रका धवित्रा प्रतिप्रस्थाताको देता है, जिन्हें लेकर वह आहवनीयके आगेसे जाकर सम्राडासन्दीपर रखता है ।[५]

अवकाशमन्त्रोंका पाठ

यजमानपत्नीने जो पहले आँख सहित सिरपर वस्त्र लपेट रक्खा था, उसको अध्वर्यु इस अवसरपर हटा देता है ।[६]

---

१. शब्रा० (१४.१.३.३२) ।

२. उबलते हुए दूधमें घी डाल दिया जाता है और पकते पकते जब वह अतिशय रक्तवर्ण होने से देदीप्यमान हो उठता है, वही घर्म कहलाता है (गंगेश्वरानन्दके लेख एवं उपदेश, पृष्ठसं० १३, भूमिका भाग) ।

३. साकौसं० (१६.१.३.४) ।

४. श्रौतकोश (पृष्ठसं० ८९, काश्रौसू० २६.४.१२) ।

५. भारश्रौसू० (११८.१७-२०) ।

६. काश्रौसू० (२६.४.१४) ।

इसके पश्चात् यजमान और प्रस्तोताको छोड़कर शेष अन्य छह[१] ऋत्विज घर्मके देदीप्यमान होनेपर अवकाशसंज्ञक मन्त्रोंका[२] पाठ करते हैं।[३] अध्वर्यु यजमानपत्नीको मन्त्रके[४] के साथ महावीरके दर्शन कराता है।[५] यजमानपत्नीके अतिरिक्त अन्य ऋत्विज और यजमान अपने अपने स्थानपर ही खड़े होकर मन्त्रके[६] साथ महावीरका दर्शन करते हैं।[७] इसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता यजमानपत्नीसे ऋचाओं[८] का पाठ कराता है।[९]

आज्ययुक्त महावीरमें पयःप्रक्षेपण

अब मुख्यरूपसे वह कृत्य किया जाता है, जिसमें आज्यसे युक्त महावीरमें अजा व गौके दूधका आसेचन करना होता है, किन्तु आसेचनके लिए किए गए दोहनसे पूर्व तथा आसेचनके पश्चात् आहुति होनेवाले रौहिणपुरोडाशके होमका उल्लेख शब्रा० ने किया है। सर्वप्रथम दोनों रौहिणपुरोडाशका होम किया जाता है।

प्रैषकथन

अध्वर्यु आग्नीध्रको प्रैष करता है—"अग्नीद्रौहिणौ पुरोडाशावासादय"। तब आग्नीध्र बिना खरौंदी हुई स्रुचियोंपर नीचे आज्य डालकर उसपर पुरोडाश रखकर उन्हें घीसे तर कर देता है। आग्नीध्र एक पुरोडाशको तो लकड़ियोंके घेरेके दक्षिण सिरेपर और दूसरेको उत्तरके सिरेके पास रखता है।[१०]

---

१. होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र ये पाँच ऋत्विज और छठा यजमान।

२. वासं० (३७.१४-२०)।

३. काश्रौसू० (२६.४.१३, शब्रा० १४.१.४.१)।

४. त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून्मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहं सह पत्या भूयासम् (वासं० ३७.२०)।

५. काश्रौसू० (२६.४.१५, शब्रा० १४.१.४.१६)।

६. अपश्यं गोपाम् (तैआ० ४.७.५)।

७. भाश्रौसू० (११.८.२०)।

८. त्वष्टीमती ते सपेय (तैआ० ४.७.५)।

९. भाश्रौसू० (११.८.२१)।

१०. भाश्रौसू० (११.९.१-३)।

रौहिणहोम

अब प्रातःकालीन प्रवर्ग्यमें मन्त्रसे[1] और सायंकालीन प्रवर्ग्यमें मन्त्रसे[2] दोनों रौहिण पुरोडाशकी आहुति दी जाती है ।[3]

रज्वादान तथा गौराह्वान

रौहिणहोमके अनन्तर मन्त्रके[4] द्वारा गौके बन्धन हेतु रज्जुसंदान[5] ग्रहण किया जाता है ।[6] रज्जु ग्रहण करनेके पश्चात् अध्वर्यु गार्हपत्यके समीप ही पश्चिमदेशसे जाता हुआ मन्त्रसे[7] उपांशुपाठ करते हुए गौका आवाहन करता है । इसके पश्चात् लौकिक नामसे उसका आवाहन[8] मन्त्रसे उच्चस्वरमें करता है । सायणने स्पष्ट किया है कि यदि गौका नाम 'गंगा' हो तो अध्वर्युको चाहिये कि वह 'गंगे एहि गंगे एहि गंगे एहि' ऐसा तीन बार कहकर गौका आवाहन करे ।[9]

लाट्यायन श्रौतसूत्र (१.६.२६) के अनुसार इस अवसरपर प्रस्तोता सस्वर धेनुसामका[10] पाठ करता है ।

गौका बन्धन तथा दोहनके लिए वत्सविसर्जन

आई हुई घर्मदुघा गायको मन्त्रसे[11] बाँधा जाता है । इसके पश्चात् रस्सीको

---

१. अहः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा (वासं० ३७.२१)।
२. रात्रिः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा (वासं० ३७.२१)।
३. काश्रौसू० (२६.४.१६,१८,शब्रा० १४.२.१.१)।
४. देवस्य त्वा सवितुः,प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददेऽदित्यै रास्नासि (वासं० ३८.१,तैआ० ४८.१)।
५. रज्जुसन्दानं घर्मधुग्वबन्धनार्था वा पाशवती रज्जुः तस्या एव पश्चात्पादबंधनार्थं संदानम् (कर्क)।
६. काश्रौसू० (२६.५.१,शब्रा० १४.२.१.६,भारश्रौसू० ११.९.४,आपश्रौसू० १५.९.३)।
७. इड एह्यदित एहि सरस्वत्येहि (वासं० ३८.२)।
८. असावेह्यसावेह्यसावेहि (वासं० ३८.२)।
९. शब्रा० (१४.२.१.७ पर सायणभाष्य)।
१०. साकौसं० (१.५.२.४.२,श्रौतकोश,पृष्ठसं० ११९)।
११. अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीषः (वासं० ३८.३)। अदित्या उष्णीषमसि (तैआ० ४८.२)।

खूँटीसे बाँधकर मन्त्र[१] पढ़कर बछड़ेको खोल दिया जाता है ।[२] कात्यायनने बछड़ेके बन्धनका मन्त्र नहीं दिया किन्तु भारद्वाजने खोलनेसे पूर्व जिस प्रकार गायके बन्धनका समन्त्रक उल्लेख किया उसी प्रकार बछड़ेके बन्धनका भी समन्त्रक[३] उल्लेख किया है ।[४] दोहनके लिए जब बछड़ेको खोल दिया जाता है तो उसके पश्चात् मन्त्रसे[५] गायका अभिमन्त्रण किया जाता है ।[६] अब मन्त्रसे[७] बछड़ेको गायके स्तनोंसे छुड़ाकर सामने बाँध देता है ।[८] मन्त्रका[९] पाठ करके अध्वर्यु गायके समीप बैठता है ।

गोदोहन

सर्वप्रथम मन्त्रके[१०] द्वारा गौके चारों स्तनोंका स्पर्श किया जाता है, उसके पश्चात् मन्त्रके[११] द्वारा अध्वर्यु बड़े पात्रमें दूध दूहता है । प्रतिप्रस्थाता अपने छोटे पिन्वनपात्रमें अमन्त्रक दूध दूहता है । अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों दूध आग्नीध्रको सौंपते हैं । दूध सौंपकर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता झटपट पूर्वकी ओर गमन करते हैं ।[१२] कात्यायनके अनुसार गिरते हुए दूधके बिन्दुओंपर मन्त्रके[१३] द्वारा

---

१. पूषासि (वासं० ३८.३) । पूषा त्वोपावसृजतु (तैआ० ४८.२) ।

२. काश्रौसू० (२६.५.१, भारश्रौसू० ११.९.६, शब्रा० १४.२.१.६) ।

३. वायुरस्यैडः (तैआ० ४८.२) ।

४. भारश्रौसू० (११.९.६) ।

५. यस्ते स्तनः शशयः (तैआ० ४८.२) ।

६. भारश्रौसू० (११.९.८) ।

७. घर्माय दीष्व (वासं० ३८.३) । उस्र धर्म शिष (तैआ० ४८.२-३) ।

८. भारश्रौसू० (११.९.९, काश्रौसू० २६.५.४) ।

९. बृहस्पतिस्त्वोपसीदतु (तैआ० ४८.२-३) ।

१०. दानवः स्थ पेरवः (तैआ० ४८.३) ।

११. अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्व (तैआ० ४८.३) । अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व (वासं० ३८.४) ।

१२. भारश्रौसू० (११.९.१०-१२, काश्रौसू० २६.५.५, शब्रा० १४.२.१.११) ।

१३. स्वाहेन्द्रवत्स्वाहेन्द्रवत् (वासं० ३८.४) ।

अभिमन्त्रण किया जाता है तथा दोहनके अनन्तर मन्त्रसे[१] गौके स्तनोंका स्पर्श किया जाता है ।[२]

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि भारद्वाजने दोहनसे पूर्व और कात्यायनने दोहनके पश्चात् गौके स्तनोंके स्पर्शका तथा अभिमन्त्रणका उल्लेख किया है ।

प्रैष तथा प्रतिप्रस्थाता व अध्वर्युका गार्हपत्यकी ओर गमन

सर्वप्रथम अध्वर्यु प्रस्तोताको प्रैष करता है—"पयो गाय ।" तब प्रस्तोता 'पय साम'[३] का गायन करता है । होता द्वारा 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पत' (शांखा० ५.१०.९) कहे जाने पर अध्वर्यु गौके समीपसे उठ खड़ा होता है । जब होता "उप द्रव पयसा गोधुगोषम्" (अथर्वसं० ७.७७.६, आश्वश्रौसू० ४.७.४) ऋचाका पाठ करता है तो अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों गार्हपत्यकी ओर मन्त्रके[४] साथ प्रस्थान करते हैं ।[५] भारद्वाजके अनुसार होता द्वारा उक्त मन्त्र कहे जानेपर आग्नीध्र गौ और बकरीका दूध लाता है ।[६]

परिशासग्रहण

महावीरको पकड़नेके काममें आने वाले दोनों परिशास अध्वर्यु मन्त्र[७] पढ़कर ग्रहण करता है ।[८] भारद्वाजने समन्त्रक[९] उपयमनीका उल्लेख किया जिसे प्रतिप्रस्थाता ग्रहण करता है ।[१०]

---

१. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः (वासं० ३८.५) ।

२. काश्रौसू० (२६.५.६-७, शब्रा० १४.२.१.१४-१५) ।

३. साकौसं० (१.१.१.३.५, श्रौतकोश, पृष्ठसं० १२०) ।

४. उर्वन्तरिक्षमन्वेमि (वासं० ३८.५) ।

५. काश्रौसू० (२६.५.९-११, शब्रा० १४.२.१.१५) ।

६. भारश्रौसू० (११.९.१५) ।

७. गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि (वासं० ३८.६) ।

८. काश्रौसू० (२६.५.१२, शब्रा० १४.२.१.१६) ।

९. जागतमसि (तैआ० ४.८.४) ।

१०. भारश्रौसू० (११.९.१३) ।

इस अवसरपर प्रस्तोता वसिष्ठशफौ[१] सामका गायन करता है ।[२]

महावीरमें अजापयस तथा गोदुग्धका आसेचन

जो दो परिशास ग्रहण किये गए थे, उन दोनोंसे महावीरको मन्त्रसे[३] पकड़ा जाता है, इसके पश्चात् मुंज-तृणसे निर्मित वेदके द्वारा महावीरके अधोभागका सम्मार्जन करके उपयमनी स्रुचासे उसको मन्त्रके[४] साथ ग्रहण किया जाता है । इसके पश्चात् प्रतिप्रस्थाता चुपचाप तप्त महावीरमें अजाक्षीरका आसेचन करता है । अब महावीरके शान्त होनेपर अध्वर्यु मन्त्रसे[५] महावीरमें गोदुग्धका आसेचन करता है ।[६]

भारद्वाजने पहले मन्त्रसे[७] महावीरमें गोदुग्धके आसेचनका तथा बादमें मन्त्रसे[८] बकरीके दूधके आसेचनका विधान किया है ।[९] कात्यायनके अनुसार तो पहले बकरीका दूध अमन्त्रक ही महावीरमें डाला जाता है और मन्त्र पढ़कर बादमें गौका दूध डाला जाता है ।

प्रवर्ग्यद्रव्यकी आहवनीयमें आहुति

रौहिण होम, गोदोहन, गार्हपत्यकी ओर प्रस्थान, शफसे महावीरका ग्रहण, सम्मार्जन तथा तप्त महावीरमें अजापयस तथा गोदुग्धका आसेचन इत्यादि कृत्योंके बाद अब प्रवर्ग्यद्रव्यकी आहुति आहवनीयमें दी जानी है, इसके लिए सबसे पहले होता प्रैष करता है और तब वायुके नामोंका उच्चारण किया जाता है ।

---

१. साकौसं० (आरण्य २.५) । श्रौतकोश (पृष्ठसं० १२१) ।

२. लाट्यायन श्रौतसूत्र (१.६.३२) । काश्रौसू० (१६.५.१३) ।

३. द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामि (वासं० ३८.६ तैआ० ४८.४) ।

४. अन्तरिक्षेणोप यच्छामि (वासं० ३८.६) । अन्तरिक्षेण त्वोपयच्छामि (तैआ० ४८.५) ।

५. इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट् । स्वाहा सूर्यस्य रश्मये (वासं० ३८.६ तैआ.४८.४) ।

६. काश्रौसू० (२६.५.५-१६, शब्रा० १४.२.१.११-२२, भारश्रौसू० ११.१०.१-२) ।

७. इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य (तैआ० ४८.४) ।

८. मधुहविरसि (तैआ० ४८.४) ।

९. भारश्रौसू० (११.९.१७-१९) ।

प्रैष तथा वातसंज्ञक मन्त्रोंका जप

कात्यायनके अनुसार जिस कालमें होता "प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः" ऋचाका[१] पाठ करता है, उसी कालमें गार्हपत्यसे आहवनीयकी ओर पूर्वकी ओर मुख करके अध्वर्यु गमन करते हुए वात-नामोंका जप[२] करता है ।[३] भारद्वाजके अनुसार पाँच मन्त्र बिना साँस लिए और पाँच मन्त्र भीतर साँस लेकर अध्वर्यु पढ़ता है ।[४] इस प्रकार कुल दस मन्त्रोंका[५] पाठ करता है ।[६] आपश्रौसू० (१५.१०.९) पर रुद्रदत्तने टिप्पणीकी है कि कुल छह मन्त्रोंमें अध्वर्युको या तो पाँचवा मन्त्र पढ़ना चाहिये अथवा केवल छठा मन्त्र पढ़ना चाहिये ।

घर्मकी आहुति

वातके बारह नामोंका जप करके अध्वर्यु अब स्रुक् में स्थित आज्यका उपयमनी स्रुचाके द्वारा मन्त्रसे[७] घर्मका सेचन करता है । इसके पश्चात् मन्त्रका[८] पाठ करके अध्वर्यु प्रथम श्रौषट् करके 'घर्मस्य यज' इस प्रैषको कहता है । प्रैषके अनन्तर प्रथम वषट्कारपर मन्त्रसे[९] आहवनीयमें घर्मकी आहुति दी जाती है ।[१०]

---

१. शांखायनश्रौतसूत्र (५.१०.१४, वासं० ३७.७) ।

२. वासं० (३८.७-९) ।

३. काश्रौसू० (२६.५.१७, शब्रा० १४.२.२.१-१२) ।

४. भारश्रौसू० (११.१०.४-५, तैआ० ५.७.३३) ।

५. तैआ० (४.९.१-२) ।

६. तैआ० (५.७.४०) ।

७. स्वाहा घर्माय (वासं० ३८.९) ।

८. स्वाहा घर्मः पित्रे (वासं० ३८.९) ।

९. विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह । स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना (वासं० ३८.१०) । तैआ० (४.९.२) ने उक्त मन्त्रका विनियोग ब्रह्माको तथा होताको देखनेके निमित्त किया है ।

१०. काश्रौसू० (२६.६.१-३) ।

ऐब्रा० (१.४.२२) के अनुसार प्रथम वषट्कारसे पूर्व होता द्वारा दो याज्याओं[१] का पाठ किया जाता है। अब मन्त्रपाठके[२] पश्चात् अनुवषट्कार किया जाता है, जिसके पश्चात् मन्त्रसे[३] दूसरी आहुति अनुवषट्पर दी जाती है।[४] तैआ० (४.९.२-३) में घर्मकी आहुतिके भिन्न मन्त्र[५] उल्लिखित हैं। शब्रा० (१४.२.२.१७) के अनुसार अनुवषट्कार पर दी जाने वाली आहुतिसे पूर्व अध्वर्यु पहली बार मन्त्रसे[६] और दो बार चुपचाप महावीरको ऊपर कम्पित करता है।

आहुतिके अवसरपर याज्या-पुरोनुवाक्याका तो पाठ किया जाता है किन्तु शब्रा० (१४.२.२.१५) ने अनुवाक्या करनेका निषेध किया है।

घर्मकी पहली आहुति इन्द्र देवताकी तथा दूसरी आहुति स्विष्टकृत् देवताकी होती है।[७]

घर्मका अभिमन्त्रण

मन्त्र पढ़कर[८] ब्रह्मा, मन्त्रपढ़कर[९] यजमान तथा मन्त्रपढ़कर[१०] सभी अन्य ऋत्विज घर्मका अभिमन्त्रण करते हैं।[११]

---

१. तप्तो वां घर्मो नक्षति स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरति प्रयस्वान्। मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः (आश्वश्रौसू० ४.७.४)। उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः (ऋसं० १.४६.१५)।

२. अग्ने वीहि इति।

३. स्वाहाऽग्नये (वासं० ३८.११)। भारश्रौसू० (११.१०.११) ने निम्नांकित मन्त्रका उल्लेख किया है-'स्वाहा इन्द्रा वट् (तैआ० ४.९.३)।

४. काश्रौसू० २६.६.५, शब्रा० १४.२.२.१८)।

५. अश्विनौ घर्मम् पातं हार्दिवानम्॥ स्वाहेन्द्रा वट्॥ इति

६. दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः (वासं० ३८.११)।

७. तैआ० (४.९.३) पर सायण व्याख्या (पृष्ठसं० २९१)।

८. अश्विना घर्मं पातं हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् (वासं० ३८.१२)।

९. अपातामश्विना घर्ममनु द्यावापृथिवी अमंसाताम्। इहैव रातयः सन्तु (वासं० ३८.१३)।

१०. इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व (वासं० ३८.१४)।

११. काश्रौसू० (२६.६.६-८, शब्रा० १४.४.२.१९-२८)।

महावीरकी स्थापना

ब्रह्मा, यजमान और अन्योंके द्वारा पिन्वन (अतितप्त घर्म) का अभिमन्त्रण किये जा चुकने पर अध्वर्यु ईशान दिशामें अर्थात् आहवनीयके दक्षिणदेशसे वेदीको पार करके वेदीके उत्तरकी ओर मन्त्रके[१] द्वारा प्रस्थान करके मन्त्रके[२] साथ आहवनीयके उत्तरदिशामें बिछी हुई बालूके ऊपर खरपर महावीरको स्थापित करता है ।[३] भारद्वाजने भिन्न मन्त्रका[४] उल्लेख किया है । इस अवसरपर यह भी संकेत दिया गया है कि यदि क्षत्रियका यज्ञ हो तो निम्नांकित मन्त्र[५] और यदि वैश्य का यज्ञ हो तो निम्नांकित मन्त्र[६] पढ़ा जाना चाहिए । इन मन्त्रोंके साथ "नेत् त्वा वातः स्कन्दयात (तैआ० ४.१०.२) इतना मन्त्रांश और जोड़ा जाता है । अभिचारके सम्बन्धमें विधान किया गया है कि यदि अध्वर्यु अभिचार करना चाहता हो तो उसको निम्नांकित मन्त्रका[७]" पाठ करके उस का नाम लेना चाहिये, जो उसका शत्रु हो ।[८]

कात्यायनने उन बहुत सी क्रियाओंका उल्लेख नहीं किया है, जिनका विधान भारद्वाजने किया है, जो महावीर-स्थापनके पूर्वकी जाती हैं । भारद्वाजने महावीर स्थापनके पूर्व निम्नांकित क्रियाओंका उल्लेख इस प्रकार किया है—सर्वप्रथम आहवनीयपर महावीरको थामे हुए ही अध्वर्यु उसमें गरम दही भरता है। आपश्रौसू० (१५.१०.१२) के अनुसार अध्वर्यु तो महावीरको पकड़े रहता है, गरम दही प्रतिप्रस्थाता ही भरता है । उफनते हुए महावीरपर अध्वर्यु मन्त्र[९] का पाठ करता है । सब दिशाओंमें आहवनीय अग्निपर महावीरको उफनने दिया जाता है । प्रत्येक दिशाके लिए भिन्न भिन्न मन्त्र हैं—पूर्व दिशाके लिए निम्नांकित मन्त्र[१०] तथा

---

१. धर्मासि सुधर्मा (वासं० ३८.१४)।
२. अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय (वासं० ३८.१४)।
३. काश्रौसू० (२६.६.९-१०, शब्रा० १४.२.२.२९-३०)।
४. धर्मासि सुधर्मा मे न्यस्मे ब्रह्माणि धारय (तैआ० ४.१०.२)।
५. क्षत्राणि धारय (तैआ० ४.१०.२)।
६. विशं धारय (तैआ० ४.१०.२)।
७. अमुष्य त्वा प्राणं सादयामि अमुना सह निरर्थं गच्छ इति ।
८. भारश्रौसू० (११.१०.१२)।
९. इष पीपिह्यूर्जे पीपिहि (तैआ० ४.१०.१)
१०. त्विष्यै त्वा (तैआ० ४.१०.२)।

दक्षिणके लिए निम्नांकित मन्त्र,[१] निम्नांकित मन्त्र[२] पश्चिम दिशाके लिए तथा यह मन्त्र[३] उत्तर दिशाके लिए। इसके पश्चात् गरम दहीका शेष भाग उपयमनीमें डाल दिया जाता है। गरम दही सहित उपयमनी वेदीमें रख दी जाती है।[४] इतनी क्रियाएँ भारद्वाजने महावीर स्थापनके पूर्व लिखी हैं, जिनका उल्लेख आपस्तम्बने तो किया किन्तु कात्यायनने नहीं किया है।

द्वितीय रौहिणहोम

मन्त्रके[५] द्वारा परिशाससे घर्मको उठाकर उपयमनी, स्रुच् तथा पुष्करके ऊपर उस घर्मको अधोमुख कर दिया जानेपर रौहिणकी प्रातःकाल इस मन्त्रसे[६] और सायंकाल निम्नांकित मन्त्रसे[७] आहुति दी जाती है, जो आहुति प्रवृंजनकालमें दी गई थी।[८]

शकलहोम

यह कृत्य महावीरस्थापनाके पश्चात् तथा द्वितीय रौहिण पुरोडाशाहुतिके पूर्व किया जाता है। घर्ममें स्थित आज्यमें विकंकतके बने हुए शकलोंके अग्रभागको भिगोकर उन शकलोंसे घर्मस्थित आज्यकी प्रथम आहुति देता है। वैकंकत शकल बीचकी परिधिके सहारे खड़ा करता है। इस प्रकार तीन शकलोंसे तीन आहुति तीन मन्त्रोंके[९] द्वारा दी जाती है। चौथे शकलको केवल घर्ममें भिगो तो लिया जाता है किन्तु उसकी आहुति नहीं दी जाती अपितु बिना आहुति दिए चौथे शकलको अध्वर्यु उत्तर दिशाकी ओर देखते हुए वेदीपर बिछी हुई कुशाके दक्षिणार्द्धमें छिपा देता है

---

१. द्युम्नाय त्वा (तैआ० ४.१०.२)।

२. इन्द्रियाय त्वा (तैआ० ४.१०.२)।

३. भूत्यै त्वा (तैआ० ४.१०.२)।

४. भारश्रौसू० (११.१०.१३-१५)।

५. स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः (वासं० ३८.१६)।

६. अहः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा (वासं० ३८.१६)।

७. रात्रिः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा (वासं० ३८.१७)।

८. काश्रौसू० (२६.६.१६-१८, शब्रा० १४.२.२.४०-४१)। इसी अवसरपर उन पाँचों शकलोंकी आहुति दे दी जाती है, जो मध्य परिधिके सहारे खड़े किये गए थे।

९. स्वाहा पूष्णे शरसे मन्त्रसे पहली, स्वाहा ग्रावभ्यः के द्वारा दूसरी और स्वाहा प्रतिरवेभ्यः मन्त्रसे तीसरी (वासं० ३८.१५)।

तथा मन्त्रका[१] पाठ करता है। अब पहले की ही तरह पाँचवी और छठी आहुति दो मन्त्रोंसे[२] दी जाती है। दोनों शकलोंको पहलेही की तरह परिधिके सहारे खड़ा कर दिया जाता है। सातवाँ शकल भी केवल घर्म स्थित आज्यसे लिप्त तो किया जाता है किन्तु उसकी आहुति नहीं दी जाती, अपितु बिना आहुति दिए अध्वर्यु दक्षिण दिशाकी ओर देखता हुआ मन्त्रसे[३] उसे प्रतिप्रस्थाता को देता है, जिसे वह प्राग्वंशगृहके उत्तरमें फेंक देता है।[४] भारद्वाजने सात शकलोंके स्थानपर छह शकलोंका उल्लेख किया, जिसमें पाँच शकलोंमें गरम दहीका लेप करके उनकी आहुति दी जाती है और छठा शकल प्राग्वंशगृहके उत्तरमें प्रतिप्रस्थाता द्वारा फेंक दिया जाता है,[५] किन्तु जैसा कि कात्यायनने उस अवसरपर अध्वर्युके लिए यह विधान किया था कि दक्षिणकी ओर देखते हुए सातवाँ शकल प्रतिप्रस्थाता को दिया जाना चाहिये, वह विधान भारद्वाजने नहीं किया है। यहाँ तो अन्तिम शकल केवल छठा है, जिसका प्रक्षेप किया जाता है। इसी अवसरपर तैआ० (५.८.३६) ने शकलपरित्यागकालमें उसके दर्शनका निषेध किया है। परित्यागके अनन्तर अध्वर्यु जलका स्पर्श करता है (तैआ० ५.८.३५)।

यद्यपि एक सूत्रके द्वारा भारद्वाजने विकल्पके रूपमें इसका अनुष्ठान रौहिणहोमके पश्चात् किया जाना बताया है[६] तथापि उक्त कृत्य रौहिण होमके पूर्व ही किया जाता है।[७]

अग्निहोत्रहोम

प्रथम प्रवर्ग्यमें होने वाले अग्निहोत्र होमके निमित्त सिद्धान्त रूपमें यह विधान निश्चित किया गया कि 'भूः स्वाहा' (तैआ० ४.१०.५) मन्त्रसे अग्निहोत्र

---

१. स्वाहा पितृभ्यऊर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः(वासं० ३८.१५)।

२. स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम् मन्त्रसे पाँचवी और स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः मन्त्रसे छठीआहुति दी जाती है (वासं० ३८.१५)।

३. स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये (वासं० ३८.१६)।

४. काश्रौसू० (२६.६.११-१४, शब्रा० १४.२.२.३१-३९)।

५. भारश्रौसू० (११.११.६-९)।

६. भारश्रौसू० (११.११.९)।

७. सत्याषाढश्रौसू० (२५.५.१, वैखानसश्रौसू० १३.१३)।

होम किया जाय, सायं अग्निहोत्र होम निम्नांकित मन्त्रसे[1] और अगले दिन प्रातः अग्निहोत्रहोम निम्नांकित मन्त्रसे[2] किया जाय ।[3]

घर्मभक्षणकृत्य

महीधरके अनुसार होता-अध्वर्यु-ब्रह्मा-प्रस्तोता-प्रतिप्रस्थाता-आगीध्र और यजमान घर्मका भक्षण करते हैं ।[4] भारद्वाज (११.११.१२) के अनुसार पहले होता, फिर क्रमशः अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र और अन्तमें यजमान घर्मका भक्षण करता है । यजमान प्रत्यक्षतः घर्मका भक्षण मन्त्रके[5] द्वारा करता है, अन्य सब मन्त्रके[6] द्वारा या तो घर्मका भक्षण करते हैं अथवा उसका प्राणभक्षण करते हैं ।[7]

प्रक्षालनकृत्य

जिस मार्जालीयपर सोमलिप्त ग्रहचमसादि पात्रोंका प्रक्षालन किया जाता है, उसी मार्जालीयपर उपयमनी आदि पात्रोंका प्रक्षालन घर्मभक्षण कृत्यके पश्चात् सभी प्रवर्ग्यकर्ता करते हैं ।[8] भारद्वाजके अनुसार उपयमनी आदि घर्मके पात्रोंका प्रक्षालन करके उनको वेदीपर रखा जाता है । इसके पश्चात् अध्वर्यु सुवर्णशतमान और रजतशतमान रुक्म उपमयमनीके भीतर रखकर उसमें मदन्तीका जल डालता है । इसी अवसरपर तैत्तिरीय आरण्यके चतुर्थ प्रपाठकके बयालीसवें अनुवाकका पाठ किया जाता है ।[9] आपश्रौसू० (१५.१२.३) के अनुसार उक्त अनुवाकका पाठ गौको खोलनेके पश्चात् किया जाता है ।

---

१. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः (तैआ० ४.१०.५) ।

२. सूर्योर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा (तैआ० ४.१०.५) ।

३. तैआ० (४.१०.५ पर सायणभाष्य, पृष्ठसं० ३००) ।

४. वासं० (३८.१६ पर महीधरभाष्य) ।

५. मधु हुतमिन्द्रतमे अग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः (वासं० ३८.१६) ।

६. हुतं हविर्मधु हविः (तैआ० ४.१०.४) ।

७. भारश्रौसू० (११.११.१२-१४, काश्रौसू० २६.६.१९)

८. शब्रा० (१४.२.२.४३, काश्रौसू० २६.६.२०) ।

९. भारश्रौसू० (११.११.१५)

प्रवर्ग्योत्सादन

अन्तिम कृत्य

देवयाज्ञिकके अनुसार अन्तमें "सर्वं साद्यमानायानुब्रूहि" अथवा "सर्वं साद्यमानेभ्योऽनुब्रूहि" प्रैष होताके प्रति किया जाता है। इसी अवसरपर 'सूयवसाद् भगवती' कहकर गायको तृणादिक दिया जाता है। इसके पश्चात् मन्त्रसे[1] महावीर को आसन्दीपर स्थापित किया जाता है, शेष घर्मसे सम्बद्ध सभी पात्र अमन्त्रक ही आसन्दीपर स्थापित किये जाते हैं। इसके पश्चात् 'ऋचं वाचं' (वासं० ३६ वे अध्याय) का पाठ किया जाता है। परिवृत्तके जो द्वार बन्द किये गए थे, उनको खोल दिया जाता है।[2]

इस प्रकार द्वार खोलनेके साथ प्रवर्ग्य कृत्यकी समाप्ति हो जाती है!

प्रवर्ग्योत्सादन

प्रवर्ग्यानुष्ठानके अन्तर्गत पूर्वोक्त जितने भी कृत्योंका विस्तारपूर्वक विवरण दिया गया, वे सब उपसदिष्टिसे पूर्व किये जाते हैं। उपसदिष्टिके उपरान्त उपर्युक्त 'प्रवर्ग्योत्सादन' नामक कृत्य सम्पन्न किया जाता है। इसीको शब्रा० ने घर्मोद्वासन तथा सत्याषाढने प्रवर्ग्योद्वासन नामसे उल्लिखित किया है।

प्रवर्ग्योत्सादन कृत्यका काल

अग्निष्टोम प्रभृति एकाह संज्ञक यागोंमें तीन उपसदका अनुष्ठान किया जाता है, इसीलिए अग्निष्टोममें तीन रात सायं प्रातः प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाता है, इसी प्रकार जिन साग्निचिति आदि यागोंमें छह उपसद होते हैं, वहाँ प्रवर्ग्यका अनुष्ठान भी छह रात सायं और प्रातः किया जाता है तथा जिन अहीन संज्ञक यागोंमें बारह उपद होते हैं, वहाँ इसी प्रकार बारह रात प्रातः और सायं प्रवर्ग्यका अनुष्ठान किया जाता है। अतः तीन, छह या बारह उपसद-प्रवर्ग्यका अनुष्ठान होनेपर 'प्रवर्ग्योत्सादन'[3] नामक कृत्य सम्पन्न किया जाता है।[4]

---

१. अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीं संसीदस्व महाँ असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् (वासं० ३८.१७)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २७१)।

३. प्रवर्ग्यशब्देन तत्सम्बन्धीनि पात्राणि लक्ष्यन्ते। तेषां तत्स्थानात् निष्काशनं प्रवर्ग्योत्सादनम् (सरलावृत्ति, पृष्ठसं० २८८)।

४. शब्रा० (१४.३.१.१ पर सायणभाष्य)।

घर्मोपयुक्त द्रव्योंका एकीकरण

सर्वप्रथम अन्तःपात्यके समीप वेदीके मध्यमें सम्पूर्ण घर्मजात पात्रोंको एकत्र करके उच्छिष्ट खरको भी शालाके मध्यसे उठाकर दक्षिण द्वारसे निकालकर वहीं स्थापित करते हैं, जहाँ घर्मसे सम्बद्ध पात्र एकत्र किये हुए रहते हैं। सभी ऋत्विज यहीं आ जाते हैं।[१]

आहवनीयमें तीन आहुतियाँ

सर्वप्रथम आग्नीध्र आहवनीयदेशमें जाकर तीन शलाका (तीन दर्भशलाका मुष्टि) धारण करता है, तब उन तीन शलाकामें एक शलाका (दर्भशलाका मुष्टि) आहवनीयमें प्रदीप्त करके उसको यजमानके मुखके बराबर ऊँचाईमें धारण करता हुआ मन्त्रसे[२] पहली आहुति देता है। इसके पश्चात् द्वितीय दर्भशलाका मुष्टिको आहवनीयमें प्रदीप्त करके उसको नाभिप्रमाणमें धारण करते हुए तद्वत अग्निमें मन्त्रसे[३] दूसरी आहुति देता है। दूसरी आहुति देनेके पश्चात् तृतीय शालाका को अग्निमें प्रक्षिप्त करके स्वयं बैठा हुआ मन्त्रसे[४] तीसरी आहुति देता है।[५] कात्यायनके अनुसार तीसरी आहुतिमें तृतीय दर्भशलाका मुष्टिको अग्निमें प्रज्वलित करके जानुप्रमाणमें धारण करके आहुति दी जाती है।[६] माध्यन्दिन संहितामें जो मन्त्र पाठ है, वह तैत्तिरीय आरण्यकमें दिये हुए मन्त्रपाठसे भिन्न है। सरलावृत्तिमें स्पष्ट किया गया है कि आग्नीध्र द्वारा धारण किये गए तीनों शालाकाओंके ऊपर अध्वर्यु एक बारमें आज्य ग्रहण करके तृतीयांश तृतीयांश आज्य तीन बार डालता है। ये

---

१. शब्रा० (१४.३.१.१, काश्रौसू० २६.७.२)।

२. या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्यां हविर्धाने सा त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा (वासं० ३८.१८)। घर्म या ते दिवि शुक्। या गायत्रे छन्दसि या ब्राह्मणे या हविर्द्धाने। तां त एतेनावयजे स्वाहा (तैआ० ४.११.१)।

३. या ते घर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा (वासं० ३८.१८)। घर्म या तेऽन्तरिक्षे शुक्। या त्रैष्टुभे छन्दसि। या राजन्ये याऽऽग्नीध्रे। तां त एतेनावयजे स्वाहा (तैआ० ४.११.१)।

४. या ते घर्म पृथिव्यां शुग्या जगत्यां सदस्या। सा त आ प्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा (वासं० ३८.१८)।

५. शब्रा० (१४.३.१.२-८)।

६. काश्रौसू० (२६.७.३)।

शालाकाएँ आहवनीयमें प्रदीप्त कर ली जाती हैं, उन्हींके ऊपर अध्वर्यु आहुति देता है । आहुति देनेके अनन्तर तीनों दर्भशलाकामुष्टियाँ अग्निमें फेंक दी जाती हैं ।[१]

घर्मोद्वासनदेशके प्रति गमन

अन्तर्वेदिपर घर्मसे सम्बद्ध सभी पात्र एकत्र करके तथा आहवनीयमें तीन आहुति देकर अब मन्त्रके[२] साथ अध्वर्यु पूर्वकी ओर मुख करके घर्मोद्वासनदेशके प्रति गमन करता है ।[३]

भारद्वाजके अनुसार प्रतिप्रस्थाता मन्त्रसे[४] यजमानपत्नीको लाता है । मन्त्रसे[५] अब अन्य सभी गमन करते हैं । साथमें मेथी, मयूख और खरको ले चलते हैं । उच्छिष्ट खर दक्षिणकी ओर ले जाया जाता है, सम्राडासन्दीको इस प्रकार ले जाया जाता है कि उसके पिछले पैर वेदीमें और सामनेके पैर वेदीके बाहर रहते हैं ।[६]

प्रैष

अवभृथ प्रसंगमें जिस प्रकार प्रस्तोताको प्रैष किया गया था, उसी प्रकार इस प्रसंगमें भी प्रस्तोताको "साम गाय" प्रैष किया जाता है ।[७] शब्रा० (१४.३.१.१०) ने "साम ब्रूहि" प्रैषका यह कहकर निषेध किया कि ऋग्वेदके मन्त्रोंकी तरह सामका पाठ नहीं किया जाता, इसलिए "साम गाय" यही प्रैष किया जाना चाहिये क्योंकि सामका गायन किया जाता है ।

अब प्रस्तोता प्रवर्ग्यसाम[८] तीन स्थलोंपर गाता है—अन्तःपात्य देशमें, मध्यमार्गमें, तथा उत्सादन देशमें ।[९] शब्रा० (१४.३.१.१२) के अनुसार प्रस्तोता

---

१. सरलावृत्ति (पृष्ठसं० ३३६)।

२. क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि । विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे (वासं० ३८.१९)।

३. काश्रौसू० (२६.७.६, शब्रा० १४.३.१.९)।

४. अनु नोऽद्यानुमतिः (तैआ० ४.११.२)।

५. अन्विदनुमते त्वम् (तैआ० ४.११.२)।

६. भारश्रौसू० (११.१३.९-१३)।

७. काश्रौसू० (२६.७.७)।

८. काश्रौसू० (२६.७.८)।

९. साकौसं० (१.५.२.३.९ श्रौतकोश, पृष्ठसं० १५१)।

अग्निशब्द वाले तथा अतिच्छन्दमें "अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावो हाव" गाता है। सामके अन्तिम भाग (निधन) को सब मिलकर गाते हैं।[१]

भारद्वाजके अनुसार सब मिलकर प्रवर्ग्योद्वासनदेशकी ओर बढ़ चलते हैं। इस अवसरपर मार्गके प्रथम भागपर मन्त्र[२] और मार्गके मध्यमें मन्त्र[३] और मार्ग के तृतीय भागपर मन्त्र[४] पढ़ते हैं।[५]

शब्रा० (१४.३.१.१३) के अनुसार अध्वर्यु प्रभृति चार या तीन पग पूर्वकी ओर बढ़ाकर फिर उत्तरकी ओर होकर चात्वालके पीछे और आग्नीध्रीयके आगेसे अर्थात् चात्वाल और आग्नीध्रीयके मध्यभागसे निष्क्रमण करते हैं।

प्रवर्ग्योत्सादनदेशके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह देश ऐसा होना चाहिये जिसके चारों और जल हो, यदि नदी या द्वीप न हो तो उत्तरवेदी (महावेदीका पूर्व भाग) ही उत्सादनदेश हो सकता है।[६]

महावीरका उद्वासन

उत्तरवेदीके मध्यमें प्रादेशमात्र चतुरस्र भूमि उत्तरनाभि कहलाती है, उसी स्थानके आगे मन्त्रके[७] साथ काममें आया हुआ प्रथम महावीर रक्खा जाता है। शेष दोनों महावीर उससे पूर्वमें रख दिये जाते हैं।[८]

---

१. काश्रौसू० (२७.७.९)।

२. दिवस्त्वा परस्पायाः। अन्तरिक्षस्य तनुवः पाहि। पृथिव्यास्त्वा धर्मणा। वयमनुक्रामाम सुविताय नव्यसे (तैआ० ४.११.३)।

३. ब्रह्मणस्त्वा परस्पायाः। क्षत्रस्य तनुवः पाहि। विशस्त्वा धर्मणा। वयमनुक्रामाम सुविताय नव्यसे (तैआ० ४.११.३)।

४. प्राणस्य त्वा परस्पायै। चक्षुषस्तनुवः पाहि। श्रोत्रस्य त्वा धर्मणा। वयमनुक्रामाम सुविताय नव्यसे (तैआ० ४.११.१३)

५. भारश्रौसू० (११.१३.१६)।

६. काश्रौसू० (२६.७.१०-११ पर सरलावृत्ति, पृष्ठ सं० ३३६)।

७. चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः। अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम (वासं० ३८.२०)।

८. काश्रौसू० (२६.७.१४-१५, शब्रा० १४.३.१.१६-१७)।

भारद्वाजके अनुसार सर्वप्रथम अध्वर्यु जलपात्र लेकर प्रदक्षिणा क्रमसे उत्तरवेदीके चारों ओर मन्त्रसे[१] तीन बार अभिसिंचन करता है। अब जलकुम्भ रखकर बिना जल गिराए ही मन्त्रके[२] साथ तीन बार विपरीत प्रदक्षिणा करता है। मन्त्रके[३] साथ उत्तरवेदीको स्पर्श करके दोनों खरोंको उत्तरवेदीकी नाभिके उत्तरमें मन्त्रके[४] साथ रखता है। अब मन्त्र[५] पढ़कर मार्जालीयके दक्षिणकी ओर वेदिके बहिर्भागमें उच्छिष्टखर रखता है। उत्तरवेदीके नाभिके उत्तरमें दोनों खरोंसे बने हुए ढूहपर जलका स्पर्श करके अध्वर्यु एक सुवर्ण खण्ड रखता है, इसके पश्चात् काममें आए हुए प्रथम महावीरको या तो पूर्व पश्चिममें अथवा उत्तर दक्षिणमें रखता है।[६]

अन्य पात्रोंका उद्वासन

महावीर पात्र बनानेके लिए जिस मृत्तिका का ग्रहण किया गया था, वह शेष मिट्टी महावीरके आगे स्थापित करता है, इसके पश्चात् महावीरके दोनों ओर दोनों परिशास चुपचाप रखता है। दोनों रौहिण स्रुचियोंको परिशासके बहिर्देशमें कुछ नीचेकी ओर उत्सादित करता है। रौहिणहवणीके उत्तरमें अभ्रि स्थापित करता है। दक्षिणकी ओर सम्राडासन्दी, अभ्रिके उत्तरकी ओर कृष्णाजिन, रक्खे हुए पात्रोंके दक्षिणकी ओर पीछे की ओर तथा उत्तरकी ओर एक एक पंखा रखता है। उपयमनीमें रज्जुसन्दान तथा वेदको रखता है। उपयमनी मुखके पीछे भागमें दोनों पिन्वनोंको, पिन्वनोंके दक्षिणकी ओर स्थूणा और उत्तरकी ओर मयूख रखता है। इन दोनोंके पीछे दोनों रौहिण कपाल रखता है। रौहिण कपालके पीछे दोनों धृष्टि रखता है। अन्य जो घर्मोपयुक्त स्रुवा इत्यादि पात्र हैं, उनको रक्खे हुए पात्रोंके बीचमें स्थापित करता है। सारे पात्रोंके उत्तरकी ओर दोनों खरोंको रक्खा जाता है। इसके पश्चात् मार्जालीय धिष्ण्याके दक्षिणकी ओर वेदीके बहिर्भागमें उच्छिष्टखर रक्खा जाता है।[७]

---

१. वल्गुरसि शंयुधायाः(तैआ० ४.११.४)।

२. शं च वक्षि परि च वक्षि (तैआ० ४.११.४)।

३. चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य (तैआ० ४.११.४)।

४. सदो विश्वायुः शर्म सप्रथाः(तैआ० ४.११.४)।

५. अप द्वेषो अप ह्वरः(तैआ० ४.११.४)।

६. भारश्रौसू० (११.१४.४-८)।

७. काश्रौसू० (२६.७.१४-३१, शब्रा० १४.३.१.१६-२२)।

पुरुषाकृतिके रूपमें पात्रोंका उद्वासन

भारद्वाज (११.१५.१-२७) तथा आपश्रौसू० (१५.१५.१) ने पुरुषाकृतिकी कल्पना करके पात्रोंको इस प्रकार सजाये जानेका विधान किया है-तीनों महावीरोंको एक साथ एक स्थानपर रखकर सिरके स्थानपर रखता है। बिना कटे हुए मूंजके वेद लाकर बालोंके आकारमें, महावीरके ऊपर रखता है। दो सुवर्णखण्ड अथवा आज्यके दो स्रुवा आँखके रूपमें बनाता है। दो चमस दोनों नथुनोंके रूपमें, दोनों दोहनियाँ दोनों कानके रूपमें, प्रोक्षणीधानी मुखके रूपमें, घृतपात्र गर्दनके रूपमें, दोनों धृष्टि जत्रुके रूपमें, दोनों शफ दोनों कन्धोंके रूपमें, रौहिणपुरोडाशकी आहुति देने वाली दोनों स्रुचियाँ दोनों हाथके रूपमें, उदुम्बरकी दस समिधा अंगुलियोंके रूपमें, मेथी पसलियोंके रूपमें, दोनों ओर दोनों पंखे दोनों कुक्षि के रूपमें, तीसरा पंखा बीचकी छातीके रूपमें, बीचमें उपयमनी उदरके रूपमें, उपयमनीमें रस्सियाँ आँतके रूपमें, अभ्रिको तिरछीकरके नितम्बके रूपमें, दोनों शंकु दोनों जांघोंके रूपमें, तीसरा शंकु बीचमें करके लिंगके रूपमें, दोनों रौहिण कपाल दोनों एडियोंके रूपमें, उदुम्बरीकी समिधा अंगूठेके रूपमें, रौहिण पुरोडाशसे बचे हुए आटेको मज्जाके रूपमें, मूंजके वेदको खोलकर पुट्ठोंके रूपमें, अवका पौधा, धूप तथा घासको मांसके रूपमें, हथेली ऊपर करके हाथसे दही मिला हुआ मधु रक्तके रूपमें, कृष्णाजिन त्वचाके रूपमें, तथ अन्तमें साम्राज्यके रूपमें सम्राडासन्दी रखता है।

इस अवसरपर कहा गया है कि तेजकी तथा अन्नकी कामना वालेको प्रवर्ग्य पात्र उत्तरवेदीपर पूर्वकी ओर अथवा पश्चिमकी ओर रखने चाहिये। यदि नदी द्वीपपर प्रवर्ग्य पात्र रक्खे जाते हैं तो उसके चारों ओर अभिसेचन करना आवश्यक नहीं है। अभिचारके निमित्त प्रवर्ग्यपात्र उदुम्बरकी शाखापर रखे जाते हैं, पात्र भी उसी दिशामें रक्खे जाते हैं, जिस दिशामें शत्रु निवास करता है। अभिचारके लिए मन्त्र[१] पढ़ा जाता है। वर्षाकी इच्छा होनेपर प्रवर्ग्यपात्र ऐसी कुशापर स्थापित किये जाते हैं, जिसे दीमकने खाया हो। प्रवर्ग्यपात्रोंके चारों ओर पक्षियोंको नहीं बैठने दिया जाता।[२]

---

१. इदमहममुष्यामुष्यायणस्य शुचा प्राणमपिदहामि ॥ इति

२. भारश्रौसू० (११.१६.१-१०)।

सप्तपात्रोंमें दुग्ध निनयन

तीनों महावीर, दो पिन्वन, उपयमनी और स्रुवा इन सात पात्रोंमें मन्त्रकी[१] आवृत्ति करते हुए घर्मदुघा गौका आधा दूध अथवा आधेसे कुछ कम दूध डालता है, शेष दूध यजमानको सायंकालमें व्रतदुग्धमें मिलाकर दिया जाता है ।[२]

भारद्वाजके अनुसार मन्त्रके[३] द्वारा महावीरमें गोदुग्धका आसेचन, मन्त्रके[४] द्वारा मधुका आसेचन, मन्त्रके[५] द्वारा महावीरमें दधिका आसेचन किया जाता है । विकल्पके रूपमें एक महावीरमें दूध, एक महावीरमें मधु और एक महावीरमें केवल दहीके आसेचनका विधान किया गया है । अब मन्त्रके[६] साथ सब पात्रोंमें मधुमिश्रित दधिका आसेचन किया जाता है । इसी प्रकार अन्य पात्रोंमें आसेचन किया जाता है ।[७] भारद्वाजने उक्त कृत्यका विधान पुरुषाकृतिके रूपमें पात्रोंके सजानेसे पूर्वमें किया है । कात्यायनने यह विधान सात पात्रोंके उल्लेख सहित पात्रोंके उद्वासनके पश्चात् किया है ।

घर्मका परिषेचन

शब्रा० (१४.३.१.२५) के अनुसार उत्तरवेदीके चारों ओर प्रवर्ग्यजलके द्वारा तप्त घर्मकी शान्तिके लिए परिषेचन किया जाता है । महीधरके अनुसार सामगानके अनन्तर, कात्यायन तथा शब्रा० के अनुसार उत्सादनदेशमें परिषेचन पहले और सामगान बादमें[८] किया जाता है ।

---

१. घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्धस्व चा च प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि (वासं० ३८.२१) ।

२. शब्रा० (१४.३.१.२३-२४, काश्रौसू० २६.७.३२-३३) ।

३. महीनां पयोऽसि विहितं देवत्रा (तैआ० ४.१२) ।

४. ज्योतिर्भा असि वनस्पतीनामोषधीनां रसः (तैआ० ४.१२) ।

५. वाजिनं त्वा वाजिनोऽवनयामः (तैआ० ४.१२) ।

६. घर्मैतत्तेऽन्नमेतत् पुरीषम् (तैआ० ४.११.४) ।

७. भारश्रौसू० (११.१४.९-१५) ।

८. महीधरभाष्य (पृष्ठसं० ६००, शब्रा० १४.३.१.२५, काश्रौसू० २६.७.३५) । सरलावृत्तिके अनुसार इस परिषेचनक्रियामें निम्नांकित मन्त्रका विनियोग किया जाना चाहिए-अचिक्रददद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । संसूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः (वासं०

वर्षाहर तथा इष्टाहोत्रीय सामगान

पहले प्रस्तोताको "वर्षाहर[१] साम गाय" और फिर "इष्टाहोत्रीयं[२] साम गाय" प्रैष किया जाता है, प्रैषके अनुसार प्रस्तोता उक्त दोनों सामोंका गायन करता है ।[३]

भारद्वाजके अनुसार उक्त दोनों साम सम्राडासन्दी स्थापनाके समय गाये जाते हैं । इस अवसरपर यह कहा गया है कि यदि अध्वर्यु उत्तरवेदीका सेचन करता है तो वर्षाहर साम भी गाया जाता है, सेचन न करने पर वर्षाहर साम गानेकी आवश्यकता नहीं है । इष्टाहोत्रीय सामका अन्तिम भाग सभी मिलकर गाते हैं किन्तु वर्षाहरसाम केवल प्रस्तोता ही गाता है ।[४]

चात्वालपर मार्जनका विधान

मन्त्र[५] पाठके साथ यजमान और उसकी पत्नी तथा प्रवर्ग्य करने वाले सभी चात्वालपर मार्जन करते हैं ।[६] शब्रा० (१४.३.९.२७) ने इस अवसरपर अभिचारके प्रयोगका विधान इस प्रकार किया है कि यदि अध्वर्यु मार्जनका अवशिष्ट जल उस दिशामें डाले, जिस दिशामें उसका शत्रु रहता है तो उक्त क्रिया मन्त्रके[७] साथ करनेपर उस शत्रुका अवश्य ही पराभव हो जायेगा । कात्यायनने उक्त मन्त्रका विनियोग अभिचारमें न करके चात्वालके मार्जनमें ही किया है । शब्रा० ने मूलमन्त्रके दो भाग करके एक भागका विनियोग चात्वालपर मार्जन क्रियाके निमित्त और दूसरेका विनियोग अभिचारके निमित्त किया है ।

३८.२२) । उक्त मन्त्रका उल्लेख न तो कात्यायन ने ही किया और न शतपथ ब्राह्मण ने ही ।

१. साकौसं० (१६.१.२.१) ।

२. साकौसं० (१.२.२.१७) ।

३. काश्रौसू० (२६.७.३५) ।

४. भारश्रौसू० (११.१४.१-३) ।

५. सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (वासं० ३८.२३) । शब्रा० ने मन्त्रके दूसरे भागका अभिचारमें विनियोग किया है ।

६. काश्रौसू० (२६.७.३७) ।

७. दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (वासं० ३८.२३) ।

ईशान दिशामें यजमानका प्रस्थान तथा समिदाधान

सर्वप्रथम यजमान मन्त्रके[१] साथ ईशान दिशाकी ओर प्रस्थान करता है, तत्पश्चात् मन्त्रके[२] द्वारा समिधा ग्रहण करके समन्त्रक[३] आहवनीयमें समिधा डालता है, यजमानकी पत्नी गार्हपत्यमें चुपचाप समिधा डालती है ।[४]

दधिघर्मयाग

जिस अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य किया जाता है, उस अग्निष्टोममें उक्त कृत्य माध्यन्दिनसवनके अन्तर्गत उस अवसरपर किया जाता है, जब माध्यन्दिनपवमान प्रारम्भ हो चुकता है । क्योंकि सप्रवर्ग्य अग्निष्टोममें ही उस अवसरपर दधिघर्मयाग सम्पन्न होता है, अतः प्रवर्ग्यकृत्यमें उक्त दधिघर्मयागका इस अवसरपर विवरण दिया गया है । कात्यायनने माध्यन्दिनसवनका कर्मकाण्ड लिखते हुए दधिघर्मका उल्लेख वहीं किया है । शतपथने प्रवर्ग्यका कर्मकाण्ड लिखते हुए चौदहवें काण्डमें दधिघर्मका उल्लेख किया है ।

सर्वप्रथम मन्त्रके[५] द्वारा स्थालीमुखसे पवित्रासहित अग्निहोत्रहवनीमें दधि-घर्म (तप्तदधिद्रव्य) ग्रहण किया जाता है । उसके पश्चात् अध्वर्यु होताको प्रैष करता है—"होतर्वदस्व यत्ते वाद्यम् ।" इस अवसरपर होता "उत्तिष्ठतावपश्यत" (ऋसं० ८.८.३७) ऋचाका पाठ करता है । तब अध्वर्यु उठकर दधिघर्मको देखता है कि वह पक गया है कि नहीं । यदि अपक्व होता है तो अध्वर्यु सुखसे चुपचाप बैठ जाता है । दधिघर्मके पक जानेपर अध्वर्यु होतासे कहता है "श्रात हविः" । अध्वर्युके द्वारा ऐसा पूछे जानेपर होता इन शब्दोंमें पूछी गई बातका उत्तर देता है—"श्रातं हविः" । अब श्रौषट्के अनन्तर "दधिघर्मस्य यज' यह प्रैष किया जाता है । तब होता याज्याका पाठ करता है । याज्याके अन्तमें वषट्कार कर चुकने पर जिस स्रुचासे अग्निहोत्रहोम किया जाता है, उसी स्रुचा (अग्निहोत्रहवणी) से दधिघर्मकी आहुति

---

१. उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् (वासं० ३८.२४) ।

२. एधोऽस्येधिषीमहि (वासं० ३८.२५) ।

३. समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि (वासं० ३८.२५) ।

४. काश्रौसू० (२६.७.३९-४०) ।

५. यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे । तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णामि अक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् (वासं० ३८.२६) ।

दी जाती है। वषट्कार अनुवषट्कारपर किंचित् किंचित् होम करके शेष दधिघर्म बचाकर रख लिया जाता है। अध्वर्यु हवन करके यजमानके समीप आता है और भक्षणके लिए यजमानको दधिघर्म सौंप देता है। तब अध्वर्युकी आज्ञा लेकर यजमान मन्त्रसे[१] भक्षण करता है।[२] सरलावृत्तिके अनुसार उक्त मन्त्रके द्वारा ही ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र भी दधिघर्मका भक्षण करते हैं। जो अदीक्षित ऋत्विज हैं वे केवल सूंघ लेतें हैं, प्रत्यक्ष भक्षण वे नहीं करते।[३] भक्षण करने वाले सभी अन्तमें चात्वालपर मार्जन भी करते हैं।[४]

जिस प्रकार प्रवर्ग्यके आदिमें शान्तिपाठ किया गया था, उसी प्रकार इस अवसरपर भी प्रवर्ग्यके अन्तमें शान्तिपाठ किया जाता है।

प्रवर्ग्यके सम्बन्धमें प्रायश्चित्त विधान

यज्ञमें जितनी भी छोटी बड़ी क्रियाएँ की जाती हैं, उनके लिए यह परमावश्यक है कि वे निर्दिष्ट विधिके साथ की जाएँ। उनमें कोई भूल होनेपर परिणाममें बाधा तो पड़ती ही है, साथ ही कोई न कोई अनिष्ट भी अवश्य होता है। शब्रा० (११.५.३.८) में कहा गया है कि यदि सब अग्नियाँ बुझ जाएँ तो यजमानका वंश नष्ट हो जाय, यदि अन्वाहार्यपचन बुझ जाए तो उसके पशु मर जाए, यदि आहवनीय अग्नि बुझ जाए तो यजमानका ज्येष्ठ पुत्र मर जाए। इस प्रकार विधिका उल्लंघन हो जाए तो यजमान एवं ऋत्विजों दोनोंको ही बड़ा अनिष्ट उठाना पड़ता है। अनिष्टकी निवृत्तिके लिए ही प्रायश्चित्तका विधान किया जाता है। यज्ञको तो रथ माना गया है यदि यज्ञमें ऋक् या यजुकी ओर से कोई भूल हो जाए तो वह रथकी तरह उलट जाता है (जैब्रा० ३.४.३.१)। यज्ञकी भूलोंको यज्ञके पर्वोंका खण्डन बताया गया है (शब्रा० १२.६.१.२)। ब्राह्मणोंमें यज्ञकी भूलोंको यज्ञकी विपत्ति, यज्ञकी हत्या भी कहा गया (तैब्रा० ३.८.९.४, जैब्रा० २.४१)। इसीलिए यज्ञकी रक्षा ठीक प्रकारसे करनी चाहिए। ऐब्रा० (७.५) में कहा गया है कि यज्ञका

---

१. मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः। घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह (वासं० ३८.२७)। पयसो रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तरां समाम् (वासं० ३८.२८)।

२. काश्रौसू० (२६.७.५५-५६)।

३. काश्रौसू० (१०.१.२३-२४)।

४. काश्रौसू० (२६.७.५७)।

जब कोई भाग छूट जाय तो उसे शिपित कहते हैं, शिपिविष्ट विष्णु उस त्रुटिको दूर करते हैं। कोई भी अनिर्दिष्ट क्रिया होती है तो विष्णु उसकी रक्षा करते हैं, जब वह ठीक हो जाता है तो उसकी रक्षा वरुण करते हैं।

बिगड़े कामका समाधान ही प्रायश्चित्त कहलाता है।[१] प्रवर्ग्यमें हो सकने वाली त्रुटियोंके प्रायश्चित्तका विधान कात्यायन तथा शतपथ ब्राह्मणमें तथा भारद्वाज आदि श्रौतसूत्रोंमें प्राप्त होता है। कात्यायनने संक्षिप्तमें विधान किया किन्तु भारद्वाजने विस्तारपूर्वक विधान किया है।

घर्मभेद होनेपर अध्वर्यु प्रथमतः "भूमिर्भूमिम् य ऋतेचित्" इन दो मन्त्रोंसे भग्न घर्मका स्पर्श करके "परमेष्ठ्यादि" ऋचाओंसे चौंतीस आहुति देकर "स्वाहा प्राणेभ्यः" इस मन्त्रके द्वारा पहली पूर्णाहुति देकर "पृथिव्यै स्वाहा"मन्त्रसे बीस आहुति एक बारमें आज्य ग्रहण करके दी जाती है तब दूसरी पूर्णाहुति "मनस" ऋचाके द्वारा दी जाती है,[२] महावीर टूटनेपर प्रजापति देवताके लिए मन्त्रके[३] द्वारा प्रायश्चित्त होम किया जाता है।[४]

शब्रा० (१४.३.२.२१) के अनुसार प्रायश्चित्तकरणके अनन्तर टूटे हुए महावीरको पुनः मिट्टीके द्वारा बनाया जाता है। बनानेके लिए मिट्टीका चूरा करते हैं और उसी प्रकार महावीरका निर्माण किया जाता है, जिस प्रकार पहले महावीरका निर्माण किया गया था। भारद्वाज (११.१७.१०) के अनुसार यदि महावीर टूट जाए तो मन्त्रके[५] द्वारा उसके भागोंको जोड़कर मन्त्रके[६] साथ जोड़ने वाले पदार्थोंको उसपर मल दिया जाता है। यदि महावीर गिर जाता है तो दो मन्त्रोंके[७] साथ उसको उठा लिया जाता है। यदि अप्रयुक्त महावीर गिर जाए तो दूसरा महावीर उसके

---

१. दी सॅकरिफाइस इन दी ब्राह्मण टैक्स्ट् (पृष्ठसं० १६१)।

२. वासं० (३९.१) पर महीधरका भाष्य।

३. प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः (वासं० ३९.५)।

४. काश्रौसू० (२६.७.५०)।

५. विधुं दद्राणम् समने बहूनाम्। युवानं सन्तं पलितो जगार। देवस्य पश्य काव्यं महित्वा द्या ममार। स ह्यः समान (तैआ० ४.२०.१)।

६. यदृते चिदभिश्रिषः। पुरा जर्तृभ्य आतृदः। संधाता संधिं मघवा पुरोवसुः (तैआ० ४.२०.१-२)।

७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये। ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसः (तैआ० ४.२०.१)।

बदले में ग्रहण कर लिया जाता है ।[१] प्रवर्ग्य क्रिया होते समय जिस दिशामें बिजली चमके उसी दिशामें मन्त्रसे[२] अथवा सब दिशाओंमें बिजली चमके तो सब दिशाओंमें उक्त मन्त्रसे आहुति देता है ।[३] यदि ऋत्विज लोगोंने प्रवर्ग्यको चारों ओरसे ऊपरसे लांघ लिया हो अथवा विपरीत परिक्रमा न की हो (अथवा तीन बारसे अधिक परिक्रमा कर ली हो) तो मन्त्रसे[४] विपरीत परिक्रमा की जाती है ।[५] घर्म यदि गिर जाय (बिखर जाए) तो मन्त्रोंका[६] पाठ किया जाता है और यदि घर्ममें खड्डा पड़ने लगे तो मन्त्रोंके[७] साथ आहुतियाँ देता है ।[८]

यदि प्रवर्ग्य क्रिया होते होते सूर्यास्त हो जाय तो अध्वर्यु पीछेके द्वारपर कुशापत्रके साथ एक सुवर्णखण्ड बाँधकर आदित्यकी प्रार्थना[९] करता है ।[१०] यदि समयपर घर्मदुघा गाय न आ पावे तो दूसरी गौसे ही दूध दूह लेना चाहिये, ब्रह्माको फिर यही गौ दी जाती है ।[११] यदि गौ दूध न दे तो एक चमड़ेका थैला लाया जाय जो चार पाँव वाला हो । उसे दूधसे भर दिया जाय और उसके चारों पैर थन मानकर उसे ही दूह लिया जाय, यदि गौ लाल या अन्य किसी अन्य रंगका दूध दे तो अध्वर्यु दक्षिणाग्निको घेरकर मन्त्रके[१२] द्वारा दूधकी आहुति देता है । यदि गौ किसी अपवित्र स्थानपर बैठ जाती है तो अध्वर्यु अग्निवरुण या अग्निको सम्बोधन करके मन्त्रके[१३] साथ आहुति देता है । यदि कोई पक्षी गायको तंग करता है तो वायुसे सम्बद्ध मन्त्र

---

१. भारश्रौसू० (११.१७.९,११ आपश्रौसू० १५.१७७-८)।
२. भारश्रौसू० (११.१७.२-३,आपश्रौसू० १५.१७ २-३)।
३. या पुरस्ताद्विद्युदापतत् (तैआ० ४.१४)।
४. पुनरूर्जा ॥ सह रय्या (तैआ० ४.२०.२)।
५. भारश्रौसू० (११.१७.१२, आपश्रौसू० १५.१७.९)।
६. अस्कान् द्यौः पृथिवीम् (तैआ० ४.२०.१)।
७. मा नो घर्म व्यथितो विव्यथो नः (तैआ० ४.२०.२-३)।
८. भारश्रौसू० (११.१७.१ तथा ११.१८.१,आपश्रौसू० १५.१७.१ तथा १५.१७.१०)।
९. उद्वयं तमसस्परि स्वः उदु त्यं जातवेदसम् ॥ चित्रं देवानामुद्गादनीकम् (तैआ० ४.२०.३ तथा ३.१०.२)।
१०. भारश्रौसू० (११.१८.२,आपश्रौसू० १५.१७.१२)।
११. भारश्रौसू० (११.१८.२,आपश्रौसू० १५.१७.१२)।
१२. अग्नये रुद्रवते स्वाहा ॥ इति
१३. अग्निवरुणके लिए "त्वं नो अग्नि" अग्निके लिए 'अग्ने नय' मन्त्र पढ़ा जाता है ।

पढ़कर आहुति देता है।[१] आपश्रौसू० (१५.१८.९) के अनुसार "यावांकशा" मन्त्र[२] पढ़कर अश्विनोंको आहुति दी जाती है। यदि गौ भाग जाय, मर जाय, व्याघ्र द्वारा खा ली जाय तो मदारके दूधकी बूंदें बकरीके दूधमें मिला ली जाती हैं।[३]

यदि प्रवर्ग्य क्रिया होते समय कोई शृगाल आ जाय तो अध्वर्यु मन्त्रका[४] पाठ करके लकड़ीके दोनों सिरोंको जलाकर मन्त्रके[५] साथ उसपर फेंकता है तथा मन्त्रका[६] पाठ करता है। यदि प्रवर्ग्यके समय कोई गीध, मादा भेड़िया, भयानक जंगली भेड़, दीर्घमुखी चिड़िया, उल्लू या भूतग्रस्त व्यक्ति या कौआ बोल दे तो मन्त्रोंका[७] पाठ करे तथा पहलेके ही समान उल्का प्रक्षेप करता है।[८]

यदि गौमें कीलनी लगी हो तो अध्वर्यु अनुवाकके[९] साथ उनको हटा देता है।[१०]

भारद्वाज तथा आपश्रौसू० ने समान रूपसे उक्त प्रायश्चित्तका निरूपण किया है। प्रवर्ग्यकृत्य सामान्य रूपमें नहीं स्वीकार किया गया, ऐब्रा० (४.५) के अनुसार यजमान प्रवर्ग्यके द्वारा नवीन दैवी शरीर प्राप्त कर लेता है। प्रवर्ग्यके अन्तर्गत प्रजापति द्वारा रचित सूक्त (ऋसं० १०.१८३) का पाठ करके यजमान पुत्र प्राप्त करता है।[११]

शब्रा० (१४.३.२.२२) ने संवत्सर, तीनों लोक, सभी देवता, यजमान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध तथा सोमके साथ प्रवर्ग्यका तादात्म्य

---

१. भारश्रौसू० (११.१८.५,७,८.९,१० व ११)।
२. तैसं० (१.४.६.१)।
३. भारश्रौसू० (११.८.११)।
४. वि गा इन्द्र विचरन् स्पाशयस्व (तैआ० ४.२८)।
५. अग्ने अग्निना संवदस्व (तैआ० ४.२८)।
६. सकृत् ते अग्ने नमः (तैआ० ४.२८)।
७. असृङ्मुखः॥ यदेतत्॥ यदीषितः॥ दीर्घमुखी॥ इत्थादुलूकः॥ यदेतद्भूतान्यन्वाविश्य॥ प्रसार्य सक्थ्यौ॥ (तैआ० ४.२९-३५)।
८. भारश्रौसू० (११.१९.९,१०,११,१२)।
९. अत्रिणा त्वा क्रिमे हन्मि (तैआ० ४.३६)।
१०. भारश्रौसू० (११.२०.१)।
११. प्राचीनचरित्रकोश

सम्बन्ध स्थापित किया है । प्रवर्ग्यको सर्वजगदात्मिका माना गया तथा प्रवर्ग्यके रहस्योंको जाननेसे ही सभी यज्ञोंके फलकी प्राप्ति बताई, प्रवर्ग्यसे ही सब देव और सभी प्राणी जीविका प्राप्त करते हैं ।

प्रवर्ग्यकी दक्षिणा

प्रवर्ग्यमें जब दधिघर्मयाग सम्पन्न हो चुकता है, उस समय ब्रह्माको सोने और चाँदीके दोनों रुक्म, अध्वर्युको घर्मदुघा गौ, होताको व्रतके लिए दूध देने वाली गौ, उद्गाताओंको पत्नीके लिए व्रतदुग्ध देने वाली गौ दानमें दी जाती है ।[१]

आपश्रौसू० (१५.१३.१) के अनुसार अध्वर्युको रुक्म, अजा आग्नीध्रको गर्भिणी गौ ब्रह्माको तथा होता को गाय दान में दी जाती है । भारद्वाज (११.१३.१) ने उक्त दक्षिणाओंका ही उल्लेख किया है ।

अग्निष्टोम तथा प्रवर्ग्यका सम्बन्ध

प्रथम अनुष्ठेय अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य किया जाय अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है । शब्रा० (१४.२.२.४४-४५) में स्पष्ट रूपसे प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्यका निषेध किया गया है । इस अवसरपर कहा गया कि यदि प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य किया जायेगा तो महावीर तप्त और प्रदीप्त होकर यजमानके परिवार तथा पशुको तो जला ही डालेगा साथ ही यजमानको भी नष्ट कर देगा । विकल्पके रूपमें प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य किया जा सकता है, किन्तु कुछ विशेष स्थितियोंमें ही प्रथम अग्निष्टोममें यज्ञकरनेकी आज्ञा प्रदान की गई है । सत्याषाढके अनुसार जिस व्यक्तिकी तीन पीढ़ियोंमें वेद विच्छेद हो गया हो, वह दुर्ब्राह्मण, जिसको ब्रह्मवर्चस् बननेकी इच्छा हो तथा तीसरा वह जो श्रोत्रिय हो, चौथा वह जो अनूचान (वेदाध्यापक) हो, वे प्रथम अग्निष्टोममें भी प्रवर्ग्यका अनुष्ठान कर सकते हैं (२४.५.८) । आपश्रौसू० ने "अग्निष्टोमः प्रथमयज्ञो अतिरात्रमेके समामनन्ति" सूत्रके द्वारा विकल्पके रूपमें प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य करनेका विधान किया है । शास्त्रदीपिका (३.३.१२.३२) में मीमांसकोंका मत देकर यह स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि अनूचान आदिका प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य करनेका अधिकार प्राप्त है, अन्योंका नहीं । कात्यायनने तो स्पष्टरूपसे उन व्यक्तियोंके लिए भी प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य करनेका निषेध किया है, जो उत्तमकुलमें उत्पन्न हुए हैं, सबको

---

१. काश्रौसू० (२६.७.४१-४४)।

प्रिय लगने वाले हैं और विद्वान् हैं ।[१] देवयाज्ञिकने जो यह कहा है कि विद्वान् प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्य कर सकता है, वह शाखान्तरके मतका उद्घोषण है, स्वमतमें प्रथम अग्निष्टोममें प्रवर्ग्यका निषेध ही है ।[२] इस मतके अनुसार शंकरभट्टने अपने मीमांसासारसंग्रह (३.३.४३) में विवेचना की है ।

दूसरे तीसरे अग्निष्टोममें सभी यजमानके प्रवर्ग्यका निषेध किया है । दूसरे तीसरे अग्निष्टोममें भी विशेष यजमानके लिए प्रवर्ग्यका विधान किया गया । जो यजमान एक सहस्र गौ दानमें देने वाला हो, जो यजमान 'सर्ववेदस्' (अथवा सर्वमेध) यागमें अपनी सम्पूर्ण दक्षिणा देने वाला हो, जो यजमान समस्त (रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर और रैवत) पृष्ठोंसे[३] युक्त 'विश्वजिति' नामक याग करता है तथा अग्निदेवताक, ऐन्द्राग्नदेवताक, इन्द्र देवताक, सरस्वती देवताक पशुओंसे युक्त वाजपेय तथा इष्टि-पशु-दर्वी-होम-सोम समुदाय रूप राजसूय यज्ञ करने वाले यजमानके, तथा बहुयजमानकर्तृक 'सत्र' करने वाले यजमानके प्रवर्ग्यका विधान किया है । उपर्युक्त योग्यता वाले यजमानके यहाँ ही प्रवर्ग्य किया जा सकता है, अन्य किसीके यहाँ नहीं ।[४]

प्रवर्ग्यके अन्तर्गत पालनीय कुछ विशेष नियम

सामान्यत: यज्ञोंमें जिन नियमोंका पालन किया जाता है, कुछ नियम प्रवर्ग्यमें विशेष रूपसे पालनीय हैं । भारद्वाजके अनुसार जलसे सम्बन्धित जितने भी कृत्य हैं, उनमें मदन्तीका ही प्रयोग किया जाता है । प्रवर्ग्य जब प्रारम्भ किया जाता है, तब स्थानको चारोंसे घेर दिया जाता है क्योंकि यहाँ विशेष रूपसे इस नियमका पालन किया जाता है कि कोई भी स्त्री तथा यजमानकी पत्नी तथा शूद्र प्रवर्ग्य नहीं देखें । महावीरका निर्माण करते समय अध्वर्यु विशेषरूपसे इस नियमका पालन करता है कि वह उसके ऊपर श्वास न छोड़े । प्रवर्ग्य और सूर्यके बीचमें गमन नहीं किया जाता । सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्त तक प्रवर्ग्य क्रिया की जा सकती है किन्तु रात्रिमें प्रवर्ग्य नहीं किया जाता । जैसे ही सूर्यास्त होता है, वैसे ही

---

१. काश्रौसू० (२६.७.५२)।

२. देवयाज्ञिकपद्धति (पृष्ठसं० २६४)।

३. बृहद्रथन्तरवैराजशाक्वरवैरूपरैवतानि वैश्वजितानि पृष्ठानि (निदान सूत्र)।

४. शब्रा० (१४.२.२.४७)।

प्रवर्ग्य क्रिया रोक दी जाती है, अगले दिन प्रात: शेष क्रिया पूरी की जाती है। यजमान संवत्सरपर्यन्त मांसका भक्षण नहीं करता। शूद्राके साथ रमण नहीं करता। मृण्मय पात्रसे जल नहीं पीता। जिसने प्रवर्ग्य किया हो, उसका जूठा नहीं ग्रहण करता।[1]

शब्रा० (१४.१.१.२७)के अनुसार जिस किसी को प्रवर्ग्याख्य मधुविद्या नहीं दी जाती, विशेष नियमोंका जो शिष्य पालन करता है, वही प्रवर्ग्यविद्या प्राप्त करता है। केवल प्रवर्ग्य करते समय ही नियमोंका पालन नही किया जाता अपितु सीखनेके समय भी विशेष नियमोंका ध्यान रक्खा जाता है। शब्रा० ने ऐसे नियमोंका उल्लेख किया है-जब अधायापक साल भर रहने वाले अपने शिष्यकी भलीप्रकार परीक्षा कर लेता है, तब वह तीन रात्रि तक व्रत रखता है। आचमनादिक सभी कर्म तप्तजलसे करता है, मांस नहीं खाता। मृण्मय पात्रोंसे उदकादिका पान नहीं करता। शूद्रको भाण्डमें जो दिया जाता है, उसका अवशिष्ट भाग नहीं खाता। जन्मजन्मान्तरमें किये गए पापके परिणाम रूप कौआ आदि का, वेदाध्ययनआदिमें अनधिकार होनेसे स्त्री आदिका, तमोरूप शूद्र आदिका दर्शन नहीं करता। यमजान जो कुछ गौ हिरण्य आदि दक्षिणा देता है, वह तत्काल किसी को नहीं देता अपितु अगले दिन अथवा दूसरे-तीसरे दिन जिस किसीको वह सारी दक्षिणा दे देता है। धूपमें कपड़ा नहीं ओढ़ता। सूर्यके चमकते रहनेपर मुखसे थूक नहीं निकालता, मूत्रविसर्जन नहीं करता। रातमें दीपक जलाकर भोजन करता तथा सत्य बोलता है।[2]

---

१. भारश्रौसू० (११.२.१६-२१, सत्याषाढश्रौसू० पृष्ठसं० ८५३ तथा ८८३)।

२. शब्रा० (१४.१.१.२८-३३)।

द्वितीय परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्दोंकी अकारादिक्रमसे सूची

तृतीय परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थसूची

१. **अग्निपुराण** बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, सन् १९५६

२. **अग्निष्टोम पद्धति** भगवद्दत्त, डी०ए०वी०कॉलेज लाहौर, प्रथम संस्करण

३. **अग्निहोत्र** सत्यप्रकाश, दी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधी सभा दिल्ली, १९३७

४. **अथर्ववेदसंहिता** पं० रामचन्द्र शर्मा, सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद

५. **अथर्ववेदसंहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, जिला सतारा, १९४३

६. **अथर्ववेदसंहिता** पं० श्रीशंकरपाण्डुरंग, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, १८९५

७. **अथर्ववेद पदपाठानुक्रमणिका** विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर, १९६४

८. **अथर्ववेद भाष्य भूमिका** क्षेमकरणदास त्रिवेदी, १२. लूकरगंज, प्रयाग, प्रथम संकरण, १९२०

९. **अथर्ववेदीया पैप्पलादसंहिता** दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९६४

१०. **अथर्ववेद पैप्पलादसंहिता** आचार्य रघुवीर, सरस्वतीविहार, लवपुरम्, प्रथम संस्करण, १९३६

११. **अथर्ववेद एवं गोपथत्वाह्मण** सूर्यकान्त, चौखम्भा संस्कृत सिरीज बनारस, प्रथम संस्करण १९६४

१२. **अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्डम्** डा० सम्पूर्णानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सन् १९५५

१३. **अथर्ववेदीय गोपथब्राह्मण** राजेन्द्रलाल मित्र, हरचन्दविद्याभूषण, एशियाटिक सोसायटी औफ बंगाल, सन् १८७२

१४. **अथर्ववेद संहितायाः मन्त्राणां वर्णानुक्रमसूची** वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९२९

१५. **अमृतबिन्दु उपनिषद्** चौखम्भा संस्कृत सिरिज, वाराणसी

१६. **अष्टोत्तरशतनाममालिका** विद्यासागर शास्त्री, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, १९६३

१७. **आधान पद्धति** वामन शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, सन् १९४७

१८. **आह्निक सूत्रावली** नारायण शर्मा, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई, संवत् १९६८

१९. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९३२

२०. **आपस्तम्ब शुल्वसूत्र** डा० सत्यप्रकाश, प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन अनुसन्धान संस्थान, दिल्ली

२१. **आपस्तम्ब शुल्वसूत्र** श्रीनिवासाचार्य श्रीनारसिंहाचार्य, ओरियण्टल पब्लिक लाइब्रेरी, संस्कृत सीरिज, सन् १९३१

२२. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (भाग१)** डा० रिचर्ड गार्वे, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन् १८८२

२३. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (भाग२)** डा० रिचर्ड गार्वे, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन् १८८२

२४. **आर्यविद्या सुधाकर** पं० शिवदत्तजी कुदाल, चौखम्भा संस्कृत सिरिज, १९४०

२५. **आश्वलायन गृह्यसूत्र** विनायक गणेशआप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९३७

२६. **आश्वलायन श्रौतसूत्रवृत्ति** श्रीहरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९१७

२७. **इण्डिया ऑफ दी एज ऑफ दी ब्राह्मणाज** जोगीराज वसु, संस्कृत पुस्तक भण्डार, ३८ विधान सरणी, कलकत्ता- १९६९

२८. **ए सर्वे ऑफ दी श्रौतसूत्राज** द यूनिवर्सिटी ऑफ बम्बई, १९६६

२९. **एक सौ आठ उपनिषद्** श्रीराम आचार्य, प्रथम संस्करण, संस्कृति संस्थान बरेली, १९६१

३०. **ऐतरेय ब्राह्मण** गंगाप्रसाद उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००६

३१. **ऐतरेय ब्राह्मण** डा० सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पूना, १९८०

३२. **ऐतरेय ब्राह्मण** श्रीविनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३१

३३. **ऐतरेय ब्राह्मण** चिशरनाड्मुंजन पिल्लई, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज, ट्रावंकोर विश्वविद्यालय, सन् १९४२

३४. **औरिजन एण्ड डवलपमेण्ट औफ दी रिचुअल्स औफ ऐन्सण्ट वर्शिप इन इण्डिया** डा० दक्षिणारंजन शास्त्री, बुकलैण्ड प्राइवेट, कलकत्ता १९६३

३५. **ऑन द सैकरेड बुक औफ द वैखानस** डा० डब्लु कैलेण्ड, सन् १९२८

३६. **ऋक्सर्वानुक्रमणिका** चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

३७. **ऋग्वेद सूक्त विकास** प्रो० ह० रा० दिवेकर, मोतीलाल बनारसी दास, सन् १९७०

३८. **ऋग्वेद संहिता** पं० दुर्गादास लाहिडी शर्मा, हावड़ा

३९. **ऋग्वेद संहिता** सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, जि० सतारा, सन् १९४०

४०. **कपिष्ठल कठ संहिता** श्रीरघुबीर, मेहरचन्द लछमनदास, लाहौर, १९३२

४१. **कर्मकाण्डस्य स्वरूपाध्ययनम्** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९८१

४२. **काठक गृह्यसूत्र** डा० कैलेण्ड, दयानन्द महाविद्यालय, संस्कृत ग्रन्थमाला, १९२५

४३. **काण्व संहिता** माधव शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९१५

४४. **काण्व संहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सूरत, १९४५

४५. **कात्यायन श्रौतसूत्र कर्कभाष्य** चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९२८

४६. **कात्यायन श्रौतसूत्र कर्कभाष्य** चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९२९

४७. **कात्यायन श्रौतसूत्र सरलावृत्ति** पंडित विद्याधर शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, १९३०

४८. **कात्यायन श्रौतसूत्र** डा० अलवर्ट बेवर, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९७२

४९. **कात्यायन शुल्वसूत्र** गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३६

५०. **कालिका पुराण** खेमराज कृष्णदास, बम्बई, १९०७

५१. **कालिका पुराण** विश्वनारायण शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९७२

५२. **कूर्म पुराण** श्रीआनन्दस्वरूप गुप्त, सर्वभारतीय काशिराज न्यास, १९७२

५३. **कौषीतकि गृह्यसूत्र** टी०आर० चिन्तामणि, मद्रास वि० वि० संस्कृत ग्रन्थावली, १९४४

५४. **कौषीतकि गृह्यसूत्र** विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम, संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३७

५५. **कौषीतकि ब्राह्मणारण्यक विषयकोश** केवलानन्द सरस्वती, प्राज्ञपाठशाला मण्डल, शक १८७६

५६. **कौषीतकि ब्राह्मण** आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली-६५ पूना, सन् १९११

५७. **त्रिकाण्डमण्डन** श्रीचन्द्रकान्त तर्कालंकार भट्टाचार्य, वासिष्ठ मिशन कलकत्ता,१९०३

५८. **गर्गसंहिता** खेमराज श्रीकृष्णदास, १९२६

५९. **गिरिधर भाष्य**

६०. **गुरुकुल** पत्रिका

६१. **गोपथ ब्राह्मणभाष्य** पंडित क्षेमकरणदास त्रिवेदी, अथर्ववेदभाष्य कार्यालय, ३४ लूकरगंज प्रयाग

६२. **गोभिल गृह्यसूत्र** एस. एम. श्रीमुकुन्दशर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९३६

६३. **गोभिल गृह्यसूत्र** चिन्तामणि भट्टाचार्य, कलकत्ता संस्कृत सीरिज,

६४. **गौतम धर्मसूत्र** डा० उमेश पाण्डेय, चौखम्भा, संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६

६५. **चतुर्वेद मीमांसा** डा० मुन्शीराम शर्मा, वैदिक शोध संस्थान, कानपुर, १९७८

६६. **चरक संहिता (भाग प्रथम)** श्रीजयदेव विद्यालंकार, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

६७. **चरक संहिता (भाग द्वितीय)** श्रीजयदेव विद्यालंकार, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

६८. **छान्दोग्य उपनिषद्** श्री० डी० भट्टाचार्य, कलकत्ता संस्कृत कॉलेज, रिसर्च रिसीज, १९५८

६९. **छान्दोग्य उपनिषद्** गीताप्रेस गोरखपुर

७०. **जैमिनीय ब्राह्मणीयम्** आचार्य रघुबीर, सरस्वती, विहार, नागपुर, १९५४

७१. **जैमिनीय मीमांसासूत्रपाठ** केवलानन्द सरस्वती, १९४८

७२. **जैमिनीय सूत्रवृत्ति** नित्यानन्द शर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १९२३

७३. **तन्त्रवार्त्तिक** गंगानाथ झा, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १९२४

७४. **ताण्ड्य महाब्राह्मण** चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी १९३५

७५. **ताण्ड्य महाब्राह्मण** चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९३६

७६. **तैत्तिरीय संहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सूरत, १९४५

७७. **तैत्तिरीय संहिता** वैदिक संशोधन मण्डल, पूना १९७०

७८. **तैत्तिरीय संहिता** ए. बी. कीथ, हारवर्ड ऑरियण्टल सिरीज, प्रथम संस्करण, १९१४

७९. **तैत्तिरीय संहिता** वैयाकरण पद सूची-विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर

८०. **तैत्तिरीय संहिता** नरहरि शास्त्री, काशीनाथ शास्त्री आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना

८१. **तैत्तिरीयारण्यक (भाग १)** हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९२६

८२. **तैत्तिरीयारण्यक (भाग २)** हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९२७

८३. **तैत्तिरीय ब्राह्मण** श्रीनारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३४

८४. **थिंकिंग व्हाइट द यजुर्वेद** गण्डाभाई जी० देसाई, एशिया पब्लिशिंग हाऊस

८५. **दक्षस्मृति** मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

८६. **दर्शपूर्णमास (पाण्डुलिपि)** पंडित भीमसेनजी शर्मा, वेदपाठी भवन, मुजफ्फरनगर-२

८७. **वेदाङ्क** दिवाकर पत्रिका

८८. **दि टैक्स्ट व्हाइट द यजुर्वेद** एच० ग्रिफिथ, बी०एन०यादन, सन् १९५७

८९. **दीक्षा तत्व मीमांसा** वेणीराम शर्मा गौड़ मास्टर खेलाड़ीलाल, संस्कृत बुक डिपो, १९४७

९०. **देवी भागवत** मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९६०

९१. **धर्मशास्त्रका इतिहास (भाग १)** अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश शासन लखनऊ

९२. **धर्मशास्त्रका इतिहास (भाग ५)** अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ

९३. **धर्मांक** कल्याण पत्रिका, गीताप्रेस गोरखपुर

९४. **निदानसूत्र** के० एन० भटनागर, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली-१९७१

९५. **निरुक्त** लछमन स्वरूप पंचनदीय विश्वविद्यालयाध्यक्ष:

९६. **पद्मपुराण** खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, १९२७

९७. **पराशरस्मृति** श्रीनागेश्वर पन्त, ई० जे० ताजरस एण्ड कम्पनी, बनारस

९८. **पंचविंशब्राह्मण** डा० डब्लू कैलेण्ड, एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १९३१

९९. **पाणिनीय सूत्रव्याख्या (भाग२)** मद्रास गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल मैन्यू-स्क्रिप्ट सिरीज, १९५४

१००. **प्राचीनचरित्रकोश** सिद्धेश्वरशास्त्री भारतीय चरित्रकोश मण्डल, पूना, सं० २०२१

१०१. **पुराणगत वेदविषय** सामग्रीका समीक्षात्मक अध्ययन-रामशंकर भट्टाचार्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५

१०२. **पौराणिक धर्म एवं समाज** सिद्धेश्वर नारायणराय, पंचनद पब्लिकेशन इलाहाबाद, १९६८

१०३. **ब्रह्मपुराण** मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५४

१०४. **ब्रह्माण्डपुराण** मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५२

१०५. **ब्रह्मवैवर्त्तपुराण** राधाकृष्ण मोर, कलकत्ता, १९५५

१०६. **बृहत् संहिता** पं. दुर्गाप्रसाद शुक्ल, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

१०७. **ब्राह्मणोद्धारकोश** विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होश्यारपुर, १९६६

१०८. **बौधायन शुल्वसूत्र** डा० सत्यप्रकाश, प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन अनुसंधान संस्थान, १९६८

१०९ **बौधायन श्रौतसूत्र (भाग १)** डा० कैलेण्ड, एशियाटिक सोसायटी पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता-१९०४

११०. **बौधायन श्रौतसूत्र (भाग २)** डा० कैलेण्ड, एशियाटिक सोसायटी पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता ११०७

१११. **भविष्यपुराण** खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १८९६

११२. **भाट्टदीपिका** अनन्तकृष्ण शास्त्री, पाण्डुरंग जीवाजी बम्बई, १९२२

११३. **भारद्वाज श्रौतसूत्र** चिन्तामणि शर्मा, गणेशकाशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९६४

११४. **भारद्वाज ऋषिके दर्शन** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९६०

११५. **भारतीय साधु समाज स्मृति ग्रन्थ** स्मारक पत्रिका, हरिद्वार

११६. **मनुस्मृति** सत्यभूषणयोगी, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९६६

११७. **महानारायणोपनिषद्** स्वामी विश्वेश्वरानन्द, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९२१

११८. **महाभारत (सटीक भाग ५)** हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर

११९. **महाभाष्य (३ भाग)** पं०गंगाधरशास्त्री, काशिक राजकीय पाठशाला, बनारस, १८९४

१२०. **मानवश्रौतसूत्र** प्रो० रघुबीर, इण्टरनेशनल एकेडमी ऑफ इण्डियन कल्चर, १९६१

१२१. **मार्कण्डेय पुराण** मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९६१

१२२. **मार्कण्डेय पुराण** खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९२४

१२३. **मिताक्षरा** पंडित दुर्गादास, नवलकिशोरप्रेस, लखनऊ, १८९०

१२४. **मीमांसादर्शन** पंडित गोकुलचन्द दीक्षित, म० बेनीराम बुकसेलर, दरेसी नं० २ आगरा

१२५. **मीमांसादर्शनम्** पं० देवदत्तशर्मोपाध्याय, प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली, १९५७

१२६. **मीमांसा दर्शन (भाग १)** पं० रत्नगोपाल भट्ट, १९१०

१२७. **मीमांसा दर्शन (भाग २)** पं० रत्नगोपाल भट्ट, १९१०

१२८. **मीमांसा दर्शन** मण्डन मिश्र शास्त्री, रमेश बुक डिपो, जयपुर, १९५४

१२९. **मीमांसान्यायप्रकाश** वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भाण्डारकर औरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना

१३०. **मीमांसानुक्रमणिका** मण्डनमिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९२८

१३१. **मीमांसा कौस्तुभ** चिन्नस्वामी, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९२३

१३२. **मैत्रायणी संहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९४१

१३३. **मैत्र्युपनिषद्** मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

१३४. **यज्ञतत्वप्रकाश** श्रीचिन्नस्वामी, मद्रास ला जर्नल प्रेस, १९५३

१३५. **यज्ञमीमांसा** वेणीराम शर्मा गौड़, मास्टर खेलाड़ी लाल बनारस

१३६. **यज्ञसरस्वती** पं० मधुसूदन शर्मा, संवत् २००३

१३७. **यजुर्वेद संहिता** पं० युधिष्ठिर, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, १९६०

१३८. **यजुर्वेदीय काठक संहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, १९४२

१३९. **याज्ञवल्क्यस्मृति** श्रीएस० एस० सेट्लूर, ब्रह्मवादिन प्रेस, मद्रास, १९१२

१४०. **ल अग्निहोत्र, देस्क्रिप्सन द ल अग्निहोत्र दाम्स द रिचुअल वैदिक** पा० पी० ऊ० द्यूमों बाल्तीमोर, द जौन्स हौपकिन्स प्रेस, १९३९

१४१. **लघुशब्देन्दुशेखर** नागेश भट्ट, आन्ध्रविश्वकला परिषद्, १९४१

१४२. **लाट्यायन श्रौतसूत्र** मुकुन्द शर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९८९

१४३. **लिंग पुराण** मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९६०

१४४. **वेदांक** लोकालोक (पत्रिका) श्रीकण्ठशास्त्री, माधवपुस्तकालय, कमला नगर, दिल्ली, सं० २०२०

१४५. **वसिष्ठ ऋषिके दर्शन** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९६०

१४६. **व्यवहारमयूख** पं० जे० आर० घारपुरे, बेलगाव, बम्बई, १९१४

१४७. **वाचस्पत्यम् (६ भाग)** श्रीतारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

१४८. **वायुपुराण** श्रीरामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५१

१४९. **वाल्मीकि रामायण** गीताप्रेस गोरखपुर, १९६०

१५०. **विचारपीयूष** स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, वाराणसी

१५१. **विष्णुपुराण** मुनिलाल गुप्त, गीताप्रेस गोरखपुर, १९६१

१५२. **वेद और उनका साहित्य** चतुरसेन वैद्यशास्त्री, मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर

१५३. **वेदत्रयीपरिचय** सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्य, हिन्दी समिति, लखनऊ, सं० २०३१

१५४. **वेदभाष्यभूमिकासंग्रह** बलदेव उपाध्याय, जयकृष्णदास हरिदासगुप्त, चौखम्भा प्रकाशन, १९३४

१५५. **वेदांक** वेदवाणी पत्रिका

१५६. **वेदमहाविज्ञान** पन्नालाल परिहार, संस्कृति संस्थान, वेदनगर, बरेली, १९७५

१५७. **वेदसमीक्षा** वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति, १९६७

१६८. **वेदान्त दर्शन** पंडित दुर्गादत्त उप्रेती शास्त्री, श्रीगीतासत्संग, ७९ गौतमबुद्ध मार्ग, लखनऊ

१५९. **वेदांग ज्योतिष** मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

१६०. **वेदार्थ पारिजात (खण्ड १)** अनन्तश्रीस्वामीकरपात्री, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, प्रथमसंस्करण, संवत् २०३६

१६१. **वेदार्थ पारिजात (खण्ड २)** अनन्तश्रीस्वामीकरपात्री, राधाकृष्णधानुका प्रकाशन, संस्थान, कलकत्ता संवत्, २०३७

१६२. **वेदोंका यथार्थ स्वरूप** पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, प्रकाशन मन्दिर गुरुकुलविश्वविद्यालय, हरिद्वार, संवत् २०१४

१६३. **वैखानस श्रौतसूत्र** डा० कैलेण्ड, रायल एशियाटिक सोसायटीऑफ बंगाल, १९४१

१६४. **वैखानस स्मार्तसूत्र** डा० कैलेण्ड, रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १९२७

१६५. **वैदिक इण्डैक्स (भाग १)** रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२

१६६. **वैदिक इण्डैक्स (भाग २)** रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२

१६७. **वैदिककालका इतिहास** पंडित आर्य मुनि, १९२५

१६८. **वैदिककोश** सूर्यकान्त, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३

१६९. **वैदिक देवशास्त्र** सूर्यकान्त, श्रीभारत भारती प्रा. लि०, १ अंसारी रोड़ जुलाई १९६१

१७०. **वैदिक धर्म एवं दर्शन (भाग १)** सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९६५

१७१. **वैदिक धर्म एवं दर्शन (भाग २)** सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९६५

१७२. **वैदिक पदानुक्रमकोश (संहिता)** विश्वबन्धुशास्त्री, वी०वी० आर० आई०, होश्यारपुर, १९४२

१७३. **वैदिक पदानुक्रमकोश (ब्राह्मण)** विश्वबन्धुशास्त्री, वी० वी० आर० आई०, होश्यारपुर, १९३५

१७४. **वैदिक वाङ्मयका इतिहास** भगवद्दत्त, रामलालकपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९५६

१७५. **वैदिक वाङ्मयका इतिहास** भगवद्दत्त, रिसर्च विभाग, डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर, १९३१

१७६. **वैदिक योगसूत्र** पंडित हरिशंकर जोशी, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

१७७. **वैदिक विज्ञान** चक्रवर्ती श्रीरघुराज मिश्र, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संवत् २०१९

१७८. **वैदिक विश्वदर्शन** पंडित हरिशंकर जोशी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जुलाई १९६८

१७९. **वैदिक विश्वदर्शन** पंडित हरिशंकर जोशी, काशीहिन्दू विश्वविद्यालय, मई १९५६

१८०. **वैदिक सम्पत्ति** पंडित रघुनन्दन शर्मा, बम्बई, १९३९

१८१. **वैदिक साहित्य** पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीयज्ञानपीठ काशी, १९५०

१८२. **वैदिक माइथोलोजी** रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१

१८३. **वैदिक साहित्यका इतिहास** पंडित कुन्दनलाल शर्मा, वी० वी० आर० आई० होश्यारपुर, १९८१

१८४. **वैदिक साहित्य परिशीलन** रजनीकान्त शास्त्री, किताब महल प्रकाशन, प्रयाग, १९५३

१८५. **वैदिक साहित्य और संस्कृति** पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, १९६७

१८६. **वैदिक साहित्यकी रूपरेखा** पाण्डेय जोशी, साहित्य निकेतन, कानपुर, १९५७

१८७. **वैशेषिक दर्शन** पंडित ढण्ढुराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, १९२३

१८८. **शतपथ ब्राह्मण** डा० अल्वर्त बेवर, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६४

१८९. **शतपथ ब्राह्मण (पाँच भाग)** श्रीहरिस्वामी, गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९४०

१९०. **शतपथ ब्राह्मण (दो भाग)** श्रीचन्द्रधर शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस, १९३७

१९१. **शतपथ ब्राह्मण** श्रीवंशीधर शास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस, १९३८

१९२. **शतपथब्राह्मण** श्रीमोतीलाल शर्मा, विज्ञानमन्दिर, जयपुर

१९३. **शतपथ ब्राह्मण (तीन भाग)** पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय,प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली, १९६७

१९४. **शब्दस्तोम महानिधि** श्रीतारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७

१९५. **शब्दार्थ चिन्तामणि (४ भाग)** पं० सुखानन्दनाथ श्रीघासीराम मिश्र, वाराणसी, १८६४

१९६. **शास्त्रदीपिका** किशोरदासस्वामी, साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय, बनारस, सन् १९७७

१९७. **शांखायन ब्राह्मण** आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना,१९११

१९८. **शिवपुराण** पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, शक १८४७

१९९. **शुक्लयजुर्वेदसंहिता** जगदीशलाल शास्त्री सुन्दरलाल जैन, दिल्ली, १९७१

२००. **शुक्लयजुर्वेदसंहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी सूरत, १९४६

२०१. **शुक्ल यजुर्वेद संहिता (पूर्वार्द्ध)** पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१२

२०२. **शुक्ल यजुर्वेद संहिता (उत्तरार्द्ध)** पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१२

२०३. **श्रीमद्भगवद्गीता** हरिकृष्णदास गोयनका, गीताप्रेस गोरखपुर, १९५१

२०४. **श्रीमद्भगवद्गीतात्रयी** आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद् काशी, १९८१

२०५. **श्रीमद्भागवत** हनुप्रसाद प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर

२०६. **श्रीगंगेश्वरानन्दके लेख व उपदेश**-स्वामी गोविन्दानन्द, श्रीगोविन्दराम सेऊमल, दिसम्बर १९६५

२०७. **श्रौतकोश (प्रथम ग्रन्थ)** डा० चिं० ग० काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल पूना, १९७०

२०८. **श्रौतकोश (द्वितीय ग्रन्थ)** डा० चिं० काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल पूना, १९७०

२०९. **श्रौतपदार्थनिर्वचनम्** प्रभुदत्त अग्निहोत्री, ई० जे० लाजरस एण्ड क० बनारस, १९११

२१०. **श्रौतसूत्र (देवयाज्ञिक भाष्य)** पं० विद्याधर, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३४

२११. **षड्विंश ब्राह्मण** जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, १८८१

२१२. **सत्याषाढश्रौतसूत्र (१० भाग)** श्रीविनायक गणेशआप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना ,१९०७

२१३. **सरस्वतीभवन स्टडीज (भाग १०)** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस

२१४. **सरस्वती सुषमा** पत्रिका

२१५. **स्कन्दपुराण** मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९६२

२१६. **स्वर्गीय भगवानदास चतुर्वेदी स्मृति ग्रन्थ** मुरारिदत्त चतुर्वेदी, शशिप्रकाशन, मथुरा, १९७८

२१७. **संकर्षकाण्ड** सुब्रह्मण्यशास्त्री, मद्रास वि० वि० मद्रास, १९३५

२१८. **संस्कृत साहित्य परिषद्** पत्रिका

२१९. **संस्कृत हिन्दी कोश** वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, बनारस, १९६६

२२०. **संस्कृतिके चार अध्याय** रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड संस, काश्मीरगेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९५६

२२१. **सामवेद जैमिनीय संहिता** आचार्य रघुबीर, सरस्वती विहार, सन् १९३८

२२२. **सामवेद उत्तरार्चिक** स्वामी श्रीभगवदाचार्य, श्रीरामानन्द साहित्य मण्डल, अलवर

२२३. **सामवेद संहिता** श्रीपाद दगामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९३९

२२४. **सामवेद ग्रामगेय** रा० नारायणस्वामी दीक्षित व श्रीसातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, प्रथम संस्करण, १९४२

२२५. **सामवेद भाष्योपक्रमणिका** चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस

२२६. **साहित्य सन्दर्भ** महावीर प्रसाद द्विवेदी, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, संवत् २००१

२२७. **सांख्यतत्वकौमुदी** श्रीहरिराम शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, सन् १९३७

२२८. **सैकरिफाईस इन द ब्राह्मण टैक्स्ट** गणेश उमाकान्त थिटे, जी०टी० अभयंकर, पूना, प्रथम संस्करण, १९७५

२२९. **हमारा देश** डा० सत्यनारायण, हिन्दी विश्वभारती, लखनऊ

२३०. **हरिवंशपुराण** पंडित रामनारायण दत्त, गीताप्रेस गोरखपुर

२३१. **हलायुध कोश** जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश प्रकाशन, १९५७

२३२. **हिन्दी विश्वकोश (२४ भाग)** नगेन्द्र वसु, नगेन्द्रनाथ विश्वनाथ कलकत्ता, १९१५-१९३१

२३३. **हिन्दूविश्व** पत्रिका सम्पादक नारायणराव तर्टे

२३४. **हिन्दूसंस्कृति अंक** कल्याण मासिक पत्रिकाका विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर।

चतुर्थ परिशिष्ट

यज्ञीय पात्र
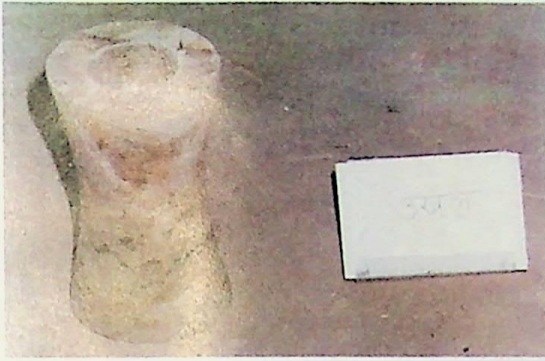
(उलूखल १०८.५)

(मुसल १०८.६)

(ध्रुवा १०९.८)
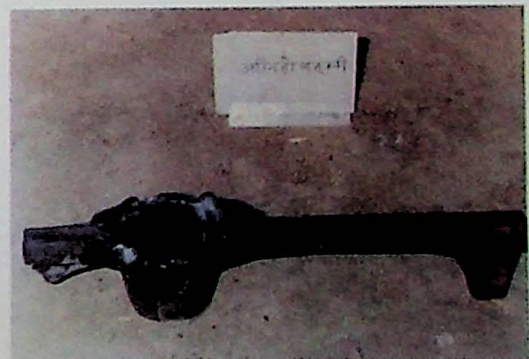
(अग्निहोत्रहवणी १०८.१)

यज्ञीय पात्र

(प्राशित्रहरण १०९.९)

(स्फ्य १०८.२)

(शूर्प १०७.६)

(कृष्णाजिन १०८.४)

यज्ञीय पात्र
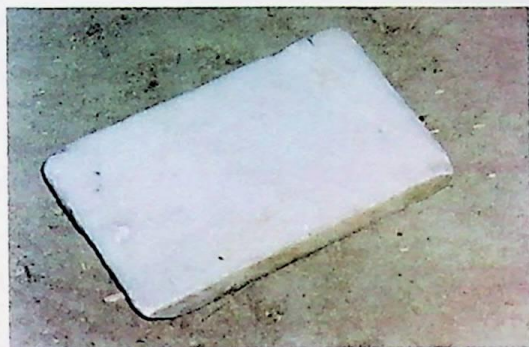
(दृशद् १०८.७)

(उपल १०८.८)
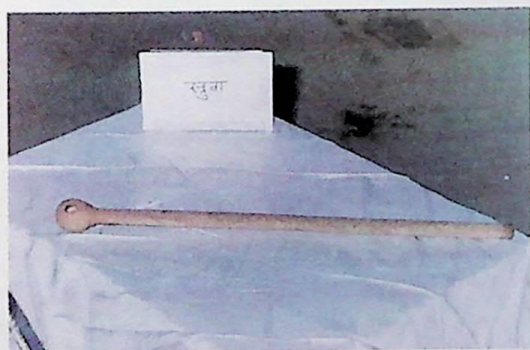
(स्रुवा ४२.४)

(योक्त्र ४६.४)

यज्ञीय पात्र

(शफ ९०.१)
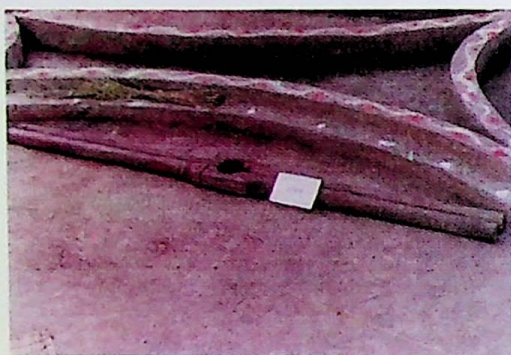
(शम्या १७६.१)
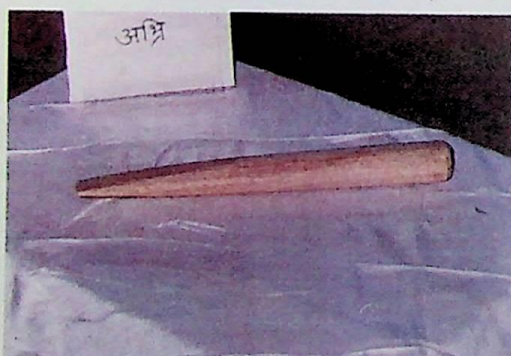
(अभ्रि ४८०.१)

(महावीर ४८६.१)

यज्ञीय पात्र
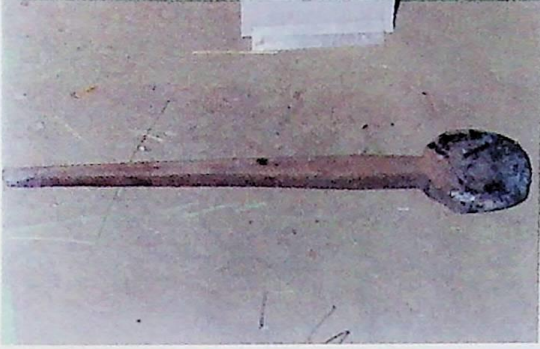
(धृष्टि ४९१.७)

(रौहिण कपाल ४९३)

(सम्राडासन्दी ४९२.२)

(दधिग्रह ३००)

यज्ञीय पात्र

(उपांशुग्रह ३०७)

(आश्विनग्रह ३२५)

(ऋतुग्रह ३६७)

चमस पात्र

(ब्रह्मा चमस ३५८)

(यजमान चमस ३५८)
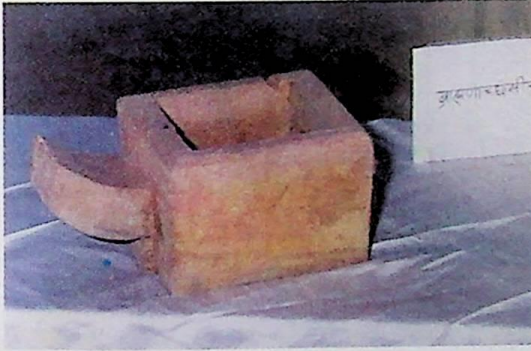
(ब्राह्मणाच्छंदी चमस ३५८)
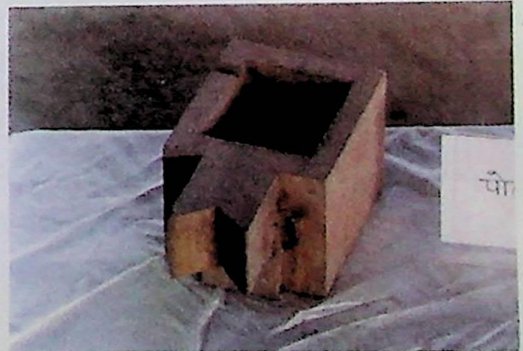
(पोताचमस ३५८)

चमस पात्र

(नेष्टाचमस ३५८)

(आग्नीध्रचमस ३५८)

(अच्छावाकचमस ३५८)

नाम	नारायण दत्त शर्मा
पिताका नाम	श्रीश्याम लाल शर्मा
जन्मसमय	१०.२.१९५७
जन्मस्थान	मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश)
शिक्षा	एम० ए० (प्रथम श्रेणी) पीएच्० डी० (संस्कृत)
वर्तमान पद	रिसर्च ऑफिसर (सीनियर ग्रेड) इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, जनपथ, नई दिल्ली-१
शोधकार्य	सन् १९८४ से लेकर सन् १९८८ तक वैदिक संशोधन मण्डल, पूनामें सायण एवं आनन्दबोध के भाष्यद्वय सहित काण्वसंहिता के सम्पादन कार्यमें सहयोग। तदनन्तर इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्रके कलाकोश विभागमें कलामूल-शास्त्रग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्रकाशित मात्रालक्षण, दत्तिलम्, श्रीहस्तमुक्तावली, वृहद्देशी, कालिका-पुराणे मूर्त्तिविनिर्देशः, काण्वशतपथब्राह्मण, मयमतम्, नर्तननिर्णय, लाट्यायन श्रौतसूत्र, पुष्पसूत्र प्रभृति ग्रन्थोंके सम्पादन कार्यमें सहयोग।
रुचि	समय समयपर आयोजित होने वाले अग्निष्टोम, महाव्रत, अग्निचयन आदि श्रौतयज्ञोंमें सम्मिलित होकर श्रौतक्रियाओं की हिन्दीव्याख्या (Commentary) करना। श्रौतविद्यामें निष्णात वैदिकों और याज्ञिकोंके समीप बैठकर वैदिक आर्षग्रन्थोंका अध्ययन।
प्रकाशन	वैदिक विषयों पर अनेक शोधलेखों का प्रकाशन।

अन्य प्रकाशन

1. Lord Krishna in Kathak –Dr. Sandhya Swarnamanjri
   ISBN : 81-87322-10-1 (2002) Rs. 1000-00
2. गीतार्थसङ्ग्रह (2 Vol set)–डॉ० वा.रा. पञ्चमुखी
   ISBN : 81-87322-08-X (2001) Rs. 165-00
3. **MANAGING ONE-SELF** –Dr. V.R. Panchamukhi
   (-Sri Bhagavadgita : Theory and Practice)
   ISBN : 81-87322-07-1 (2001) Rs. 150-00
4. संस्कृत-चालीसा –डॉ० मधुसूदन मिश्र
   ISBN : 81-87322-00-4 (1998) Rs. 150-00
5. BHĀSKARĀCĀRYA –A.B. Khanna
   (A study with special reference to his Brahmasūtrabhāṣya)
   ISBN : 81-87322-01-2 (1998) Rs. 134-00
6. कविराज-राजशेखरः –डॉ० रमेशकुमारपाण्डेयः
   ISBN : 81-87322-02-0 (1998) Rs. 103-00
7. साहित्यतरङ्गिणी –डॉ० रमेशकुमारपाण्डेयः
   ISBN : 81-87322-03-9 (1998) Rs. 120-00
8. सांख्यप्रवचनभाष्य –डॉ० धर्मानन्द शर्मा
   (कपिलमुनि कृत सांख्यदर्शन का हिन्दी में विस्तृत प्रस्तावना के साथ पदार्थानुवाद)
   ISBN : 81-87322-04-7 (1999) Rs. 121-00
9. **BHAGWATAM** –Girish Pandey
   ISBN : 81-87322-05-5 (2000) Rs. 400-00
10. वैदिक साहित्य में अर्थ-पुरुषार्थ
    –डॉ० अमरनाथ राणा
    ISBN : 81-87322-06-3 (2001) Rs. 117-00
11. Sanskrit Text for Human Excellence
    –Prof. R.K. Pandey (2002) Rs. 400-00
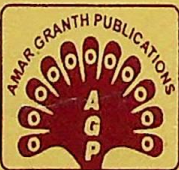
AMAR GRANTH PUBLICATIONS
8/25, VIJAY NAGAR, DELHI-110009
Tel.: 7252362, 7135725
email : amargp@ndf.vsnl.net.in